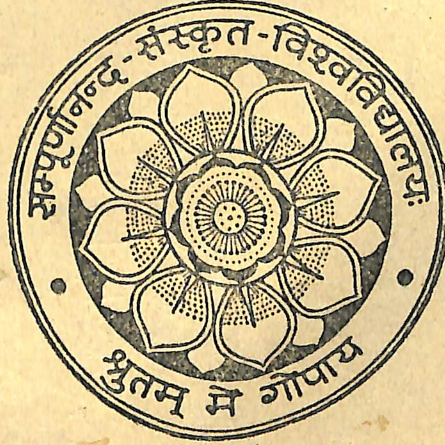
गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[८]

उदयनाचार्यप्रणीता

किरणावली

(हिन्दीभाषाव्याख्यानसमलङ्कृता)



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[८]

उदयनाचार्यप्रणीता

किरणावली

(हिन्दीभाषाव्याख्यानसमलङ्कृता)



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 8]

KIRAṆĀVALĪ

of

UDAYANĀCĀRYA

Edited & Translated

by

GAURĪNĀThA ŚĀSTRĪ



Research Publication Supervisor

DR. BHAGĪRATHA PRASĀDA TRIPAṬHĪ 'VĀGĪŚA SĀSTRĪ'

Director, Research Institute,

Sampurnanand Sanskrit V vavidyalaya,

VARANASI

1980

Published by—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi–221002.

First Edition : 1100 Copies
Price : 41-00

Printed by—
Surendra Mishra
Manager,
Sampurnanand Sanskrits Vishvavidyalaya Press,

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला
[८]

उदयनाचार्यप्रणीता

किरणावली

(हिन्दीभाषाव्याख्यानसमलङ्कृता)

सम्पादकोऽनुवादकश्च
श्री गौरीनाथशास्त्री



अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः
डॉ० भागीरथप्रसादत्रिपाठी 'वागीशः शास्त्री'
अनुसन्धानसंस्थाननिदेशकः;
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

वाराणस्याम्
२०३७ तमे वैक्रमाब्दे १९०२ तमे शकाब्दे १९८० तमे खैस्ताब्दे

प्रकाशकः—
निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये,
वाराणसी.

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रयविभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
वाराणसी-२२१००२.

प्रथमं संस्करणम् : ११०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् : ४१·०० रूप्यकाणि

मुद्रकः—
सुरेन्द्रमिश्रः
व्यवस्थापकः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयीयमुद्रणालयस्य,
वाराणसी।

वाराणसीसुधाधाम्ने श्रीविश्वेश्वरमूर्तये ।
गुरोर्गुरुवरायेयं नामं नामं समर्प्यते ॥

प्रस्तावना

न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र के पारदृश्वा सुधी ऋषिकल्प उदयनाचार्य का जन्म दसवीं ख्रीस्तशताब्दी की उस सन्धिवेला में हुआ था, जहाँ प्राचीन न्याय संवरण की ओर अग्रसर हो रहा था। यदि गङ्गेशोपाध्याय नव्य न्याय के प्रभात थे तो उदयन उषाकाल। उदयन को ही नव्य न्याय के उस उषोदयन का श्रेय प्राप्त है, जहाँ रजनी का विश्राम और प्रभात का नयनाभिराम प्रभोन्मेष विद्यमान था। इसके साथ ही उन्होंने न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का समन्वय करके एक अभिनव किरण प्रकाश के द्वारा सुधीजगत् को समुद्भासित कर दिया। दूसरी ओर उच्छ्वसित बौद्ध धर्म के प्रति गतास्थप्राय भारतीय जनता की मनोभूमि को बौद्धधिक्कार (आत्मतत्त्वविवेक अथवा बौद्धाधिकार) से परिष्कृत कर उसके हाथ में 'न्यायकुसुमाञ्जलि' का संवल थमा दिया। उदयन युगपुरुष थे। म० म० गङ्गेशोपाध्याय द्वारा प्रवर्तित नव्य न्याय के बीजवपन का कार्य उदयनाचार्य ने संपन्न कर दिया था।

यद्यपि 'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' के अनुसार पदज्ञान के लिए जिस प्रकार सभी शास्त्रों को व्याकरण की शरण लेना अनिवार्य है, उसी प्रकार पदार्थज्ञान के लिए कणादविरचित वैशेषिक दर्शन का ज्ञान अपरिहार्य है, तथापि उदनाचार्य के समय तक व्याख्या, टीका तथा टिप्पणियों के द्वारा न्यायदर्शन का जितना परिबृंहण हुआ था, कणादप्रणीत वैशेषिक दर्शन या औलूक्य दर्शन उतना ही उपेक्षित था। ए० बी० कीथ ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है कि वैशेषिक दर्शन के टीकाकारों ने उसमें परिष्कार लाने के लिए कुछ भी नहीं किया। उन्होंने यह भी लिखा कि टीकाकारों की रुचि दार्शनिक थी। अतः वैशेषिक दर्शन के भौतिक विज्ञान (Physics) की व्याख्या में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। विज्ञान और दर्शन को सफलतापूर्वक संमिलित करना प्रायेण देखने में नहीं आता। किन्तु मुझे विश्वास है कि इस विश्वविद्यालय की सरस्वतीभवन-अध्ययनमाला (२६) में प्रकाशित 'वैशेषिकसिद्धान्तानां गणितीयपद्धत्या विमर्शः' नामक गवेषणाप्रबन्ध से कीथ महोदय के अनुयायी विद्वानों को अवश्य सन्तोष मिलेगा।

यद्यपि प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन का आश्रय लेकर 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया तथा वैशेषिक दर्शन को अभिनव जीवन प्रदान किया, तथापि यह टीकाग्रन्थ न होकर महत्त्वपूर्ण उपपादनों के साथ उसी के प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण अथवा व्याख्यान है। वैशेषिक सूत्र के उपलब्ध व्याख्यानों में प्रशस्तपाद का

यह व्याख्यान प्रथम है। भाष्य के लक्षणों के अनुसार यद्यपि यह कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, तथापि अनन्यसाधारण वैशिष्टचों के कारण पण्डित-मण्डली में प्रशस्तपादभाष्य के नाम से इसकी मुख्यतः प्रसिद्धि है। वैशेषिक दर्शन में यह भाष्य इतना अधिक प्रामाणिक माना गया कि इससे सूत्रग्रन्थ के पठन-पाठन को ही गौण समझा जाने लगा। परवर्ती विद्वान् इसी को आधार मानकर ग्रन्थरचनाएँ करते रहे। ऐसी रचनाओं में व्योमशिवाचार्य की 'व्योमवती', श्रीधर (९९१ ई०) की 'न्यायकन्दली' तथा उदयनाचार्य की 'किरणावली' प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

प्रशस्तपादभाष्य सहित न्यायकन्दली टीका तथा उसके हिन्दी भाषानुवाद का प्रकाशन इस विश्वविद्यालय से सन् १९६३ ई० में हो चुका था। सन् १९७८ ई० में उसका द्वितीय संस्करण उपलब्ध करा दिया गया है। ग्रन्थ लगाने की दृष्टि से न्यायकन्दली टीका की जितनी अधिक महत्ता है, शास्त्रीय गम्भीरता की दृष्टि से 'किरणावली' की उतनी ही अधिक उत्कृष्टता है। 'पदार्थधर्मसंग्रह' के तमसावृत अविज्ञात गूढ स्थलों को प्रकाशित करने में इस टीका की किरणपुञ्जता सिद्ध होती है। यह प्रशस्तपाद भाष्य के विशिष्ट स्थलों की टीका होने पर भी विद्वत्ता की कसौटी है।

गङ्गेशोपाध्याय के पुत्र तथा शिष्य वर्धमान उपाध्याय ने किरणावली की गभीरता के तलस्पर्श के लिए किरणावलीप्रकाश टीका की रचना की। किरणावली-प्रकाश को भी विद्योतित करने हेतु रघुनाथ शिरोमणि को 'किरणावलीप्रकाशदीधिति' नामक टीका का प्रणयन करना पड़ा। किरणावली की इन दोनों टीकाओं के अतिरिक्त किरणावलीभास्कर नामक टीका की रचना पद्मनाभ मिश्र ने की थी। उक्त तीनों टीकाएँ इस विश्वविद्यालय की सरस्वतीभवनग्रन्थमाला के क्रमशः ४५,३८, तथा १ पुष्प के रूप में सन् १९३३,१९३२ तथा १९२० ई० में प्रकाशित हो चुकी हैं। किरणा-वली की उक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त प्रकाशविवृति इत्यादि अन्य टीकाएँ भी विद्य-मान हैं। इन टीकाओं से किरणावली की गभीरता का सहजतः अनुमान लगाया जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध शब्दों को परिभाषित करने वाले 'लक्षणावली' जैसे ग्रन्थ के रचयिता उदयनाचार्य की महत्ता को दृष्टिगत रख सरस्वतीभवनग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में किरणावलीभास्कर नामक टीका से प्रकाशन का श्रीगणेश किया गया था। वहाँ यह आवश्यक था कि उसी तत्परता से उदयनाचार्य की किरणा-वली के हिन्दीभाषानुवाद-व्याख्या का प्रकाशनकार्य भी हाथ में ले लिया होता। किन्तु इसके विश्लेषण के लिए लिखे गये अनेक टीकाग्रन्थों को देखकर यह सहजतः जाना जा सकता है कि इस गभीर ग्रन्थ का हिन्दी व्याख्यान कितना गुरुतर कार्य है।

न्यायदर्शन एवं संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् इस विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति स्वनामधन्य श्रीगौरीनाथ शास्त्री भट्टाचार्य महोदय ने किरणावली के भाषान्तरण की न्यूनता को परिलक्षित किया और विश्वविद्यालय के निवेदन पर वे इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त हुए। यद्यपि इसके पूर्व वङ्गाब्द १३६३ में कलकत्ता से किरणावली पर उनका वङ्गभाषाव्याख्यान प्रकाशित हो चुका था, तथापि यह हिन्दी-व्याख्यान उसकी अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत एवं अनेक विशेषताओं से परिमण्डित है। किरणावली की प्रायः संपूर्ण टीकाओं का आश्रय लेकर इस हिन्दी व्याख्या का कठिन कार्य निष्पन्न हुआ है। पादटिप्पणियों के विलोकन से ज्ञात होता है कि श्री शास्त्री जी ने शाबरभाष्य, काशिका वैयाकरणभूषण, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, न्यायलीलावती सांख्यप्रवचन-भाष्य, सांख्यसारविवेकप्रदीप, लघुचन्द्रिका, मानमेयोदय, गादाधरी, न्यायतात्पर्यदीपिका, तन्त्रालोक, व्योमवती, न्यायकन्दली, श्लोकवार्त्तिक, न्यायरत्नाकर. ब्रह्मसूत्रभाष्य; बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक, ब्रह्मसिद्धि प्रभृति विविध शास्त्रों के बहुसंख्यक ग्रन्थों की सहायता लेकर इस हिन्दी व्याख्या को एक अनुसन्धानकार्य का स्वरूप प्रदान कर दिया है। इस व्याख्या से निश्चयतः एक बड़े अभाव की पूर्ति हो गयी है।

गुणदोषविवेचक बुधाग्रगण्य सुधीजन तथा जिज्ञासुजन गङ्गानाथ झा ग्रन्थमाला के इस एकादश प्रसून के सौरभ से अवश्य ही प्रमुदित और लाभान्वित होंगे। व्याख्याकार श्रीगौरीनाथ जी शास्त्री ऐसे दुरूह आकरग्रन्थ-रत्न की हिन्दी व्याख्या के लिए वस्तुतः वर्धापनार्ह हैं। काशीविश्वनाथ उन्हें दीर्घायुष्ट्व प्रदान करें ताकि वे शारदाचरणसरोरुहों में ऐसे सुवासित अन्य ग्रन्थप्रसून भी समर्पित कर सकें।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
मार्गशीर्षगुरुपूर्णिमा २०३७ वै०
[२१-१२-८० ख्री० रवि]

भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
निदेशक
अनुसन्धान संस्थान



प्राक्कथन

अनन्ताख्यमपादानं मानमेयप्रकाशकम् ।
नामं नामं स्वयं ज्योतिर्व्याख्यामि किरणावलीम् ॥
उदयनमणिनिमुद्राात्तामतिमितिपदसन्धानदुःखगाहाम् ।
विशदीकरवाणि यतो दयतां भगवान् कणभुङ्मुनिः ॥

इस दुष्करकार्य में जिस ऐकान्तिकी निष्ठा तथा कठोर श्रम की आवश्यकता होती है, मेरी इस आयु में वह सहजलभ्य हो नहीं सकती। परन्तु अत्यन्त हर्ष का विषय यह है कि मेरे एकान्तसुहृद्, नैयायिककुलचूडामणि स्वर्गत म० म० पं० वामाचरण भट्टाचार्य महोदय के शिष्य तथा भ्रातुष्पुत्र, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलसचिव श्री विभूतिभूषण भट्टाचार्य की अनन्यसाधारण सहयोगिता से उदयनाचार्यकृत किरणावली ग्रन्थ का यह हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत व्याख्या का संपादन हो सका है। इससे पूर्व कलकत्ता नगरी से २ खण्डों में जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था वर्तमान ग्रन्थ उसका आक्षरिक अनुवाद नहीं है। पूर्वोक्त ग्रन्थ में बहुत स्थलों में जैसा विचार मैंने प्रकट किया था उसमें कालक्रम से परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। फलतः इस ग्रन्थ में पूर्वोक्त ग्रन्थ से भिन्न प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है। यह बात पंडितों से छिपी नहीं है कि न्यायवैशेषिक शास्त्र में निरन्तर विचार से अनेक प्रकार की विलक्षणता आती है। अतः यहां मैंने भी यथेष्ट मार्जित विचार उपस्थित किया है। इस गहन विषय को विशेषतः उदयन की पंक्तियों को यथार्थरूप से उपस्थित करने के लिए विस्तृतरूप से लिखना आवश्यक था। न्यायशास्त्र के विचार में काशी तथा गौडदेशीय नैयायिक समाज की विशेष चिन्ता की धारा का परिचय तथा सामञ्जस्य के लिए मैंने जो प्रयत्न किया है उसमें मेरी सफलता का विचार काशी का पण्डितसमाज ही कर सकेगा। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति लब्धप्रतिष्ठ नैयायिक श्रीमान् पं० बदरीनाथ शुक्ल महोदय के कार्यकाल में ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी हो रहा है।

विश्वविद्यालय अनुसंधान संस्थान निदेशक श्रीमान् पं० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' ने स्वतः प्रवृत्त होकर इस पुस्तक पर अपनी प्रस्तावना लिखी एवं हिन्दीभाषा को व्यवस्थित किया तदर्थ उन्हें साभार साधुवाद प्रदान करता हूँ। प्रकाशनाधिकारी श्रीमान् पं० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी ने इस पुस्तक की छपाई के कार्य को जिस उत्साह से किया तथा प्रेस व्यवस्थापक श्री सुरेन्द्र मिश्र ने जिस उत्साह से इसके मुद्रण कार्य को अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए किया तदर्थ मैं इन दोनों को सस्नेह आशीर्वाद दे रहा हूँ।

श्री गौरीनाथ शास्त्री

भूमिका

न्याय तथा वैशिषिक दर्शनों की उत्पत्ति का इतिहास घनान्धकार से आवृत है। इन दर्शनों की प्रथम अस्पष्ट-सी झांकी वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ऋषि कह रहे हैं कि "मैत्रेयि, आत्मदर्शन कर्त्तव्य है, आत्मश्रवण कर्तव्य है, आत्ममनन कर्त्तव्य है"। (देखें बृहदा. उप. ४।५)। यहां ऋषि ने जो आत्ममनन को कर्त्तव्य कहा है वह युक्ति की सहायता से आत्मानुसन्धान छोड़कर और कुछ नहीं प्रतीत होता है। पुनः जब "परा विद्या कुतर्क से लभ्य नहीं है" (कठोप० २।९) तब भी प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल में जिन व्यक्तियों ने तत्त्व के निरूपण के प्रयास में केवल युक्ति की सहायता ली थी ऋषि केवल उन्हीं युक्तिवादियों के लिए ही कहते हैं कि परम तत्त्व कुतर्क से परे है। हम यह भी जानते हैं कि अजातशत्रु तथा राजर्षि जनक की राजसभाओं में दार्शनिक विषयों पर शास्त्रार्थ होता था। इससे यह भी अनुमान करना सरल है कि उस काल के विद्वान् न्याय अर्थात् तर्कप्रणाली से परिचित थे।

यह भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि वैदिक धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए जो लोग न्याय अर्थात् युक्ति तथा तर्क का प्रयोग करते थे वे आस्तिक माने जाते थे। वैदिक धर्म के प्रभाव से मुक्त होकर केवल अपनी बुद्धि की सहायता से तत्त्वनिरूपण करने वाले विद्वान् वेदविरोधी गण्य होते थे। म० म० पं० कुप्पु स्वामी आदि विद्वानों की सम्मति से यह द्वितीय प्रकार का (वेदविरोधी) विद्वत्सम्प्रदाय ही प्राग्बौद्धयुग में वैदिक कर्मकाण्डविरोधी सांख्य तथा वैशेषिक प्रस्थान के रूप में प्रकाश में आया। बौद्ध साहित्य के अन्तर्निहित साक्ष्य से यह भी प्रमाणित करने की चेष्टा हुई है कि सांख्य तथा वैशेषिक प्रस्थान ही बाद में चल कर बौद्ध धर्म की मूल प्रेरणा रहे।

ईसा पूर्व पांचवीं सदी में जब बौद्ध धर्म का उदय हुआ तब वैदिक धर्म के अनुयायी तथा उस के समर्थक लोग केवल श्रौत प्रमाणों पर निर्भर न करते हुए यथासम्भव युक्ति तथा तर्क से भी अपने सिद्धान्तों (वैदिक) की पुष्टि करने का प्रयत्न करते थे। फलतः वेदानुसारी न्याय (शास्त्र) तथा अवैदिक वैशेषिक (दर्शन) की युक्तियों के समन्वय से बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन प्रारम्भ हुआ। उन विद्वानों की सम्मति से ईसा पूर्व चौथी सदी में ही न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों के सिद्धान्त यथायथ रूप में निश्चित हो गये थे, तथापि कणाद तथा अक्षपाद द्वारा रचित होने की प्रसिद्धि रहते हुए भी वैशेषिक एवं न्याय सूत्रों की यथाप्राप्त रचना पश्चाद्वर्त्ती काल में होने की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है (देखें A Primer of Indian Logic, pt. I. Sec. pp--Ix--xii)।

यथाप्राप्त न्याय तथा वैशेषिक सूत्रों के रचयिता गौतम तथा कणाद हैं। गौतम का नाम (वैयक्तिक) अक्षपाद है। कणाद का नाम कणभुक्, कणभक्ष, योगी, उलूक तथा काश्यप (यह सम्भवतः गोत्र नाम) है। विद्वानों की सम्मति से गौतम तथा काश्यप उनके गोत्र नाम थे। चीन के एक ग्रन्थ से कणाद या उलूक के विषय में कुछ प्रसिद्धि भी प्राप्त होती है। (देखें Vaiśeṣika philosophy, p. 5)। किसी समय सृष्टि के अन्त में एक तीर्थक इस जगत् में आविर्भूत हुए। उनका नाम था उलूक। दिन भर वे गभीर अरण्य में ध्यान-मग्न रहते थे। रात्रि में जब सारा जगत् निद्रा में अचेतन रहता था तब वे आहार के अन्वेषण में बाहर आते थे। इस प्रकार उलूक अर्थात् पेचक के तुल्य जीविकार्जन करने के कारण उनका नाम उलूक पड़ा। रात्रिकाल में, तपस्या से उनका क्षीण आकार देखकर तरुणी (कम आयु की) स्त्रियाँ भीत होती थीं। इसीलिए उन्हें गुप्त रूप से गंभीर रात्रि में आहारान्वेषण करना पड़ता था। खलिहानों में जाकर शेष धान्य के कणों को जुटाकर वे अपनी क्षुधा की निवृत्ति किया करते थे। इस हेतु उन्हें 'कणभक्ष' (कणों को खाने वाला) कहा जाता था। हमारी सम्मति में यह प्रसिद्धि सत्य पर आधृत नहीं है। प्रतीत होता है कि परमाणुओं के विषय में विशेष विवेचन करने के कारण ही उनके प्रतिपक्षी उन्हें कणाद (कणों को खाने वाला) कहकर उपहास करते थे। यद्यपि बौद्ध तथा जैन दर्शनों में भी अणु के विषय में विचार व्यक्त किये गये हैं, तथापि अणु अथवा कण ही वैशेषिक दर्शन की विशेषता है इसमें सन्देह नहीं है। यह बादरायण सूत्र तथा धर्मोत्तरकृत न्यायबिन्दुटीका के बल पर प्रमाणित करना सुलभ है (देखें ब्रह्मसू. २।२-११ तथा न्यायबिन्दु टी. पृ. ८६)।

एक दूसरी प्रसिद्धि भी महर्षि कणाद के विषय में प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है कि उनकी कठोर तपस्या से सन्तुष्ट होकर ईश्वर ने उनके सामने उलूक (पेचक) के रूप में आविर्भूत होकर षट् पदार्थों का उपदेश किया था (देखें Vaiśeṣika Philosophy, p.6)। वायुपुराण में अक्षपाद (गौतम), कणाद, उलूक तथा वत्स इन सभी को महेश्वर का सत्ताइसवां अवतार सोमशर्मा का शिष्य तथा परम शैव कहा गया है। (देखें Tarkabhāṣā intro. p. v.)

यथाप्राप्त सूत्रों (न्याय तथा वैशेषिक) का रचनाकाल आज तक निर्णीत न हो पाया। डॉ॰ सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार वैशेषिक सूत्र केवल चरकसंहिता से पूर्व रचित ही नहीं अपितु चरकसंहिता के पदार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त भी वैशेषिक पदार्थविद्या पर ही आधृत हैं। (देखें A History of Indian Philosophy, Vol. I. p. 280)। वैशेषिक सूत्रों में आत्मा के अस्तित्व के विषय में उल्लेख नहीं मिलता है। वैशेषिक सूत्रों में आत्मा अनुमेय है अथवा 'अहंप्रत्ययगम्य' है इस विषय का विचार रहने पर भी (पूर्वपक्ष रूप से भी) आत्मा की असत्ता (नास्तिता) कहीं भी उल्लिखित नहीं है। इन कारणों से भी डॉ॰ दासगुप्त के विचार से बौद्धदर्शन के आविर्भाव अथवा प्रतिष्ठा के पूर्व ही वैशेषिक

सूत्रों (यथाप्राप्त) की रचना हुई थी। (देखें वही ग्रन्थ पृ. २८१)। विशेषतया उनके विचार से कणाद के सूत्रों में जिन वैशेषिक सिद्धान्तों का संग्रह हुआ है वह सिद्धान्त किसी अति प्राचीन मीमांसाप्रस्थान पर आधृत है। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने यह युक्ति भी उपस्थित की है कि वैशेषिक सूत्रकार ने शास्त्रारम्भ में धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करते हुए अन्त में सिद्ध किया है कि वैदिक कर्मानुष्ठान द्वारा अदृष्टोत्पत्ति होने पर अभ्युदय होता है (देखें वही ग्रन्थ पृ. २८०)। डॉ० राधाकृष्णन् का वक्तव्य है कि धर्म शब्द का प्रयोग देखते ही मीमांसाप्रस्थान का स्मरण करना युक्तिसिद्ध नहीं है। वैशेषिक सूत्रकारने धर्म शब्द का प्रयोग निवर्त्तकधर्म के लिए किया है, मीमांसाप्रस्थान जैसा प्रवर्त्तकधर्म उनका अभीष्ट नहीं था (देखें Indian Philosophy, Vol. II, P. 179, पादटि. 2)। हमारे विचार से वैशेषिक सूत्र (प्रथम सूत्र) में धर्मशब्द पदार्थवाचक है। इसलिए हम डॉ० दासगुप्त के विचारों के समर्थक नहीं हैं। मीमांसाशास्त्रोक्त 'चोदनालक्षणोऽर्थः' रूप धर्म वैशेषिक सूत्रकार का लक्ष्य नहीं था।

अध्यापक जैकवि के अनुसार २०० से ५०० ईसवी सदियों के मध्य में न्याय तथा ब्रह्म-सूत्रों की रचना हुई थी। इस से कुछ काल पूर्व वैशेषिक तथा मीमांसा सूत्रों की रचना हुई। उनके विचार से नागार्जुन (ईसवी तीसरी सदी) के शून्यवाद का खण्डन न्यायसूत्र में किया गया, परन्तु असङ्ग तथा वसुबन्धु (ईसवी चौथी सदी के मध्य) के विज्ञानवाद का खण्डन नहीं किया गया है (देखें Journal of the American Oriental Society XXXI. 1911)।

परन्तु न्यायभाष्यकार तथा तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार न्यायसूत्र (४।२।२६) में विज्ञानवाद का ही खण्डन किया गया। विशेषतया नागार्जुन, असङ्ग तथा वसुबन्धु ने ही शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का जगत् में प्रथम प्रचार किया इसका समर्थक कोई दृढ़तर प्रमाण भी नहीं है। जैकवि के विचार को तत्काल यथार्थ मान लेने पर भी उनके वक्तव्य के समर्थन में वैशेषिक सूत्रों का रचना काल सम्बन्धी कोई भी तथ्य प्राप्त नहीं हुआ है। वी तथा रैण्डेल के विचार से वैशेषिक सूत्रों को दृष्टिगत रखकर विशेष-विशेष स्थलों में न्यायसूत्रों की रचना हुई थी। अतः न्या. सू. से वै. सू. ही प्राचीनतर है। (देखें Vaiśesika Philosophy, p. 16 पादटि. 1. तथा Indian Logic in the Early Schools. intro p. 7. पाद टि. 1.)। उनका यह भी विचार है कि न्या. सू तथा वात्स्यायनभाष्य में वैशेषिक दर्शन का प्रभाव है। परन्तु वैशे. सू. तथा प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसङ्ग्रह में न्यायदर्शन का कोई प्रभाव उपलब्ध नहीं होता है। उन लोगों का यह भी वक्तव्य है कि अट्ठारह ईसवी वर्ष में जैनों की जो पृथक् शाखा स्थापित हुई थी उसमें भी वैशेषिक संग्रह का उल्लेख है। (देखें. Vaiśeṣika Philosophy, p. 34)। म. म. प. कुप्पु स्वामी आदि विद्वानों ने भी वैशे. सू. को ही प्राचीनतर माना है। इसके विपरीत श्री श्रीजीव न्यायतीर्थ महोदय के विचार से वैशे. सू. न्या. सू. से अर्वाचीन है क्योंकि न्या. सू. में केवल श्रुतिप्रमाण ही उद्धृत है। परन्तु वैशे. सू. में अनेक स्थलों पर स्मृतिप्रमाण का भी उल्लेख है। विशेषतया न्या. सू. में

जो विषय अत्यन्त निपुणता के साथ संक्षेप में एक ही सूत्र में वर्णित है वही विषय वैशे· सू· में विस्तार के साथ एक से अधिक सूत्रों में कहा गया है (देखें. Calcutta Review, Vol. 183. No. 3. P. 341-9)।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वैशेषिक (दर्शन) का उल्लेख न रहने से किसी-किसी विद्वान् ने वैशेषिक शास्त्र को कौटिल्य का पश्चाद्भावी समझा है। परन्तु उस अर्थशास्त्र में 'योग' शब्द वैशेषिक शास्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। वात्स्यायन के न्यायभाष्य में भी 'योग' शब्द से वैशेषिक शास्त्र ही लिया गया है (देखें वात्स्या· भा· १।१।२९ सू·)। अतः वैशेषिक शास्त्र अर्थशास्त्र से पश्चाद्वर्ती नहीं है।

बौद्ध दर्शन का निर्माण वैशेषिक असत्कार्यवाद पर आधृत है तथा जैनदर्शन के अस्तिकाय और अणुवाद के मूल में वैशेषिक दर्शन का प्रभाव है। इसलिए कुछ विद्वानोंने वैशेषिक दर्शन को बौद्ध तथा जैन दर्शन से प्राचीन स्वीकार किया है। (देखें Indian Philosophy, Vol. II., p. 177)। यहां यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जैनदर्शन में प्रतिपादित 'अणु' से वैशे· दर्शन के परमाणु का स्वरूप पृथक् है। जैनदर्शन के 'अणु' मात्र ही समानगुणविशिष्ट होते हैं। परन्तु वैशेषिकों के परमाणुओं में उनके कार्यभूत मूर्त्त वस्तुओं के गुण होते हैं। वैशेषिक मत में समस्त परमाणु तुल्यगुणविशिष्ट नहीं होते।

उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन अति प्राचीन है। परन्तु वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्त जिन सूत्रों में सङ्गृहीत होकर हमें प्राप्त हैं वह सूत्रग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन नहीं है। उपलब्ध गौतमसूत्रों की रचनाशैली की कुशलता हमें वैशे· सू· की रचना में दिखाई नहीं देती है।

वैशे· सू· की भारद्वाजकृतवृत्ति तथा रावण प्रणीत विस्तृत भाष्य आज लुप्त है। (देखें प्रकटार्थविवरण पृ० ४९१) भारद्वाजवृत्ति तथा रावणभाष्य के अप्राप्त होने से कणादसूत्र को ही वैशे· दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार करना पड़ेगा।

प्रशस्तपाद कृत पदार्थधर्मसंग्रह वैशे· दर्शन का द्वितीय प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है। प्रशस्तपाद के आविर्भाव काल का यथार्थ निर्णय होने की सम्भवना नहीं है, तथापि अनेक विद्वानों की सम्मति से उनका ग्रन्थ ही वैशे· दर्शन का प्रथम तथा प्रामाणिक प्रकरण ग्रन्थ है। उन लोगों का कहना है कि वैशे· दर्शन में प्रसिद्ध सिद्धान्त (जिनकी आलोचना तथा खण्डनादि अन्य दर्शनों में हुआ है) का उल्लेख यथोपलब्ध कणादसूत्र में प्राप्त नहीं है। परन्तु पदार्थधर्मसंग्रह में उन सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है, जिन विषयों में नैयायिक मत के साथ वैशेषिक मत का भेद है। प्रशस्तपादने उनका विशेष रूप से विवेचन किया है। द्वित्व, पाकज गुणोत्पत्ति, विभागज विभाग आदि वैशेषिकों के विलक्षण सिद्धान्त रूप में परम्परा से प्रसिद्ध सिद्धान्त पदार्थधर्मसंग्रह में विद्यमान हैं। परन्तु वैशे· सूत्र में उन विषयों पर किसी

प्रकार विवेचन उपलब्ध नहीं है। भारतीय परम्परा के अनुसार 'विशेष' पदार्थ के प्रतिपादन करने के कारण ही वैशेषिक शास्त्र का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। किन्तु वैशे॰ सू॰ में विशेष पदार्थ के विषय में कोई आलोचना नहीं है। (देखें तर्कसंग्रह P. XXXVII, तर्कभाषा P. IX.)। चीन के ग्रन्थ में कहा गया है कि विशिष्ट या उत्कृष्ट बुद्धिमान् व्यक्ति द्वारा रचित होने के कारण अन्य शास्त्रों की अपेक्षा इस शास्त्र को उत्कर्ष के कारण ही वैशेषिक संज्ञा दी गई है (देखें Vaiśeṣika Philosophy, pp 3-7)।

प्रशस्तपाद के वाक्यों से प्रतीत होता है कि उनकी ग्रन्थरचना के पूर्व कोई विस्तृत भाष्यग्रन्थ विद्यमान था (देखें–पूर्वग्रन्थेषु दुष्टप्रमेयज्ञानेनासत्यं वदन्ति-इत्यादि किरणावली-भास्कर पृ॰ ५)। हम पहले कह चुके हैं कि रावण रचित एक भाष्यग्रन्थ था। किसी विद्वान् ने रावण को प्रशस्तपाद का पश्चाद्भावी प्रमाणित करने की चेष्टा की है (देखें तर्कसंग्रह P.XL)। पुनः किसी विद्वान् ने यह भी कहा है कि वैशेषिक दर्शन के प्रारम्भिक काल में रचित रावण भाष्य आदि ग्रन्थों में परिदृष्ट नास्तिकता से वैशेषिक मत के उद्धार के लिए प्रशस्तपादने ग्रन्थ रचना की थी (देखें A primer of Indian Logic pp. XXVI-Vii)। यहां यह भी विचारणीय है कि भगवान् शङ्कराचार्यने भी वैशेषिकमत को अर्धवैनाशिक कहा है [देखें शाङ्करभा॰ २।२।१८]।

प्रशस्तपाद का ग्रन्थ पदार्थधर्मसंग्रह नाम से ही प्रसिद्ध है। वैशेषिक परम्परा में 'भाष्यग्रन्थ' रूप से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं हुआ। म॰ म॰ प॰ चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार ने कहा है कि प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में भाष्यग्रन्थ का लक्षण नहीं है। इसी कारण भाष्यग्रन्थ के अभाव को दूर करने हेतु उन्होंने वैशे॰ सू॰ पर भाष्य की रचना की। (देखें वैशेषिकदर्शन भूमिका पृ॰ २)। प्रशस्तपाद की उद्द्योतकर से प्राचीनता प्रायः सर्ववादिसिद्ध है। उद्द्योतकर ईसवी छठी सदी के अन्त या सातवीं सदी के प्रारम्भ में विद्यमान थे। किसी-किसी के अनुसार वे परमार्थ तथा धर्मपाल के पूर्वभावी थे। (देखें Vaiśeṣika Philosophy, P. 18)। डा॰ कीथ के इस दृढ़ निश्चय से, किं प्रशस्तपाद बौद्धाचार्य दिङ्नाग के ऋणी हैं, सब विद्वान् सहमत नहीं है (देखें Indian Logic and Atomism, PP 98-110; The Vaiśeṣika System, PP. 319-23)। यदि यह माना जाए कि वात्स्यायन (न्या॰ भाष्यकार) प्रशस्तपाद के पश्चाद्भावी थे, तब वात्स्यायन के पश्चाद्भावी दिङ्नाग प्रशस्तपाद के अवश्य ही पश्चाद्भावी होंगे। प्रशस्तपाद निःसन्दिग्ध रूप से शङ्कराचार्य के पूर्वभावी हैं क्योंकि शङ्कराचार्य द्वारा कणादमत जैसा वर्णित है वह प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में प्राप्त होता है [देखें तर्कसंग्रह P. XL)।

वैशे॰ सूत्र तथा पदार्थधर्मसंग्रह पर टीका करने वाले आचार्यों में हमारे विचार से आचार्य व्योमशिव ही प्राचीनतम हैं [देखें चौखम्भा के प्रशस्तपादभाष्य की भूमिका म॰ म॰ प॰ गोपीनाथ कविराज, पृ॰ १]। यह ग्रन्थ कुछ वर्ष पहले प्राप्त तथा प्रकाशित हो

चुका है। सामान्यतः वैशेषिक सम्प्रदाय में शब्द का पृथक् प्रामाण्य स्वीकृत न होने पर भी व्योमशिव द्वारा वह स्वीकृत है (देखें Sarasvati Bhavana Studies, Vol. III, P. 109.)। इसी कारण कोई कोई व्योमशिव की अतिशय प्राचीनता स्वीकार नहीं करते। वे व्योमशिव को श्रीधराचार्य तथा उदयन के भी पश्चाद्भावी मानते हैं (देखें तर्कसंग्रह P. XLVI)। वादीन्द्र [१२२५ ई.] कृत रससार तथा वल्लभाचार्य कृत लीलावती में आचार्य व्योमशिव का उल्लेख है।

व्योमशिव के पश्चात् आचार्य श्रीधर ने [९९१ ई.] न्यायकन्दली नाम की पदार्थ-धर्मसंग्रह की टीका की रचना की। कन्दलीकार श्रीधर वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों से परिचित नहीं थे। श्रीधर तथा वाचस्पति ने बौद्धाचार्य धर्मोत्तर का उल्लेख किया है। अपनी किरणावली में उदयन ने श्रीधर के मत का खण्डन किया है यह प्रायः सर्ववादिसिद्ध है। अन्धकार पदार्थ के विषय में किरणावली में जिस मत का खण्डन पाया जाता है यद्यपि वह श्रीधर के मत के रूप से वर्णित नहीं है, तथापि उस मत से श्रीधर परिचित थे यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

न्यायकन्दलीकार श्रीधर के बाद वैशेषिक सम्प्रदाय के मुख्यतम आचार्य उदयन ही थे यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। यह भी अत्युक्ति नहीं है कि नव्यन्यायशास्त्र के इतिहास में वे ही आदि पुरुष [प्रवर्त्तक] थे। वस्तुतः उन्हीं के ग्रन्थों में नव्यन्यायशास्त्र का बीज निहित है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार, जो कि नव्यन्यायशास्त्र की विशिष्टता है, वह उदयन की कृतियों में सर्वत्र परिस्फुट है। न्यायवैशेषिक शास्त्र में उदयन की प्रतिभा अनन्यसाधारण थी यह सर्वजनस्वीकृत है। यह उन्हीं की प्रतिभा थी जिसने न्याय तथा वैशेषिक के दो प्रस्थानों को सम्मिलित कर न्यायवैशेषिक रूप अभिनव प्रस्थान की सृष्टि की। उपमान तथा शब्द की पृथक् प्रमाणता वैशेषिक मत में स्वीकृत नहीं, परन्तु न्याय मत में है। उदयन ने वैशेषिक दर्शन के रहस्यों की व्याख्या करते समय न्यायमतानुसार उपमान तथा शब्द की पृथक् प्रमाणता को स्वीकार किया है। अपर पक्ष में स्वप्नज्ञान की व्याख्या में न्यायमत का अनुसरण न कर वैशेषिक मतानुसार स्वप्न का एक प्रकार की स्मृति के रूप में वर्णन किया गया है। यह उनका न्याय तथा वैशेषिक मतों के समन्वय की चेष्टा का प्रमाण है। उन्होंने अपने समय में प्रसिद्ध अनात्मवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन अपनी अपूर्व मनीषा से आत्मतत्त्वविवेक तथा न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थों द्वारा किया था। ऐतिहासिकों का कहना है कि यदि कुमारिलभट्ट तथा उदयनाचार्य ने दृढ़ता के साथ बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन न किया होता तो भारतीयों के जीवन से बौद्ध सिद्धान्तों का प्रभाव शायद नहीं मिटता।

उदयन के लक्षणावली ग्रन्थ के एक श्लोक में ग्रन्थरचना काल का उल्लेख है। उससे उदयनाचार्य को ईसवी दशवीं सदी के चौथे चरण में समझने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु वर्त्तमान काल के विद्वानों ने इस श्लोक की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की है। [तर्काम्बराङ्काङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥]

वस्तुतः भामतीकार के प्रति उदयन ने जिस प्रकार की अपूर्व श्रद्धा का प्रदर्शन किया है उससे प्रतीत होता है कि उस श्रद्धा को प्रतिष्ठित होने के लिए दोनों व्यक्तियों में काल का कुछ अधिक व्यवधान अवश्य होना चाहिए। उदयन यदि ईसवी दसवीं सदी के लेखक होते तो भामतीकार से उनके काल का व्यवधान अल्प ही होता। इसीलिए हमें भी लक्षणावली के उद्धृत श्लोक की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं।

आचार्य उदयन की किरणावली निःसन्दिग्ध रूप से दुरूह ग्रन्थ है। कुसुमाञ्जलि तथा आत्मतत्त्वविवेक ग्रन्थों में शास्त्रार्थ शैली का अनुसरण करते हुए उन्हें परमत खण्डन के लिए अत्यन्त संयम के साथ परिमित वाक्यों का प्रयोग करना पड़ा है। परन्तु पदार्थधर्मसंग्रह की व्याख्या करते हुए वैशेषिक मत वर्णनों के समय भी उन्होंने क्यों अत्यन्त मितभाषिता का आश्रय लिया यह स्पष्ट नहीं होता। किरणावली की लेख-शैली ऐसी है कि उस ग्रन्थ को समझने के लिए निरतिशय अभिनिवेश की आवश्यकता होती है। सम्भवतः इसीलिए उदयन के पश्चाद्वर्ती काल में कई शताब्दियों तक के विशिष्ट नैयायिक तथा वैशेषिक आचार्यों ने किरणावली पर टीकाओं की रचना की। उन टीकाओं की सहायता के विना किरणावली ग्रन्थ का रहस्य भेद करना सम्भव नहीं। भविष्य में हम किरणावलीकार उदयन की भाषा तथा वैशेषिक दर्शन में उनकी देन के विषय में विस्तार से विवेचन करने की आशा करते हैं।

प्रशस्तपादभाष्य पर श्रीवत्स ने एक टीका की रचना की यह जैन ग्रन्थकार राजशेखर के कथनानुसार ज्ञात होता है।

न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ में उदयन का आचार्य के रूप में वर्णन नहीं किया; किन्तु उदयन के वाक्यों का उद्धरण दिया है। उन्होंने दो अवसरों पर उदयन का खण्डन भी किया है। इसी कारण बहुतों ने उदयन तथा वल्लभ में अल्पकाल का व्यवधान माना है। भट्ट वादीन्द्र तथा चित्सुखाचार्य आदि ईसवी तेरहवीं सदी के ग्रन्थकारों ने उनके नाम का उल्लेख किया है। इसी से विशेषज्ञों की सम्मति से वे ईसवी बारहवीं सदी के प्रथम पाद में वर्त्तमान थे। गौड तथा मिथिला के प्रायः प्रत्येक ग्रन्थकारने लीलावती को आकर ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया तथा उस पर टीकाओं की रचना की।

ईसवी बारहवीं सदी के मध्य भाग में शिवादित्य मिश्रने सप्तपदार्थी की रचना की। विद्वानों की सम्मति में उन्होंने भी उदयन के सदृश ही न्याय तथा वैशेषिक प्रस्थानों के समन्वय के लिए प्रयत्न किया था। शिवादित्य के ग्रन्थ पर उदयन का पर्याप्त प्रभाव सप्तपदार्थी का अध्ययन करते ही प्रतीत होता है। वादीन्द्र के रससार तथा चित्सुखी के द्वितीय परिच्छेद की नयनप्रसादिनी टीका में शिवादित्य का नाम और उनके लक्षणादि का उल्लेख मिलता है।

वादिवागीश्वरने प्रायः शिवादित्य के समय में 'मानमनोहर' नामक वैशेषिक ग्रन्थ की रचना की। उस ग्रन्थ का चित्सुखी में एक से अधिक बार उल्लेख किया गया है।

प्रमाणमञ्जरीकार तार्किकचूडामणि सर्वदेव शिवादित्य के बाद उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रमाणमञ्जरी अतिप्राचीन तथा प्रामाणिक वैशेषिक ग्रन्थ है।

गुणकिरणावली की टीका रससार के रचयिता वादीन्द्र ईसवी तेरहवीं सदी (प्रायः १२२५ ई॰) के थे। प्रगल्भाचार्य की द्रव्यकिरणावलीटीका 'प्रकाश' में दिवाकरोपाध्याय तथा प्रभाकरोपाध्याय नाम के दो वैशेषिकाचार्यों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः उन दोनों आचार्योंने किरणावली पर टीका की थी। विद्वानोंने इन दोनों को तुल्य काल का समझा है। इसी समय जगद्गुरु नाम के न्यायवैशेषिकाचार्य भी वर्त्तमान थे यह प्रगल्भाचार्य के कथन से प्रतीत होता है।

नव्य न्याय के प्रवर्त्तक तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्याय [ईसवी चौदहवीं सदी के मध्यभाग] के पुत्र तथा शिष्य न्यायवैशेषिक शास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार वर्धमानोपाध्याय थे। उनकी टीकाओं का नाम प्रकाश है। किरणावली तथा न्या॰ लीलावती पर उन्होंने प्रकाश टीका की रचना की। वर्धमान ईसवी चौदहवीं सदी के तीसरे पाद में वर्त्तमान थे यह विशेषज्ञों की धारणा है।

वर्धमान के बाद हम प्रगल्भाचार्य का उल्लेख कर सकते हैं। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि के चारों खण्डों पर 'प्रगल्भा' नाम की टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त द्रव्यकिरणावलीप्रकाश, गुणकिरणावलीप्रकाश तथा न्या॰ लीलावती पर प्रगल्भा टीका उन्हीं की कृति है। उनका जन्मकाल प्रायः १४१५ ई॰ है। वे प्रायः १४७५ के आसपास तक जीवित थे। प्रगल्भाचार्य बङ्गाल के थे। उनके समय के प्रसिद्ध वैयाकरण श्रीमान् भट्टाचार्यने भी द्रव्यकिरणावली तथा वर्धमान के द्रव्यकिरणावलीप्रकाश पर टीका की रचना की— यह अनुमान करने में बाधा नहीं।

वर्धमान के बाद मिथिला के आचार्य महानैयायिक जयदेव [पक्षधर] मिश्रने वर्धमान के द्रव्यप्रकाश तथा लीलावतीप्रकाश पर 'विवेक' टीका की रचना की। द्रव्यप्रकाश की टीका में जयदेवने दर्पणकार का उल्लेख किया। सम्भवतः यज्ञपति उपाध्याय के प्रपितामह वटेश्वरोपाध्याय ही दर्पणकार थे। इन्होंने न्या. लीलावती पर भी टीका लिखी। जयदेव के बाद प्रायः ई॰ १५०० में भगीरथ ठक्कुर वर्धमान के द्रव्यप्रकाश, गुणप्रकाश तथा लीलावतीप्रकाश पर प्रकाशिका नाम की टीकाओं के रचयिता थे। रुचिदत्त भी गीरथ के प्रायः समकालिक थे। इनकी कृति न्या॰ कुसुमाञ्जलि की मकरन्द टीका है। रुचिदत्त जयदेव के शिष्य थे। इन्हीं की किरणावलीप्रकाश की विवृति नाम की टीका विद्वानों की प्रशंसा का विषय हुई थी। इनका आविर्भाव ई॰ १५०० के बाद नहीं हो सकता है। ई॰ पन्द्रहवीं सदी में ही धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थकार मैथिल वाचस्पति मिश्रने भी न्या. लीलावती पर टीका की रचना की ऐसी विद्वानों की धारणा है। शङ्कर मिश्र इनके तुल्यकालवर्ती तथा सम्बन्धी थे।

उन्होंने कणादरहस्य, किरणावलीनिरुक्ति प्रकाश, वैशेषिकसूत्रोपस्कार तथा लीलावतीकण्ठाभरण नाम की टीकाओं की रचना की थी।

नव्यन्यायशास्त्र में अलौकिक प्रतिभावान् रघुनाथ शिरोमणि भी द्रव्यकिरणावली-प्रकाश, गुणकिरणावलीप्रकाश तथा न्या॰ लीलावतीप्रकाश पर दीधिति टीका के रचयिता थे। ये तीनों ग्रन्थ वैशेषिक साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं। इनका आविर्भाव ईसवी पन्द्रहवीं सदी के तृतीय चरण में हुआ। रुचिदत्त के अल्पकाल बाद ही बलभद्र आविर्भूत हुए। वे शिवादित्य की सप्तपदार्थी पर सन्दर्भ, सर्वदेव की प्रमाणमञ्जरी पर तथा द्रव्यकिरणावली-प्रकाश पर विमल नाम की टीकाओं के रचयिता थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर रुचिदत्त के ग्रन्थों की समालोचना की है। आप प्रगल्भाचार्य के शिष्य थे इनका आविर्भाव काल ईसवी पन्द्रहवीं सदी के अन्त में है।

बलभद्र के पश्चाद्वर्ती काल में "सकलशास्त्रारविन्द-प्रद्योतन-भट्टाचार्य" नाम से प्रसिद्ध पद्मनाभ मिश्र प्रशस्तपादभाष्यसेतु, न्यायकन्दलीसार, किरणावलीभास्कर तथा द्रव्यकिरणावली-प्रकाश पर वर्धमानेन्दु नाम की टीकाओं के रचयिता थे। पद्मनाभ मिश्र के बाद नवद्वीप के मथुरानाथ तर्कवागीश ने द्रव्यकिरणावली, गुणकिरणावली, न्या॰ लीलावती, द्रव्यकिरणावली-प्रकाश तथा लीलावतीप्रकाश पर टीकाओं की रचना की। इनकी टीकाओं का नाम रहस्य है! इनका आविर्भाव ईसवी सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। इनके बाद नवद्वीप के जगदीश तर्कालङ्कार ने प्रशस्तपादभाष्य की 'सूक्ति' टीका की रचना की। मथुरानाथ से जगदीश का काल व्यवधान बहुत अल्प था। संक्षेप में यही वैशेषिकदर्शन के क्रमविकाश का परिचय है।





विषय सूची

भूमिका—

मंगल श्लोक—प्रकाशकार के नमस्कारसम्बन्धी विचार, श्लोक की विस्तृत व्याख्या; पृ० १–२

द्वितीय श्लोक—'द्रव्यम्' पद में एकवचन क्यों ? वर्धमान की व्याख्या में आंशिक दोष; पृ० २

तृतीय श्लोक—किरणावलीग्रन्थ रचना का उद्देश्य; पृ० ३

चतुर्थ श्लोक—समुद्र के साथ वैशेषिकशास्त्र की तुलना; निन्दा व्याज से; प्रंशसा-पूर्वक; पृ० ४–५

प्रशस्तपाद के मत में प्रणाम दो प्रकार के, प्रणाम के विरोध में पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रणाम अनावश्यक है। शंका का समाधान—निर्विघ्न समाप्ति ही प्रणाम का फल; वलवद्विघ्ननिवारण के लिए दो प्रणाम की आवश्यकता, शान्ति अथवा ग्रन्थ परिसमाप्ति के लिए देवता का नमस्कार कर्त्तव्य है यह सिखलाने के लिए 'नमस्कार' को ग्रन्थ में लिखना परमावश्यक है। नमस्कार सदाचार है—यहां 'सत्' का लक्षण पर विविध विचार। ग्रन्थारम्भ में त्रिविध नमस्कार आचार्य स्वीकृत है। पृ० ५–११

'क्त्वाच्' प्रत्यय का अर्थ के विषय में प्राचीन नैयायिकमत, उस पर शंका तथा उसका समाधान। प्रकाशकार के प्रकारान्तर से 'अव्यवहित पूर्ववर्त्तित्व' की उपपत्ति, नव्यमत में क्त्वाच् का अर्थ, 'क्त्वाच्' प्रत्यय के शक्यार्थ पर अनेक मत तथा उनकी आलोचना, स्वीयमत, इस विषय में गङ्गेशोपाध्याय के विचार, प्रकाशकार का विचार, शवरस्वामी का मत तथा उनके अभिप्राय, वार्त्तिककार कात्यायन के मत, प्रदीपकार तथा काशिकाकार के मत, वैयाकरणभूषणकारमत की आलोचना। पृ० ११–२४

'प्रणम्य' पद में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ, इसी प्रसंग में धातु की अनेकार्थकता पर विचार, उपसर्गों की नानार्थता पर आपत्ति, उदयन के मत में उपसर्ग वाचक नहीं, उपसर्गों की वाचकता का खण्डन, उनकी सान्दानिक द्योतनाशक्ति, गणों में पठित अर्थ में धातुओं की शक्ति है अन्य अर्थ में लक्षणा है। पृ० २४–२६

भक्ति, श्रद्धासहित प्रणाम ही मङ्गल है। मङ्गल से निर्विघ्नसमाप्ति, मङ्गल तथा समाप्ति में अन्वयव्यभिचार तथा व्यतिरेकव्यभिचार का प्रदर्शन, उक्त व्यभिचार का निरसन, जन्मान्तरीय मंगलाचरणकल्पना द्वारा व्यभिचारनिरसन में अन्योन्याश्रयदोष की आशंका, आशङ्का का समाधान। पृ० २६–३३

मंगल रहने पर भी समाप्ति के अभाव होने पर विघ्न की प्रवलता, विघ्न तथा मंगल में नाश्यनाशकभाव की कल्पना में आपत्ति, नमस्कार की बहुलता बलवद्‌विघ्ननिवारण का प्रयोजक नहीं, नमस्कार की बहुलता सम्भव नहीं, विस्तृत मंगल भी बलवद्‌विघ्ननाश का कारण नहीं, मंगलरहित ग्रन्थों में समाप्ति के कारण जन्मान्तरीयमंगल की कल्पना युक्तिशून्य है। वर्धमानकृत समाधान—विघ्नध्वंस ही मंगल का फल, समाप्ति नहीं, समाप्ति तथा विघ्नाभाव में कार्यकारणभाव की कल्पना सम्भव नहीं यह पूर्वपक्ष, इसके वर्धमानकृत-समाधान, विघ्नध्वंस तथा मगल में कार्यकारणभाव कल्पित होने से वैदिक क्रियाओं की 'फलावश्यम्भाव' नियम की रक्षा। पृ० ३३–३८

उदयन के मत में विघ्न की आशङ्का रहने पर विघ्नध्वंस के लिए मंगलाचरण कर्त्तव्य है। इस पर शंका, विघ्न के संदेह रहने पर मंगलाचरण कर्त्तव्य है, आचार्य की इस उक्ति पर आपत्ति, आचार्य ग्रन्थ की सङ्गति, पृ० ३८–४०

प्रशस्तपाद के मंगलाचरण श्लोक में 'हेतु' पद पर आपत्ति, इस पर आचार्य का समाधान, प्रणाम में क्रम शिष्यशिक्षा के लिए, 'अतः' पद की आवश्यकता, 'प्रवक्ष्यते' पद में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ, 'महोदय' शब्द की व्युत्पत्ति, 'तत्त्वज्ञान' पद में 'तत्त्व' शब्द का अर्थ, पृ० ४०–४६

वैशेषिकसूत्र में 'अभाव' पदार्थ का अनुल्लेख, आचार्यकृत समाधान समीचीन नहीं, मतान्तर से समाधान तथा उसकी असमीचीनता, षट्पदार्थ के उल्लेख से ही अभाव उल्लिखित हुआ है यह मत तथा उसकी असङ्गति, लीलावतीकार के समाधान तथा उसकी असमीचीनता, 'अभाव' वैशेषिकसम्मत पदार्थ नहीं इस संशय का निराकरण। सूत्र में केवल भावपदार्थ का ही विभाग, निःश्रेयस क्या?—दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्ति, उसका स्वरूप पर विस्तृतविचार, न्यायवैशेषिक मत में गौण तथा मुख्य मुक्ति के भेद, श्रुति तथा न्यायसूत्र में सामञ्जस्य के लिए दुःखात्यन्ताभाव ही आचार्य की सम्मति से मोक्ष है, इस पर विस्तृतविचार, प्रकाशकारानुसार मोक्ष का लक्षण, प्राप्त ग्रन्थों में प्रकाशसम्मत लक्षण की विकृति तथा उसका वास्तवस्वरूप। 'आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के विषय में वादियों में मतभेद नहीं आचार्य की इस उक्ति वेदान्तियों के लिए प्रयोज्य नहीं, वेदान्तमत में मोक्ष अभावात्मक नहीं है। आचार्योक्ति का तात्पर्य। पृ० ४६–६०

बौद्धमत में मोक्ष, आत्मविनाश मोक्ष में आवश्यक है। इसके विरोध में वैशेषिक युक्ति, बौद्धमत में विज्ञानसन्तान (धारा) ही आत्मा है। वैशेषिकमत में विज्ञान का आश्रय ही आत्मा है, उसका उच्छेद सम्भव नहीं। पृ० ६०–६२

सांख्यमत में त्रिविध दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्ति ही मोक्ष है। विज्ञानभिक्षु की व्याख्या, विदेहकैवल्य का स्वरूप, उस मत में अनागत दुःख के प्रागभाव भी मोक्ष। सांख्य मत में पुरुष का स्वरूप, दुःखनाश ही पुरुषार्थ है इस मत में पूर्वपक्षी की शंका,

उसका समाधान; ज्ञान का स्वरूप, पुरुष को कूटस्थ कहने का तात्पर्य; आगामि बाधनायुक्त चित्त का नाश ही पुरुषार्थ है। पुरुष तथा प्रकृति के भेद का साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है। इस पर पूर्वपक्ष, उसका सांख्यमत से समाधान; विज्ञानभिक्षु के मत में प्रकृति-पुरुषसंयोग का स्वरूप; पुरुष के प्रयोजन के साधन के लिए प्रकृति की भोग्य रूप में परिणति। पृ० ६२–६७

बौद्धमत में भी अपवर्ग काल में दुःखनिवृत्ति, उस मत में अनुशय तथा दृष्टि का विभाग, उनके मत में अविद्या; उपप्लव रहित चित्तप्रवाह ही मोक्ष, चार आर्यसत्य तथा प्रतिपक्ष भावना; सत्याभिसमय तथा प्रतिसंख्यानिरोध; सौत्रान्तिक अथवा शून्यवादीमत में चित्तप्रवाह की विरति हो मोक्ष, आचार्य की पद्धति से बौद्धमत का खण्डन, चित्‌धातु के दो प्रकार परिणाम, सांख्यमत से सादृश्य, वैभाषिकों के सदृशपरिणामात्मक चित्‌धातु ही मोक्ष या निर्वाण है। बौद्ध मतों के खण्डन में युक्ति। पृ० ६७–७०

अद्वैतवाद के ब्रह्म, जीव तथा जगत् की व्यावहारिक सत्ता, अविद्या ज्ञानविरोधी भाव पदार्थ है। अद्वैतवादि मत में मोक्ष का स्वरूप। पृ० ७०–७२

तौतातित मत में मोक्ष का स्वरूप; प्रकाशकार आदि ने तौतातितमत को भाट्टमत कहा है। परन्तु वह मत सुप्राचीन नैयायिकसम्प्रदाय का मत है। भट्टमत की मुक्ति। पृ० ७२–७५

माहेश्वर (शैव) मत में मोक्ष। शिवतत्त्व, प्रकाशतत्त्व का स्वरूप, शिव तथा ब्रह्म, शैव से सांख्यमत में भेद। शिव सदाशिव तथा ईश्वर। षट्त्रिंशत् तत्त्व, अभिनव-गुप्त की शुद्धविद्या, शैवों की माया का स्वरूप, वेदान्त से भेद। शैवमत में जीवन्मुक्ति तथा परममुक्ति अभिन्न है। पृ० ७५–८१

आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति में सुख भी परिहार्य, इस पर पूर्वपक्ष तथा समाधान, दुःखनाश क्या पुरुषार्थ है इस पर विस्तृत विचार, न्यायमत की स्थापना। दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्ति में प्रमाण, उस शब्द का तात्पर्य; मोक्ष में प्रमाणान्तर तथा उसकी व्याख्या; सर्वमुक्तिवाद; उसमें विपक्षियों की आपत्ति तथा उसका समाधान। मोक्ष के प्रति अदृष्ट कारण है या नहीं इसमें शंका तथा समाधान। पृ० ८१–९५

मुक्तिसाधक अनुमान की आलोचना; पूर्वपक्ष की समालोचना। पृ० ९६–९९

मूलग्रन्थ के 'उपपत्ति' पद का मथुरानाथ की व्याख्या। तत्त्वज्ञान किस प्रकार से उत्पन्न होता है। वह किस प्रकार से निःश्रेयस का कारण है। निःश्रेयस लाभ की न्याया-नुसार प्रणाली। तत्त्वज्ञान के स्वरूप के विषय में उदयन का मत। "तच्च ईश्वरचोदनाभिव्य-क्ताद् धर्मादेव" प्रशस्तपाद की इस पंक्ति की मथुरानाथी व्याख्या। व्योमशिव का मत। व्योमशिव ज्ञानकर्मसमुच्चय वादी थे। उनके मत में 'चोदना' का अर्थ। न्यायकन्दलीकार के मत में उक्त प्रशस्तपाद की पंक्ति की व्याख्या। वह भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। अपवर्गप्रकरण की न्यायकन्दली में असामञ्जस्य। शङ्कर मिश्र के तत्त्वज्ञान। पद्मनाभ तथा जगदीश के मत। पृ० ९९–१०६

कर्म मोक्ष में उपकारक है। ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद, उसकी प्राचीनता, उसके समर्थन में श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक। भास्कर के मत में कर्म भी मोक्ष में साक्षात् रूप से उपयोगी। वेदान्तसूत्र में ज्ञानकर्मसमुच्चय स्वीकृत। आचार्य भर्तृप्रपञ्च भी समुच्चयवादी। ब्रह्मदत्त का मत, मण्डनमिश्र का मत, रामानुज मत। किरणावली की रीति से ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन। न्यायभाष्य में यह वाद अस्वीकृत। न्यायमञ्जरी में समुच्चयवाद का विरोध। तत्त्वचिन्तामणि में ज्ञानकर्मसमुच्चय का समर्थन। इस विषय में मं० मं० प० फणिभूषण तर्कवागीश जी से वर्त्तमान ग्रन्थकार का मतभेद। पृ० १०६–१२६

वैशेषिक त्रिसूत्री की व्याख्या। पृ० १२९–१३०

वैशेषिक पदार्थों के लक्षण, उनके साधर्म्य। नौ प्रकार द्रव्य, सामान्य संज्ञा, 'नवैव' पद में 'एव' कार का अर्थ। १३०–१३३

अन्धकार—पूर्वपक्षी का मत, अन्धकार का स्वीकृत पदार्थों में अन्तर्भाव की असमीचीनता। पृ० १३३–१३५

अन्धकार के गुणत्व का निषेध। पृ० १३६–१३९

अन्धकार के द्रव्यत्व का विशेष विचार पूर्वक निषेध। न्यायकन्दलीकार के मत का खण्डन। पृ० १३९–१६८

गुणविभाग सूत्र में अनुक्त सात गुणों का संग्रह। गुणों के विभाग के विषय में विस्तृत विचार, कर्म का लक्षण तथा विभाग। सामान्य का विभाग तथा लक्षण। साङ्कर्य जातिबाधक है। विशेष का लक्षण में असङ्गति। समवाय का लक्षण। अयुतसिद्ध पद की व्याख्या। पृ० १६८–१९९

वैशेषिक मत में समवाय नित्य है। समवाय के स्वरूप का विस्तृत विचार। न्यायमत में समवाय का प्रत्यक्ष। वैशेषिकमत में समवाय अप्रत्यक्ष है। समवायसाधक अनुमान। पृ० १९९–२०६

प्रभाकर मत में शक्ति संख्या तथा सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ हैं। वैशेषिक मत में वे षड्विध पदार्थ में अन्तर्भूत हैं। कुमारिल का मत। भट्टमत। मानमेयोदयकार का मत। मीमांसकों के लिए 'शक्ति' स्वीकार की आवश्यकता। शक्ति के प्रमापक के विषय में भट्ट तथा प्रभाकरमत का भेद। संख्या की पदार्थान्तरता पर विचार। सादृश्य की पदार्थान्तरता का खण्डन। भाट्टमत में सादृश्य पदार्थान्तर नहीं। पृ० २०६–२१३

'यदि च धर्मा अपि' आदि ग्रन्थ की व्याख्या, साधर्म्य तथा वैधर्म्य पदों के अर्थ, 'अपि' शब्दार्थविचार, पद्मनाभ मिश्र का मत, जगदीश का मत, पृ० २१३–२१६

'अस्तित्वम्' आदि ग्रन्थ की व्याख्या, अस्तित्व, अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्वपदार्थविचार, प्रकाशकार का मत, मुद्रित पाठ 'असमवायित्व' पर विचार, रुचिदत्त स्वीकृत

पाठ में शंका, प्रकाशकार का 'अस्तित्व' पदार्थ, जगदीश का मत, सेतुकार का मत, न्यायकन्दलीकार का मत तथा उस पर व्योमशिव का प्रभाव, दीधितिकार का 'षट्पदार्थ-साधर्म्य' का निर्वचन, भाषापरिच्छेदकार की रीति। पृ० २१६–२२७

'अभिधेयत्व' पदार्थ विचार, मथुरानाथ का मत, पृ० २२७–२२९

'ज्ञेयत्व' पदार्थ विचार, लीलावतीकार का मत, पृ० २२९–२३०

'आश्रितत्वमाश्रयता' आदि ग्रन्थव्याख्या, किरणावलीकार के निर्वचन में युक्ति, जगदीश का व्याख्यान्तर, व्योमशिव का मत, प्रकाशकार का प्रकारान्तर से व्याख्या, न्यायकन्दलीकार का मत, मुक्तावलीकार का निर्वचन, दिनकर का मत, प्रशस्तपाद के 'आश्रितत्वञ्च' ग्रन्थ में 'च' कार का अभिप्राय, पृ० २३०–२३६

'निष्क्रियत्व' पदार्थ, पृ० २३६

'अथ सयवायाद्' आदि ग्रन्थव्याख्या, 'समवायित्व' पद का अर्थ, किरणावलीकार का मत, व्योमवती तथा न्यायकन्दली में उसका समर्थन, प्रकाशकार की व्याख्या पूर्वाचार्यों के विरोधी, 'अनेकत्व' पदार्थविचार, प्रकाशकार के निर्वचन आचार्य का अनभिप्रेत, पद्मनाभमिश्र का मत, मथुरानाथ की व्याख्या निर्दोष नहीं, पृ० २३६–२४१

'द्रव्यं विहाय' आदि ग्रन्थ व्याख्या, 'निर्गुणत्व' पदार्थ, प्रकाशकार का मत, जगदीश तथा मुक्तावलीकार का मत, 'निष्क्रियत्व' पदार्थ, किरणावलीकार का अभिप्राय में सङ्गति है ? जगदीश का मत, पृ० २४१–२४६

'द्रव्यादीनां त्रयाणाम्' आदि ग्रन्थ व्याख्या, 'सत्तासम्बन्ध, सामान्यविशेषवत्त्व, स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्व' पदों के अर्थ-विचार, व्योमशिव की व्याख्या, एकदेशिमत, सामान्य के प्रकाशकार तथा भास्करकारस्वीकृत लक्षण की समर्थनयोग्यता नहीं, 'धर्माधर्म-कर्तृत्व' की व्याख्या, प्रकाशकार का मत, पृ० २४६–२५५

'ननु जात्यादिनाम्' आदि ग्रन्थव्याख्या, पृ० २५५–२५८

कार्यत्वमभूत्वाभावित्वम्' आदि ग्रन्थ व्याख्या, किरणावलीकार के कार्यत्व का निर्वचन, 'अनित्यत्व' का निर्वचन, व्योमशिव का मत, उद्द्योतकर का मत, न्यायभाष्य तथा न्याव्वार्त्तिककारों के मतों की समीक्षा, न्याव्वार्त्तिक में उद्धृत 'अनित्यत्व' के निर्वचन सम्बन्धी मतविशेष, मतान्तर, मतान्तर, न्याव्वार्त्तिककार का 'अनित्यत्व', पृ० २५८–२६७

'कारणत्वञ्च' आदि ग्रन्थव्याख्या, 'कारणत्व' के निर्वचन में किरणावलीकार, 'पारिमाण्डल्य' के परित्याग के विषय में कन्दली, सूक्ति आदि की युक्तियां, 'पारिमाण्डल्य' क्या? व्योमशिव का मत, कन्दलीकार तथा सूक्तिकार का अभिप्राय, प्रशस्तपाद के 'आदि' पद की किरणावलीकारकृत व्याख्या में वक्तव्य, भास्करकार का मत, उस पर वक्तव्य, पृ० २६७–२७६

'द्रव्याश्रितत्वञ्च' आदि ग्रन्थव्याख्या, 'द्रव्याश्रितत्व' पदार्थविचार में किरणावली-कार का मत, उसमें असङ्गति, 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' ग्रन्थ का अभिप्राय, 'द्रव्याश्रितत्व' पदार्थ के विषय में व्योमशिव का मत, पृ० २७६–२७९

'सामान्यादीनाम्' आदि ग्रन्थव्याख्या, 'सत्ताविरह' पद में 'विरह' अत्यन्ताभाव है, 'सत्ता आदि में अपर सामान्य रह सकता है या नहीं' विषय में किरणावलीकार का सिद्धान्त क्या ? स्वात्मसत्त्व की व्याख्या में सेतुकार का मत, मथुरानाथ का मत, सूक्तिकार का मत, उस मत में असङ्गति, व्योमशिव का मत, पृ० २७९–२८१

'बुद्धिलक्षणत्वम्' आदि ग्रन्थव्याख्या, किरणावली में 'मात्र' पद का अध्याहार, 'प्रमाण' पद का अर्थ, क्या ? प्रकाशकार का समाधान, प्रकारान्तर से समाधान, सूक्तिकार की व्याख्या, व्याख्यान्तर, इस पर वक्तव्य, सेतुकार प्रकाशकार का अनुसरण किये हैं। 'सामान्य, विशेष तथा समवाय वाह्यपदार्थ है या नहीं, पर विचार, पृ० २८१–२८७

'अकार्यत्वमनादित्वम्' आदि ग्रन्थव्याख्या। 'अनादित्व' का विचार, प्रकाशकार की व्याख्या, व्योमशिव का मत, सामान्यादि पदार्थों में अकार्यत्व स्वीकृत न होने पर उनकी स्वरूपहानि का प्रसङ्ग पर विचार। पृ० २८७–२९३

'अकारणत्वमनात्मधर्मेतर' आदि ग्रन्थव्याख्या। किरणावलीकार का अभिप्राय, व्योमशिव का मत। पृ० २९३–२९५

'असामान्यविशेषवत्त्वम्' ग्रन्थव्याख्या। किरणावलीकार की युक्ति, सेतुकार का वक्तव्य,। पृ० २९५–२९७

'विशेषेष्वपि' आदि ग्रन्थव्याख्या। पृ० २९७–२९९

'समवायस्यैकत्वाच्च' आदि ग्रन्थव्याख्या पृ० २९९–३००

'नित्यत्वमनन्तत्वम्' आदि ग्रन्थव्याख्या। प्रकाशकार का मत, पृ० ३००–३०२

'अर्थशब्दानभिधेयत्वम्' आदि ग्रन्थव्याख्या, पृ० ३०२

'चकारात् कारणानपेक्षत्वम्' ग्रन्थव्याख्या। प्रकाशकार की व्याख्या। पृ० ३०२

'उपलक्षणञ्चैतद्' आदि ग्रन्थव्याख्या। पृ० ३०३

'तद्यथा' आदि ग्रन्थव्याख्या। नित्यत्व का निर्वचन, प्रकाशकार का मत, असम-वायिकारण के स्वरुप का विशेष विवेचन। पृ० ३०३–३०७

'इदानीम्' आदि ग्रन्थव्याख्या। अपि शब्द अभिव्याप्तिवाचक है समुच्चायक नहीं। पृ० ३०७–३०८

'द्रव्यत्वयोगो' आदि ग्रन्थव्याख्या। योगपद का तात्पर्य, 'अपरिच्छिन्नदेशत्व, पद का तात्पर्य, समवाय की अभिव्यक्ति क्या है ? प्रकाशकार का मत, पृ० ३०८–३११

'द्रव्यत्वमेव नास्ति' आदि ग्रन्थव्याख्या। 'द्रव्यत्व' सिद्धि पर विस्तृत विचार, प्रकाशकार का मत, रहस्यकार का मत, 'न कार्याश्रयतोपलक्षणेन' आदि ग्रन्थ का तात्पर्य, जातिबाधकविचार, प्रकाशकार का मत, नव्यमत, दोनों के भेद, नव्यों का वक्तव्य, दिनकर का मत, रघुनाथशिरो० का मत, अनवस्था की व्याख्या, प्रकाशकार का मत, रुपहानि की व्याख्या, नव्यमत, प्रकाशकार का मत, पृ० ३११–३२९

'व्यञ्जकधर्मानुपादाय' आदि ग्रन्थव्याख्या। पृ० ३२९

स्वात्मन्यारम्भकत्वम्' आदि ग्रन्थव्याख्या। व्योमशिव की व्याख्या, किरणावलीकार का मत, पृ० ३३०

'गुणवत्त्वं गुणसमवायः' आदि ग्रन्थव्याख्या। विशेषविवेचन। पृ० ३३१

'तदेतद्द्रव्यम्' आदि ग्रन्थ व्याख्या। पृ० ३३२

'कार्यकारणाविरोधित्वम्' आदि ग्रन्थव्याख्या। प्रकाशकार के अविरोधित्व का स्वरुप, व्योमशिव का मत, कार्यनाश के लिए असमवायि तथा समवायिकारणनाश पर विचार, रुचिदत्त का विचार, उसकी समालोचन, व्योमशिव के मत में यहां दो साधर्म्य है, यह मत समीचीन नहीं, पृ० ३३३–३४१

'अन्त्यविशेषवत्वम्' आदि ग्रन्थव्याख्या। प्रकाशकार की व्याख्या, 'अन्त्य' पद की आवश्यकता पर प्रकाशकार, सेतुकार, सूक्तिकार के विवेचन, पृ० ३४१–३४३

'अनाश्रितत्वमाधारैकस्वभावता' आदि ग्रन्थव्याख्या। पृ० ३४३

'पृथिवीत्यादि' आदि ग्रन्थव्याख्या। बहुत्व संख्या ही अनेकत्व है, किरणावलीकार का विवेचन, यह विवेचन युक्तिसिद्ध नहीं, भास्करकार का मत, सूक्तिकार का मत, मथुरानाथ का मत, 'अपरजातिमत्त्व' के विवेचन में किरणावलीकार का मत, 'संस्कारवत्त्व' भी षड्विध पदार्थ का साधर्म्य है इसका विशद विवेचन, पृ० ३४४–३४९

'क्षितिः, इत्यादि प्रशस्तपाद की पंक्ति की व्याख्या। क्रिया का अर्थ स्पन्द, इस पर आपत्ति, 'आकाशेत्यादि' प्रशस्तपादीय पंक्ति की व्याख्या, प्रकाशकार का परिष्कार, 'पृथिव्यादीनाम्' आदि प्रशस्तपादीय पंक्ति की व्याख्या, भूतत्व जाति नहीं, उपाधि का विचार, भूतत्वस्वरूप विचार, पृ० ३४९–३५९

'इन्द्रियप्रकृतित्व' की व्याख्या, पृ० ३५९–३६१

'बाह्यैकेन्द्रियविशेषगुणवत्व' की व्याख्या। प्रकाशकार की व्याख्या में दोष, पृ० ३६१–३६७

'चतुर्णां पृथिव्यप्तेजोवायूनां' ग्रन्थ की व्याख्या। पृ० ३६७–३७०

'त्रयाणां पृथिव्यप्तेजसाम्' आदि ग्रन्थव्याख्या। पृ० ३७०

'द्वयोः पृथिव्युदकयोः' आदि ग्रन्थव्याख्या। पृ० ३७१–३७६

'क्षित्युदकात्मनाम्' आदि ग्रन्थव्याख्या । पृ० ३७६–३७७

'आकाशात्मनाम्' आदि ग्रन्थव्याख्या । 'विशेष गुणवत्त्व' के स्वरुप पर प्रकाशकार, 'क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' पर मथुरानाथ, सूक्तिकार की व्याख्या मूल से सम्बद्ध नहीं, पृ० ३७७–३८१

'दिक्कालयोः' आदि ग्रन्थव्याख्या । पृ० ३८१

'सर्वोत्पत्तिमताम्' आदि ग्रन्थव्याख्या । पृ० ३८२

'क्षितितेजसोः' आदि ग्रन्थव्याख्या । व्योमशिव, सेतु, प्रकाशकार की सम्मति, पृ० ३८६–३९०

'एवं सर्वत्रविपर्ययात्' आदि ग्रन्थव्याख्या । इस जटिल वाक्यों का विश्लेषण, पृ० ३९०–३९२

'तद्यथा गन्धवती' आदि ग्रन्थव्याख्या । सूक्तिकार का अभिप्राय, व्योमशिव का मत, पृ० ३९२–३९७

'एवमात्मानम्' आदि ग्रन्थव्याख्या । पृ० ३९७–४०१

॥ श्रीः ॥

किरणावली

हिन्दी-अनुवाद-व्याख्यासहिता

विद्यासन्ध्योदयोद्रेकादविद्यारजनीक्षये ।
यदुदेति नमस्तस्मै कस्मैचिद्विश्वतस्त्विषे ॥ १ ।

[विद्यासन्ध्या (अर्थात् ज्ञान) के उदय से अविद्यारात्रि (अर्थात् अज्ञान) का क्षय (नाश) होने पर जो सर्वतः परिव्याप्त मयूखमाली (सूर्यदेव) उदित होते हैं उनको (हम) नमस्कार (करते हैं) ॥ १ ।]

इस श्लोक के द्वारा ग्रन्थकार (उदयन) कर्त्तव्य ग्रन्थ के विघ्नों के निवारण के लिए सूर्य भगवान् के उद्देश्य में नमस्कार करते हैं। यद्यपि यहाँ सूर्यवाचक पद से साक्षात् रूप से उदयक्रिया का कर्ता उल्लिखित नहीं है, तथापि विद्या तथा अविद्या के यथाक्रम सन्ध्या तथा रात्रि के रूप में वर्णन के कारण सामान्यार्थप्रतिपादक 'यत्' शब्द सूर्यरूप विशेषार्थ का उपस्थापक हुआ है।[१]

प्रकाशकार वर्धमान की व्याख्या में कहा गया है कि पूर्वोक्त नमस्कार जीव का अभीष्ट मोक्षकारणीभूत तत्त्वज्ञान का विषयभूत आत्मतत्त्व के उद्देश्य से प्रयुक्त है। 'विद्या' शब्द का अर्थ 'आत्मसाक्षात्कार' है। आत्मतत्त्व को प्रकाशित करता है इस हेतु उसका सन्ध्या अर्थात् प्रभात के रूप में वर्णन किया गया है। सन्ध्या के उदय का उद्रेक शब्द आत्मसाक्षात्कार-जनित सुदृढ़ संस्कार की उत्पत्ति का वाचक है। 'अविद्या' शब्द आत्मविषयक मिथ्याज्ञान का वाचक है। वह तत्त्वज्ञानविरोधी अथवा आसक्ति का जनक होने से रजनी= रात्रिरूप में उल्लिखित है। जिस आत्मस्वरूप के उदय अर्थात् प्रकाश से मिथ्याज्ञान का क्षय=नाश, अर्थात् मोक्षरूप प्रयोजनसिद्धि होती है उस सर्वोत्कृष्ट तथा योगजधर्म के प्रभाव से सर्वविषयक ज्ञानविशिष्ट आत्मस्वरूप को ग्रन्थकार नमस्कार करते हैं।[२]

---

१. यदिति सामान्यतोऽपि कर्तृनिर्देशे विद्याविद्ययोः सन्ध्यारजनीभ्यां निरूपणाद् रविरुदेता लभ्यते। प्रकाश, पृ० १।२

२. तस्मै कस्मैचित् सर्वोत्कृष्टाय विश्वतस्त्विषे योगजधर्मसाचिव्यात् विश्वविषयकज्ञानाय नमः। प्रकाश, पृ० ३

सन्ध्या (प्रथम तथा अन्तिम) यदि रात्रि का ही भाग हो तब उसके उदय = आविर्भाव से रात्रि के कुछ अंश का ही क्षय होने से रजनीक्षय नहीं हो सकता। अतः सन्ध्या की उपस्थिति से रात्रि का क्षय होता है कहना युक्तिसिद्ध नहीं प्रतीत होता है। अतः सन्ध्या रात्रि का अंश नहीं है। रात्रिशब्द से उद्दिष्ट भूभाग से समस्त (तावत्) सूर्यरश्मियों के लुप्त (सम्बन्धरहित) होने के काल को समझा जाता है। सन्ध्या शब्द उद्दिष्ट भूभाग में विरल सूर्यरश्मि के सम्बन्धविशिष्ट काल का बोधक है। धर्मशास्त्रों में इसीलिए सन्ध्या तथा रात्रि पृथक्-पृथक् रूप से कही गयी हैं। अतः सन्ध्या के उदय = आविर्भाव से रात्रिक्षय होने में किसी प्रकार की असङ्गति नहीं है[१] ॥ १ ।

यतो द्रव्यं गुणाः कर्म तथा जातिः परापरा ।
विशेषः समवायो वा तमीश्वरमुपास्महे ॥ २ ।

[जो द्रव्य, गुण, कर्म, पर (अर्थात् व्यापक) तथा अपर (अर्थात् व्याप्य) जाति, विशेष तथा समवाय का हेतु है (अर्थात् जो द्रव्य, गुण तथा कर्म यह तीन अनित्य पदार्थों का कारक हेतु और जाति, विशेष तथा समवाय इन तीन पदार्थों का ज्ञापक हेतु है) उस ईश्वर को (हम) नमस्कार करते हैं।]

द्रव्यपद के एकवचनान्त प्रयोग की तात्पर्य-व्याख्या करते हुए वर्धमान ने कहा है कि पृथिव्यादि द्रव्यों के अनेक होने पर भी आत्मारूप द्रव्य ही इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतः प्रतिपाद्यों में उसकी प्रधानता ख्यापित करने हेतु द्रव्यपद एकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है।[२]

इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन भेद से आत्मज्ञान की बहुविधता को व्यक्त करने हेतु (गुणरूप ज्ञान की बहुविधता के कारण) गुण पद का बहुवचनान्त प्रयोग है।[3]

यहाँ वर्धमान ने केवल द्रव्य तथा गुण पदों में एक तथा बहुवचन के निर्देश का तात्पर्य बताने पर भी कर्म, जाति प्रभृति पदों में प्रयुक्त एकवचन तथा विशेष पद में बहुवचन का कोई तात्पर्य नहीं बताया है। हमारे विचार से द्रव्यपद में एकवचन प्रत्यक्षसिद्ध द्रव्यत्व-जातिविशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है। गुणत्वजाति के प्रमाणसाध्य होने से सर्वसम्मति के

---

१. सन्ध्या च न रात्रेर्भागविशेषो निरस्तैतद्द्वीपवर्तितरविरश्मिजालस्य कालविशेषस्य रात्रित्वात्। सन्ध्यायाश्चात्र द्वीपे कतिपय तत्सत्त्वात्। अतएव रात्रिसन्ध्ययोर्धर्मशास्त्रे पृथगभिधानम्। प्रकाश, पृ० २।

२. बहुत्वेऽप्यात्मनः प्राधान्यख्यापनाय द्रव्यमित्येकवचनम्। प्रकाश, पृ० ४।

३. तद्विषयाणां श्रवणादिप्रतिपत्तीनां बहुत्वं गुणा इति बहुवचनेन व्यज्यते। प्रकाश, पृ० ४।

अभाव में गुणपद का बहुवचनान्त प्रयोग किया गया—यह कहने से ही असङ्गति नहीं रहेगी ॥ २ ।

अर्थानां प्रविवेचनाय जगतामन्तस्तमःशान्तये
सन्मार्गस्य विलोकनाय गतये लोकस्य यात्रार्थिनः ।
तत्तत्तामसभूतभीतय इमां विद्यावतां प्रीतये
व्यातेने किरणावलीमुदयनः सत्तर्कतेजोमयीम् ॥ ३ ।

[आत्मश्रवण के अधिकारियों तथा समस्त जगत् के अन्तस्तमः (हृदयगत आत्मसम्बन्धी मिथ्याज्ञान) की शान्ति (=निरास) के लिए (इस शास्त्र के) अर्थों (=अभिधेयों) के प्रविवेचन=प्रकृष्टविचार (पदार्थों के इतरभेदानुमान अथवा अपरोक्षज्ञान) के लिए, यात्रियों (=मोक्षार्थियों) को सन्मार्ग (=उत्तमपथ) दिखाने के लिए, तामसप्रकृति के नानाप्रकार भूतगणों (=नास्तिकगणों) के भयोत्पादन के लिए तथा विद्वानों की प्रीति के उत्पादन के लिए (महामति) उदयन ने उत्तम युक्तियों के समूह से उज्ज्वल किरणावली (नामक) ग्रन्थ का निर्माण किया (था)] ॥ ३ ।

इस श्लोक के पदसमूह एक से अधिक अर्थबोधक रूप में यहाँ प्रयुक्त हुए हैं। काव्य में इस प्रकार का एक ही पद अनेकार्थक रूप से प्रयुक्त होने पर 'श्लिष्ट' (पद) कहा जाता है। कवियों में श्लिष्टकाव्य का आदर अधिक होता है। यहाँ 'उदयन' पद आचार्य उदयन तथा सूर्य दो अर्थों का वाचक है। 'अर्थानाम्' आदि पद भी आचार्य तथा सूर्य दोनों के पक्ष में अन्वित हैं। आचार्यपक्ष में अर्थपद द्रव्यगुणादि (किरणावली में विवेचित) पदार्थों का वाचक, तथा सूर्यपक्ष में घटपटादि दृश्य वस्तुओं (जिन्हें सूर्य भगवान् अपनी किरणों के विस्तार से प्रकाशित करते हैं) का वाचक है। इसी प्रकार अन्य पदों की भी उभयपक्ष में योजना करनी आवश्यक है।[1]

'व्यातेने' पद में 'लिट्' के प्रयोग की साधुता के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् 'आशंसायां भूतवच्च' (पा० ३।३।१३२) सूत्रानुसार लिट् का प्रयोग साधु मानते हैं। परन्तु 'भूतवत्' पद से सामान्यतया अतीतकाल निर्दिष्ट है। अतीतसामान्य की प्रतिपत्ति के लिए लुङ् का प्रयोग समीचीन होता है; लिट् अथवा लङ् का प्रयोग उन स्थलों में साधु नहीं होता, क्योंकि लिट् और लङ् विशेष भूतकाल में प्रयुक्त होते हैं। इसी कारण से कुछ विद्वान् इस पद को तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय मानते हैं। अन्य किसी के मत से 'णलुत्तमो वा' (पा० ७।१।९१) सूत्र की ज्ञापकता मानकर कर्ता के अपरोक्ष

---

१. प्रकाश, पृ० ६ ।

क्रियास्थल में भी लिट्-प्रयोग का समर्थन किया जा सकता है। अपर लोगों के मत से ग्रन्थरचना में व्यापृतचित्त ग्रन्थकार के चित्तविक्षेप की सम्भावना से लिट् का प्रयोग समर्थन-योग्य है।

कुछ विद्वान् इस श्लोक को ग्रन्थकाररचित नहीं मानते, किसी दूसरे द्वारा रचित होकर ग्रन्थ में योजित है ऐसा कहते हैं ॥ ३ ।

अतिविरसमसारं मानवार्ताविहीनं
प्रविततबहुवेलप्रक्रियाजालदुःस्थम् ।
उदधिसममतन्त्रं तन्त्रमेतद् वदन्ति
प्रखलजडधियो ये तेऽनुकम्पन्त एते ॥ ४ ।

[जिन अतिखलस्वभाव तथा मन्दबुद्धि व्यक्तियों ने इस (वैशेषिक) शास्त्र का सागर के सदृश अत्यन्त विरस, सारहीन, अप्रमाण, बहुविस्तृत तटयुक्त तथा नाना प्रक्रियाओं के समूह से भाराक्रान्त तथा असत् कहकर वर्णन किया है वे अनुकम्पा के पात्र हैं] ॥ ४ ।

प्रस्तुत श्लोक में (वैशेषिक) शास्त्र की समुद्र से तुलना की गयी है। विशेषण पदों का अन्वय शास्त्र तथा समुद्र दोनों पक्षों में होगा। प्रकाशकार कहते हैं कि यह तुलना निन्दा तथा प्रशंसा दोनों प्रकार से ही हो सकती है।

शास्त्रपक्ष में (निन्दा) अतिविरस = शृङ्गारादि रसविहीन, असार = अप्रयोजनीय, क्योंकि मोक्ष के आय तथा व्यय तुल्य हैं इसलिये वह पुरुषार्थ नहीं, पुरुष का कोई प्रयोजन उससे सिद्ध नहीं होता है। मानवार्ताविहीन अर्थात् शास्त्रान्तर में शब्दादि प्रमाण के स्वीकृत होने पर भी वैशेषिकशास्त्र में केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही प्रमाणरूप से स्वीकृत हैं। इसलिए शास्त्रान्तरों से विशेषतया हीन है। प्रविततबहुवेलप्रक्रियाजालदुःस्थ अर्थात् वैशेषिकशास्त्र में पाकजगुण, द्वित्वादि संख्योत्पत्ति तथा विनाश की बहुक्षणव्यापिनी प्रक्रिया विस्तृतरूप से प्रतिपादित होने तथा जटिलता के कारण वह दुर्गम है। उनके अध्ययन तथा मनन में जीवन व्यतीत हो जाता है और तत्त्वज्ञानरूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

समुद्रपक्ष में (निन्दा) अतिविरस = लवणरसातिरेक के कारण पक्षीसमूह द्वारा परित्यक्त, असार = धनरत्नादि के उद्धार के फलस्वरूप वह सारहीन है। मानवार्त्ताविहीन = जिसका प्रमाण = विस्तार = इयत्ता का पता नहीं, प्रविततबहुवेलप्रक्रिया-जालदुःस्थ = अर्थात् जो महावराहक्षुरक्षोभ (वराह अवतार में), सुरासुरों द्वारा मन्थन, रामशरानलदाह आदि क्रियाओं द्वारा पीडाग्रस्त है।

शास्त्रपक्ष में (प्रशंसा) अतिविरस अर्थात् जिसमें रस=मोक्षेच्छा का विगम नहीं हुआ है, असार अर्थात् जिससे सार वस्तु और कुछ नहीं है। मानवार्ताविहीन अर्थात् जो प्रमाणों की वार्त्ता से अविहीन (क्योंकि शब्दादि प्रमाणों का इस शास्त्र में अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव किया गया है)। प्रविततबहुवेलप्रक्रियाजालदुःस्थ=अर्थात् जिसमें बहुक्षणव्यापिनी प्रक्रिया के कारण दुर्गमता नहीं।

समुद्रपक्ष में (प्रशंसा) अतिविरस अर्थात् अतिविशालकाय पक्षीगण जिसके रस=जल में विचरते हैं। असार अर्थात् जिससे सार = उत्तम और कुछ नहीं क्योंकि समुद्र ही रत्नों का आकर है। मानवार्ताविहीन अर्थात् जो मान=सम्मान वार्ता से विहीन नहीं। प्रविततबहुवेलप्रक्रियाजालदुःस्थ अर्थात् जिसके तट वणिकों के निरन्तर गमनागमन से भाराक्रान्त हैं।[१]

यहाँ प्रकाशकार के व्याख्यानुसार प्रतीत होता है कि जो लोग इस शास्त्र के प्रति श्रद्धाहीन हैं, वे भी इस ग्रन्थ के अध्ययन से लाभान्वित होंगे। किन्तु श्रद्धाहीन व्यक्ति के शास्त्राध्ययन के अनधिकारी होने के कारण इस व्याख्या का हम समर्थन नहीं करते। ग्रन्थकार ने वैसे (श्रद्धाहीन) लोगों के लिए इस ग्रन्थ की अवश्य ही रचना नहीं की होगी। श्रद्धाहीन व्यक्ति को कृपा का पात्र कहने से ग्रन्थकार का वैसे (श्रद्धाहीन) व्यक्तियों के लिए यह ग्रन्थरूपी वक्तव्य नहीं है। इस प्रकार ही हमने व्याख्या की है॥ ४।

शास्त्रारम्भे सदाचारपरम्परापरिप्राप्ततया कायवाङ्मनोभिः कृतं परापरगुरुनमस्कारं शिष्यान् शिक्षयितुमादौ निबध्नाति—प्रणम्येति।

[शास्त्र के आरम्भ में (ग्रन्थकार) सदाचारपरम्परा द्वारा प्राप्त होने से काय=शरीर, वाक्=शब्द या वाक्य, मन के द्वारा कृत (अनुष्ठित) परापर गुरुओं के नमस्कार (प्रणाम) शिष्यों को सिखलाने के लिए प्रथम 'प्रणम्य' आदि श्लोक की रचना करते हैं।]

प्रशस्तपादाचार्य ने ग्रन्थारम्भ में क्रमशः ईश्वर तथा मुनि (कणाद) को प्रणाम किया है।[२] यहाँ पूर्वपक्षी की आपत्ति यह हो सकती है कि निष्फल नमस्कार में ग्रन्थकार की प्रवृत्ति सङ्गत नहीं है, क्योंकि निष्फल कार्य में प्रेक्षावान् अर्थात् विचारशील पुरुष कभी प्रवृत्त नहीं होते।

इस आपत्ति के खण्डनार्थ यदि निर्विघ्न परिसमाप्ति को नमस्कार का फल तथा सफल होने से नमस्कारकार्य में ग्रन्थकार की अप्रवृत्ति की सम्भावना दूर होती है, तथापि

---

१. प्रकाश, पृ० ७-६।

२. प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः।
पदार्थधर्मसंङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः॥ प्रशस्तपाद भा०।

अभीष्ट अर्थ (कार्य) की निर्विघ्न परिसमाप्ति नमस्कार का फल है—इस विषय में कोई प्रमाण नहीं। यदि हम कथञ्चित् नमस्कार के सफलत्व के प्रमाण को मान भी लें, तथापि दो नमस्कार (ईश्वर तथा मुनि इन दोनों के प्रणाम) व्यर्थ ही हैं, क्योंकि एक नमस्काररूप कारण से ही फलोत्पत्ति (निर्विघ्न परिसमाप्ति) हो सकती है। नमस्कार की सफलता तथा ग्रन्थकार की उस विषय (नमस्कार) में प्रवृत्ति की युक्तिसिद्धता मानने पर भी उस नमस्कार को ग्रन्थारम्भ में निबद्ध करना अवश्य ही निष्प्रयोजन है। नमस्कार की सफलतासाधकयुक्ति से ही उसे ग्रन्थारम्भ में निबद्ध करने की आवश्यकता भी सिद्ध नहीं होती है।

इन आशङ्काओं के निरास हेतु कहा जाता है कि प्रत्यक्ष श्रुतिवाक्य का अभाव होते हुए भी सदाचारहेतुक 'नमस्कारः कर्त्तव्यः' इस प्रकार श्रुतिवाक्य का अनुमान तथा उस अनुमान के बल पर नमस्कार की सफलता भी सिद्ध होने में बाधक नहीं है।[१]

सामान्यतया एक नमस्कार से अभीष्ट कार्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति की सम्भावना रहने पर भी प्रबलतर विघ्न के स्थल में उस विघ्न के निवारणार्थ एक से अधिक नमस्कार की आवश्यकता अवश्य ही है।[२]

विघ्नशान्ति के लिए अथवा ग्रन्थपरिसमाप्ति के लिए देवता के प्रणाम की कर्त्तव्यता शिष्यों को सिखलाने के अभिप्रायमात्र से ही ग्रन्थादि में उसे (नमस्कार को) निबद्ध किया गया है।[३]

यहाँ यह भी विवेचन आवश्यक है कि सदाचाररूप हेतु से नमस्कार का कर्त्तव्यता-विषयक श्रुतिवाक्य के अनुमान का प्रकार क्या है? यदि 'नमस्कारादिकं वेदबोधित-कर्त्तव्यताकं सदाचारविषयत्वात् दर्शवत्' इस प्रकार की अनुमानप्रणाली को ग्रहण करें तो यह जिज्ञासा स्वतः होगी कि 'सदाचारविषयत्वाद्' इस हेतु पद में विशेषणरूप से प्रविष्ट 'सत्' पदार्थ का लक्षण क्या है? यदि हम वेदविहित समुदाय अर्थ (विषय) के अनुष्ठानकर्तृत्व को ही 'सत्' का लक्षण बताते हैं, तो वेद के विधिवाक्यों में जिन कार्यों का विधान किया गया है उन समस्त कार्यों के अनुष्ठाता कोई एक पुरुष का होना सम्भव नहीं है। अतः हेतु (सदाचारविषयत्व) स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होगा। इस हेतुवाक्य में विशेषणरूप से प्रयुक्त 'सत्' अप्रसिद्ध होने से विशेषणाप्रसिद्धिवश विशिष्ट भी अप्रसिद्ध होगा।

---

१. सदाचारानुमितकर्त्तव्यताबोधकश्रुतिरेवात्र मानम्। प्रकाश, पृ० ८-९।

२. नमस्कारद्वयञ्च बलवत्तरविघ्नवारणाय। प्रकाश, पृ० ९।

३. निबद्धश्चेप्सितविघ्नशान्तये देवताप्रणामः कर्त्तव्य इति शिष्यशिक्षार्थमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० ९।

यदि वेदविहित यत्किञ्चित् अर्थानुष्ठातृत्व ही सत्त्व कहा जाए, तो विशेषणाप्रसिद्धि के निवारित होने पर भी वेदविहित किञ्चिदर्थानुष्ठान के साथ ही अनेक निन्दितकार्य-कर्त्ता भी सत्पुरुषलक्षणाक्रान्त हो जाएँगे। अतः सत् का लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त होगा। अतः इस प्रकार का भी लक्षण उचित नहीं।[१]

उक्त अतिव्याप्ति के वारणार्थ यदि 'वेदविहितयत्किञ्चिदर्थानुष्ठातृत्वे सति वेद-निन्दितार्थाननुष्ठातृत्व' को सत्त्व का लक्षण माना जाए तो सत्पुरुष रूप से सर्ववादि-सिद्ध व्यक्ति को भी कदाचित् (शत्रुनिधनादि के लिए) वेदनिन्दितार्थानुष्ठान (श्येन-यागादि) करते देखे जाने से इस प्रकार का लक्षण असम्भव-दोषग्रस्त होगा।[२] फलतः वह हेतु भी विशिष्टाप्रसिद्धि के कारण स्वरूपासिद्ध होगा।

यदि क्षीणदोषपुरुषत्व को सत्पुरुष का लक्षण माना जाए, तो आधुनिक पुरुषों के दोष (रागद्वेष) क्षय न होने के कारण पुनः तादृशहेतु विशेषणाप्रसिद्धि के कारण स्वरूपा-सिद्ध हो जाएगा। इदानीन्तन किसी पुरुष का आचार (दोषक्षय न होने के कारण) अनु-पलब्ध वेदवाक्य का अनुमितिजनक नहीं हो सकता है।[३]

अपर किसी के मत से इस काल के सत् का लक्षण "ज्ञानवान् होते हुए इस काल में (किसी उद्दिष्ट कर्म की) अदृष्ट (धर्माधर्म) साधनता के विषय में मिथ्याज्ञान का अभाववान्," किया जाता है। अर्थात् इस काल में जो पुरुष ज्ञानवान् होते हुए इस काल में (किसी कर्म की) अदृष्ट (धर्माधर्म) जनकता के विषय में मिथ्याज्ञान रहित हो वह पुरुष ही इस काल में सत्पुरुष है। यहाँ सत् के लक्षण में 'ज्ञानवत्त्व' विशेषण के न रहने से घटपटादि अचेतन वस्तुओं में ज्ञानाभाव रहने के कारण अदृष्टसाधनताविषयक मिथ्याज्ञान का अभाव रहने पर अतिव्याप्ति दोष होगा। उन घटपटादि को भी सत्पुरुष कहा जा सकेगा। परन्तु उन घटपटादि में सामान्यतया ज्ञानाभाव होने से 'सत्' लक्षण में ज्ञानवत्त्व विशेषण रहने के कारण घटपटादि को सत्लक्षणाक्रान्त समझना सम्भव न होगा। घटपटादि में सत्य अथवा मिथ्या किसी प्रकार का ज्ञान ही नहीं होता। मन्वादि धर्मशास्त्र के अनुसार वृक्षों के अन्तःसंज्ञा समन्वित होने से (अर्थात् घटपटादि जैसा सर्वथा ज्ञानाभाव न रहने से) 'ज्ञानवत्त्व' विशेषण के लक्षण में रहने पर भी वृक्ष में सत् की लक्षणसङ्गति के वारणार्थ प्रकृष्टज्ञानवत्त्व ही ज्ञानवत्त्व शब्द के स्थान में विशेषण होने पर वृक्ष में सत् लक्षण की अतिव्याप्ति दूर होगी, क्योंकि वृक्षादि मन्दसंज्ञाविशिष्ट होते हैं, प्रकृष्टज्ञानवान् नहीं।

---

१. सत्त्वञ्च न यद्यपि वेदविहितार्थानुष्ठातृत्वं यावत्तदेकदेशविकल्पाभ्यां स्वरूपासिद्धचति व्याप्त्योः प्रसङ्गात्। प्रकाश, पृ० ६।

२. वेदनिषिद्धाननुष्ठातृत्वे सतीति विशेषणे वशिष्ठादेरप्यतत्त्वापत्तेः। प्रकाश, पृ० ६।

३. नापि क्षीणदोषपुरुषत्वम्। इदानीन्तनानामसत्त्वेन तदाचारस्य वेदानुमापकत्वापत्तेः। प्रकाश, पृ० ६।

यदि 'एतत्कालीनत्व' विशेषण मिथ्याज्ञानाभाव में न होता, तो यथाकथञ्चित् पूर्वजन्म में अदृष्टसाधनताविषयक मिथ्याज्ञान जिस पुरुष में हो (परन्तु इस जन्म में नहीं) वह भी 'सत्' लक्षणाक्रान्त हो जाएगा। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'एतत्कालीनत्व' विशेषण आवश्यक है।

यदि मिथ्याज्ञानाभाव' में 'अदृष्टसाधनताविषयकत्व' विशेषण न हो तो सामान्यतः 'मिथ्याज्ञानाभाव' सत्पुरुषरूप से स्वीकृत व्यक्ति में भी अलभ्य होने से (कथञ्चित् 'इदं रजतम्' आदि कोई न कोई मिथ्याज्ञान सभी पुरुष में होता है) सर्ववादिसिद्ध सत्पुरुष में भी यह लक्षण अव्याप्त होगा। अतः अव्याप्ति-दोषनिवारण के लिए मिथ्याज्ञानाभाव में 'अदृष्टसाधनता-विषयकत्व' रूप विशेषण अपेक्षित है।

कदाचित् सत्पुरुष को भी अदृष्ट का साधन नहीं ऐसे कार्य में अदृष्टसाधनता का भ्रम हो सकता है। उस स्थल में अव्याप्तिदोष के वारण के लिए इस वाक्य (अदृष्टसाधनता-विषयक-मिथ्याज्ञानाभाव) का अदृष्ट नहीं है तथा उसका साधन नहीं है—इस प्रकार मिथ्याज्ञानाभाव अर्थ के स्वीकार करने से उक्त अव्याप्ति दूर होगी। अर्थात् ज्ञानवान् होते हुए इस काल में, अदृष्ट नहीं है तथा उसका साधन नहीं है—इस प्रकार का मिथ्याज्ञान जिनको न हो वह सत्पुरुष है।

उपर्युक्त प्रकार से सत्पुरुष का लक्षणवाक्य में प्रत्येक विशेषण की सार्थकता प्रदर्शित होने पर भी ज्ञानवान् तथा अदृष्टसाधनताविषयकमिथ्याज्ञानरहित व्यक्ति यदि निषिद्ध कर्म का आचरण करे, तो उसे सत्पुरुष नहीं कहा जाता है। वैसे पुरुष में उल्लिखित लक्षण की अतिव्याप्ति रहती है। इसीलिए वह लक्षण अग्राह्य है।[१]

कोई कोई 'वेदप्रामाण्य स्वीकार' को ही सत्त्व कहते हैं। अर्थात् जो वेद को प्रमाण रूप से स्वीकार करता हो वही सत् (पुरुष) है। इस पक्ष में विचारणीय यह है कि वेद-प्रामाण्य का अङ्गीकार शब्द से वेद के एक अंशमात्र का, अथवा समग्र वेद का प्रामाण्य स्वीकार यहाँ अभीष्ट है। वस्तुतः वेद के एकांशमात्र को प्रमाण मानने वाले को सत् (पुरुष) नहीं कहा जाता है। कारण, जो लोग पूर्वपक्ष रूप 'असद् वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि वेदवाक्यमात्र को प्रमाण मानते हैं वे भी सत् (पुरुष) लक्षणाक्रान्त हो जाते हैं। इसलिए वेद के तत्तत् प्रकरणों में कहे गये विषयों को यथास्थित रूप से (अर्थात् पूर्वपक्ष रूप से कहे गये को उसी रूप से तथा सिद्धान्तरूप से कहे गये को सिद्धान्तरूप से) प्रमाण मानना ही यहाँ वक्तव्य है। विशेषरूप से तत्तत् प्रकरण के तात्पर्य को समग्ररूप से न

---

१. नापि ज्ञानवत्त्वे सत्येतत्कालीनादृष्टसाधनताविषयकमिथ्याज्ञानात्यन्ताभाववान् अस्मिन् काले शिष्टः, निषिद्धकर्मासक्तस्यादृष्टसाधनतागोचरमिथ्याज्ञानविधुरस्यापि तत्त्वापत्तेः। प्रकाश, पृ० १०।

जानते हुए भी उन प्रकरणों में आदिष्ट विषय के अनुष्ठान करने वाले को भी उस विषय में वेद की प्रामाणिकता के विषय में सामान्यतया ज्ञान रहता ही है।

यद्यपि समग्र वेद के तावत् प्रकरणों के तात्पर्य को समग्ररूप से जानना किसी भी असर्वज्ञ व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, तथापि सामान्यतः '(यागादि) कर्म अथवा ब्रह्म ही वेद का वक्तव्य है' यह जानना असर्वज्ञ पुरुष के लिए असम्भव नहीं है, क्योंकि वेद का वक्तव्य यदि लौकिकविषय माना जाता है तो वेदवाक्यों में अनुवादकत्व दोष आ जाता है। इसी कारण वेद को अलौकिकविषय-प्रतिपादक मानना पड़ेगा। अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान आदि लौकिक प्रमाणों से जिस वस्तु की प्रतिपत्ति हो, उसे ही लौकिकविषय कहा जाता है। वेद यदि तादृश विषय का प्रतिपादन करे, तो अन्य लौकिक प्रमाणों से भी सम्भव होने के कारण उसकी व्यर्थता अथवा अनतिप्रयोजनकता प्रमाणित हो जाती है। इसीलिए अलौकिक स्वर्ग अथवा ब्रह्म के प्रतिपादन में ही वेद का तात्पर्य मानना पड़ेगा। लौकिक प्रमाणों से स्वर्ग या ब्रह्म की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। अतः तादृश विषय में वेद ही प्रमाण है। इस प्रकार अलौकिक विषयों में वेद की प्रामाणिकता का ज्ञान किसी भी पुरुष को हो सकता है और यही वेदप्रामाण्यस्वीकार रूप ('सत्त्व') सत्पुरुष का लक्षण अभीष्ट है।[1]

पूर्वोल्लिखित 'नमस्कारादिकं वेदबोधितकर्त्तव्यताकं सदाचारविषयत्वाद् दर्शादिवत्' इस अनुमान में सदाचारविषयत्वरूप हेतु भोजनादि कार्य में वेदबोधितकर्त्तव्यताकत्वरूप साध्य का व्यभिचारी है। अर्थात् भोजनादि (लौकिक) कार्य सत्पुरुषों द्वारा अनुष्ठित होते हुए भी वेदबोधितकर्त्तव्य नहीं है। वेद में भोजनादि (लौकिक) कार्य का कर्त्तव्यरूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है। किसी कार्य के वेदबोधितकर्त्तव्यताविशिष्ट न होने पर भी सदाचार का विषय होने में बाधा नहीं है। अतः यह हेतु साध्य का साधक नहीं है। इस व्यभिचार के निवारण के लिए सदाचार पद में 'अलौकिक' रूप विशेषण का होना आवश्यक है। अर्थात् अलौकिकविषयकसदाचारविषयता को हेतु मानने से भोजनादि-लौकिकविषयक-सदाचारविषयता वेदबोधितकर्त्तव्यताकत्वरूप साध्य का व्यभिचारी होने पर भी प्रस्तुत स्थल में भोजन के अलौकिकविषयकसदाचारविषय न होने से व्यभिचार की शङ्का नहीं रही। किन्तु अलौकिकसदाचारविषयत्वरूप हेतु रात्रिश्राद्धादि में साध्य का व्यभिचारी है। अर्थात् रात्रिश्राद्ध अलौकिकसदाचार का विषय होते हुए भी वेदबोधित कर्त्तव्य नहीं है।

---

१. तथापि वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वम्। न चात्रापि कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पः। तत्तत्तात्पर्यविषये कार्त्स्न्यस्यैव विवक्षितत्वात्। विशिष्य तत्तत् तात्पर्यमविदुषामपि तदर्थमनुतिष्ठतां तात्पर्यविषये वेदः प्रमाणमिति सामान्यतस्तदभ्युपगमस्य सत्त्वात्। प्रकाश पृ० १०।

अतः अलौकिकसदाचारविषयता के रहने से ही वेदबोधित कर्त्तव्यता का अनुमान सम्भव नहीं। अतः हेतु वाक्य में 'अविगीतत्व' विशेषण भी आवश्यक है। अर्थात् अलौकिकाविगीत-सदाचारविषयत्व को हेतु बनाना होगा। रात्रिश्राद्ध अलौकिकसदाचारविषय होने पर भी अविगीत (अनिन्दित) नहीं है। धर्मशास्त्रों (वेद) में रात्रिश्राद्ध की निन्दा श्रुत है। फलतः प्रकृत अनुमान का स्वरूप—'नमस्कारादिकं वेदबोधितकर्त्तव्यताकम्, अलौकिकाविगीतसदा-चारविषयत्वाद् दर्शवत्' है।[१]

इस प्रकार अनुमान द्वारा अनुपस्थित श्रुतिवाक्य-बोधित कर्त्तव्यता नमस्कार में सिद्ध कर सकते हैं।

नमस्कार श्लोक की व्याख्या के उपक्रम में आचार्य ने कहा है कि ग्रन्थकार (प्रशस्त-पाद) ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में कायिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों नमस्कार करते हुए शिष्यों को सिखलाने के लिए 'प्रणम्य' पद के द्वारा उक्त त्रिविध नमस्कार ग्रन्थ में निबद्ध किये हैं। आचार्य (उदयन) की उक्ति से प्रतीत होता है कि उक्त त्रिविध नमस्कार ही नम् धातु का अर्थ है। यदि नम् धातु का अर्थ त्रिविध नमस्कार न होता तो 'प्रणम्य' पद से तीनों प्रकार के नमस्कारों को ग्रन्थादि में निबद्ध करना सम्भव नहीं होता। यहाँ विचारणीय यह है कि उक्त त्रिविध नमस्कार मिलित रूप से 'नम्' धात्वर्थ हो सकता है या नहीं। नमस्य व्यक्ति से नमस्कर्त्ता का अपकर्षबोधक करकपालसंयोगादिरूप शरीरव्यापार कायिक नमस्कार, नमस्य से नमस्कर्त्ता का अपकर्षबोधक 'भवन्तं नमामि' अथवा 'भवते नमः' आदि शब्दप्रयोग ही वाचिक नमस्कार तथा नमस्य से नमस्कर्त्ता का अपकर्षबोधक भक्ति—श्रद्धादिरूप व्यापार ही मानस नमस्कार कहा जाता है। तीनों नमस्काररूप व्यापार परस्पर विजातीय होने तथा इन तीनों में कोई सामान्यधर्म न मिलने के कारण इनका अनुगम अथवा संग्रह एक शब्द से कैसे हो? इस स्थिति में 'नम्' धातु का सकृदुच्चारण (एक बार उच्चारण) तथा उसके श्रवण से विजातीयव्यापाररूप तीनों नमस्काररूप अर्थ उपस्थित कैसे हो? अतः आशङ्का होती है कि किरणावलीकार का 'प्रणम्य' पद द्वारा त्रिविध नमस्कार ग्रन्थ में निबद्ध हुए—यह कथन यथार्थ कैसे हो?

इस आशङ्का के निवारण के लिए प्रकाशकार ने कहा है कि 'नम्' धातु का मुख्यार्थ है पूज्यताज्ञानरूप आन्तर व्यापार। इसी कारण नमस्कर्त्ता का नमस्य के विषय में 'पूज्यताज्ञान' न रहने से हाथ जोड़ना, पैर छूना आदि कायिक, अथवा 'भवते नमः' आदि शब्द प्रयोगरूप वाचनिक नमस्कार सम्भव नहीं होता है। पूज्यताज्ञानरहित हाथ जोड़ना, पैर छूना आदि व्यापार के बोध के लिए नमस्कार पद का प्रयोग नहीं होता है।

---

१. तदाचारे च धर्मशास्त्रानिषिद्धत्वरूपमविगीतत्वमलौकिकत्वञ्च विशेषणम्। तेन निषिद्ध-तदाचारे भोजनाद्याचारे च न व्यभिचारः। प्रकाश, पृ० १०

पूज्यताज्ञानात्मक व्यापार ही मानस नमस्कार कहाता है। पूज्यताज्ञानरूप व्यापार मुख्य अथवा प्रधान होने से कायिक अथवा वाचिक नमस्कारस्थल में उसकी उपस्थिति विशेषण रूप से अवश्य रहती है। अतः नम् धातु अथवा नमः पद का मुख्यार्थ पूज्यताज्ञानरूप मानस व्यापार ही है। कायिक तथा वाचिक नमस्कार नमः पदादि का लक्ष्यार्थ है।[१]

यदि मानस नमस्कार ही नमः आदि पद का मुख्यार्थ तथा कायिक व वाचिक नमस्कार उसका लक्ष्यार्थ है तब यह आशङ्का होती है कि 'काय-वाङ्-मनोभिः कृतं परापरगुरुनमस्कारम्' इस ग्रन्थपंक्ति की सङ्गति कैसे होगी ? क्योंकि काय वाक् तथा मनः इन तीन (करण) द्वारा यहां एक नमस्कार का अनुष्ठान कहा गया है, जबकि मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों एकोक्ति से उपस्थित नहीं होते हैं। इस आशङ्का का समाधान किसी ने 'शरीर तथा वाक्य द्वारा उपलक्षित मनःद्वारा कृत नमस्कार' इस प्रकार पदयोजना से किया है। किसी के मत से कायिकादि नमस्कारों में पृथक् तीन नमस्कारत्व जाति है तथा यहाँ नमस्कारपद नानार्थक है। नमस्कारपद के नानार्थक होने के कारण उसकी तीन बार की आवृत्ति से ही तीन प्रकार के नमस्कार का बोध होता है।[२]

कर्त्तव्यापेक्षया प्रणामस्य पूर्वकालत्वात् क्त्वानिर्देशः। भक्तिश्रद्धातिशयलक्षणः प्रकर्षः प्रशब्देन द्योत्यते।

[कर्त्तव्य (पदार्थधर्मसंग्रहरूप) ग्रन्थ से प्रणाम पूर्वकालवर्त्ती है। अतः 'क्त्वा' प्रत्यय द्वारा (उसका) निर्देश किया गया है। ('नम्' धात्वर्थ नमस्कार में) 'प्र' (उपसर्ग) शब्द द्वारा अतिशय भक्ति तथा श्रद्धारूप उत्कर्ष द्योतित होता है। (अतः प्र+$\sqrt{}$नम् धातु ने श्रद्धाभक्त्यतिशययुक्त नमस्कार को उपस्थापित किया है)।]

'प्रणम्य' पद वस्तुतः 'क्त्वा' प्रत्ययान्त नहीं, परन्तु 'ल्यप्' प्रत्ययान्त है। पाणिनिमत में नञ्भिन्न समास पूर्ववर्त्ती होने से 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में 'ल्यप्' प्रत्यय होता है। ये दोनों प्रत्यय तुल्यार्थक हैं। अतः "प्रणामस्य पूर्वकालत्वात् क्त्वानिर्देशः" इस ग्रन्थपंक्ति में (क्त्वा के अभाव के कारण) असङ्गति की कोई आशङ्का नहीं होनी चाहिए।

---

१. अत्र ज्ञानविशेषपूर्वकत्वमप्रतिसन्धाय कायिकादौ नमस्कारपदाप्रयोगान्नागृहीतविशेषणन्यायेन मानस एव नमस्कारोऽन्यत्र लक्षणा। प्रकाश, पृ० ११

२. तथा च कायेन वाचा चोपलक्षितेन मनसा कृतमिति योजनेत्येके। कायिकादौ नमस्कारत्वं जातित्रयमेवेति। तत्र नमस्कारपदं नानार्थमेव। पदावृत्त्या प्रणम्येति पदात्तन्निबन्धनमित्यन्ये। प्रकाश, पृ० १२।

प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार 'अव्यवहितपूर्वकालत्व' ही 'क्त्वा' प्रत्यय का शक्यार्थ है।[1] प्रस्तुत स्थल में दो प्रणाम (ईश्वर, मुनि के प्रणाम के पश्चाद् ग्रन्थरचना का प्रारम्भ) है। अव्यवहितपूर्वकालत्वरूप 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ केवल मुनि के प्रणाम में घटता है। प्रस्तुत स्थल में ईश्वर के प्रणाम मुनि के प्रणाम से व्यवधानयुक्त हैं। अतः उसमें ग्रन्थरचना का अव्यवहितपूर्वकालत्व नहीं।

यदि ग्रन्थरचना का 'अव्यवहितपूर्वकालत्व' के स्थान में 'प्रणाम' का 'अव्यवहित-पूर्वकालत्व' अर्थात् मुनिप्रणाम के 'अव्यवहितपूर्वकालत्व' ईश्वरप्रणाम में होने से क्त्वा प्रत्यय सिद्ध किया जाता है, तो मुनिप्रणाम किसी अन्य प्रणाम के अव्यवहितपूर्वकालवर्त्ती न होने से मुनिप्रणामबोधक 'प्रणम्य' पद में 'क्त्वा' प्रत्यय पुनः असिद्ध होता है। क्योंकि, मुनिप्रणाम ग्रन्थरचना का अव्यवहितपूर्वकालवर्त्ती है। अतः उभय प्रणाम का प्रणामाव्यवहितपूर्वकालवर्त्तित्व सिद्ध न होने से एक प्रणामवाचक 'प्रणम्य' पद का 'क्त्वा' प्रत्यय असिद्ध ही रहेगा।

वस्तुतः ग्रन्थरचनापेक्षया अव्यवहितपूर्वकालत्व ही क्त्वा प्रत्यय द्वारा विवक्षित है। प्रणामत्व (नमस्कारत्व) रूप अनुगतधर्म द्वारा ईश्वर तथा मुनि के प्रणाम का अनुगम (संग्रह) होने से प्रकृत ग्रन्थरचनापेक्षया उन दोनों प्रणामों का अव्यवहितपूर्व-कालत्व निर्बाध है।[2]

प्रकाशकार प्रकारान्तर से भी 'क्त्वा' प्रत्यय के अव्यवहितपूर्वकालत्व का उपपादन करते हैं। उनका वक्तव्य है कि कर्त्तव्यापेक्षया 'अव्यवहितपूर्वकालत्व' ही क्त्वा प्रत्ययार्थ है। ग्रन्थरचना के समान ही मुनिप्रणाम तथा ईश्वरप्रणाम भी ग्रन्थ-कार का कर्त्तव्य है। फलतः ग्रन्थकार के कर्त्तव्यताविशिष्ट ग्रन्थरचना, मुनिप्रणाम, ईश्वर-प्रणाम इन तीनों में ग्रन्थरचना का अव्यवहितपूर्वकालत्व मुनिप्रणाम का तथा मुनिप्रणाम रूप कर्त्तव्यत्वविशिष्ट के अव्यवहितपूर्वकालत्व ईश्वरप्रणाम में होने से दोनों 'प्रणम्य' पद के क्त्वा की साधुता सिद्ध होने में बाधा नहीं।[3]

नव्य नैयायिकों के अनुसार मुख्य (प्रधान) क्रिया का पूर्ववर्त्तित्वमात्र ही क्त्वा प्रत्ययार्थ है, अव्यवहितपूर्ववर्तित्व नहीं। अतः ग्रन्थरचना से ईश्वरप्रणाम मुनिप्रणाम

---

१. अव्यवहितपूर्वकालत्वस्य क्त्वावाच्यत्वात्। प्रकाश, पृ० १२

२. प्रणामत्वेन द्वयोरपि प्रणामयोः कर्त्तव्यसङ्ग्रहापेक्षया पूर्वकालत्वात् क्त्वानिर्देशः प्रयोग इत्यर्थः। प्रकाश, पृ० १२

३. यद्वा नात्र विशेषापेक्षा किन्तु कर्त्तव्यमात्रापेक्षा, सा चोभयोरप्यस्तीत्यर्थः। प्रकाश, पृ० १३

द्वारा व्यवहित होने पर भी ईश्वरप्रणाम का ग्रन्थरचनापेक्षया पूर्वकालत्व में कोई अन्तर नहीं आता है। मुनिप्रणाम का ग्रन्थरचनापेक्षया पूर्वकालत्व में कोई आपत्ति ही नहीं उठती है।[१]

पूर्वोल्लिखित 'नमस्कारादिकं वेदबोधितकर्त्तव्यताकम्' इत्यादि अनुमान द्वारा नमस्कार का ग्रन्थारम्भ में कर्त्तव्यता की सिद्धि होने पर भी नमस्कार का 'ग्रन्थारम्भ-पूर्वकालत्व' व्यापक 'प्रणम्य' पदप्रयोग व्यर्थ ही है। क्यों कि, 'नमः' इत्यादि शब्दोच्चारण से ही नमस्कार सम्पन्न हो सकता है। तदर्थ 'प्रणम्य' पद, जिसके ल्यप् प्रत्यय द्वारा प्रधान क्रिया का पूर्वकालवर्त्तित्व 'नमस्कार' में बोधित होता है, प्रयोग की आवश्यकता क्या ? इसी आशङ्का के समाधान के लिए कहा गया है कि नमस्कार के अनुष्ठानमात्र से (अर्थात् कायिक, वाचिक अथवा मानस नमस्कार करने मात्र से सदाचार का परिपालन होने पर भी) तादृश सदाचार की शिक्षा शिष्यों को देना सम्भव नहीं होता है। अतः प्रणाम का प्रधान क्रिया (ग्रन्थरचना) के पूर्ववर्त्तित्वप्रदर्शन शिष्यों की शिक्षा के लिए परमावश्यक है। प्रणम्य' पद प्रयुक्त होने से ल्यप् प्रत्यय के द्वारा ग्रन्थरचना के पूर्व ईश्वर तथा सम्प्रदायप्रवर्तक मुनि को प्रणाम करना आवश्यक है यह ज्ञान शिष्य को होगा।[२]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्त्वा प्रत्यय का 'समानकर्तृकत्व' अर्थ है, पूर्वकालवर्त्तित्व नहीं, क्योंकि 'पूर्वकालवर्त्तित्व' आक्षेप के बल पर भी प्राप्त हो सकता है[३]। अनुमान अथवा अर्थापत्ति को आक्षेप कहा जाता है। जिस अर्थ का लाभ आक्षेप द्वारा हो सकता हो, उसको शक्यार्थ अथवा पद का अर्थ नहीं कहा जाता है। 'स्नात्वा, भुक्त्वा, शयित्वा गच्छति' इत्यादि प्रयोग में एक ही कर्त्ता से अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध कहे जाने से तथा एक कर्त्ता के लिए युगपत् (एक ही समय) सब क्रिया का सम्पादन सम्भव न होने से वाक्य का अर्थ अनुपपत्तिग्रस्त है। इस अनुपपत्ति के कारण उक्त अनेक क्रियाओं का क्रम से सम्पादन ही वक्ता का तात्पर्य है—ऐसे अनुमान (जिसे मीमांसक-मत में अर्थापत्ति कहा जाता है) को ही आक्षेप कहते हैं। इस आक्षेप से ही क्रियाओं का क्रम (पूर्व अथवा उत्तरकालवर्त्तित्व) प्राप्त होना सम्भव होने से उसे क्त्वा प्रत्यय का

---

१. नवीनास्तु क्त्वाप्रत्ययस्य पूर्वकालत्वमात्रार्थत्वात्तस्य च व्यवधानेऽपि सम्भवान्नायमाक्षेपः। प्रकाश, पृ० १३

२. कर्त्तव्यमात्रापेक्षया प्रणामस्य पूर्वकालत्वभावे दर्शिते शिष्या अपि तथा कुर्वन्त्विति शिष्यशिक्षार्थमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १३

३. ननु समानकर्तृकत्वं क्त्वावाच्यं ततो नियमेन तदुपस्थितेः पूर्वकालत्वं तथात्वेऽव्यशक्यम्। तस्याक्षेपतोऽपि लब्धेः। प्रकाश, पृ० १३।

शक्यार्थ कहना समीचीन नहीं है।[१] अन्य प्रमाणों से जिस अर्थ की प्राप्ति न हो उसी को शक्यार्थ (शब्दप्रमाणवेद्य अर्थ) कहा जाता है।

यदि हम क्त्वा प्रत्यय का समानकर्तृकत्वरूप अर्थ तथा अनेक क्रियाओं का एक कर्तृवाचक पद से पूर्वोत्तरभाव से अन्वय आक्षेपलभ्य मानते हैं, तो भी अनेक क्रियाओं का कोई निर्दिष्ट पूर्वोत्तरभाव आक्षेप से प्राप्त हो नहीं सकता है। (कहने का) तात्पर्य यह है कि 'भुक्त्वा व्रजति' आदि प्रयोग में भोजन तथा गमन का समानकर्तृकत्वमात्र यदि 'क्त्वा' का अर्थ हो और भोजन तथा गमन के युगपत् एककर्तृकत्व की अनुपपत्ति के कारण उन क्रियायों का क्रमशः कर्तृसम्बन्ध का अनुमान करें, तो भी क्रियायों में एक निर्दिष्टक्रम (अर्थात् भोजन के पश्चात् गमन, गमन के पश्चात् भोजन नहीं) उस आक्षेप के बल पर प्राप्त नहीं होगा। क्यों कि, भोजन तथा गमन का पूर्वापरभाव विपरीत होने पर भी एककर्तृकत्वरूप क्त्वा प्रत्ययार्थ की उपपत्ति में बाधा नहीं होती है। अतः वक्ता का तात्पर्य भोजनोत्तर गमन होते हुए भी गमनोत्तरभोजनरूप शाब्दबोध की आपत्ति दुर्वार होगी। परन्तु 'भुक्त्वा व्रजति' आदि प्रयोग में क्रियायों का निर्दिष्ट पूर्वापरभाव ही प्रतिपादित होता है। यदि क्त्वा प्रत्यय के शक्यार्थ में निर्दिष्ट पूर्वापरभाव न हो तो वैसा शाब्दबोध सम्भव नहीं।[२]

यद्यपि (क्रियाओं के) पूर्वापरभाव को आक्षेपबललभ्य माननेवाले 'भुक्त्वा व्रजति' प्रयोग स्थल में वाक्य में क्रियाओं के पाठक्रम को ही (क्रियाओं के) पूर्वापरभाव का नियामक मानकर एक निर्दिष्ट क्रियाक्रम की उपपत्ति कर सकते हैं, तथापि यदि 'व्रजति भुक्त्वा' प्रयोग हो तो उस समय वाक्यान्तर्गत क्रियापदों का पूर्वापरभाव पाठक्रमानुसारी होने से वक्ता के तात्पर्य से विपरीत अर्थ का ही बोध होना चाहिए। अर्थात् 'व्रजति भुक्त्वा' प्रयोगस्थल में क्त्वा प्रत्यय तथा पाठक्रम के अनुरोध से वक्तव्य (वक्तृतात्पर्य) विरोधी गमनोत्तर भोजन का बोध होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है।[३]

अतः समानकर्तृकत्वमात्र को क्त्वा प्रत्ययार्थ मानकर पाठक्रमनियन्त्रित (क्रियाओं के) पूर्वापरभाव को आक्षेपबललभ्य मानना कदापि युक्तिसिद्ध नहीं है।

---

१. ......तथापि प्रधानक्रियामनेकामेकः कर्त्तैकदा न करोतीति आक्षेपो युक्तः। प्रकाश, पृ० १३-१४

२. अथैवं भुक्त्वा व्रजतीत्यादौ व्रजनक्रियाया अपि पूर्वकालत्वेनैककर्तृकत्वोपपत्तौ नियत-क्रियापूर्वभावबोधानुपपत्तिः। प्रकाश, पृ० १४

३. एककर्तृकक्रिययोः पूर्वोत्तरभावनियमे पूर्वोपस्थितक्रियायामेव पूर्वकालत्वं युज्यत इति चेन्न व्रजति भुक्त्वेत्यत्र तदभावात्। प्रकाश, पृ० १४

'व्रजति भुक्त्वा' प्रयोग की साधुता के विषय में सन्देह भी नहीं होना चाहिए। क्त्वा प्रत्ययान्त (पूर्वभाविक्रियावाचक) पद को पहले तथा 'व्रजति' पद को पश्चात् स्थापित (उच्चारण या लेखन) करने पर ही प्रयोगसाधुत्व होता है—यह कहना सम्भव नहीं। क्यों कि, वाक्योच्चारण वक्ता की इच्छा से ही नियन्त्रित होता है। वक्ता के इच्छानुसार 'भुक्त्वा व्रजति' अथवा 'व्रजति भुक्त्वा' कोई भी प्रयोग हो सकता है। अतः पाठक्रम से (भोजन क्रिया में गमन क्रिया का) पूर्ववर्त्तित्व का आक्षेप होगा—यह युक्तिसिद्ध नहीं है।[1]

यह भी विचारणीय है कि नियमतः प्रत्ययार्थ का अन्वय (सम्बन्ध) अपने प्रकृत्यर्थ से ही होता है। यदि समानकर्त्तृकत्व क्त्वा का अर्थ है तब उसका अन्वय केवल भुज-धात्वर्थ (भोजन) से होना है, न कि व्रजधात्वर्थ (गमन) के साथ। परन्तु उल्लिखित स्थल में भोजन तथा गमन उभय क्रिया में 'समानकर्त्तृकत्व' का अन्वय होना आवश्यक हो जाता है। पाठक्रमानुसार इस वाक्य से 'भोजन-समानकर्त्तृक-गमन' रूप अर्थ का बोध होगा। वस्तुतः 'भुक्त्वा व्रजति' प्रयोग से भोजन-व्रजन क्रियायों का एक कर्त्ता है—यह बोध नहीं होता है। परन्तु व्रजन क्रिया के साथ भोजनक्रिया एककर्त्तृक है—यह बोध होता है।[2]

यदि पूर्वोक्त (भोजन-समानकर्त्तृक-गमन) अन्वय मान भी लिया जाए, तो भी इस प्रकार अन्वय होने से भोजन क्रिया में प्राधान्य प्रतीत होगा। जिसके फलस्वरूप उस स्थल में आक्षेप से भोजन का पूर्ववर्तित्व ही गमन क्रिया में प्रतीत होना चाहिए। वक्तृ-तात्पर्यानुसार गमनापेक्षया भोजन की पूर्ववर्त्तिता प्रतीत नहीं होगी, क्योंकि उक्त प्रकार से अन्वयाधीन पदार्थोपस्थिति में गमनक्रिया भोजनक्रिया में उपसर्जनीभूत (अर्थात् गौण = अप्रधान अथवा विशेषणीभूत) हो जाएगी। गमन से भोजन प्रधान रूप में प्रतीत होने से भोजनपूर्ववर्त्तित्व ही गमन में आक्षेपबललभ्य होगा। 'गमनपूर्ववर्त्तिभोजन' इस प्रकार का आक्षेप होना सम्भव नहीं है। अतः आक्षेप द्वारा पूर्ववर्त्तित्व का लाभ होने से क्त्वा का समानकर्त्तृकत्वमात्र अर्थ मानना सम्भव नहीं है।[3]

यह भी विचारणीय है कि 'एककर्त्तृकत्व' क्त्वा प्रत्यय का अर्थ मानना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि भिन्नकर्त्तृक क्रिया स्थल में भी क्त्वा का प्रयोग 'रथे च वामनं दृष्ट्वा

---

१. नहि पूर्वभाविक्रियावाचकं पदं प्राक् प्रयुज्यत इति नियमः। प्रकाश, पृ० १४

२. भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र हि भोजनव्रजनक्रिययोरेकः कर्तेति नानुभवः। अपितु व्रजनक्रियया सह भुजिक्रियैककर्तृकेति। प्रकाश, पृ० १४।

३. तथा च भुजिक्रियायाः प्राधान्येनोपस्थितेस्तदपेक्षमेव पूर्वकालत्वं कल्प्यते। प्रकाश, पृ० १४

पुनर्जन्म न विद्यते' प्रभृति स्थल में देखा जाता है। यद्यपि यहाँ दर्शन तथा विद्यमानता ये दो क्रियाएँ एककर्त्तृक नहीं, तथापि क्त्वा का प्रयोग होता है।[१]

इसी प्रकार 'पूर्वकालीनत्व' भी क्त्वा प्रत्यय का अर्थ है कहना सम्भव नहीं है। क्यों कि, 'मुखं व्यादाय स्वपिति' प्रयोग में निद्रा तथा मुखव्यादानरूप क्रियाद्वय तुल्य-कालीन होते हुए भी क्त्वा प्रत्यय प्रयुक्त है।[२]

पुनः 'एककर्त्तृकत्व' को क्त्वा प्रत्ययार्थ मानने के लिए पहले 'एककर्त्तृकत्व' का अर्थ भी विचारणीय है। यदि एककर्त्तृकत्व का अर्थ 'एककृतिसाध्यत्व' हो, अर्थात् एक ही कृति (प्रयत्न) द्वारा साधनयोग्य (अनेक क्रिया) को एककर्त्तृक कहा जाए, तो 'भुक्त्वा व्रजति' प्रयोग में कर्त्ता के भोजनाकूलप्रयत्न (कृति) से गमनानुकूलप्रयत्न (कृति) के भिन्न होने के कारण इन दो क्रियाओं को एककर्त्तृक नहीं कहा जा सकता है।[३]

यदि 'एकजातीयकृतिसाध्यत्व' ही 'एककर्त्तृकत्व' का अर्थ हो, तो भोजनानुकूल-प्रयत्न तथा गमनानुकूलप्रयत्न के भिन्न भिन्न होने पर भी दोनों प्रवृत्तित्व-जातिविशिष्ट होने से यद्यपि पूर्वोक्त असङ्गति का वारण सम्भव है, तथापि यादृश स्थल में एक व्यक्ति का भोजन तथा अन्य व्यक्ति का गमन वक्तव्य है वहाँ भी 'भुक्त्वा व्रजति' प्रयोग होना सम्भव होगा। क्यों कि, भिन्न भिन्न कर्त्ता होने पर भी उन दोनों के प्रयत्न प्रवृत्तित्व-जातिविशिष्ट होने क कारण उन्हें 'एककर्त्तृक' मानना पड़ेगा।[४]

उक्त आपत्ति के वारणार्थ यदि एककृतिसाध्यत्व अथवा एकजातीयकृतिसाध्यत्व को एककर्त्तृकत्व का अर्थ न समझकर 'कृत्याश्रयगतैक्य' अर्थात् 'कृति के आश्रय में एकता' अर्थ कहा जाए तब उल्लिखित आपत्तियों का वारण होने पर भी यादृशस्थल में एक पुरुष का एक प्रयत्न से अनेकलोष्टनिक्षेप होता है, वहाँ लोष्टों के क्षेपण क्रियायों की तुल्यकालोत्पत्ति होने पर भी कर्त्ता (कृत्याश्रय) के एकत्व हेतु तादृशस्थल में क्त्वा प्रत्ययान्त क्रियापद के प्रयोग में बाधा नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः वैसे स्थल में क्त्वा प्रत्ययान्त क्रियापद का प्रयोग साधु नहीं होता है।[५] अतः 'कृत्याश्रयगतैक्य' को भी 'एककर्त्तृकत्व' का अर्थ कहा नहीं जा सकता है। फलतः 'एककर्त्तृकत्व' का यथार्थ निर्वचन सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

---

१. भिन्नकर्तृकत्वेऽपि क्त्वा दर्शनात्। प्रकाश पृ० १४

२. अपि च मुखं व्यादाय स्वपितीत्यत्र क्त्वान्तान्न पूर्वकालत्वं प्रतीयते। प्रकाश, पृ० १४

३. नाद्यः, भुक्त्वा व्रजतीत्यादौ कृतिभेदात्। प्रकाश, पृ० १५

४. न द्वितीयः, नानापुरुषकृतीनामप्येकजातीयत्वात्। प्रकाश, पृ० १५

५. नान्त्यः, एककृतिसाध्ये युगपदुत्पन्ननानातृणच्छेदादौ व्यभिचारात्। प्रकाश, पृ० १५-१६

यद्यपि क्रियाविशेष की 'नियमत: पूर्ववर्त्तिता' आक्षेपादि लभ्य न होने से उसे क्त्वा प्रत्यय का शक्यार्थ रूप ही मानना पड़ेगा, तथापि पूर्वकालत्व तथा समानकर्तृकत्व इन दोनों को क्त्वा प्रत्यय का शक्यार्थ कहना सम्भव नहीं है। क्यों कि, समानकर्तृकत्वरूप अर्थ अन्वयबलात् प्राप्त होना सम्भव है। 'भुक्त्वा व्रजति' इत्यादि वाक्यान्तर्गत भोजन तथा गमन ये दो क्रियाएँ तुल्यप्राधान्य से शाब्दबोध में प्रतिभासमान नहीं होती हैं। परन्तु क्त्वा प्रत्ययान्त धातु का अर्थ भोजन तिबन्त धातु के अर्थ गमन के साथ पुच्छलग्न-रूप से अन्वित होकर भासमान होता है। अर्थात् भोजनक्रिया सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से गमनक्रिया में अन्वित होती है। इसी कारण इन दोनों क्रियाओं का 'एकाधिकरणकत्व' भी अन्वयबललभ्य होता है। फलतः समानकर्तृकत्व भी अन्वयबललभ्य होता है। व्याकरणशास्त्रानुसार क्रियाश्रयत्वरूप स्वातन्त्र्य ही कर्त्तृत्व कहा जाता है। समान-कर्तृकत्वरूप अर्थ अन्वयबललभ्य होने से व्याकरणानुसार भी उस अर्थ को शक्यार्थ नहीं कहा जा सकता है।

तुल्य युक्ति से 'भोक्तुं व्रजति', 'पश्यन् व्रजति' आदि प्रयोगों में भी भोजन, गमन और दर्शन तथा गमन इन क्रियाओं का विशेष्यविशेषणभाव से अन्वय होने से अन्वयबल से ही समानकर्तृकत्व की प्रतीति भी होगी। इसी कारण 'तुमुन्' अथवा 'शतृ' प्रत्ययों का शक्यार्थ भी समानकर्तृकत्व नहीं हो सकता है।[१]

अन्य युक्ति से भी सिद्ध होता है कि समानकर्तृकत्व तथा पूर्वकालीनत्व दोनों क्त्वाच् प्रत्यय का अर्थ कहना सम्भव नहीं है। हम देखते हैं कि पूर्वकाल में प्रारब्ध मुख-व्यादानक्रिया यदि निद्राकाल में भी अनुवृत्त हो तो उस स्थिति में 'मुखं व्यादाय स्वपिति' प्रयोग होता है।[२]

वस्तुत: यादृशस्थल में निद्रा (क्रिया) के पूर्व मुखविजृम्भण (क्रिया) रहते हुए निद्रा के प्रारम्भ होते ही मुखविजृम्भण समाप्त हो जाता है वहाँ 'मुखं व्यादाय स्वपिति' यह प्रयोग नहीं होता है। परन्तु मुखव्यादान यदि निद्रा के साथ कुछ क्षण तक वर्त्तमान हो तभी उक्त प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों में यदि समानकर्तृकत्व तथा पूर्वकालीनत्व यह दोनों क्त्वाच् प्रत्यय का अर्थरूपेण स्वीकृत होता है तो पूर्वोक्त प्रयोग के विपरीत उसी स्थल में 'सुप्त्वा व्याददाति' प्रयोग की आपत्ति होगी। क्योंकि वस्तुस्थितिवशात् कोई

---

१. भुक्त्वा व्रजतीत्यत्रभोजनव्रजनकर्त्रोरभेदस्य विशेषणविशेष्यभावमहिम्ना वाक्यार्थ-त्वेनाशक्यत्वात्। भोक्तुं व्रजति पश्यन् व्रजतीत्यत्रैव। नहि लट् तुमुनोरपि समान-कर्तृकत्वं वाच्यम्। प्रकाश, पृ० १६

२. मुखं व्यादाय स्वपितीत्यत्र व्यादानोत्तरमपि स्वापानुवृत्त्या तदभिप्रायेण क्त्वाप्रत्ययः। प्रकाश, पृ० १६

एक मुखव्यादान क्रिया कोई एक स्वापक्रिया के समानकर्त्तृक तथा पूर्ववर्त्ती होने से जैसा 'मुखं व्यादाय स्वपिति' प्रयोग साधु माना जाता है, उसी प्रकार कोई एक स्वापक्रिया किसी एक मुखव्यादान क्रिया के पूर्ववर्त्ती तथा समानकर्त्तृक होने से विपरीतरूप से 'सुप्त्वा व्याददाति' प्रयोग भी साधु मानना पड़ेगा।

इन आशङ्काओं के समाधान के लिए हम कह सकते हैं कि अन्यलभ्यत्व (अन्वय-लभ्यत्व) हेतु समानकर्त्तृकत्व क्त्वाच् प्रत्यय का अर्थ नहीं, परन्तु पूर्वकालत्व ही उसका अर्थ है। इसी से 'सुप्त्वा व्याददाति' जैसे प्रयोग की साधुता की शङ्का न रहेगी। यद्यपि स्वापक्रिया तथा व्यादानक्रियाओं में समानकालीनता रहने से किसी स्वापक्रिया में किसी व्यादानक्रिया का पूर्ववर्त्तित्व अवश्य होता है, तथापि वक्ता के विवक्षानुसार ही प्रयोग होने से उक्त स्थल में स्वापक्रिया में व्यादानक्रिया का पूर्ववर्त्तित्व विवक्षित न होने से 'सुप्त्वा व्याददाति' प्रयोग नहीं होगा।

वस्तुत: समानकालीन क्रियाद्वय में किसी एक के पूर्ववर्त्तित्व विवक्षित होने से उसी पूर्ववर्त्तितया विवक्षित क्रियावाचक पद में क्त्वाच् प्रत्यय साधु होता है। 'भूत्वा घटस्तिष्ठति' यह प्रयोग साधु माना जाता है। यहाँ भवन तथा स्थिति यह क्रियाद्वय समानकालीन होने पर भी भवनक्रिया का पूर्ववर्त्तित्व विवक्षित रहने से 'भूत्वा घटस्तिष्ठति' प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है।[१]

यहाँ यह भी विचारणीय है कि किसी किसी स्थल में 'पूर्वकालत्व' क्त्वा प्रत्यय का अर्थ हो नहीं सकता यह महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इङ्गित किया है। उन्होंने कहा है कि स्वापक्रिया के पश्चात् व्यादानक्रिया होने पर भी व्यादानक्रियावाचक पदोत्तर क्त्वा प्रत्यय प्रयुक्त होकर 'मुखं व्यादाय स्वपिति' प्रयोग साधु है। "व्यादाय स्वपितीत्युपसंख्यानमपूर्वकालत्वात्। न वा स्वप्नस्यावरकालत्वात्" (महाभाष्य, पृ० १७२)।

क्त्वा-प्रत्ययार्थ विचार के प्रसङ्ग में नव्यन्याय के प्रवर्त्तक गङ्गेश ने कहा है कि आनन्तर्य ही क्त्वा प्रत्यय का अर्थ है, पूर्वकालत्व नहीं। 'भुक्त्वा व्रजति' वाक्य से 'भोजनानन्तरकालीन गमन के कर्त्ता' इस प्रकार का शाब्दबोध होता है। गमनपूर्वकालीन भोजनकर्त्ता इस प्रकार शाब्दबोध नहीं होता है। पूर्वोक्त शाब्दबोध के स्वरसता हेतु आनन्तर्य ही क्त्वा-प्रत्ययार्थ यथार्थ है। इससे क्त्वा-प्रत्ययार्थ आनन्तर्य का साक्षात् गमन में अन्वय हो सकेगा। पूर्वकालत्व को क्त्वा-प्रत्ययार्थ माना जाता है तो उसका साक्षात् सम्बन्ध से अन्वय गमन में नहीं हो सकेगा, क्योंकि गमनक्रिया भोजनक्रिया का पूर्ववर्त्ती नहीं है। 'पूर्वकालत्व' को क्त्वा-प्रत्ययार्थ मानने पर भोजन से ही उसका अन्वय करना पड़ेगा। क्योंकि भोजन ही गमनक्रिया का पूर्ववर्त्ती है। उस प्रकार अन्वय मानने से शाब्दबोध

१. एवं भूत्वा घटस्तिष्ठतीत्यत्रापि स्थितिपूर्वकालविद्यमानत्वविवक्षया प्रयोगः। प्रकाश, पृ० १६

काल में भोजन गमनक्रिया में विशेष्यरूप से भासमान हो जाएगा। किन्तु प्रकृतस्थल में गमनक्रिया ही भोजनक्रिया का विशेष्यरूप से भासमान होता है। इसीलिए यथार्थ-वाक्यार्थबोध की उपपत्ति के लिए उन्होंने आनन्तर्य को ही क्त्वा-प्रत्ययार्थ कहा है।[१]

हम कह चुके हैं कि पूर्वकालत्व अर्थात् पूर्वकालवृत्तित्व को क्त्वा प्रत्यय का अर्थ कहने से भोजन उसका विशेष्य तथा गमन उसका विशेषण होगा। इसी आशङ्का से उस प्रकार के अर्थ का परित्याग किया गया है। किन्तु 'भुक्त्वा व्रजति' प्रयोगस्थल में पूर्वकालत्व को क्त्वा-प्रत्ययार्थ कहने पर भी भोजन में उसके विशेषणरूप से अन्वय की सम्भावना नहीं है, क्योंकि क्त्वा प्रत्यय की प्रकृति है भुज् धातु, जिसका अर्थ है भोजन। प्रकृत्यर्थ कभी भी अपने प्रत्ययार्थांश में विशेष्य नहीं होता। वह सर्वदा अपने प्रत्ययार्थांश में विशेषण ही होता है। अतः क्त्वा प्रत्यय का पूर्वकालत्व अर्थ कहने से उस पूर्वकालत्व-रूप प्रत्ययार्थ में प्रकृतिभूत भुज्धात्वर्थ भोजन विशेषणरूप से अन्वित होगा। उस विशेष्य तथा विशेषण का सम्बन्ध होगी आधेयता। अतः 'भुक्त्वा' वाक्यांश का अर्थ होगा 'भोजन-वृत्ति पूर्वकालत्व'। पूर्ववर्त्तित्व शब्द से प्रागभावाधिकरण-काल-वृत्तित्व ही समझा जाता है। अर्थात् जो जिसका प्रागभावाधिकरणीभूतकाल में विद्यमान हो वह उसका पूर्ववर्त्ती होता है।

फलतः भोजननिष्ठप्रागभावाधिकरण-काल-वृत्तित्व ही 'भुक्त्वा' इस पद का निष्कृष्टार्थ है। यह अर्थ ही व्रज धात्वर्थ गमन में अन्वित होगा। अब इस अर्थ का साक्षात् सम्बन्ध से गमन में अन्वय कैसे हो ? क्योंकि प्रत्यय नियमतः प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थ का बोधक होता है। प्रकृतस्थल में प्रकृत्यर्थान्वित क्त्वा प्रत्यय का अर्थ है—भोजनवृत्ति-प्रागभावाधिकरणकाल-वृत्तित्व। इस अर्थ का गमन में साक्षात् सम्बन्ध से अन्वय हो नहीं सकता है। परन्तु स्वाश्रयध्वंसाधिकरण-कालवृत्तित्व सम्बन्ध से ही उक्त प्रागभावाधिकरण-कालवृत्तित्व रूप 'पूर्वकालत्व' का अन्वय सीधे गमन से हो सकता है। क्योंकि 'स्व' पद से उस 'प्रागभावाधिकरणकालवृत्तित्व' को लेकर तदाश्रय भोजन मिलेगा। उस भोजन का ध्वंसाधिकरण-काल-वृत्तिता-विशिष्ट गमन होगा। परन्तु इस प्रकार सम्बन्ध से अन्वय करने पर भी गमन में भोजनानन्तर्य अन्तर्निहित रहता है, क्योंकि भोजनानन्तर्य तो भोजनध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्व रूप ही है।

इस स्थिति में आनन्तर्य (अर्थात् ध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्व) को ही क्त्वाच् प्रत्यय का अर्थ कहा जाय तो वाक्यार्थ लघुतर होगा। क्योंकि क्त्वा प्रत्ययार्थ

१. अस्मद्गुरवस्तु पूर्वकालतापि न शक्या, किन्त्वानन्तर्यम्। भुक्त्वा व्रजतीत्यतोहि भोजनान्तरं व्रजतीत्यनुभवो व्रजनविशेष्यकः, पौर्वकालस्य तु शक्यत्वे व्रजनपूर्वकाले भोजनमिति भोजनविशेष्यकोऽनुभवः स्यात्। तस्मात् प्रधानक्रियानन्तर्यं शक्यम्। पूर्वकालत्वन्त्वानन्तर्यनिरूपकत्वेन जघन्यप्रतीकमित्याहुः। प्रकाश, पृ० १६-१७

'ध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्व' के घटक ध्वंसपदार्थ में स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्वरूप[१] सम्बन्ध से भोजन का अन्वय होगा। फलतः भोजननिष्ठप्रतियोगितानिरूपक-ध्वंसाधिकरण-कालवृत्तिताविशिष्ट गमन का बोध होने से भुजधात्वर्थ भोजन से अन्वययुक्त क्त्वा प्रत्ययार्थ ध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्व का साक्षात् सम्बन्ध से गमन में अन्वय होगा। इस प्रकार अन्वय स्वीकार करने पर पूर्वकालत्व का (क्त्वा प्रत्यय के अर्थरूप से) प्रवेश की आवश्यकता नहीं रहेगी। पूर्वकालत्वरूप अर्थ से आनन्तर्यरूप अर्थ लघुतर है। इसी अभिप्राय से नव्यन्यायप्रवर्त्तक गङ्गेशोपाध्याय ने आनन्तर्य को ही क्त्वा प्रत्ययार्थ कहा है, पूर्वकालत्व को नहीं।

प्रकाशकार ने जिस प्रकार से क्त्वा प्रत्यय के अर्थ का विचार किया है उसकी आलोचना हम कर चुके हैं। उससे यह प्रतीत होता है कि वे आनन्तर्य को क्त्वा प्रत्यय का अर्थ समझते हैं। यहाँ प्रसङ्गवश मीमांसक तथा वैयाकरण के मत की आलोचना भी आवश्यक समझकर हम प्रथम मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी का इस विषय में विचार उपस्थापित करते हैं। ल्यप् (अथवा क्त्वा) प्रत्ययार्थ के विचारप्रसङ्ग में शबर-स्वामी ने कहा है—

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'[२] इस विधिवाक्य से स्वाध्याय अर्थात् वेद का अध्ययन कर्त्तव्य है—यह प्राप्त है। अध्ययन पद सामान्यतः अक्षर-ग्रहण का बोधक है। अतः इस विधिवाक्य से स्थूलतया वेदवाक्यों के अक्षरों का ग्रहण करना, अर्थात् गुरु से वेदग्रहणपूर्वक उन्हें कण्ठस्थ करना होगा। विशेषफल के लाभार्थ विधिवाक्यों से विशेष क्रियाओं का आदेश प्राप्त होता है। यहाँ भी वेदग्रहणरूप विहित-क्रिया का कोई फल अवश्य है—समझना पड़ेगा। प्रस्तुत विधि में किसी फल के उल्लिखित न होने से किसी उपयोगी फल की कल्पना करनी पड़ेगी। जहाँ फल का अनुल्लेख हो वहाँ फलकल्पना को मीमांसकपद्धति यह है कि 'विश्वजित् न्याय' से फलकल्पना की जाए। अर्थात् विश्वजित् याग की विधायिका श्रुति में फल के उल्लिखित न होने से मीमांसा के सिद्धान्तानुसार वहाँ स्वर्ग को फल स्वीकार किया जाता है। उसी प्रकार जहाँ विधि-वाक्य में फल उल्लिखित न हो वहाँ उक्त प्रकार से फल की कल्पना करनी है। तदनुसार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य का भी स्वर्ग ही फल कल्पित होना चाहिए। परन्तु मीमांसकों के विचार से जहाँ विधिविहित क्रिया के फल के अनुल्लिखित होने पर कोई इष्टफलकल्पना सम्भव नहीं है, केवल वहाँ ही 'विश्वजित् न्याय' से अदृष्टफल की कल्पना

१. स्व पद का अर्थ भोजन। वह ध्वंस का प्रतियोगी है। अतः भोजन-निष्ठ-ध्वंस-प्रति-योगिता का निरूपकत्व ध्वंस में रहेगा। अभाव प्रतियोगिता का निरूपक होता है।
२. शतपथ ब्राह्मण १३।३।२

करनी चाहिए। विहितक्रिया का दृष्टफलकल्पना सम्भव होने पर भी उसे छोड़ कर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए। प्रस्तुत स्थल में दृष्टफल की सम्भावना है। शिष्य अर्थज्ञान के लिए ही अक्षरग्रहणरूप अध्ययन करता है। अतः वेदाक्षरग्रहणरूप अध्ययन के वेदार्थज्ञानरूप दृष्ट फल होने में बाधा नहीं। वाक्य के विचार के विना वाक्यार्थज्ञान नहीं होता। अतः प्रस्तुत विधिवाक्य से वेदवाक्यार्थज्ञानफलक वेदग्रहण के आदिष्ट होने पर भी वेदवाक्यार्थयथार्थज्ञान के लिए वेदवाक्यार्थविचार भी प्राप्त है। इससे मीमांसाशास्त्राध्ययन भी 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य का विषय होता है।

बौधायन स्मृति का 'वेदमधीत्य स्नायात्'[1] इस वाक्य से वेदाध्ययन का परवर्त्ती समावर्तनस्नान कर्त्तव्यतया प्राप्त है। उक्त वाक्य में 'अधीत्य' पद ल्यप् प्रत्ययान्त है। ल्यप् प्रत्ययार्थ विचार के प्रसङ्ग में कहा गया है कि प्रस्तुत स्थल में यदि आनन्तर्य को ल्यप् प्रत्ययार्थ कहें, तो अक्षरग्रहणरूप वेदाध्ययन के अनन्तर ही समावर्तनस्नान की कर्त्तव्यता उक्त स्मृतिवाक्य का अर्थ होता है। ऐसा होने पर इस स्मृतिवाक्यार्थ से पूर्वालोचित (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) विधिवाक्यार्थ का सामञ्जस्य नहीं होता है। क्यों कि, स्मृतिवाक्यानुसार वेदाक्षरग्रहण के अनन्तरकाल में ही समावर्तनस्नान के अनुष्ठेय होने से विधिवाक्यतात्पर्यान्तर्गत वेदार्थविचार का अवसर नहीं रहता है।

यह भी सम्भव नहीं कि 'अधीत्य स्नायात्' इस स्मृति के विधानानुसार अक्षरग्रहण के पश्चात् समावर्तनस्नान करके शिष्य पुनः गुरु से वाक्यार्थविचारपूर्वक वेदार्थज्ञान का लाभ करे। इस उपाय से स्मृत्युक्त समावर्तनस्नान तथा विधिवाक्य-सूचित वेदार्थविचार दोनों के सम्पन्न होने की सम्भावना रहने पर भी अन्यत्र स्मृति में 'स्नात्वा भार्यामुपेयात्' तथा 'कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इस प्रकार के विधान के होने से समावर्तनस्नान के अनन्तर दारग्रहण तथा दारग्रहण के पश्चात् अग्न्याधान निर्दिष्ट होने से समावर्त्तन के बाद गुरुगृह में रहकर वेदवाक्यार्थविचारपूर्वक वेदार्थज्ञान का अवकाश नहीं रहता है। अतः ल्यप् प्रत्यय का आनन्तर्य रूप अर्थ स्वीकृत होने से अक्षरग्रहण के अनन्तर समावर्तन स्नान की कर्त्तव्यता मान लेनी पड़ती है। जिसके फल-स्वरूप वेदार्थविचाररूप विधिसूचित विषय की बाधा होती है। इसीलिए मीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामी 'अधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवाक्यस्थ ल्यप् प्रत्यय को पूर्वकालत्व-मात्र वाचक कहते हैं। जिसस स्मृतिवाक्य द्वारा अक्षरग्रहणरूप अध्ययन स्नान के पूर्वकर्त्तव्यरूप होन के कारण स्मृतिवाक्यार्थ से वेदार्थ का विरोध दूरीभूत हो जाता है। वेदाक्षरग्रहण क पश्चात् वेदार्थविचार तथा उसके पश्चात् समावर्तनस्नान का

---

१. बौधायनगृह्यसूत्र ६।१

अनुष्ठान होने पर भी अक्षरग्रहणरूप अध्ययन के स्नानपूर्ववर्त्तित्व का भी व्याघात नहीं होता।

'अधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवाक्यस्थ ल्यप् प्रत्यय का आनन्तर्य अर्थ स्वीकृत होने पर भी पूर्वोक्त क्रम से अक्षरग्रहण, अर्थविचार तथा समावर्तनस्नान के अनुष्ठान करने पर भी स्नान का अक्षरग्रहणरूप अध्ययन से आनन्तर्य रहता है। फलतः ल्यप् प्रत्यय का आनन्तर्य रूप अर्थ स्वीकार करने से भी स्मृत्यर्थ से वेदार्थ का विरोध नहीं होता है। अतः स्मृति तथा वेदार्थ के विरोध के कारण ही ल्यप् प्रत्यय का पूर्वकालत्व रूप अर्थ मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी को स्वीकार करना पड़ा—यह भी कहना सम्भव नहीं है। ल्यप् प्रत्यय का पूर्वकालत्वरूप अर्थ स्वीकार करने में शबरस्वामी ने पाणिनीय मत का ही अनुसरण किया है। "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा० ३।४।२१) सूत्र द्वारा पाणिनि ने पूर्वकालत्व को ल्यप् प्रत्यय का शक्यार्थ कहा है। इस प्रतीति से ही शबरस्वामी ने उसी को ल्यप का अर्थ माना है। ल्यप् प्रत्यय का आनन्तर्य अर्थ स्वीकार करने पर 'अधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिवाक्य में लक्षणा स्वीकार करना पड़ेगा यह समझ कर उन्होंने 'ल्यप्' के पूर्वकालत्व रूप अर्थ को मान लिया। आनन्तर्य रूप अर्थ मानने पर अध्ययन के अनन्तर ही स्नान प्राप्त हो जाता है इससे वेदार्थ-विचार का अवकाश नहीं रहता इस आशङ्का से उन्होंने इस अर्थ का परित्याग कर पूर्वकालत्व रूप अर्थ स्वीकार किया यह बात नहीं है। लाक्षणिकार्थ स्वीकार का अनौचित्य समझकर ही उन्होंने वह (पूर्वकालत्व) अर्थ ग्रहण किया यही मीमांसाभाष्यकार का गूढ़ अभिप्राय था।[1]

हम पूर्वोल्लिखित विचार के अवसर पर यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि 'क्त्वा' का पूर्वकालत्व ही शक्यार्थ है इस विषय में शबरस्वामी ने वैयाकरणसम्प्रदाय का उल्लेख किया है। परन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पाणिनीयसम्प्रदाय में 'क्त्वा' का वाच्यार्थ रूप में पूर्वकालत्व, समानकर्तृकत्व आदि स्वीकृत नहीं है। 'अव्ययकृतो भावे' (महाभाष्य, पृ० १७५) इस वार्तिक के बल से तुमुन्, क्त्वा आदि अव्यय कृत् प्रत्ययों का भाव (अर्थात् धात्वर्थ) ही शक्यार्थ है।

वैयाकरणसम्प्रदाय व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकार करता है। नैयायिकों के अनुसार प्रथमान्तमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध को वे स्वीकार नहीं करते हैं। 'भोक्तुं पचति' भुक्त्वा व्रजति' आदि स्थलों में प्रथमतः यथाक्रम भोजन तथा विक्लित्ति के अनुकूल व्यापार तथा भोजन और उत्तरदेशसंयोगानुकूल-व्यापार प्रतीत होता है। अनन्तर उक्त स्थलों में दो क्रियाओं के एक ही वाक्य के अन्तर्गत होने के कारण उन

---

१. नह्यत्रानन्तर्यस्य वक्ता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पूर्वकालतायां क्त्वा स्मर्यते नानन्तर्ये। दृष्टार्थता चाध्ययनस्यानन्तर्ये व्याहन्येत। लक्षणया त्वेषोऽर्थः स्यात्…… । शबरभाष्य, पृ० ६-७

दोनों में विशेष्यविशेषणभाव स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा उन दो क्रियायों का एक ही वाक्यार्थ में सन्निवेश सम्भव नहीं होगा। अर्थात् उन दो क्रियाओं के एक वाक्यार्थ में समावेश की अनुपपत्ति के कारण ही उन दोनों में विशेष्यविशेषणभाव स्वीकृत होता है। यह विशेष्यविशेषणभाव स्थलभेद से जन्यजनकभाव, पूर्वोत्तरभाव, व्याप्यव्यापकभाव आदि सम्बन्ध से होता है। जैसे 'भोक्तुं पचति' स्थल में भोजनजनक पाक-क्रिया, 'भुक्त्वा व्रजति' में भोजनपूर्वक गमनक्रिया, 'अधीत्य तिष्ठति' में अध्ययनव्याप्य अवस्थान, 'मुखं व्यादाय स्वपिति' में मुखव्यादानव्याप्य निद्रा प्रतीत होती है। उक्त स्थलों में उल्लिखित सम्बन्धविशेषरूप अर्थों का लाभ पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण होता है। इसी कारण उन सम्बन्धों को अव्यय कृत् प्रत्ययों का शक्यार्थ मानना उचित नहीं होता है। इसीलिए 'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' सूत्र की व्याख्या में प्रदीपकार का कहना है कि "पौर्वापर्य द्योतित होने पर क्त्वा प्रत्यय प्रयुक्त होता है। पौवापर्य क्त्वा प्रत्यय का वाच्यार्थ नहीं है यही कैयट का अभिप्राय है[१]। काशिकाकार का भी कहना है कि दो क्रियाओं में कर्त्ता एक ही होने से उनमें जो क्रिया पूर्ववर्ती है उसके प्रतिपादक धातु के उत्तर क्त्वा प्रत्यय हुआ करता है[२]। इससे भी स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि काशिकाकार ने समानकर्त्तृकत्व अथवा पूर्वकालत्व को क्त्वा प्रत्यय का शक्यार्थ नहीं कहा है। किस स्थिति में धातु के उत्तर क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग होगा इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए सूत्र में 'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' पद का प्रयोग किया गया है 'क्त्वा' का शक्यार्थ के निरूपणार्थ नहीं।

समानकर्त्तृकत्व को क्त्वा प्रत्ययार्थ स्वीकार न करने पर 'ओदनं पक्त्वा अहं भोक्ष्ये' प्रयोग में क्त्वा प्रत्यय द्वारा कर्त्ता का अभिधान न होने से प्रथमान्त 'अहं' पद के स्थान में तृतीयान्त 'मया' पद का प्रयोग करना ही उचित होगा यह आशङ्का हो सकती है। क्यों कि, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि से कर्त्ता अभिहित न होने पर कर्त्तृपद में तृतीया विभक्ति होती है। प्रस्तुत स्थल में क्त्वा प्रत्यय से पाक क्रिया के कर्त्ता का अभिधान नहीं हुआ है। अतः कर्त्तृवाचक पद मे तृतीया का प्रयोग प्राप्त हो जाता है।

यदि उक्त प्रयोग मे तिङ् प्रत्यय से कर्ता का अभिधान होने के कारण प्रथमान्त 'अहं' पद का प्रयोग होगा तृतीयान्त मया पद का नहीं यह कहा जाए, तो भी भोजनक्रिया के कर्ता तिङ् प्रत्यय से अभिहित होने पर भी पाक क्रिया के कर्ता का क्त्वा द्वारा अभिहित न होने से मया पद का प्रयोग ही उचित है। क्त्वा प्रत्यय का शक्यार्थ जब कर्त्ता होगा

---

१. पूर्वकाले द्योत्ये क्त्वादिर्विधीयते न तु विषय इति भावः। प्रदीप (पाणिनि ३।४।२१)

२. समानः कर्त्ता ययोर्धात्वर्थयोस्तत्र पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानाद्धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति। काशिका (पा० ३।४।२१)

तब पाकक्रिया का कर्त्ता भी क्त्वा प्रत्यय द्वारा अभिहित होगा। अतः 'अहम्' के स्थान में 'मया' के प्रयोग की आशङ्का नहीं रहेगी।

वस्तुतः भर्त्तृहरि आदि प्रामाणिक वैयाकरणों के निर्णयानुसार प्रधान के अनुरोध से अप्रधान का कार्य निरूपित होता है। प्रस्तुत स्थल मे प्रधानभूत भोजनक्रिया के कर्त्ता का लिङ् प्रत्यय से अभिधान होने के कारण पाकरूप गौण क्रिया के कर्ता का अभिधान न होने पर भी तृतीया विभक्ति के प्रयोग की आशङ्का उक्त स्थल में होती ही नहीं।

यदि क्त्वा प्रत्यय का अर्थ 'समानकर्त्तृकत्व' रूप से सूत्रकार द्वारा स्वीकृत होता तो सूत्र में 'समानकर्त्तृकयोः' के स्थान में 'समानकर्त्तरि' पद का प्रयोग होता।[1]

प्रशस्तपादाचार्य के नमस्कार के उपस्थापन हेतु 'प्रणम्य' पद के प्रयोग का तात्पर्य सामान्य नमस्कार नहीं, अपितु प्रकृष्ट नमस्कार ही है। सामान्य नमस्कार का प्रतिपादन 'नत्वा' पद से भी हो सकता था। यहाँ 'प्र' उपसर्ग से भक्ति श्रद्धातिशय[2] रूप प्रकर्ष द्योतित हुआ है। अर्थात् ग्रन्थारम्भ के पूर्व ग्रन्थकार ने भक्ति तथा श्रद्धा के साथ नमस्कार किया है। ग्रन्थ की निर्विघ्नसमाप्ति के निमित्त ग्रन्थकार द्वारा मङ्गलाचरण कर्त्तव्य है। नमस्कार मङ्गल के अन्तर्गत होने से ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण किया गया है। यदि भक्तिश्रद्धारहित नमस्कार से भी मङ्गलाचरण सम्भव है, तो प्रकृष्ट (भक्तिश्रद्धायुक्त) नमस्कार की क्या आवश्यकता यह आशङ्का उचित नहीं है। क्यों कि भक्तिश्रद्धारहित नमस्कार मङ्गल के अन्तर्गत नहीं है। अतः मङ्गलाचरण के लिए प्रकृष्ट नमस्कार ग्रन्थकार ने किया है।

पहले कहा गया है कि 'नत्वा' पद के स्थान पर प्रणम्य का प्रयोग होने से (भक्तिश्रद्धातिशयरूप) प्रकर्षयुक्त नमस्कार 'प्रणम्य' पद का अर्थ समझा जाएगा। परन्तु 'प्र' उपसर्ग उस प्रकर्ष का वाचक है या नहीं ? जो पद अपनी अभिधा अर्थात् शक्तिरूप सम्बन्ध के कारण जिस अर्थ को उपस्थापित करता है उस पद को उस अर्थ का वाचक (पद) कहा जाता है। प्रत्युत जिस पद का अपनी अभिधा (अर्थात् शक्ति-रूप सम्बन्ध) से किसी अर्थ को उपस्थापित करने का सामर्थ्य नहीं, परन्तु स्वसमभिव्याहृत (अपने साथ उच्चरित) पदान्तर के द्वारा किसी अर्थ को समुपस्थापित कराता है, उस पद को उस अर्थ का द्योतक कहा जाता है।

---

१. वैयाकरणभूषण पृ० २८९-२९४।

२. आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिः। आराधना च गौरवितप्रीतिहेतुक्रिया। वेदबोधितफला-वश्यम्भावनिश्चयः श्रद्धा। यद्वा भक्तिश्रद्धे ज्ञानत्वाव्यापरजातिविशेषौ। प्रकाश, पृ० १७

'प्रजयति' आदि स्थलों में 'प्र' उपसर्ग द्वारा प्रकर्ष, 'विजयते' प्रयोग में 'वि' उपसर्ग से आतिशय्य, 'अभ्यागच्छति' प्रयोग में 'अभि' तथा 'आ' उपसर्गों द्वारा आभिमुख्य तथा सामीप्य प्रतीत होता है। इन उपसर्गों के प्रयोग के विना उन अर्थों की उपस्थिति (प्रकाश) नहीं होती है। अतः अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा विशेष-विशेष अर्थ में उपसर्गों की शक्ति स्वीकार करनी पड़ती है।[१] अब यह शङ्का होगी कि यदि उपसर्गों की पूर्वोक्त अर्थों में शक्ति स्वीकृत होनी है तब 'प्रतिष्ठते' आदि प्रयोग में उपसर्ग द्वारा 'स्था' धातु के 'गतिनिवृत्ति' रूप अर्थ का उत्कर्ष ही प्रतिपादित होना उचित है। परन्तु वहाँ 'प्र' उपसर्ग के रहते हुए 'गतिनिवृत्ति' रूप 'स्था' धातु के अर्थ के विपरीत 'गति' ही समझी जाती है।[२]

इससे स्पष्ट है कि 'प्र' उपसर्ग की प्रकर्ष अर्थ में शक्ति नहीं है। तुल्ययुक्ति से गतिनिवृत्ति के विपरीत अर्थ में भी उसकी शक्ति नहीं हो सकती है। क्यों कि, ('प्रतिष्ठते' जैसा) 'प्रजयति' आदि प्रयोग में वह 'प्र' धात्वर्थ 'जय' के विपरीत पराजय अर्थ को उपस्थित नहीं करता है। यद्यपि स्थित्यनुसार यह प्रतीत हो सकता है कि 'प्र' उपसर्ग की अनेक अर्थों में शक्ति है। इसी कारण वह स्थल भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ का उपस्थापन करता है।[३] यद्यपि धातुओं की वाचकता सर्ववादिसिद्ध होने के कारण उपसर्गों की वाचकता स्वीकार करने की अपेक्षा धातुओं की अनेकार्थता की कल्पना करना युक्तियुक्त होने पर[४] भी धातुओं की संख्या उपसर्गों की संख्या से अधिक है। अतः धातुओं की अनेकार्थता की कल्पना से अल्पसंख्यक उपसर्गों की अनेकार्थवाचकता स्वीकार करने में लाघव भी है। प्रस्तुत स्थल में 'प्र' उपसर्ग को उत्कर्षादि-अनेकार्थवाचक मानना ही उचित है[५]। इस तर्क के विरोध में कहा जा सकता है कि उपसर्गों का कोई अर्थ है यह निश्चित नहीं है। प्रत्युत धातुओं की अनेकार्थता शास्त्रसिद्ध है। इसलिए उपसर्ग नानार्थक नहीं होंगे, परन्तु धातु ही नानार्थक होंगे[६]। धातुओं की अनेकार्थता स्वीकार करने पर किसी प्रकार की शङ्का का अवकाश न रहेगा। 'जि' धातु का जय, पराजय आदि अनेक

---

१. ननु प्रजयतीत्यादौ प्रकर्षस्य विजयत इत्यादावातिशय्यस्याभ्यागच्छतीत्यादावाभिमुख्यसामीप्ययोः प्रतीतावुपसर्गान्वयव्यतिरेकानुविधानात्तत्र तेषां शक्तिः। प्रकाश, पृ० १७-१८

२. नचैवं प्रतिष्ठत इत्यत्र स्थितिप्रकर्षधीप्रसङ्गः। तत्र प्रशब्दस्य धात्वर्थविरुद्धत्वात्। तच्च गमनमेव। प्रकाश, पृ० १८

३. धातोरिव तस्याप्यनेकार्थत्वात्। प्रकाश पृ० १८

४. न च धातोः सार्थकत्वकल्पनात्तत्रैवानेकार्थत्वं कल्प्यम्। प्रकाश, पृ० १८

५. धातूनां बहुत्वात् प्रशब्दस्यैकत्वेन तत्रैव प्रकर्षवाचकत्वकल्पनात्। प्रकाश, पृ० १८

६. धातोरनेकार्थत्वं स्वीकृतं तदभियुक्तैर्नोपसर्गस्य। प्रकाश, पृ० १८

अर्थ होते हुए भी 'प्र' उपसर्ग के प्रयोग से वह प्रकृष्टजय रूप अर्थ को उपस्थापित करता है। 'स्था' धातु के गतिनिवृत्ति, गति आदि अनेक अर्थ होने पर भी 'प्र' उपसर्ग के योग से वह गतिनिवृत्ति-रूप अर्थ का उपस्थापक नहीं होता, परन्तु गतिरूप अर्थ का ही उपस्थापक होता है। इस पक्ष के स्वीकृत होने से वस्तुतः उपसर्गों की द्योतकता ही सिद्ध होगी। धातुओं की अनेकार्थकता होने पर भी उपसर्ग उन अनेकार्थों में से एक विशेष अर्थ को ही समझने में सहायक होंगे।

धातुओं की अनेकार्थतापक्ष में भी शङ्का होगी कि धातु स्वय अनेकार्थ होने से यदि भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादक है, तो कोई एक विशेष अर्थ के प्रतिपादन में उसे पदान्तर की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यथा—अनेकार्थवाचक 'अक्ष' शब्द किसी पदान्तर की सहायता के बिना ही स्थलभेद से भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादक होता है[१]। 'जि' प्रभृति धातु वस्तुतः अनेकार्थ होने पर 'प्र' उपसर्ग के साथ न होने पर भी स्थलविशेष में प्रकृष्टजय रूप अर्थ को, 'परा' उपसर्ग के साथ न होने पर भी स्थलविशेष में पराजयरूप अर्थ को अक्ष' शब्द के समान ही प्रतिपादित करता। 'जि' आदि धातु विशेष-विशेष उपसर्गों के परवर्ती होकर प्रयुक्त होने पर ही विशेष-विशेष अर्थ के उपस्थापक होते हैं। इसी कारण कोई-कोई विद्वान् उपसर्गों की नानार्थवाचकता पक्ष को स्वीकार करते हैं।

'प्रजयति' आदि प्रयोग में 'जि' धातु अभिधाशक्ति के द्वारा जयरूप अर्थ को तथा लक्षणा द्वारा प्रकर्षरूप अर्थ को उपस्थित करते हुए उभय अर्थ को मिलाकर प्रकृष्टजयरूप विशिष्टार्थ का बोधक होता है ऐसा कहने से शब्द में एक ही काल में दो वृत्तियाँ (शक्ति, लक्षणा) स्वीकार करनी पड़ेंगी। किसी पद में युगपत् दो वृत्तियों (शक्ति तथा लक्षणा) द्वारा अर्थ का प्रतिपादन (शब्द) शास्त्रस्वीकृत नहीं है[२]। युगपत् वृत्ति-द्वय की सहायता से अर्थोपस्थापकत्व पदों में स्वीकार करने पर भी सर्वत्र समाधान नहीं होगा। 'प्रतिष्ठते' आदि प्रयोगों में गतिनिवृत्तिरूप शक्यार्थ उपस्थित होता ही नहीं। इसीलिए किसी किसी के मत से धातु तथा उपसर्ग दोनों के अपने-अपने अर्थों में शक्ति (वाचकता) को स्वीकार किया जाता है।

किरणावलीकार उपसर्गों का वाचकत्व स्वीकार नहीं करते हैं। उपसर्गों की द्योतकता ही उनका अभिमत प्रतीत होता है। उन्होंने 'प्रकर्षः प्रशब्देन द्योत्यते' पंक्ति द्वारा यही सूचित किया है[३]। प्रत्यय अपने प्रकृतिभूत पद के साथ अन्वित होकर

---

१. न, तथासति अर्थविशेषे धातोस्तदनुविधानानुपपत्तेः। अक्षादिपदे तथा दर्शनात्। प्रकाश, पृ० १८

२. प्रकर्षादेर्विशेषस्याशक्यत्वेन तत्र लक्षणायां युगपद्वृत्तिद्वयविरोधापत्तेः। प्रकाश, पृ० १८

३. किरणावली पृ० ६

अपने अर्थ को प्रकाशित करता है यही शास्त्रस्वीकृत नियम है। तदनुसार प्रकर्ष को उपसर्गार्थ स्वीकार करने पर आख्यातार्थ का उसके साथ अन्वय नहीं होगा। क्यों कि, वह 'प्र' आदि उपसर्ग आख्यात के प्रकृतिभूत पद नहीं हैं[१]। 'प्रजयति' आदि स्थलों में 'प्र' उपसर्ग का प्रकर्षरूप अर्थ से अन्वययुक्त जयरूप धात्वर्थ के साथ जब अन्वित होता है, तब आख्यात अपना अर्थ प्रकाशित करता है। उस प्रयोग से हम प्रकृष्टजय रूप अर्थ ही समझते हैं। उक्त प्रकार के अन्वय से 'प्र' उपसर्ग का प्रकर्षरूप अर्थ के साथ भी आख्यातार्थ कर्तृत्व का अन्वय स्वीकृत हुआ है। यह शास्त्रविरुद्ध है। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्यय केवल प्रकृत्यर्थ के साथ अन्वित होकर अपने अर्थ को उपस्थित करता है। अतः उपसर्गों की वाचकता स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

उक्त नियम के स्वीकार के विषय में यह शङ्का होती है कि 'ओदनं पचति' आदि प्रयोगों में प्रातिपदिक के अनन्तर स्थित 'अम्' प्रत्ययार्थ कर्मत्व के साथ अन्वित होकर धात्वर्थ अपने 'तिप्' प्रत्ययार्थ के साथ अन्वित होता है। उक्त प्रयोग द्वारा 'ओदन कर्मताक-पाकानुकूलकृति' अर्थ प्रकाशित होता है। फलतः किसी किसी स्थल में प्रत्ययार्थ अपने प्रकृतिभूत पद न होने पर भी उस पद के अर्थ के साथ परम्परया सम्बद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रजयति' प्रयोग में भी प्रकर्ष से अन्वित धात्वर्थ 'जय' के साथ तिप् प्रत्ययार्थ के अन्वय में भी बाधा कैसी ?[२]

इस शङ्का के उत्तर में कहा जा सकता है कि उपसर्गों की वाचकता स्वीकार करने पर उनको अर्थविशेष में शक्त मानना पड़ेगा। तब उपसर्गों के घटक वर्णसमूह अपनी आनुपूर्वियों के साथ ही उन उपसर्गों की शक्तता के अवच्छेदक होंगे। इस स्थिति में भिन्न-भिन्न उपसर्गों की विशेष-विशेष अर्थों में शक्तता तथा उनकी वर्णानुपूर्वियों में उन शक्तताओं की अवच्छेदकता की भी कल्पना करनी होगी। परन्तु धातुओं में अर्थशक्तता के सर्ववादिसिद्ध होने से उसी अर्थशक्तता में उपसर्गों को अवच्छेदक कहना ही कल्पना-लाघव के हेतु अधिक उचित है। इससे 'प्र' उपसर्ग की प्रकर्षार्थ में शक्तता तथा आनुपूर्वीविशिष्ट प्, र्, अ, इन 'प्र' घटक वर्णों की उक्त शक्तता में अवच्छेदकता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। परन्तु प्रकर्षविशिष्ट जयरूप अर्थ में 'जि' धातु की शक्तता तथा 'प्र' उपसर्ग के उत्तरवर्ती जित्व-रूप धर्म में उसकी अवच्छेदकता स्वीकृत होगी। 'जि' धातु की शक्तता क्लृप्त रहने के कारण 'प्र' उपसर्ग में केवल शक्ततावच्छेदकत्व-मात्र की कल्पना

१. प्रकर्षादेरुपसर्गवाच्यत्वे तत्राख्यातार्थभावनान्वयो न स्यात्। प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थान्वय-बोधकत्वं प्रत्ययानाम्। प्रकाश पृ० १८

२. ओदनं पचतीत्यत्र ओदनविशिष्टपाकान्वयवत् प्रकर्षादिविशिष्टधात्वर्थत्वेन तदन्वयः स्यात्। प्रकाश, पृ० १८

आवश्यक होगी। परन्तु उपसर्गों की शक्तता मानने पर उपसर्गों में शक्तता तथा उनके घटक वर्णों की आनुपूर्वियों में शक्तनावच्छेदकता की भी कल्पना करनी होगी। पूर्वोक्त धातुओं की शक्ततापक्ष की अपेक्षा इस पक्ष में दो प्रकार की कल्पना अधिक होगी, जब कि प्रथम पक्ष में केवल उपसर्गों की शक्ततावच्छेदकत्व-कल्पना ही पर्याप्त होगी। अतः उपसर्गों का द्योतकतापक्ष ही युक्तिसिद्ध है। वाचकत्व न रहने पर भी धातुओं के भिन्न-भिन्न अर्थों को नियन्त्रित करने की क्षमता उपसर्गों में है। इस धात्वर्थ-नियन्त्रण-सामर्थ्य को ही 'द्योतना' कहा जाता है। रज्जु से पशु जैसे नियन्त्रित होते हैं उसी प्रकार उपसर्गों से भी धात्वर्थ नियन्त्रित होते हैं। इसी कारण द्योतनाशक्ति को हम 'सान्दानिक' अथवा औपसन्दानिकशक्ति कह सकते हैं।[१]

ऊपर कहे गये सिद्धान्त में धातु की नानार्थकता स्वीकृत है। उपायान्तर रहने पर पद की नानार्थकता नहीं करना ही श्रेयस्कर है। इसलिए धातुपाठ में पठित अर्थविशेष में ही (धातुओं की) शक्ति मानना ठीक है। यहाँ शङ्का होगी कि धातुओं का अर्थ धातुपाठनियन्त्रित तथा उपसर्गों का अर्थ नहीं यह मानने पर 'प्रतिष्ठते' आदि प्रयोग में गमनरूप अर्थ किस प्रकार से प्रतीत हो? 'स्था' धातु का 'गमन' अर्थ धातु-पाठ द्वारा निर्दिष्ट नहीं तथा 'प्र' उपसर्ग का कोई अर्थ नहीं है। इसके समाधान में कहा जाता है कि 'स्था' धातु विपरीतलक्षणा द्वारा 'गमन' अर्थ का उपस्थापक होगा तथा

---

१. तथापि लाघवादुपसर्गाणां शक्त्यवच्छेदकत्वं न शक्तत्वम्। प्रोत्तरजित्वेन प्रकृष्टे जये शक्तेः। एवं हि क्लृप्तविशेष्यशक्तेर्विशेषणविषयत्वमात्र कल्प्यते। अन्यथा तु शक्त्यन्तरमेवेत्यौपसन्दानिकी शक्तिरेव द्योतनम्। प्रकाश, पृ० १८-१९

'उपसन्दान' पद की व्याख्या करते हुए कला टीकाकार वैद्यनाथ पायगुण्डेने कहा है कि 'उपसन्दीयते' (यत्) इस प्रकार व्युत्पत्ति से कर्मवाच्य में ल्युट् प्रत्यय द्वारा यह पद निष्पन्न है। इससे स्वसमभिव्याहृत अन्य पद ही उपसन्दान पद का अर्थ होता है। किसी पद में उस पद के साथ उच्चरित अन्य पद की अर्थोपस्थापक वृत्ति (सम्बन्ध) के उद्बोधक अथवा उद्दीपक सामर्थ्य विशेष को ही औपसन्दानिकी शक्ति कहते हैं। 'प्रणम्य' पद में प्र-उपसर्ग तथा उसके साथ उच्चरित 'नम्' धातु से निष्पन्न 'णम्य' प्राप्त है। उक्त नम् धातु की अर्थोपस्थापक वृत्ति को 'प्र' उपसर्ग समुद्बोधित करता है। इसीलिए 'प्रणम्य' पद भक्तिश्रद्धादियुक्त नमस्कार रूप विशेष अर्थ का प्रतिपादन करता है। धातुओं के विशेष अर्थों के प्रतिपादन में उपसर्गों का सामर्थ्य है। उपसर्गों का विशिष्ट धात्वर्थ प्रतिपादन करने की शक्ति को ही द्योतना अथवा औपसन्दानिकी शक्ति कहते हैं। उप सन्दीयत इत्युपसन्दानं समभिव्याहृतपदं तद्वृत्तिशक्त्युद्बोधकत्वमिति······। कला, पृ० ७८

'प्र' उपसर्ग उस विपरीत अर्थ में वक्ता के तात्पर्य को ज्ञापित करेगा।[1] यह भी शङ्का हो सकती है कि 'प्रजयति' प्रयोग में प्रकर्षविशिष्ट जय होने से वह 'जि' धातु का लक्ष्यार्थ कैसे हो सकता है? क्योंकि शक्यार्थ से अन्य अर्थ ही लक्षणा द्वारा उपस्थापित होता है। समाधान यह है कि सामान्यार्थबोधक पदों के विशिष्ट अर्थ में प्रयोग होने से उस विशिष्टार्थ को लाक्षणिक अर्थ ही माना जाता है। इस हेतु विशिष्ट प्रकार जय 'जि' धातु का लक्ष्यार्थ ही है।[2] इसी प्रकार 'व्यतिसे' आदि प्रयोग में 'अस्' धातु के वर्तमान न होने पर भी लुप्त (अस्) धातु के स्मरण से लक्षणा द्वारा विनिमयरूप अर्थ की कल्पना की जा सकती है। इसी रीति से धातुओं को धातुपाठों में निर्दिष्ट अर्थ में शक्त मानकर अन्य अर्थों में लाक्षणिक कहा जाना युक्तियुक्त है।[3]

तथाभूता हि परमेश्वरनतिर्मङ्गलमावहति। कृतमङ्गलेन चारब्धं कर्म निर्विघ्नं परिसमाप्यते, प्रचीयते च। आगममूलत्वाच्चास्यार्थस्य व्यभिचारो न दोषाय। तस्य कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यहेतुकत्वात्।

[उसी प्रकार (अर्थात् प्रकर्षयुक्त) परमेश्वर प्रणाम ही कल्याण लाता है (अर्थात् कल्याण जनक होता है)। मङ्गल के अनुष्ठाता (व्यक्ति) द्वारा आरम्भ किया गया कार्य निर्विघ्नरूप से परिसमाप्त तथा वृद्धिप्राप्त होता है। आगम (वेद) मूलक (अर्थात् वेदप्रमाणसिद्ध) होने के कारण इस विषय (मङ्गल) का व्यभिचार अर्थात् मङ्गलाचरण करने पर निर्विघ्न परिसमाप्ति का न होना तथा मङ्गलाचरण न करने पर भी निर्विघ्नपरिसमाप्ति होना) दोषावह नहीं है। वह (व्यभिचार) कर्म, कर्त्ता तथा साधन (करण) का वैगुण्यहेतुक होता है।]

यहाँ शङ्का होती है कि प्रणाम के साथ भक्ति तथा श्रद्धा के सहयोग की आवश्यकता क्या? इसके उत्तर में आचार्य (उदयन) का कहना है कि भक्ति-श्रद्धा-युक्त नमस्कार ही मङ्गल (कल्याण) का आनयन करता है। मङ्गलहेतु आरब्धकार्य की निर्विघ्न समाप्ति भी होती है। पुनः यह शङ्का होगी कि ग्रन्थकार (प्रशस्तपाद) ने शिष्टाचार-परम्परा के कारण मङ्गल की अभीष्ट-साधकता को जानकर ही मङ्गलाचरण किया है।

---

१. यद्वा प्रतिष्ठत इत्यत्र विरोधिलक्षणया धातोर्गमनोपस्थितौ तात्पर्यग्राहकः प्रशब्दः। प्रकाश, पृ० १९

२. अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् प्रजयतीत्यत्र विशेष्यवाचकस्य धातोर्विशिष्टे लक्षणैव विशेष्याद् विशिष्टस्यान्यत्वात् प्रादेस्तु तात्पर्यग्राहकत्वम्। प्रकाश, पृ० १९-२०

३. व्यतिस इत्यत्र धातुरेव लुप्तोऽर्थप्रत्यायकः। धातुलोपमजानतस्तदर्थप्रतीत्यनुदयात्। प्रकाश, पृ० २५

परन्तु मङ्गल की इष्टविशेष-साधकता का ज्ञान न होने के कारण उनकी मङ्गलाचरण में प्रवृत्ति कैसे हुई? अर्थात् शिष्टाचार-हेतु मङ्गल को कल्याण-कारक जानते हुए भी किसी विशेष-कल्याण (यहाँ ग्रन्थसमाप्ति) का कारकत्व-ज्ञान मङ्गल के विषय में न होने के कारण उसमें ग्रन्थकार की प्रवृत्ति कैसे हुई[१]। इसी शङ्का के समाधान के लिए आचार्य ने कहा है कि आचरित मङ्गल की निर्विघ्न कार्य-समाप्ति ही विशेष फल है। यह जानकर ही ग्रन्थकार ने निर्विघ्न ग्रन्थ-समाप्ति के लिए मङ्गलाचरण किया है। पुनः शङ्का होगी कि शिष्टाचार-परम्परा-प्राप्त मङ्गल निर्विघ्न कार्य-समाप्तिरूप विलक्षण फल का जनक है। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा प्रत्यक्ष श्रुतिवाक्य भी दृष्ट नहीं है। अतः निर्विघ्न-समाप्ति मङ्गल का फल (कार्य) कैसे हो? इसके समाधान में कहा जाता है कि शिष्टों को प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते देखा जाता है। मङ्गल की प्रारम्भिक कर्तव्यता को देखने से प्रतीत होता है कि समारब्ध कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ही शिष्टलोग मङ्गलाचरण करते हैं। यदि मङ्गलाचरण का अन्य कोई फल होता तो प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में उसका अनुष्ठान न होता। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा श्रुतिवाक्य के ज्ञात न होने पर भी पूर्व रीति से यह ज्ञात होता है कि कार्य की निर्विघ्न समाप्ति ही मङ्गल का विशेष फल है।

पुनः शङ्का होती है कि प्रारम्भिक कर्तव्यता को देखते हुए कार्य की समाप्ति मङ्गल का फल (कार्य) है यह अनुमान करने पर भी विघ्नध्वंस मङ्गल का आन्तरालिक फल कैसे स्वीकृत होगा? इसके समाधान में कहा जाता है कि (नमस्कार) क्रियात्मक मङ्गल आशुविनाशी होने के कारण बहुकालान्तरित कार्य-समाप्ति के अव्यवहितपूर्वक्षण तक मङ्गल के न रहने से उसकी समाप्ति-साधनता की उपपत्ति नहीं होती है। परन्तु शिष्टाचार के कारण मङ्गल का कार्यसमाप्ति-रूप फल अनुमित हो चुका है। इस स्थिति में विघ्नध्वंस को द्वार-रूप (अन्तराल) में रखकर मङ्गल कार्य की समाप्ति का कारण है यह कल्पना की जाती है। इसी से बहुक्षणों के विलम्ब में कार्य-समाप्ति-रूप फल के अव्यवहित-पूर्वक्षण में मङ्गल की विद्यमानता न रहने पर भी विघ्नध्वंसरूप मङ्गल का व्यापार समाप्ति के अव्यवहित-पूर्वक्षण तक वर्तमान रहकर समाप्तिरूप कार्य को उत्पन्न करता है। अतः विघ्नध्वंसद्वारक परिसमाप्ति मङ्गल का कार्य है यह निश्चय होने में बाधा नहीं।[२]

---

१. ननु मङ्गलस्य विशिष्टशिष्टाचारत्वेनेष्टसाधकत्वज्ञानेऽपीष्टविशेषाज्ञानात् कथं तत्र प्रवृत्तिः। प्रकाश, पृ० २१

२. नमस्कारस्याशुविनाशित्वात् समीहितसिद्धेश्च कालान्तरभावित्वान्न तत्र साक्षात्साधनत्वमिति द्वारापेक्षायामाह निर्विघ्नमिति। विघ्नध्वंसस्तद्द्वारम्। प्रकाश, पृ० २१

परन्तु किन्हीं दो वस्तुओं में कार्यकारणभाव तब सिद्ध होता है, जब उन दोनों में अन्वयव्यतिरेक (व्याप्ति) हो। अर्थात् कार्य रहने से कारण का अवश्य रहना, अन्वयव्याप्ति तथा कारणाभाव होने से कार्याभाव का अवश्य होना व्यतिरेकव्याप्ति कहलाती है। कारण रहते हुए कार्य की अनुत्पत्ति को अन्वय का व्यभिचार तथा कारण न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति को व्यतिरेकव्यभिचार कहा जाता है। अन्वय-व्यतिरेक के व्यभिचार रहने से उन दो वस्तुओं में कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता है। हम देखते हैं कि कादम्बरी आदि कुछ ग्रन्थों में मङ्गलाचरण रूप निर्विघ्न समाप्ति के कारण के रहते हुए भी समाप्ति नहीं है तथा नास्तिक-रचित ग्रन्थों में मङ्गलाचरण न होते हुए भी समाप्ति है। मङ्गल तथा समाप्ति में अन्वय और व्यतिरेक दोनों का व्यभिचार है। अतः मङ्गल को समाप्ति का कारण नहीं कहा जा सकता है।[१]

उल्लिखित शङ्का को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य ने मङ्गल तथा समाप्ति के मध्य कार्य-कारणभाव को आगम (वेद) मूलक कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणमूलक कार्यकारणभाव के निर्णय में कार्य तथा कारण का अन्वयव्यतिरेक-ज्ञान अपेक्षित होता है। यदि अन्वय अथवा व्यतिरेक का व्यभिचार दृष्ट हो तो सामग्री (कारण समूह) की अनुपस्थिति के कारण कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष से निश्चित नहीं होता है। उसी प्रकार कार्यकारण-भाव के अनुमान करने में यदि अनुमापकरूप से गृहीत हेतु में साध्य का अन्वयव्यभिचार अथवा व्यतिरेकव्यभिचार ज्ञात हो तो उस हेतु से कार्य-कारण-भावरूप साध्य (कार्यत्व अथवा कारणत्व) की अनुमिति नहीं होती है (अर्थात् कार्यकारण-भाव का निश्चय नहीं होता है)। अमुक वस्तु अमुक वस्तु का कार्य अथवा कारण है इत्यादि वाक्य (शब्द) जन्य कोई वस्तु किसी वस्तु का कार्य अथवा कारण है यह शाब्दबोध में उन वस्तुओं के अन्वय-व्यतिरेक-ज्ञान की कारणता नहीं है। अतः अन्वय अथवा व्यतिरेक व्यभि-चार का ज्ञान रहने पर भी उक्त प्रकार के शाब्दबोध के होने में बाधा नहीं। यद्यपि व्यभिचार-ज्ञान उन स्थलों में उत्पन्न शाब्दबोध में अप्रामाण्यज्ञान उत्पन्न कर देता है, तथापि प्रस्तुत (मङ्गलाचरण समाप्ति का कारण है इस प्रकार के) स्थल में शाब्दबोध में उक्त व्यभिचार-ज्ञान द्वारा अप्रामाण्य-ज्ञान की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षमङ्गलरहित समाप्ति के स्थल में अप्रत्यक्ष अर्थात् जन्मान्तरीयमङ्गल की कल्पना से व्यभिचार की निवृत्ति हो सकेगी। यह भी चिन्तनीय है कि केवल मङ्गलाचरण ही समाप्ति का कारण नहीं है। वैसा होने पर मङ्गलाचरण के पश्चात् ग्रन्थादि के लेखनादि कार्य न करने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती। कादम्बरी आदि ग्रन्थों में (ग्रन्थ) कर्ता का अभाव ही समाप्ति में बाधक है। किसी कार्य का कारणसामग्री के अन्तर्गत एक कारण के अभाव से कार्य की अनुत्पत्ति

---

१. ननु मङ्गलस्य समीहितनिर्विघ्नसिद्धौ नान्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वग्रहः। मङ्गलं विनापि नास्तिकानां तत्सिद्धेः। कृतनमस्कारस्यापि तदसिद्धेश्च। प्रकाश, पृ० २१

से शेष कारणों में उस कार्य का अन्वयव्यभिचार है यह नहीं कहा जाता है। मङ्गलाचरण के रहने पर भी अन्य कारण के न रहने पर कार्य असमाप्त ही रहेगा। इस रीति से व्यभिचार-शङ्का के समाधान की सम्भावना रहने पर मङ्गल तथा समाप्ति के श्रुतिमूलक कार्यकारण-भाव का व्याघात नहीं होगा।

ऊपर कहे गये उपाय से अनुमित 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' श्रुतिवाक्य के शाब्द-बोध में अन्वय-व्यतिरेक-व्यभिचार-ज्ञान द्वारा अप्रामाण्यज्ञान को दूर करने के लिए यदि जन्मान्तरीय मङ्गलाचरण की कल्पना की जाती है तो अन्योन्याश्रयरूप दोष उपस्थित होगा। क्योंकि, जिस श्रुतिवाक्य से मङ्गल की समाप्तिकारणता निश्चित होगी उसी वाक्य के शाब्दबोध में अप्रामाण्यज्ञान को दूर करने के लिए जन्मान्तरीयमङ्गलाचरण की कल्पना की आवश्यकता है। (जन्मान्तरीय) मङ्गलाचरण को समाप्तिकारण जान कर ही उस स्थल में श्रुतिवाक्य के (जिससे मङ्गलाचरण को समाप्तिकारणरूप से जाना जाता है) शाब्दबोध में अप्रामाण्यज्ञान-जनक अन्वयव्यतिरेक-व्यभिचार-ज्ञान के निवारण की चेष्टा में 'समाप्ति-कामो मङ्गलमाचरेत्' इस श्रुतिवाक्य-जन्य शाब्दबोध की आवश्यकता होगी। इससे उक्त व्यभिचारज्ञानाभावसिद्धि के लिए जन्मान्तरीय मङ्गलाचरण का ज्ञान पुनः उसी मङ्गलाचरण की समाप्ति-कारणता-विषयक शाब्द-ज्ञान पर निर्भर हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वाक्य से शाब्दबोध उस वाक्य में अयोग्यता-ज्ञानाभाव-निश्चय के बिना नहीं होता है। प्रत्यक्ष-मङ्गल-रहित समाप्ति के स्थल में व्यतिरेक-व्यभिचार निश्चय रहने के कारण अयोग्य होने से श्रुतिवाक्य मङ्गल की समाप्तिकारणता-विषयक शाब्दबोध में समर्थ नहीं होगा। उस अप्रतिपन्न-समाप्तिकारणता की सिद्धि के लिए जन्मान्तरीय मङ्गल की कल्पना करने का अवसर ही नहीं आता है।[1]

उपर्युक्त शङ्का के समाधान के लिए कहना है कि ऐहिक मङ्गल की अनुपलब्धि से ऐहिक मङ्गलाभाव ही निश्चित हो सकता है। उस अनुपलब्धि से सामान्यतः मङ्गलाभाव (ऐहिक तथा आमुष्मिक = जन्मान्तरीय) निश्चित नहीं हो सकता है। योग्यानुपलब्धि ही अभाव-प्रत्यक्ष में कारण होती है। जन्मान्तरीय (आमुष्मिक) मङ्गल स्वयं प्रत्यक्षयोग्य न होने से उसकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है। अतः आमुष्मिक-मङ्गलाभाव निश्चित न हो सकने के कारण प्रस्तुत श्रुतिवाक्य के शाब्दबोध में व्यतिरेक-व्यभिचार-निश्चय हो नहीं सकता है। फलतः उस श्रुतिवाक्य में अयोग्यता-निश्चय भी न होगा। प्रस्तुत प्रत्यक्षमङ्गल-रहित स्थल में मङ्गल का संशयमात्र हो सकता है। मङ्गल के संशय से श्रुतिवाक्य की अयोग्यता का संशय ही हो सकता है। अयोग्यता-संशय से वाक्य-जन्य-शाब्दबोध में बाधा

---

१. नन्वेवमन्योन्याश्रयः, जन्मान्तरीयतदनुमाने व्यभिचारग्रहात्। कारणत्वस्य सतः श्रुत्या बोधनम्, कारणत्वग्रहे च तदनुमानमिति। प्रकाश, पृ० २२

नहीं होती है। अयोग्यता-निश्चय ही शाब्दबोध का प्रतिबन्धक होता है। अयोग्यता-निश्चय-रूप प्रतिबन्धक के अभाव रहने के कारण उस श्रुतिवाक्य द्वारा मङ्गल की समाप्ति-कारणता प्रतिपादित होगी। प्रत्यक्ष मङ्गलरहित स्थल में श्रुतिवाक्य के शाब्दबोध द्वारा प्रतिपादित मङ्गल की समाप्ति-कारणता की अन्यथानुपपत्ति के कारण आमुष्मिक मङ्गल की कल्पना अवश्य ही होगी। अतः आशङ्कित अन्योन्याश्रय आदि दोष न रहने के कारण मङ्गल को समाप्ति का कारण कहने में वाधा नहीं।[1]

सादुगुण्येऽपि विघ्नहेतूनां बलीयस्त्वात्। न चैवं किमनेनेति वाच्यम्, प्रचितस्यास्यैव बलवत्तरविघ्नवारणेऽपि कारणत्वात्। न हि घनविमुक्तमुदकमेकस्तृणस्तम्बो वारयितुं न समर्थ इति तदर्थं नोपादीयते, सजातीयप्रचयसंवलितस्य तस्य शक्तत्वात्।

[(कर्त्ता, कर्म तथा साधनों के) साद्गुण्य (अर्थात् पूर्णता) रहने पर भी (यदि व्यभिचार अर्थात् मङ्गल के रहने पर भी समाप्ति न हो तो कहना पड़ेगा कि) विघ्नरूप हेतुओं के बलवान् होने से समाप्ति का अभाव होता है। इस स्थिति में (अर्थात् मङ्गल रहने पर भी यदि समाप्ति न हो तो) इस (मङ्गल) का प्रयोजन क्या ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि प्रचित (अर्थात् बहुतर) मङ्गल ही बलवत्तर-विघ्न के निवारण का कारण है। तृण का एक गुच्छ मेघनिसृष्ट सलिल (वर्षा की धारा) का निवारण नहीं कर सकता है। इसलिए उसका संग्रह वर्षा की जलधारा के वारण के लिए नहीं किया जाता है यह बात नहीं है, क्यों कि समान-जातीय अनेक के साथ युक्त होने पर वह (अर्थात् तृण का उक्त गुच्छ मेघनिःसृत जलधारा के निवारण में) समर्थ होता है।]

यहाँ विचार यह करना है कि मङ्गलाचरण करने पर भी समाप्ति क्यों नहीं होती है ? कारण के रहने पर यदि कार्योत्पत्ति न हो तो अन्वय-व्यभिचार होने से मङ्गल तथा समाप्ति में कार्यकारणभाव हो नहीं सकता है।

---

१. मैवं योग्यानुपलम्भेनैहिकस्य मङ्गलविशेषस्याभावग्रहेऽपि ऐहिकामुष्मिकसाधारणमङ्गल-मात्राभावस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्। जन्मान्तरीयस्य तस्यायोग्यत्वात्। तथा च विशेष-व्यभिचारेऽपि श्रुत्या सामान्यतः कारणत्वबोध नायोग्यतया परिभवितुं शक्यम्। तथापि व्यभिचारसन्देहोऽस्त्येवेति चेन्न, प्रमाणप्रवृत्तौ बोध्यसन्देहस्याप्रतिबन्धकत्वादन्यथा प्रमाणमात्रोच्छेदापत्तेः। प्रत्युतानुकूलत्वं सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्त्तत इत्यभ्युपगमात्। प्रकाश पृ० २२।

साङ्गोपाङ्ग वैदिककर्म के अनुष्ठान से फल अवश्य ही उत्पन्न होता है। यदि साङ्गोपाङ्ग कर्मानुष्ठान करने पर भी अभीष्ट फलोत्पत्ति न हो (जैसा कारीरी इष्टि के सम्पादित होने पर भी यदि वर्षा न हुई) तो मानना पड़ेगा कि उस स्थल में कर्म, कर्त्ता अथवा साधनों में किसी प्रकार का वैगुण्य अवश्य है। कर्म आदि में वैगुण्य के न रहने पर भी कार्योत्पत्ति न होने से विघ्न की प्रबलता के कारण फलोत्पत्ति नहीं हो पायी ऐसा समझना पड़ेगा। भक्तिश्रद्धादि के सहयोग से पूर्णताप्राप्त मङ्गल के आचरण करने पर भी समाप्ति न होने की स्थिति में विघ्नों को अधिक बलशाली स्वीकार करना पड़ता है। अतः उन स्थलों में मङ्गलाचरण रहने पर भी समाप्ति न हुई इस लिए मङ्गल समाप्ति का कारण नहीं है यह कहा नहीं जा सकता है।

यह शङ्का हो सकती है कि बलवत्तरविघ्न के निवारण में यदि मङ्गल समर्थ न हो तो सामान्यतः विघ्न तथा मङ्गल में नाश्यनाशकभाव कल्पित हो नहीं सकता है। उनमें नाश्यनाशकभाव के न रहने से दुर्बल (अर्थात् अल्प) विघ्न भी मङ्गल के द्वारा विनष्ट क्यों होगा? फलतः मङ्गल निष्फलकार्य हो जाएगा। यह भी कहा नहीं जा सकता कि नमस्कार का प्रचय अर्थात् बाहुल्य बलवत्तरविघ्न के निवारण का प्रयोजक है। क्यों कि नमस्कार रूप क्रियाएँ अचिरविनाशी हैं। अतः उनका परस्पर मेलनरूप बाहुल्य भी सम्भव नहीं। फलतः नमस्कार के बाहुल्य को बलवत्तर-विघ्न-विनाश का हेतु कहना भी सम्भव नहीं।

इसके समाधान में कोई कोई कहते हैं कि क्षणस्थायित्व के कारण बहुसंख्यक मङ्गलों के एक-कालीन मेलन की सम्भावना न रहने पर भी प्रत्येक मङ्गल से एक एक विघ्न का नाश होना सम्भव है। फलतः प्रचुरतर मङ्गलों द्वारा प्रचुरतर विघ्नों का नाश होगा। अतः प्रचित (अर्थात् प्रचुर) मङ्गल को बलवत्तरविघ्न का नाशक कहा जा सकता है।[१]

इस प्रकार का समाधान युक्तिसिद्ध प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उक्त समाधान में अल्पविघ्न के स्थल में अप्रचित मङ्गल की कारणता तथा प्रचुर विघ्न के स्थल में प्रचित मङ्गल की कारणता स्वीकृत होने से असर्वज्ञ व्यक्ति के लिए अतीन्द्रिय विघ्नों की संख्या जानने का उपाय नहीं है। अतः अपने अभीष्ट कार्य की समाप्ति के लिए मङ्गलों की संख्या निश्चित करने की सम्भावना नहीं है। अनिर्दिष्टसंख्यक मङ्गलानुष्ठान से कार्य की समाप्ति में सन्देह रहने के कारण असर्वज्ञ व्यक्ति मङ्गलाचरण में प्रवृत्त नहीं होगा।

यह भी शङ्का है कि मङ्गलरहित ग्रन्थसमाप्ति के स्थल में मङ्गलाभाव रहते हुए ग्रन्थसमाप्ति देखे जाने के कारण व्यतिरेकव्यभिचार के निराकरण के लिए जन्मान्तरीय

---

१. यद्यप्याशुविनाशिनां तेषामेककालत्वाभावादसम्भवी तथाप्येकैकनमस्कारादेकैकविघ्ननाश एवात्र प्रचयो द्रष्टव्यः। प्रकाश, पृ० २५

मङ्गलाचरण की कल्पना भी युक्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि जन्मान्तरीय ग्रन्थसमाप्ति के लिए किसी को भी इस जन्म में मङ्गलाचरण करते देखा नहीं जाता है। पुत्रेष्टि याग करने पर भी इसी जन्म में पुत्रलाभ न होने के स्थल में जन्मान्तरीय पुत्रलाभ की कल्पना के तुल्य ऐहिक मङ्गल के न रहने पर भी समाप्ति होने देखकर जन्मान्तरीय मङ्गलाचरण की कल्पना दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में वैषम्य के कारण उचित नहीं है। पुत्रेष्टि याग दृष्टान्त तथा मङ्गलाचरण दार्ष्टान्तिक है। वहां पुत्रलाभ को पुत्रेष्टियाग का फल प्रतिपादन करने में समर्थ 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इस प्रकार का प्रत्यक्ष श्रुतिवाक्य उपलब्ध है। उस प्रत्यक्ष-श्रुतिवाक्य के अनुरोध से जहाँ पुत्रेष्टि याग का ऐहिक फल नहीं देखा जाता है, वहाँ जन्मान्तर में पुत्रलाभ की कल्पना के द्वारा उस श्रुतिवाक्य की सफलता कल्पित होती है। तादृश स्थल में जन्मान्तरीय फल की कल्पना के बिना प्रत्यक्ष-श्रुतिवाक्य अप्रमाण हो जाता है। परन्तु मङ्गल की कर्तव्यता के विषय में कोई भी प्रत्यक्ष-श्रुति नहीं है। कार्यारम्भ में शिष्टजनों द्वारा किये गये मङ्गलाचरण को देखते हुए उस आचरण की समर्थक श्रुति की कल्पना की जाती है। जन्मान्तर में विघ्ननाश अथवा समाप्ति के उद्देश्य से किसी को मङ्गलाचरण करते देखा भी नहीं जाता। ऐहिक विघ्नध्वंस या समाप्ति के लिए ही शिष्टजनों को मङ्गलाचरण करते देखा जाता है। अतः शिष्टाचार के अनुरोध से कल्पित श्रुति जन्मान्तरीय फल (विघ्नध्वंस या समाप्ति) की प्रतिपादक हो नहीं सकती।[1] फलतः उक्त स्थल में व्यतिरेकव्यभिचार यथावत् रह जाता है।

इन आशङ्काओं के समाधान के लिए वर्धमानोपाध्याय ने कहा है कि समाप्ति को मङ्गल का फल कहने पर ही यह शङ्का होती है। वस्तुतः समाप्ति मङ्गल का फल नहीं, विघ्नध्वंस ही उसका फल है। श्रुतिविहित कार्य का ध्वंसात्मक फल नहीं होता यह कहना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रायश्चित्तरूप श्रुतिविहित कार्य का पापध्वंस ही फल है। आरब्ध कार्य में कोई बाधा न हो इसी उद्देश्य से मनुष्य मङ्गलाचरण करता है। अतः पूर्वोक्त व्यतिरेक-व्यभिचार दोष की सम्भावना नहीं है। समाप्ति को मङ्गल का फल कहने के कारण ही नास्तिकादि के द्वारा रचित ग्रन्थों में मङ्गलाचरण न रहते हुए समाप्ति के कारण व्यतिरेकव्यभिचार दोष उपस्थित होता है। परन्तु प्रकाशकार का वक्तव्य है कि विघ्नध्वंस ही मङ्गल का फल है। इस पक्ष में व्यतिरेकव्यभिचार की सम्भावना तब ही हो सकती है, जब मङ्गल के अभाव में भी विघ्नध्वंस हो। ऐसा दृष्टान्त एक भी नहीं है जहां मङ्गल के

---

१. न वा जन्मान्तरीयग्रन्थाद्युद्दिश्य मङ्गलाचरणं येनाव्यभिचारः स्यात्। न च यत्र पुत्रेष्टा-वैहिकपुत्रबाधे जन्मान्तरीयं फलं तथा मङ्गलेऽपीति वाच्यम्, तत्रैहिकामुष्मिकपुत्र-मात्रस्य फलत्वेन श्रवणात्। इह त्वाचाराद् वेदानुमानम्। स चैहिकमात्रविषय इति। तेन श्रुतिरपि तथैव कल्प्या। प्रकाश, पृ० २५

अभाव के रहने पर भी विघ्नध्वंस हुआ है यह निश्चय किया जा सके। अतः विघ्नध्वंस को मङ्गल का फल स्वीकार करने से व्यतिरेकव्यभिचार की शङ्का न होगी। जिस व्यक्ति का विघ्न नहीं है उसके लिए मङ्गलाचरण अनावश्यक है। यह भी कहना नहीं है कि विघ्ननाश-मात्र से ही समाप्ति हो जाती है, क्यों कि विघ्नध्वंस रहने पर भी समाप्ति के लिए जिन अन्य साधनों की अपेक्षा रहती है उनके अभाव के कारण समाप्ति नहीं होगी। कादम्बरी आदि में मङ्गलाचरण विघ्नध्वंस के सम्पादन द्वारा सफल ही है। वहाँ ग्रन्थकार की मृत्यु होने से कर्त्तृरूप कारण के अभाव में समाप्ति नहीं हुई। अतः मङ्गल रहने पर भी समाप्ति के अभाव से उत्पन्न अन्वयव्यभिचार की शङ्का नहीं रही, क्योंकि मङ्गलाचरण ने अपने विघ्नध्वंसरूप फल को उत्पन्न किया है। ग्रन्थसमाप्ति के अन्य कारणों के अभाव से ही वहाँ समाप्ति नहीं हुई।

मङ्गल समाप्ति का कारण न होने पर भी विघ्नाभाव अवश्य ही समाप्ति का कारण है। विघ्न रहने से समाप्ति नहीं होती यह सर्ववादिसिद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाप्ति के लिए बुद्धि प्रतिभा आदि के तुल्य ही विघ्न का अभाव भी अपेक्षित होता है। अतः किस प्रकार विघ्नाभाव समाप्ति का कारण है यह विचारणीय है। जिस किसी प्रकार के विघ्नाभाव को समाप्ति के अन्यतम कारणों में स्वीकार करने पर विघ्न के रहते हुए समाप्ति की आशङ्का हो सकेगी, क्यों कि विघ्न की उपस्थिति में भी विघ्न का अन्योन्याभाव रहने से यथाकथञ्चित् विघ्नाभाव के सम्पन्न होने के कारण समाप्ति की शङ्का होगी। विघ्न के ध्वंसाभाव को ही समाप्ति का कारण कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि जिस स्थल में विघ्नाभाव के स्वतःसिद्ध होने से नास्तिकादि रचित ग्रन्थादि में समाप्ति देखी जाती है वहां विघ्न का ध्वंसाभाव न होने के कारण समाप्ति न होनी चाहिए। इसी प्रकार विघ्न के अत्यन्ताभाव को भी समाप्ति में कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि मङ्गलाचरण द्वारा विघ्नध्वंस के कारण जहाँ समाप्ति होती है वहां विघ्नात्यन्ताभाव के न रहने से समाप्ति न होनी चाहिए। एकदेशिमत में ध्वंस तथा प्रागभाव दोनों के साथ अत्यन्ताभाव की विरोधिता स्वीकृत होने से ध्वंस अथवा प्रागभाव के अधिकरणों में अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। फलतः समाप्ति के लिए विघ्नाभाव के अपेक्षित होने पर भी समाप्ति तथा विघ्नाभाव में कार्यकारण भाव की कल्पना सम्भव नहीं है, क्योंकि विघ्न के अभावमात्र को अथवा विघ्न के अभावविशेष को समाप्ति का कारण कहना पूर्वोक्त कारणों से सम्भव नहीं होगा। अन्य किसी उपाय से भी समाप्ति तथा विघ्नाभाव में कार्यकारणभाव के प्रतिपादन की सम्भावना नहीं प्रतीत होती है।

इन शङ्काओं के समाधानार्थ वर्धमानोपाध्याय का अनुसरण करते हुए कहा जा सकता है कि समाप्ति के लिए विघ्नाभाव अपेक्षित है तथा समाप्ति और विघ्नाभाव

में कार्यकारणभाव की कल्पना की जा सकती है। अभावचतुष्टय-साधारण अभावत्व नाम से प्रसिद्ध एक अखण्डधर्म जिस प्रकार स्वीकृत है, उसी प्रकार प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव नाम के तीन अभावों में भी संसर्गाभावत्व नाम का एक अनुगतधर्म शास्त्र में प्रसिद्ध है। उसके कारण प्रागभाव आदि तीन प्रकार के अभाव संसर्गाभाव कहलाते हैं। समाप्ति के प्रति विघ्नसंसर्गाभाव को कारण स्वीकार करने से शङ्कित व्यभिचार की सम्भावना नहीं रहेगी। जहाँ मङ्गल से विघ्न के नाश होने के कारण समाप्ति हो, वहाँ विघ्न के ध्वंसरूप संसर्गाभाव के रहने से व्यभिचार नहीं। जहाँ विघ्नाभाव स्वतःसिद्ध होने से समाप्ति हो वहाँ विघ्न के अत्यन्ताभावरूप संसर्गाभाव के रहने के कारण व्यभिचार नहीं। अतः समाप्ति तथा विघ्नसंसर्गाभाव के कार्यकारणभाव की कल्पना करने में किसी दोष की सम्भावना नहीं है।[1]

यह शङ्का निर्मूल है कि अभावत्रय-साधारण कोई अनुगतधर्म प्रमाणों से सिद्ध नहीं है। नैयायिकों द्वारा स्वीकृत संसर्गाभावत्वरूप अनुगतधर्म उनकी परिभाषामात्र ही है। अतः संसर्गाभावत्वरूप अनुगत धर्म की सहायता से समाप्ति तथा विघ्नाभाव में कार्यकारणभाव की कल्पना समीचीन नहीं है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि इस आशङ्का के मूल में संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव के स्वरूपनिर्वचन में किसी-किसी के अनुसार संसर्गाभाव-भिन्न अभाव को अन्योन्याभाव एवं अन्योन्याभाव-भिन्न अभाव को संसर्गाभाव कहा जाता है। इसी लिए इनके लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष होता है। अन्योन्याभाव के लक्षण संसर्गाभाव-घटित है। संसर्गाभाव का लक्षण भी अन्योन्याभाव-घटित है। फलतः अन्योन्याभाव के स्वरूप-ज्ञान में संसर्गाभाव का ज्ञान अपेक्षित है तथा संसर्गाभाव के स्वरूपज्ञान में अन्योन्याभावज्ञान अपेक्षित है। परन्तु अन्योन्याभाव-भिन्नत्व ही संसर्गाभाव का लक्षण है। अन्योन्याभाव का लक्षण वस्तुतः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभावत्व ही है। जिससे अन्योन्याश्रय की कल्पना हो नहीं सकती है। दोनों अभावों के लक्षण स्वतन्त्र हैं। अतः अन्योन्याभाव-भिन्न-अभावत्वरूप सामान्यधर्म के रहने से प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव इन तीनों का संग्रह संसर्गाभावपद से हो जाता है। अतः समाप्ति तथा विघ्नाभाव में कार्यकारणभाव की कल्पना निर्बाध है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि हम समाप्ति को मङ्गल का कार्य नहीं कहते। परन्तु समाप्ति के अन्यतम कारण मङ्गल को विघ्नाभाव का कारण मानते हैं। जहाँ मङ्गलाचरण रहने पर भी समाप्ति नहीं हुई है, वहाँ मङ्गल ने अपने कार्य विघ्नविशेष के ध्वंस को सम्पन्न किया है।

---

१. समाप्तौ च विघ्नसंसर्गाभावो हेतुः। तथैव प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुत्वात्। तथा च यत्र मङ्गलं विनापि समाप्तिस्तत्र जन्मातरादनुवर्त्तमानविघ्नात्यन्ताभाव एव हेतुः। यत्र च मङ्गले सत्यपि समाप्त्यभावस्तत्र फलं प्रत्येकं विघ्नध्वंसो भवत्येव। प्रकाश, पृ० २६

अन्य विघ्नरूप प्रतिबन्धक अथवा बुद्धिप्रतिभा आदि कारणों के न रहने से समाप्ति नहीं हुई है। इससे वैदिक कर्मों के 'फलावश्यम्भाव' नियम की रक्षा होती है। यथार्थरूप से अनुष्ठित मङ्गल द्वारा विघ्नविशेष का ध्वंस होता है। विघ्न के रहने पर ही मङ्गल उसका नाशक होगा यही शास्त्र का तात्पर्य है। विघ्न के अत्यन्ताभाव रहने पर भी विघ्न की आशङ्का से अनुष्ठित मङ्गल का फल न होने से कोई हानि नहीं। पाप रहने से प्रायश्चित्त द्वारा उसका नाश होगा। अतः पाप रहने के भ्रमाधीन प्रायश्चित्त के अनुष्ठान की निष्फलता शास्त्रकार सम्मत ही है।

न च विघ्नहेतुसद्भावनिश्चयाभावात् तद्वारणे कारणमनुपादेयम्। यतस्तत्सन्देहेऽपि तदुपादानस्य न्याय्यत्वात्। अन्यथानुपस्थितपरिपन्थिभिः पार्थिवैर्द्विरदयूथपतयो नाद्रियेरन्निति।

[यह भी कहा नहीं जा सकता है कि विघ्नरूप कारण है (अर्थात् विघ्न-ध्वंस का विघ्नरूप कारण वर्त्तमान है) यह निश्चय न रहने से उसके (अर्थात् विघ्न के) निवारण के लिए कारण (अर्थात् मङ्गल) का संग्रह अनावश्यक (है), क्यों कि उसके सन्देह रहने पर (अर्थात् विघ्नसन्देह रहने पर) भी उस (अर्थात् मङ्गल) का संग्रह समुचित ही होता है। ऐसा न होने से प्रतिपक्षी की अनुपस्थिति में राजाओं द्वारा हस्तिदलपति समादृत न होते।]

विघ्न के सन्देह रहने पर भी विघ्ननाश-रूप फललाभ के लिए मङ्गल का अनुष्ठान किया जा सकता है ऐसा उदयनाचार्य ने कहा है। इस पर शङ्का होती है कि पाप के संशय में प्रायश्चित्तानुष्ठान शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। परन्तु पाप का निश्चय होने पर उसके ध्वंस के निमित्त प्रायश्चित्त का अनुष्ठान विहित है। इसी प्रकार विघ्न का निश्चय रहने से ही उसके नाशार्थ मङ्गलाचरण कर्त्तव्य होगा, क्यों कि प्रायश्चित्त के साथ मङ्गल के फलांश में सादृश्य है। प्रायश्चित्त का फल पापध्वंस है, मंगल का फल है विघ्नध्वंस। यदि प्रायश्चित्त के अनुष्ठान में पाप का निश्चय अपेक्षित है, तो मङ्गल के अनुष्ठान में भी तुल्यरीति से विघ्न का निश्चय ही अपेक्षित होगा, विघ्न का सन्देह नहीं। अतः विघ्न के संशय में भी उसके नाशार्थ मङ्गलाचरण कर्तव्य है, इस प्रकार आचार्य की उक्ति युक्तिसिद्ध नहीं है।

इसके समाधानार्थ कहा जाता है कि प्रायश्चित्त का पापनाशरूप फल प्रत्यक्ष अथवा युक्तिद्वारा ज्ञात नहीं होता। परन्तु 'पापी प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इस प्रकार के श्रुति-वाक्य से ही पापनाश प्रायश्चित्त का फल है यह ज्ञान होता है। उल्लिखित श्रुति में पाप को प्रायश्चित्त के अधिकार के रूप में कहा गया है। अधिकार के निश्चय से ही क्रिया का अनुष्ठान होता है, उसके सन्देह से नहीं। 'राजा राजसूयेन यजेत' आदि स्थलों में अधिकार-

रूप से स्वीकृत राजत्व अथवा क्षत्रियत्व के निश्चय रहने पर ही राजसूय याग अनुष्ठित होता है। जिन्हें अपने क्षत्रियत्व में सन्देह हो वह व्यक्ति राजसूय याग नहीं करेंगे यही शास्त्र का निर्देश है। तुल्यरीति से पाप-निश्चय-विशिष्ट पुरुष ही प्रायश्चित्त करेंगे पाप-सन्देह-युक्त पुरुष नहीं करेंगे, क्योंकि प्रत्यक्षश्रुति में पाप को अधिकार रूप से कहा गया है। परन्तु मङ्गल के विषय में कोई प्रत्यक्षश्रुति नहीं जो विघ्नवान् पुरुष को मङ्गलाचरण का निर्देश देती हो। हम शिष्टजनों के मङ्गलाचरण को देखकर मङ्गलविषयक श्रुति की कल्पना करते हैं। शिष्टजनों को विघ्न का सन्देह रहने पर भी मङ्गलाचरण करते देखा जाता है। अतः शिष्टाचार के बल पर कल्पित-श्रुति को शिष्टाचार के अनुरूप ही कल्पना करनी है। अतः संशय-निश्चय-साधारण विघ्नज्ञान को ही मङ्गलाचरण के लिए अपेक्षित स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः विघ्न के संशय पर मङ्गल की कर्त्तव्यता के विषय में आचार्य की उक्ति यथार्थ ही है।

जिन लोगों ने मङ्गल को विघ्नध्वंस द्वारा समाप्ति का कारण स्वीकार किया है, उनके अनुसार मङ्गल से समाप्तिरूप फलोत्पत्ति में विघ्नध्वंस को द्वाररूप स्वीकार किया गया है। द्वार के संशय रहने पर क्रियाविशेष का अनुष्ठान शास्त्र में निषिद्ध है। अतः मङ्गल के समाप्तिरूप फल में विघ्नसंशय होने से द्वारसंशय अवश्य है। जिससे मङ्गल का अनुष्ठान नहीं हो सकता। अतः विघ्नसंशयस्थल में भी मङ्गलाचरण कर्त्तव्य है आचार्य की यह उक्ति सङ्गत नहीं।

द्वारसंशय के स्थल में क्रिया का अनुष्ठान निषिद्ध है इसे हम आगे के दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जिन यागों में चरुपाक की आवश्यकता होती है उनमें यदि 'स्फ्य'[१] में भक्त (अर्थात् पकाया गया चरु=भात) का आश्लेष (अर्थात् सम्बन्ध=लग जाता) है तो उसके प्रायश्चित्त में एक विशेष इष्टि (याग) का अनुष्ठान विहित है। सामान्यतया इष्टिओं में देवता का आवाहन पूर्वदिन में कर्त्तव्य है। स्फ्याश्लेषनिमित्त प्रायश्चित्तात्मक इष्टि में भी अतिदेशवश देवताका आवाहन पूर्वदिन में करना प्राप्त है। अब प्रश्न यह होगा कि चरुपाकविशिष्ट इष्टियों में भक्ताश्लेष की आशङ्का के कारण प्रत्येक यजमान के लिए पूर्वदिन में ही देवता का आवाहन करणीय है? अथवा भक्ताश्लेष निश्चितरूप से न होने से देवता का आवाहन न करना है? क्योंकि प्रथमकोटि के अनुसार इष्टि के पहले दिन करणीय इष्टि के देवता का आवाहन के साथ ही प्रायश्चित्तात्मक इष्टि के देवता का आवाहन भी न किया गया तो दूसरे दिन इष्टिकाल में यदि भक्ताश्लेष हुआ तो प्रायश्चित्तात्मक इष्टि के लिए देवता का आवाहनरूप अङ्ग निर्दिष्ट काल (पूर्वदिन) में सम्पन्न न हो

१. खड्गाकृति यज्ञीयपात्रविशेष। स्फ्योऽस्याकृतिः—आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १५।७ धूर्तस्वामिभाष्य

सकेगा। दूसरी कोटि में यदि भक्ताश्लेष की आशङ्का से पूर्वदिन करणीय इष्टि के देवता का आवाहन के साथ ही प्रायश्चित्तात्मक इष्टि के देवता का आवाहन भी किया गया और दूसरे दिन वस्तुतः भक्ताश्लेष न हुआ तो पूर्वदिन आहूत देवताओं की पूजा न हो सकेगी। आहूत देवता की पूजा न करना दोषावह है। इस स्थिति में प्रायश्चित्तात्मक इष्टि के देवता का विहित काल में आवाहन करना तथा न करना दोनों में दोष है। इसी कारण शास्त्र का सिद्धान्त है कि द्वार-संशय स्थल में क्रिया का अनुष्ठान नहीं करना है। अङ्गानुष्ठान का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए इष्टि में अतिदेशलभ्य देवता का आवाहन का परिहार किया गया है। प्रस्तुत स्थल में मङ्गल-जन्य समाप्ति में विघ्नध्वंस द्वार है। विघ्न के संशय (विघ्न के अनिश्चित) होने पर विघ्नध्वंस का भी संशय होगा। तब द्वार-संशय के कारण मङ्गलाचरण भी सम्भव न होगा। इसीलिए पूर्वपक्षी ने 'संशयस्थल में भी मङ्गलाचरण कर्त्तव्य है' इस आचार्योक्ति की समीचीनता के विषय में शङ्का की है।[१]

सिद्धान्ती का कहना है कि इस शङ्का में दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में वैषम्य रहने से आशङ्का समीचीन नहीं है, उल्लिखित दृष्टान्त द्वारा द्वारसंशय स्थल में क्रिया का अनुष्ठान प्रमाणसिद्ध नहीं है। क्योंकि भक्ताश्लेष चरुपाकघटित क्रिया का द्वार नहीं है। उस दृष्टान्त से यही सिद्ध होता है कि निमित्त के संशय होने से नैमित्तिक का अनुष्ठान नहीं होगा। प्रायश्चित्तात्मक इष्टि नैमित्तिक तथा भक्ताश्लेष उसका निमित्त है, परन्तु द्वार नहीं। अतः भक्ताश्लेषरूप निमित्त के संशय के कारण प्रायश्चित्तात्मक इष्टि के अनुष्ठान का प्रश्न ही नहीं उठता है। प्रस्तुत स्थल में (दार्ष्टान्तिक में) विघ्नध्वंस मङ्गल का निमित्त नहीं। यदि मङ्गलाचरण नैमित्तिक होता तब उसके अननुष्ठान से पाप की सम्भावना होती, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः विघ्नध्वंसरूप द्वार के संशय में भी मङ्गलाचरण के अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं है। फलतः आचार्य की ग्रन्थपंक्ति असङ्गत नहीं है।[२]

ईश्वरमित्यनेनैव जगद्धेतुत्वे लब्धे हेतुमिति पुनर्विशेषणोपादानं प्रमाणसूचनाय। कार्यं हि हेतुना विनात्मानमनाप्नुवद्धेतुमत्तया कर्तारमाक्षिपति।

---

१. ननु स्पचस्य भक्ताश्लेषनिमित्तकेज्यायामिष्टित्वेनातिदेशागतपूर्वदिनकर्त्तव्यस्य देवतावाहनस्य स्पचाश्लेषद्वारसंशयेऽननुष्ठानमुक्तमतः कथमत्र विघ्नसंशये तद्ध्वंसद्वारसंशयात् प्रवृत्तिः। प्रकाश, पृ० २७-२८

२. नैवम्। नैमित्तिके हि निमित्तनिश्चयवानधिकारी।······मङ्गलन्तु न विघ्ननिमित्तकम्। अकरणे प्रत्यवायाश्रुतेः। प्रकाश, पृ० २८

['ईश्वरम्' इस पद से ही जगत्कारणत्व का प्रतिपादन होने से पुनः 'हेतुम्' यह विशेषण पद (ईश्वर के विषय में) प्रमाण सूचित करने के लिये गृहीत हुआ है। कारण के विना कार्य का स्वरूपलाभ नहीं होता इस लिये (कार्य सकारण होता है तथा उसी) सकारणत्व के कारण वह (कार्य) कर्त्ता का आक्षेप करता है. (अर्थात् अनुमापक होता है।]

यहाँ प्रथम शङ्का यह होती है कि ईश्वर पद के अर्थ में सर्वशक्तिमत्त्व-रूप अर्थ अन्तर्निहित होने के कारण वह जब जगत्कारणत्व का प्रतिपादक है तब जगत्कारणत्व-बोधक हेतुपद का पृथक् उल्लेख अनावश्यक है। अतः हेतु पद के प्रयोग से शब्द-पुनरुक्ति दोष हुआ है। यदि यहाँ ईश्वर पद की 'नित्यज्ञान-विशिष्ट' में शक्ति मानकर शब्दपुनरुक्ति का निराकरण किया जाता है तब अर्थपुनरुक्ति दोष अपरिहार्य होगा। जहाँ दो भिन्न पदों द्वारा समानधर्म-पुरस्कृत अर्थ बोधित होता है वहाँ शब्दपुनरुक्ति दोष होता है। जहाँ दो भिन्नपद भिन्नधर्म-विशिष्ट अपने-अपने अर्थ के उपस्थापक होते हुए भी उनमें अन्यतर पद से सूचित अथवा आक्षिप्त अर्थ दूसरे पद से अभिहित होते हैं वहाँ अर्थपुनरुक्ति दोष होता है। जैसा 'वह्निरुष्णः' प्रयोग में 'वह्नि' पद वह्नित्व जातिविशिष्ट तथा 'उष्ण' पद उष्णतागुणविशिष्ट अर्थ का बोधक होने से शब्द-पुनरुक्ति दोष न होने पर भी वह्नित्वजातिविशिष्ट के बोध होने पर उसी से तादृशजाति-विशिष्ट का उष्णत्व गुण भी सूचित होता है। अतः वह्नि पद से सूचित उष्णतारूप गुण के अभिधायक होने से 'उष्ण' पद अर्थपुनरुक्ति दोष से दुष्ट होगा। प्रस्तुत स्थल में ईश्वर पद की नित्यज्ञानविशिष्ट में शक्ति मानने पर शब्दपुनरुक्ति न होगी। परन्तु ईश्वर की नित्यज्ञानवत्ता ज्ञात होते ही उनमें जगत्कारणता भी सूचित होगी। क्योंकि जो ज्ञान नित्य होता है उसके विषय का नियामक कोई नहीं होता। अतः तादृशज्ञान सर्वविषयक तथा प्रत्यक्षात्मक होता है। सर्वविषयक अपरोक्ष ज्ञान से जगत्कर्तृत्व का अव्यभिचरितसम्बन्ध रहने से सर्वविषयक अपरोक्ष ज्ञान जगत्कर्तृत्व को सूचित करता है। अतः जगत्कर्तृत्व रूप अर्थ ईश्वर पद से सूचित होने से पुनः हेतु पद का प्रयोग अर्थपुनरुक्ति दोष से दुष्ट होगा। फलतः ईश्वरपद की शक्ति नित्यज्ञानविशिष्ट अर्थ का उपस्थापक कहने पर भी अर्थपुनरुक्ति दोष दूर न होगा।

यह शङ्का (शब्द या अर्थपुनरुक्ति दोष) न हो इसी कारण आचार्य ने कहा है कि यहाँ हेतुपद जगत्कारणताबोधक नहीं। अपितु युक्ति आदि की सहायता से भी ईश्वर को सिद्ध किया जा सकता है इसी को सूचित करने के लिये प्रयुक्त है।

ईश्वरपदसन्निधिप्रयुक्तो वा हेतुशब्दो विशिष्ट एव श्रेयःसमधिगम-निमित्ते प्रवर्त्तते। प्रस्तुतशास्त्रहेतुत्वाद्वा हेतुमित्याह। स्मर्यते हि कणादो

मुनिः महेश्वरनियोगप्रसादावधिगम्य शास्त्रं प्रणीतवान्। तेन तं हेतुं प्रणम्य मया सङ्ग्रहः प्रवक्ष्यत इत्यर्थः। अत ईश्वरप्रणामादनु पश्चात् कणादनामानं मुनिं प्रणम्येत्यनुषज्यते।

[अथवा ईश्वर पद के सान्निध्य में प्रयुक्त होने से हेतु पद 'श्रेयःप्राप्ति के हेतु' इस विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है (सामान्यतया हेतु अर्थ में नहीं)। अथवा (हेतु शब्द से ईश्वर को) प्रकृत (अर्थात् आरब्ध) (वैशेषिक) शास्त्र का कारण होने से हेतु कहा गया है। स्मरण किया जाता है (अर्थात् लोकप्रसिद्धि है) कि कणाद मुनि महेश्वर की आज्ञा तथा अनुग्रह प्राप्त कर शास्त्र का प्रणयन किये थे। अतः मैं उस हेतु को प्रणाम कर (अर्थात् वैशेषिक शास्त्र के प्रयोजक ईश्वर को प्रणाम कर) संक्षेप में उस शास्त्र के अभिधेयों का प्रवचन करेंगे यही (उक्त श्लोक का) भावार्थ है। इस ईश्वर प्रणाम के पश्चात् कणाद नाम के मुनि को प्रणाम कर—यह अनुषक्त होगा।]

मूल श्लोक में एक 'प्रणम्य' पद है। इसका अन्वय पश्चाद्वर्त्ती दो पदों से करना है। 'हेतुमीश्वरं प्रणम्य' इस प्रकार से 'प्रणम्य' पद का अन्वय करने के बाद पुनः 'अतः अनु कणादं मुनिं प्रणम्य' इस प्रकार 'प्रणम्य' पद का पुनः अन्वय करना है। एक ही पद का भिन्न भिन्न पदों से अन्वय को अनुषङ्ग से अन्वय कहा जाता है।

यद्यपि गुरुतमगुरुतरगुरुक्रमेण प्रणामः क्रियत इति शिष्टाचारादेव लभ्यते, तथापि शिष्यशिक्षायै क्रमो निबद्धोऽन्विति। तथा च मुनिप्रणतेः पश्चाद्भावे दर्शिते सन्निधिसिद्धमवधित्वमीश्वरप्रणामस्येत्यत इति मन्दप्रयोजनमित्यपि न वाच्यम्, श्रुतिप्राप्तेऽर्थे प्रकरणादीनामनवकाशात्।

[यद्यपि गुरुतम, गुरुतर, गुरु इस क्रम से प्रणाम किया जाता है यह शिष्टाचार से ही प्राप्त होता है, तथापि 'अनु' पद द्वारा (प्रणाम का) क्रम को शिष्यशिक्षा के निमित्त (ग्रन्थ में) निबद्ध किया गया है। तथा (अनु पद के द्वारा) मुनि प्रणाम का पश्चाद्भाव दर्शित होने से सन्निधान वश ही (अर्थात् श्लोक में 'प्रणम्य हेतुमीश्वरम्' इन पदों के प्रयोग रहने से ही) ईश्वर प्रणाम में (उक्त पश्चाद् भाव का) अवधित्व सिद्ध है। (ईश्वर प्रणाम का अवधित्व बोधक) 'अतः' पद का अति अल्प ही प्रयोजन है यह कहना नहीं चाहिए। क्योंकि श्रुतिप्राप्त अर्थ में प्रकरणादि का अवकाश नहीं है।[1]

१. श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। पूर्वमीमांसासूत्र, ३।३।१४

अथवा यतः शुश्रूषवः श्रेयोऽर्थिनः श्रवणादिपटवोऽनसूयकाश्चान्तेवासिन उपसेदुरतो वक्ष्यत इत्यनेन सम्बध्यते । अन्यथारण्यरुदितं स्यादित्यपि शिष्यशिक्षार्थं । एवं हि शिक्षिते शिष्या अपि तथा कुर्युः । तथाचानवच्छिन्नसंप्रदायं वीर्यवत्तरं च शास्त्रं स्यादिति । येन विद्यैवाह—'असूयकायानृजवे जडाय न मां ब्रूया अवीर्यवती तथा स्यामिति ।'[1] एतेन सौत्रमप्यतः पदं व्याख्यातं स्यात् ।

[अथवा (वाक्यार्थ निम्नोक्त प्रकार होगा) जब कि शास्त्रश्रवणेच्छु, श्रेयःप्रार्थी, श्रवणादिसमर्थ तथा असूयारहित विद्यार्थिसमूह उपस्थित है इस हेतु (पदार्थधर्मों का संक्षेप रूप से) कीर्त्तन किया गया । इस अर्थ में अतः पद पश्चात् प्रयुक्त 'वक्ष्यते' पद के साथ अन्वित होगा ('अनु' पद के साथ नहीं) । अन्यथा यह अरण्यरोदन (अर्थात् व्यर्थ) होगा (अर्थात् योग्य श्रोताओं की अनुपस्थिति के कारण प्रवचन अरण्यरोदन में पर्यवसित होता है) । यह (पूर्वोक्त प्रवचन के निमित्तभूत श्रोतृवर्ग की उपस्थिति की आवश्यकता) भी शिष्यों की शिक्षा के लिये ही है । ऐसा होने से सम्प्रदाय (विद्या) का उच्छेद न होगा, तथा शास्त्र बलवत्तर होगा । क्योंकि शास्त्र ही ने कहा है कि जो असूयापरवश, असरल अथवा जडबुद्धि हों उनके समक्ष मुझे न कहना । ऐसा होने से मैं क्षीण शक्ति हो जाऊँगा । इस (व्याख्या) से सूत्रस्थ[2] 'अतः' पद की भी व्याख्या हो गयी ।]

पदार्थधर्मसंग्रह इति । पदार्था द्रव्यादयस्तेषां धर्मास्त एव परस्परं विशेषणीभूतास्तेऽनेन संगृह्यन्ते । शास्त्रे नानास्थानेषु वितता एकत्र संकलय्य कथ्यन्त इति संग्रहः । स प्रकृष्टो वक्ष्यते । प्रकरणशुद्धेः संग्रहपदेन

---

१. उपलब्ध यास्क प्रणीत निरुक्तग्रन्थ में "असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् । (निरुक्त, २।४) यह पाठ मिलता है । हमारे विचार से 'अवीर्यवती' यह किरणावली का पाठ शुद्ध नहीं है । इस पाठ को स्वीकार करने पर प्रथम तथा द्वितीय चरणों में अक्षरसाम्य नहीं रहता है । निरुक्त ग्रन्थ के पाठ के अनुसार इस वाक्य की व्याख्या निम्नरूप होगा । जो असूयापरवश, असरल तथा विक्षिप्तेन्द्रिय अर्थात् असंयत है उसके पास मुझे न कहो; ऐसा करने (अर्थात् न कहने से) मैं शक्तियुक्ता (समर्था) होऊंगी ।

२. अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः । वैशेषिकसूत्र १।१।१

दर्शितत्वात्।[1] वैशद्यं लघुता कृत्स्नता च प्रकर्षः प्रशब्देन द्योत्यते। सूत्रे वैशद्याभावाद् भाष्यस्यातिविस्तरत्वात् प्रकरणादीनाञ्चैकदेशत्वात्। एतेनाभिधेयं दर्शितं भवति। न च तत्प्रतीतावपि प्रेक्षावान् प्रयोजनं विना प्रवर्तत इति तमाह—महोदय इति। महानुदय उद्बोधस्तत्त्वज्ञानमिति यावत्। सोऽस्माद् भवतीति महोदयः संग्रहः।

[(मूल कारिका के) 'पदार्थधर्मसंग्रहः' इस (पदकी व्याख्या की जाती है)। पदार्थ (अर्थात्) द्रव्यादि, उनके धर्मसमूह। वही (अर्थात् द्रव्यादि पदार्थ समूह ही) परस्पर एक दूसरे के विशेषणीभूत होने पर धर्म नाम से कहे जाते हैं। वे ही इस ग्रन्थ द्वारा संगृहीत (अर्थात् संक्षेप में वर्णित) हो रहे हैं। शास्त्र (अर्थात् मूल वैशेषिक सूत्र) में वे नाना स्थान में विक्षिप्त हैं। वे ही एकत्र संकलित होकर (इस ग्रन्थ में) निरूपित हो रहें हैं। इसलिये उक्त प्रकार से निरूपित द्रव्यादि पदार्थ का ही (प्रकृत स्थल में) संग्रह होगा। वह प्रकर्षयुक्त संग्रह ही पश्चात् कहा जायेगा। संग्रह पद से प्रकरण (अर्थात् व्याख्येय ग्रन्थ) की शुद्धि प्रदर्शित हुई है। वैशद्य, लघुता, तथा समग्रता रूप प्रकर्ष 'प्र' उपसर्ग द्वारा द्योतित हुआ है।[2] सूत्र में वैशद्य का अभाव है, भाष्य अत्यन्त विस्तृत है, प्रकरण ग्रन्थों के एकदेशी होन के कारण (वे प्रकर्ष युक्त नहीं हैं)। इससे (प्रस्तुत ग्रन्थ के) अभिधेय प्रदर्शित हुआ। (शास्त्र का) अभिधेय ज्ञात होने पर भी प्रेक्षावान् व्यक्ति प्रयोजन के बिना (अर्थात् प्रयोजन को जाने बिना) (शास्त्राध्ययन में) प्रवृत्त नहीं होते हैं। अतः 'महोदयः' पद से वह (अर्थात् प्रयोजन) कहा गया है। 'महान् उदयः' इस प्रकार व्युत्पत्ति से निष्पन्न महोदय पद उत्कृष्ट उद्बोध अर्थात् तत्त्वज्ञान रूप अर्थ तक देता है। उक्त तत्त्वज्ञान इस (अर्थात् व्याख्येय ग्रन्थ) से होता है। इसीलिये संग्रह को भी महोदय कहा गया है। (इसका तात्पर्य यह है कि 'महान् उदयो यस्मात्' इस विग्रह से बहुव्रीहि समासनिष्पन्न 'महोदयः' पद को किरणावलीकार न संग्रह का विशेषण रूप से कहा है। तथा 'महान् उदयः' इस अर्थ से अर्थात् कर्मधारय समास की सहायता से उसी को तत्त्वज्ञान-परक कहा है।]

---

१. हमारे विचार से "प्रकरणशुद्धिः संग्रहपदेन प्रदर्शिता" पाठ होना ठीक होता है। परन्तु किसी भी मुद्रित संस्करण में वैसा पाठ नहीं पाया जाता है।

२. 'प्रवक्ष्यते' पद में 'प्र' उपसर्ग द्वारा उक्त प्रकर्ष द्योतित हुआ है।

ततः किम् ? न ह्ययं पुरुषार्थः। के ते पदार्थाः, के च तेषां धर्मा इत्यत आह द्रव्येति[1]। के पदार्था इत्यपेक्षायां पदार्था द्रव्यादयः। के धर्मा इत्यपेक्षायां साधर्म्यरूपा वैधर्म्यरूपा अनुवृत्तव्यावृत्तरूपा इत्यर्थः। तेषामुद्बोधः कथं पुरुषार्थ इत्यत्र तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुरिति। तत्त्वमनारोपितं रूपम्। तच्च साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामेव विविच्यते। साक्षादपि हि दृश्यमाना अत्यन्तासंकीर्णाः स्थाण्वादयो वक्रकोटरादिभिः पुरुषादिभ्यो विविच्यन्ते, न त्वन्यथा; किं पुनरतीन्द्रिया मिथो विमिश्रीभूताः कालाकाशादयः शरीरात्मादयो वेति। एतेन पदार्था एव प्रधानतयोद्दिष्टा वेदितव्याः।

[इससे क्या (हुआ) ? यह (तत्त्वज्ञान) पुरुषार्थ नहीं है। वह पदार्थ कौन कौन हैं, उनके धर्म भी कौन कौन हैं इस प्रश्न के उत्तर में द्रव्य इत्यादि ग्रन्थ की अवतारणा की गयी है। इन में कौन पदार्थ है इस प्रश्न (के उत्तर) में द्रव्यादि को पदार्थ, तथा कौन कौन धर्म है इस प्रश्न (के उत्तर) में जो साधर्म्यरूप (अर्थात् अनेक में अनुवृत्त) तथा वैधर्म्य रूप (अर्थात् व्यावृत्त) हैं उनको धर्म कहा गया है। उन (अर्थात् पदार्थों तथा धर्मों) का उद्बोध किस प्रकार से पुरुषार्थ होगा ? इसके उत्तर में तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का हेतु कहा गया है।[2] तत्त्व शब्द से अनारोपित रूप (अर्थात् धर्म) को समझा जाता है। वह साधर्म्य तथा वैधर्म्य के द्वारा निर्णीत होता है। जो पुरुषादि पदार्थ से वस्तुत: अत्यन्त भिन्न तथा प्रत्यक्षरूप से दृश्यमान है वह स्थाणु आदि पदार्थ समूह भी वक्रता तथा कोटर आदि धर्म के कारण ही परस्पर से भिन्न प्रतीत होते हैं अन्यथा नहीं। (अर्थात् उस स्थिति में स्थाणुत्व अथवा पुरुषत्व का संशय ही होता है)। अतः जो परस्पर अत्यन्त मिश्रित तथा अतीन्द्रिय हैं यथा काल आकाश आदि अथवा शरीर आत्मा आदि पदार्थ कैसे अन्य प्रकार से विवेचित हो सकते हैं (अर्थात् साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा ही वे विवेचित होंगे, अन्य प्रकार से नहीं)। इसके द्वारा पदार्थ समूह ही प्रधानरूप से उद्दिष्ट हुए समझना चाहिये।]

---

१. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयस हेतुः। प्रशस्तपाद भाष्य।

२. ····पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। वैशे. सूत्र, १।१।४

यहाँ 'तत्त्व' पद के अर्थ का विश्लेषण आवश्यक है। 'तस्य भावः' इस अर्थ में तत् शब्द के उत्तर 'त्व' प्रत्यय के योग से 'तत्त्व' पद निष्पन्न है। तद् आदि सर्वनामसमूह बुद्धिस्थ पदार्थ के उपस्थापक होते हैं। प्रकृत स्थल में द्रव्य, गुण आदि पदार्थ हमारी बुद्धि में पदार्थत्व रूप में उपस्थित हैं। क्योंकि ग्रन्थकार 'पदार्थानाम्' पद के द्वारा ही द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का उल्लेख किये हैं। इसीलिये यहाँ तद् शब्द द्वारा पदार्थत्वरूप से ही द्रव्य, गुण आदि अर्थों की उपस्थिति होगी। तथा त्व' प्रत्यय पदार्थत्वरूप भाव का बोधक होगा। परन्तु सूत्रकार ने पदार्थत्व को ही तत्त्व नहीं कहा है किन्तु जो जो धर्म जिस जिस पदार्थ के समान धर्म हैं उनको उन पदार्थों के, तथा जो जो धर्म जिस जिस पदार्थ के विरुद्धधर्म हैं उनको उन पदार्थों से भिन्न पदार्थ का तत्त्व कहा है।

अभावस्तु स्वरूपवानपि पृथङ्नोद्दिष्टः प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्। उत्पत्तिविनाशचिन्तायां प्रागभावध्वंसाभावयोः, वैधर्म्ये चेतरेतराभावात्यन्ताभावयोस्तत्र तत्र निदर्शयिष्यमाणत्वात्। तेन द्रव्यादीनां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वं प्रतिपादयन् संग्रहो निःश्रेयसं साधयति यतोऽतः प्रेक्षावतामुपादेय इति तात्पर्यम्।

[अभाव स्वरूपवान् (अर्थात् सत्) होने पर भी प्रतियोगी के निरूपण के अधीन ही उसका निरूपण होता है इसलिए वह पृथक् रूप से उद्दिष्ट (अर्थात् उल्लिखित) नहीं हुआ, तुच्छ होने के कारण नहीं। उत्पत्ति तथा विनाश की व्याख्या में (अर्थात् मूल ग्रन्थ के सृष्टि-संहार-प्रकरण में) प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव तथा वैधर्म्य की व्याख्या में अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव तत्तत् स्थलों में आलोचित होगा (अतः उनको तुच्छ कहा नहीं जा सकता है)। जब कि संग्रह साधर्म्य तथा वैधर्म्य द्वारा तत्त्व के प्रतिपादन करते हुए निःश्रेयस का साधन करता है इसलिए वह (अर्थात् संग्रह) प्रेक्षावान् पुरुष का आदरणीय होगा यही तात्पर्य है।]

सूत्रकार पदार्थ का विभाग करते समय अभाव का उल्लेख न करने से वैशेषिकदर्शन में अभाव को पृथक् पदार्थरूप से स्वीकार नहीं किया गया यह प्रतीत हो सकता है। परन्तु वैशेषिक मत में अभाव पदार्थ भी पृथक्रूप से स्वीकृत ही है। पदार्थों के विभाग के समय अभाव का उल्लेख न होने से वह विभाग न्यूनता-दोष-दुष्ट हुआ है इस शङ्का के निराकरण के लिये किरणावलीकार ने कहा है कि निःश्रेयस में अभाव के उपयोग रहने पर भी अभाव के निरूपण प्रतियोगी के निरूपण सापेक्ष होने से ही पदार्थ विभाग में अभाव की परिगणना नहीं की गई है। निःश्रेयस के उपयोगी नहीं, अथवा अलीक होने से पदार्थविभाग में अभाव परिगणित नहीं हुआ है यह समझना यथार्थ नहीं है।

आचार्य की व्याख्या से प्रतीत होता है कि जिसके निरूपण में प्रतियोगी के निरूपण की अपेक्षा होती है वैशेषिकशास्त्र में उसका साक्षात् उल्लेख नहीं किया गया है। परन्तु गुणविभाग-प्रकरण में संयोग तथा विभाग का उल्लेख किया गया है। संयोग तथा विभाग के निरूपण में भी उनके प्रतियोगियों का निरूपण अपेक्षित है। अतः अभाव के वैशेषिकशास्त्र स्वीकृत होते हुए पदार्थविभाग के समय उसके अनुल्लेख का हेतु आचार्य ने जैसा प्रतिपादन किया है वह समीचीन प्रतीत नहीं होता।[1]

यह कहा जा सकता है कि 'प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्' इस ग्रन्थ में 'प्रतियोगि'-पद विरोधी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संयोग अथवा विभाग के निरूपण में उनके दोनों सम्बन्धियों के निरूपण अपेक्षित होते हुए भी वह दोनों सम्बन्धी संयोग अथवा विभाग के विरोधी नहीं होते हैं। अभाव के निरूपण में जिसका निरूपण अपेक्षित है वह वस्तुतः अभाव का विरोधी है। अतः अभाव का निरूपण स्वविरोधी वस्तु के निरूपणाधीन होने से पदार्थविभाग के समय उसका उल्लेख नहीं किया गया है। संयोगादि के निरूपण में अन्य पदार्थ के निरूपण की अपेक्षा रहने पर भी वह अन्य पदार्थ संयोगादि का विरोधी नहीं, किन्तु सम्बन्धी है। अतः उद्देशग्रन्थ में अभाव का उल्लेख जिस कारण से नहीं हुआ वह कारण संयोगादि में न रहने से गुणविभाग में संयोगादि का उल्लेख निर्बाध है।[2] परन्तु हम उल्लिखित व्याख्या को भी समर्थन योग्य नहीं समझते हैं। क्योंकि उद्देशग्रन्थ में पदार्थविशेष के अनुल्लेख विरोधिनिरूपणाधीननिरूपणत्व द्वारा नियन्त्रित होता है यह प्रमाण सिद्ध नहीं है। अतः उसी के कारण पदार्थविभाग के अवसर पर अभाव का अनुल्लेख समर्थन योग्य नहीं है।

किसी-किसी के मतानुसार द्रव्यादि छः पदार्थों के उल्लेख से ही अभाव का भी उल्लेख हुआ समझना चाहिये। क्योंकि द्रव्य तथा गुण के अन्योन्याभाव शब्दतः पृथक् होने पर भी अर्थतः पृथक् नहीं है। इसी प्रकार गुण, कर्म आदि के संसर्गाभाव तथा गुण, कर्म यह भी शब्दतः पृथक् हैं, अर्थतः नहीं। अतः द्रव्यादि छः पदार्थों के विभाग से ही फलतः अभाव भी पदार्थविभाग में संगृहीत हुआ है। अतः पदार्थविभाग में न्यूनता दोष नहीं है।[3]

---

१. ननु प्रतियोगिनिरूप्यस्यानभिधाने संयोगादेः कथमुद्देशः। प्रकाश, पृ० ३८-३९

२. अथ प्रतियोगी विरोधी संयोगादिस्तु स्वसम्बन्धिनिरूप्यः। प्रकाश, पृ० ३९

३. अथ द्रव्यादिषट्कोद्देशेनैवाभावोऽप्युद्दिष्टः। द्रव्यं हि गुणान्योन्याभाव इति। प्रकाश, पृ० ३९

अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने वालों के लिये यह उल्लिखित व्याख्या आदरणीय होने पर भी वैशेषिकमतवादियों के लिये स्वीकार योग्य नहीं है। द्रव्य में गुण का अन्योन्याभाव, गुण में द्रव्य का अन्योन्याभाव अवश्य ही है। परन्तु द्रव्य में आधृत गुणान्योन्याभाव तथा गुण में आधृत द्रव्यान्योन्याभाव स्वरूपतः द्रव्य तथा गुणात्मक नहीं है। इसी प्रकार गुणादिका संसर्गाभाव गुण में है, तथापि गुण में आधृत गुण-संसर्गाभाव तथा गुण दोनों एक ही वस्तु नहीं है। अतः द्रव्यादि छः पदार्थों का उल्लेख से ही अर्थतः अभाव का भी उल्लेख हुआ है कहा नहीं जा सकता है।

प्रकाशकार ने कहा है कि 'पदार्थ' पद से ही सामान्यरूप से अभाव का उल्लेख हो जाने से (वैशेषिक) शास्त्र में अभाव का उल्लेख नहीं है कहना सङ्गत नहीं है। पदार्थविभाग काल में अभाव का उल्लेख न करने का हेतु यह है कि द्रव्यादिभाव-पदार्थ द्वारा विशेषित न होने पर शुद्ध-रूप से अभाव हमारी बुद्धि में आता नहीं है (बुद्धि का विषय नहीं होता है)। इसी कारण जिन पदार्थों द्वारा विशेषित होने पर अभाव हमारे बुद्धि-गम्य होता है उन्हीं पदार्थों का ग्रहण किया गया है। आचार्य का 'प्रतियोगिनिरूपणाधीन-निरूपणीयत्व' को अभाव के अनुल्लेख में कारण कहने का यही तात्पर्य है।[१] हम प्रकाशकार की इस व्याख्या का भी समादर नहीं कर पाते हैं। क्योंकि पूर्व लिखित आपत्तियाँ इस व्याख्या के विरुद्ध भी प्रयुक्त हो सकती हैं।

पदार्थविभाग में अभाव के अनुल्लेख के समर्थन में न्यायलीलावतीकार ने कहा है कि शास्त्रान्तर (न्यायशास्त्र) में उल्लिखित अभाव पदार्थ का खण्डन सूत्र में न रहने से भावपदार्थ के तुल्य ही अभावपदार्थ भी सूत्रकार द्वारा स्वीकृत है यह अभ्युपगमसिद्धान्त द्वारा ही प्राप्त होता है। अभ्युपगमसिद्धान्त की सहायता से अभाव भी प्राप्त है इसलिए पदार्थविभाग में उसका उल्लेख नहीं किया गया है। सूत्रकार-स्वीकृत न होने के कारण पदार्थविभाग में उसका उल्लेख नहीं यह कहना असङ्गत है।[२]

लीलावतीकार की व्याख्या भी समर्थन योग्य नहीं है। क्योंकि उनकी व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि जिन पदार्थों की सिद्धि अभ्युपगमसिद्धान्त से होती है, पदार्थ-विभाग में उनकी परिगणना नहीं की जायेगी। परन्तु सूत्रकार ने स्वयं इसे स्वीकार नहीं किया है। अभाव के तुल्य ही द्रव्यादि पदार्थ भी अभ्युपगमसिद्धान्त से प्राप्त होता है किन्तु उसका उल्लेख है। अतः अभ्युपगमसिद्धान्त-सिद्ध होने से अभाव का पदार्थ-

---

१. अत्राहुः—अभावः किमिति नोद्दिष्ट इति प्रश्ने पदार्थपदेनैवोद्दिष्ट इति। प्रकाश, पृ० ३९

२. अभावस्य च समानतन्त्रसिद्धस्याप्रतिषिद्धस्य न्यायदर्शने मानसेन्द्रियतासिद्धिवदत्राप्य-विरोधादभ्युपगमसिद्धान्तसिद्धत्वात्। न्या० लीलावती, पृ० ३५-३६

विभाग में अनुल्लेख है कहना नितान्त असङ्गत है। अभाव सूत्रकार-स्वीकृत पदार्थ होने से पदार्थविभाग में उसके अनुल्लेख का समर्थन नहीं हो सकता है। इसीलिये किसी-किसी को यह प्रतीति हो सकती है कि अभाव वैशेषिक-सम्मत पदार्थ नहीं है।

किन्तु अभाव को वैशेषिकसम्प्रदाय में अस्वीकृत-पदार्थ कहा नहीं जा सकता है। सूत्रकार अनेक स्थलों में नानाप्रकार से अभाव का उल्लेख किये हैं। अतः सूत्रकार भाव तथा अभाव भेद से पदार्थों के द्विविध विभाग को स्वीकार किये हैं यह कहा जा सकता है। सूत्र में प्राप्त षड्विध विभाग अर्थतः विभक्त भावपदार्थों का ही विभाग है। वह पदार्थों का प्राथमिक विभाग नहीं। इस प्रकार व्याख्या से पदार्थविभाग में अभाव के अनुल्लेख से न्यूनता दोष का परिहार होता है। क्योंकि यह विभाग अर्थतः प्राप्त भावपदार्थों का ही विभाग है। भावपदार्थों के वर्णन के पश्चात् प्रयोजनानुसार स्थान स्थान पर अभावों की आलोचना की गई है। अतः प्रस्तुत स्थल में पदार्थविभाग में अभाव का अनुल्लेख के विषय में प्रश्न ही नहीं उठता है। भावपदार्थों के विभाग में अभाव का उल्लेख असङ्गत ही होता।

निःश्रेयसं पुनर्दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी। अत्र च वादिनामविवाद एव। न ह्यपवृक्तस्य दुःखं प्रत्यापद्यत इति कश्चिदभ्युपैति।

[दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही निःश्रेयस (अर्थात् अपवर्ग) है। इस विषय में वादियों का वैमत्य (मतभेद) नहीं है। (यह बात) कोई नहीं कहता कि जिसका अपवर्ग (अर्थात् मुक्ति) हुआ है, उसका पुनः दुःख होता है।]

आचार्य उदयन दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मुक्ति कहे हैं। यहाँ आत्यन्तिकत्व दुःखनिवृत्ति का विशेषण होने से दुःखनिवृत्ति का आत्यन्तिकत्व क्या है यह विचारणीय है। सामान्यतया आत्यन्तिक-निवृत्ति कहने से अत्यन्ताभाव ही समझा जाता है। दुःख का अत्यन्ताभाव ही यदि उसकी आत्यन्तिक-निवृत्ति हो तो निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष को नित्य कहना पड़ेगा। मोक्ष की उत्पत्ति अथवा उसका विनाश नहीं रहेगा। क्योंकि अत्यन्ताभाव को शास्त्र में नित्य कहा गया है। इस स्थिति में मोक्ष का हेतु (साधनों) का संग्रह अनावश्यक होगा। परन्तु शास्त्रकारों ने नाना दुर्लभ साधनों से ही मुक्ति का लाभ होता है कहा है। अतः दुःख की आत्यन्तिक-निवृत्ति शब्द से दुःख का अत्यन्ताभाव समझा नहीं जा सकता है।

निवृत्ति पद का ध्वंसरूप अर्थ होने से दुःख का ध्वंस दुःख-निवृत्ति का अर्थ होता है। ध्वंसाभाव जन्य होने से उसकी उत्पत्ति होती है। अतः तदर्थ साधनों का संग्रह

अनावश्यक न होगा। आत्यन्तिकत्व शब्द को निवृत्ति के विशेषणरूप से ग्रहण न करने पर केवल दुःख-निवृत्ति अर्थात् दुःखध्वंस को यदि मोक्ष कहा जाय तो संसारदशा में भी जीव की मुक्ति स्वीकार करनी पड़ती है। क्योंकि क्षणिक होने के कारण दुःख का ध्वंस अपनी उत्पत्ति के तृतीयक्षण में होगा ही। अतः दुःखध्वंसरूप मोक्ष के लिये भी साधनों के संग्रह की आवश्यकता नहीं रहेगी। इन आपत्तिओं के कारण आत्यन्तिक-दुःख-निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। परन्तु इस आत्यन्तिकत्व का निर्वचन करते हुए यह दृष्टिगत रखना है कि संसारदशा में मोक्ष की आपत्ति न हो सके, तथा मोक्ष के लिये साधनों का संग्रह भी अपेक्षित हो।

यदि आत्यन्तिकत्व को दुःखसमान-कालीनत्व का अभाव कहा जाय।[१] तब जो दुःखनिवृत्ति किसी दुःख के समानकाल में न हुई हो वही आत्यन्तिकी होगी। संसारदशा में हमारी दुःखनिवृत्तियाँ किसी न किसी दुःख के समान काल में ही होती हैं। दुःखोत्पत्ति की शृङ्खला ही संसार का धर्म है। एक दुःख के विनाश के साथ ही अन्य दुःख की उत्पत्ति भी होती रहती है। अतः संसारदशा की दुःखनिवृत्ति को आत्यन्तिक अर्थात् दुःखासमान-कालीन कहा नहीं जा सकता है। ऐसे निर्वचन से संसारदशा में मोक्ष की आपत्ति न होगी तथा तदर्थ साधनों के संग्रह की आवश्यकता भी रहेगी। क्षणिकता के कारण ही दुःख का नाश होने पर भी उस नाश की आत्यन्तिकता अर्थात् दुःखासमानकालीनत्व के लिये साधनों के संग्रह की अपेक्षा रहेगी।

परन्तु दुःख का आत्यन्तिक-ध्वंस अर्थात् दुःखासमानकालीन-दुःखध्वंस को मोक्ष कहने पर उस प्रकार मोक्ष की सम्भावना केवल महाप्रलय में जब अन्तिम जीव का अन्तिम दुःखध्वंस होगा तभी होगी। तथा यह भी स्वीकार करना होगा कि आरम्भ से आजतक कोई जीव मुक्त (मोक्षभागी) नहीं हुआ है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से आज तक जो दुःखध्वंस हो रहे हैं उनके समकाल में ही अन्य दुःख वर्त्तमान थे तथा हैं। अतः उन दुःखध्वंसों को दुःख के असमानकालीन कहा नहीं जा सकेगा। संसार के आज भी रहने के कारण दुःख की उत्पत्ति भी अवश्य ही हो रही है। किसी व्यक्ति का प्रत्येक दुःखध्वंस ही अन्ततोगत्वा किसी दूसरे व्यक्ति के दुःख के समानकालीन अवश्य ही है। अतः स्वीकृत मुक्तपुरुषों के दुःखध्वंस अन्य बद्धजीव के दुःखसमानकालीन होने से उनकी मुक्ति भी सिद्ध नहीं होगी। इस प्रकार का मोक्ष सृष्टिकाल अथवा खण्डप्रलय काल में भी सम्भव न होगा। यह भी कहना आवश्यक है कि महाप्रलय काल में ही यदि दुःखासमानकालीन-दुःखध्वंसरूप मोक्ष होना स्वीकृत होगा तब कोई मोक्षार्थी नहीं होगा। क्योंकि इतना बिलम्बित-फलप्राप्ति के लिये किसी की इच्छा हो नहीं सकती है। फलतः दुःखासमानकालीनत्व को 'आत्यन्तिक' कहा नहीं जा सकता है।

---

१. ननु किमात्यन्तिकत्वं न तावद् दुःखासमानकालीनत्वम्। प्रकाश, पृ० ४१

यद्यपि उपर्युक्त कारणों से स्व-पर-साधारण दुःख की असमानकालीनता दुःखध्वंस की आत्यन्तिकता कही नहीं जा सकती है, तथापि स्वसमानाधिकरण दुःख का असमानकालीनत्व प्रस्तुत स्थल में आत्यन्तिकत्व कहने में बाधा नहीं होनी चाहिये।[१] इस प्रकार निर्वचन से स्वसमानाधिकरण दुःख का ही असमानकालीन-दुःखध्वंस को मोक्षस्वरूप कहा गया है। इससे उस दुःखध्वंस को ही मुक्ति कहा जायेगा जिसके अधिकरण में उस दुःखध्वंस के काल में अन्य दुःख न हो। विचार यह करना है कि मोक्षरूप से अभीष्ट दुःखध्वंसव्यक्ति के साथ एक ही आत्मा में आश्रित दुःखों में किसी के साथ उस मोक्षस्वरूप दुःखध्वंस समानकालीन है या नहीं? यदि वह दुःखध्वंस अपने अपने अधिकरण आत्मा में आश्रित अन्य दुःखों के साथ समानकालीन होता है तो उसे मुक्तिस्वरूप कहा नहीं जा सकता। प्रत्युत यदि वह दुःखध्वंस अपने अधिकरणभूत आत्मा में आश्रित अन्य दुःख का समानकालीन न हो तभी उसे मुक्तिरूप कहा जा सकता है। जिस आत्मव्यक्ति की मुक्ति हुई है उसका अन्तिम दुःखध्वंस उसी आत्मव्यक्ति में आश्रित संसारदशा के दुःखों का समानाधिकरण है, अन्य आत्मा में आश्रित दुःखों का समानाधिकरण नहीं। इससे उस मोक्षप्राप्त व्यक्ति का अन्तिम दुःखध्वंस उसी व्यक्ति के संसारकालीन दुःखों के समानाधिकरण होते हुए भी समानकालीन न होने से उस अन्तिम दुःखध्वंस को इस निर्वचन के अनुसार मोक्ष कहा जा सकता है। संसार काल के दुःखध्वंस (जिसके साथ एक ही आत्मा में अन्य दुःख भी हैं) में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। यह कहना आवश्यक नहीं कि ध्वंसाभाव अपने प्रतियोगी के समवायि-देश में रहता है। अतः दुःखध्वंस भी अपने प्रतियोगिभूत दुःखों के समवायि-देश तत्तत् आत्मा में ही रहता है। संसारदशा में एक एक आत्मा में उत्पन्न दुःखों की क्षणिकता के कारण जो दुःखध्वंस होते हैं वे उसी आत्मा में पश्चादुत्पन्न दुःख के समानाधिकरण तथा समानकालीन भी होते हैं। ध्वंस अपनी उत्पत्ति के पश्चात् नित्यकाल रहता है। इसी कारण संसारकाल के एक एक दुःखध्वंस के साथ पश्चादुत्पन्न दुःख समानाधिकरण तथा समानकालीन भी होते हैं। इस लक्षण के कारण संसारकाल में किसी एक व्यक्ति की मुक्ति की सम्भावना होती है। तथा मोक्षप्राप्त व्यक्ति के अन्तिम दुःखध्वंस का अन्य जीव के दुःखसमानकालीन होते हुए भी मोक्षत्व में बाधा न होगी।

परन्तु इस निर्वचन में सांसारिक जीव के सुषुप्तिकाल के दुःखध्वंस की आत्यन्तिकता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। सुषुप्ति-पूर्वकालीन दुःखों को यदि स्वसमानाधिकरण दुःखरूप से लिया जाय तो उन दुःखों के समानकालीनत्व का अत्यन्ताभावरूप असमानकालीनत्व सुषुप्तिकालीन दुःखध्वंस में स्वभावतः रहेगा। क्योंकि सुषुप्त आत्मा में सुषुप्ति-कालावच्छेदेन दुःख उत्पन्न ही नहीं होता है। अतः सुषुप्तिकालीन दुःखध्वंस में उक्त कालावच्छेदेन

१. नापि सामानाधिकरण्यविशेषितमिदम्……। प्रकाश, पृ० ४१

दुःखसमानकालीनत्व का अत्यन्ताभाव रहेगा। यदि सुषुप्ति के पश्चात् जागरण-कालीन दुःखों को दुःखध्वंस-समानाधिकरण दुःख शब्द से लिया जाय तब उन दुःखों के समान-कालीनत्व का अत्यन्ताभाव सुषुप्तिकालीन दुःखध्वंस में बना रहेगा। क्योंकि सुषुप्त्यनन्तर जागरण-कालीन स्वसमानाधिकरण दुःखों के जागरण-कालावच्छेदेन समानकालीनत्व सुषुप्ति-कालीन दुःखध्वंस में रहने पर भी सुषुप्तिकालावच्छेदेन उन दुःखों के समानकालीनत्व का अत्यन्ताभाव उस दुःखध्वंस में अवश्य ही रहेगा। दुःख कालिक-अव्याप्यवृत्ति होने से तद्घटित अत्यन्ताभाव भी अव्याप्यवृत्ति ही होगा। अतः उक्त प्रकार से आत्यन्तिकत्व का निर्वचन करने पर सुषुप्तिकालीन दुःखध्वंस को आत्यन्तिक दुःखध्वंस तथैव मोक्षस्वरूप कहना आवश्यक होगा[१]।

कोई कोई दुःखनिवृत्ति की आत्यन्तिकता (अर्थात् दुःखध्वंस की आत्यन्तिकता) शब्द से द्वेषाजनक-दुःखप्रतियोगिक-ध्वंस समझते हैं। अर्थात् जो दुःख द्वेष का जनक नहीं उसका ध्वंस ही आत्यन्तिक दुःखध्वंस है। इससे द्वेष-जनक दुःखों का ध्वंस आत्यन्तिक दुःखध्वंस नहीं कहा जा सकता है। संसारकाल में सभी दुःख द्वेषजनक होते हैं। सांसारिक (बद्ध) जीव दुःख को अपने प्रतिकूल वस्तु समझता है, अतः वह द्वेष का जनक होता है। परन्तु तत्त्वज्ञान होने पर जीव दुःख को अपने कर्मों का फलस्वरूप समझकर अपरिहार्य मान लेता है। इससे तत्त्वज्ञानी का दुःख द्वेष का जनक नहीं होता। अतः तत्त्वज्ञान के पश्चादुत्पन्न दुःखों का नाश ही द्वेषाजनक-दुःखप्रतियोगिक होने से उन दुःखों का ध्वंस ही आत्यन्तिक दुःखध्वंस कहा जायेगा। संसारकाल के दुःखों का ध्वंस द्वेषाजनक दुःखप्रतियोगिक ध्वंस न होने से संसारकाल के दुःखध्वंस में लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी।[२]

उपर्युक्त निर्वचन स्वीकार करने पर तत्त्वज्ञानी को जीवितकाल में भी मुक्त कहना पड़ेगा। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न दुःखों के स्वाभाविक (क्षणिकता के हेतु) ध्वंस को भी द्वेषाजनक-दुःखप्रतियोगिक होने से आत्यन्तिक-दुःखध्वंस स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु न्याय अथवा वैशेषिक किसी भी मत के अनुसार मुक्ति या मोक्ष विदेहावस्था में ही स्वीकृत है। जीवद्दशा में तत्त्वज्ञानी को औपचारिकरूप से (गौण रूप से) ही मुक्त कहा जाता है, वास्तविक रूप से नहीं। ग्रन्थकार स्वयं भी कहते हैं कि मुक्ति के पश्चात् पुनः दुःख उत्पन्न ही नहीं होता है। जब तक शरीर वर्त्तमान है तब तक तत्त्वज्ञानी के भी दुःख का नाश (साक्षात्कारजन्य) तथा दुःखान्तरोत्पत्ति होती रहती है। शरीर है,

---

१. सुषुप्तस्यापि मुक्तत्वापत्तेः। प्रकाश, पृ० ४१

२. नापि द्वेषाजनकदुःखप्रतियोगित्वम्। प्रकाश, पृ० ४१

परन्तु दुःख नहीं होगा यह वैशेषिक या नैयायिक कोई भी स्वीकार नहीं करता। जन्मान्तर नहीं होता है इसी कारण तत्त्वज्ञानी को गौणरूप से मुक्त कहा जाता है। अतः गौण मुक्ति में यह लक्षण अतिव्याप्त होने से स्वीकार योग्य नहीं है।[1]

"दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति" इस श्रुति तथा "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" इस न्यायसूत्र के अनुसार दुःख का अत्यन्ताभाव ही मोक्ष या अपवर्ग है।[2] ऊपर प्रदर्शित अतिव्याप्ति आदि दोषों के कारण यदि हम दुःख के अत्यन्ताभाव को ही मोक्ष मानते हैं तो शङ्का होगी कि—किसी भी पुरुष (जीव) में दुःख का अत्यन्ताभाव (सामान्याभाव) होता ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्याभाव तथा विशेषाभाव कूट (यावद् विशेषाभाव) परस्पर का व्याप्य तथा व्यापक होने से सामान्याभाव के लिये विशेषाभाव कूट (यावद् विशेषाभाव) का होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार यावद् विशेषाभाव (विशेषाभाव कूट) रहने से वहाँ सामान्याभाव भी सिद्ध ही है। इस स्थिति में संसार-दशा में प्रत्येक पुरुष (जीव) में कभी न कभी कोई न कोई दुःख रहेगा ही। फलतः पुरुष में दुःख का विशेषाभावकूट रहता ही नहीं। व्यापक होते हुए विशेषाभावकूट के न रहने से दुःख का सामान्याभावरूप अत्यन्ताभाव भी उस पुरुष में सिद्ध नहीं हो सकेगा। मुक्तपुरुष में भी संसारदशा में दुःखविशेष के रहने से उस पुरुष में मोक्षकाल में भी दुःख का सामान्याभावरूप अत्यन्ताभाव रह नहीं सकेगा। क्योंकि उस पुरुष में दुःखों के यावद्विशेषाभावरूप (विशेषाभावकूटरूप) सामान्याभाव का व्यापक अभाव नहीं, अतः व्याप्य दुःखात्यन्ताभाव भी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अन्यदीय दुःख के अत्यन्ताभाव को भी मुक्ति कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि बद्धावस्था में भी प्रत्येक पुरुष में अन्य पुरुष के दुःखों का अत्यन्ताभाव रहने के कारण बद्धजीव भी मुक्त कहलायेंगे। अपने दुःखों के अत्यन्ताभाव को मोक्ष कहने में आपत्ति कही जा चुकी है। अतः दुःख के सामान्यतः अत्यन्ताभाव, परकीय दुःखों के अत्यन्ताभाव अथवा स्वकीय दुःखों के अत्यन्ताभाव इनमें किसी को भी मोक्ष का स्वरूप नहीं कहा जा सकता।

किसी-किसी के अनुसार साक्षात् स्वरूपसम्बन्ध से पुरुष (जीव) में दुःखात्यन्ताभाव (सामान्याभावरूप) न रहने पर भी किसी परम्परासम्बन्ध से पुरुष में दुःखात्यन्ताभाव रहने में बाधा नहीं है। हम घट पट आदि पदार्थों में विद्यमान दुःखात्यन्ताभाव को स्वसमानकालीन-दुःखसामग्री-ध्वंसवत्तारूप परम्परासम्बन्ध से पुरुष में भी आश्रित (विद्यमान) कह सकते हैं। क्योंकि घट पट आदि में विद्यमान दुःखात्यन्ताभाव के समान-

---

१. योगिनोऽप्येवं भावात्। प्रकाश, पृ० ४२

२. अथ दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरतीति श्रुतेस्तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग इति सूत्राच्च दुःखात्यन्ताभावो मोक्षः। प्रकाश, पृ० ४३

कालीन दुःखसामग्री का ध्वंस पुरुष में होने से उक्त परम्परासम्बन्ध से पुरुष में उक्त (घटपटादि में विद्यमान) दुःखात्यन्ताभाव का सम्बद्ध होना सम्भव है। मुक्तावस्था में पुरुष में दुःखसामग्री (कारण समूह) का विनाश सर्ववादि-स्वीकृत है। अतः पुरुष के मुक्तावस्था में अपने दुःखों के अत्यन्ताभाव का स्वसमानकालीन-दुःखसामग्री-ध्वंसवत्तारूप परम्परासम्बन्ध से रहने में कोई बाधा नहीं है। संसारदशा में पुरुष में दुःखसामग्री के विद्यमान रहने से उक्त सम्बन्ध से दुःखात्यन्ताभाव नहीं रहता है। इस प्रकार से घट पट आदि पदार्थों में स्वभावतः विद्यमान दुःखात्यन्ताभाव को स्वसमानकालीन दुःखसामग्री-ध्वंसवत्तारूप परम्परा सम्बन्ध से पुरुषाश्रित करते हुए मोक्षरूप कहा गया है। बद्धावस्था में पुरुष में दुःखसामग्री का ध्वंस न रहने के कारण उक्त परम्परासम्बन्ध बनता नहीं। तथा घट पट आदि पदार्थों की मुक्तता की आपत्ति भी नहीं हो सकती। क्योंकि उनमें दुःखसामग्री न रहने से उन सामग्रियों के ध्वंस न रहने से परम्परासम्बन्ध भी नहीं बनता है।

परन्तु इस निर्वचन में दोष यह है कि इसमें पुरुष के स्वकीय दुःख के अत्यन्ताभाव को स्वसमानकालीन-दुःखसामग्री-ध्वंसवत्तारूप सम्बन्ध से मोक्षस्वरूप माने जाने से संसार-दशा में भी मोक्ष की आपत्ति होगी। क्योंकि पुरुष के अतीत दुःखसामग्री का विनाश संसारदशा में भी रहने से पुरुष के स्वकीय दुःखात्यन्ताभाव जो घट पट आदि में वस्तुतः रहता है उसी का पूर्वोक्त परम्परासम्बन्ध से संसारदशा में भी पुरुष में होने में बाधा न रहने के कारण संसारदशा में भी पुरुष यथोक्त दुःखात्यन्ताभाव से सम्बन्धयुक्त होने से मुक्त कहलावेगा।

स्वसमानाधिकरण दुःखसामग्री-प्रागभावासमानकालीन-दुःखसामग्री-ध्वंसवत्ता रूप परम्परासम्बन्ध से विद्यमान दुःखात्यन्ताभाव ही को मोक्ष कहा जा सकता है। संसारदशा में दुःखसामग्री-ध्वंस स्वसमानाधिकरणदुःखसामग्री-प्रागभाव-समानकालीन ही होता है। परन्तु अन्तिम दुःखसामग्रीध्वंस ही स्वसमानाधिकरण-दुःखसामगी-प्रागभावा-समानकालीन होता है। तादृश दुःखध्वंस संसारदशा में न होने से संसारकाल में मुक्ति की आशङ्का न होगी। परन्तु वास्तविकता में निजदुःखात्यन्ताभाव का किसी प्रकार सम्बन्ध आत्मा से न रहने के कारण ही इस प्रकार परम्परासम्बन्ध से आत्मा में दुःखात्य-न्ताभावरूप मोक्ष का प्रतिपादन हो नहीं सकता है। संसारकाल में दुःख रहता है, अतः उसका अत्यन्ताभाव नहीं। मोक्षकाल में दुःख न रहने पर भी संसारकाल में दुःख की विद्यमानता रहने से मोक्षकाल में उसका अत्यन्ताभाव नहीं। आगामी (भविष्य) दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि मुक्तपुरुष के आगामी दुःख ही अप्रसिद्ध है, अतः उसका अभाव सिद्ध नहीं होता। परकीय दुःखात्यन्ताभाव प्रत्येक पुरुष (बद्ध तथा मुक्त) में होने से उसे मोक्षस्वरूप कहना सम्भव नहीं है।

इसी प्रसङ्ग में प्रकाशटीका विवृति में रुचिदत्त ने दुःखात्यन्ताभाव को मुक्तिस्वरूप न कहकर दुःख के आत्यन्तिक ध्वंस को ही मुक्ति कहा है।[१] यहाँ स्वसमानाधिकरण-दुःख-प्रागभावासमानकालीनत्व को दुःखध्वंस का आत्यन्तिकत्व कहा गया है। संसारकाल में दुःखविशेष का ध्वंस तथा उसी आत्मा में विद्यमान दुःखान्तर का प्रागभाव एक ही काल में रहता है। अतः संसारकाल के दुःखध्वंसों में स्वसमानाधिकरण-दुःखप्रागभावा-समानकालीनत्वरूप आत्यन्तिकत्व सिद्ध नहीं होगा। मुक्तदशा में अन्तिमदुःखध्वंस ही मुक्तात्मा में दुःखप्रागभाव के न रहने से स्वसमानाधिकरण-दुःखप्रागभावासमानकालीन होने से आत्यन्तिक होगा। मुक्तपुरुष के दुःखप्रागभाव के अप्रसिद्ध होने से लक्षण के समन्वय में बाधा नहीं होगी। क्योंकि मुक्तपुरूष के मोक्षदशा में दुःखप्रागभाव अप्रसिद्ध होने पर भी संसारदशा में उसी आत्मा में असंख्य दुःखप्रागभावों के रहने के कारण लक्षणघटक दुःखप्रागभाव पद से उन संसारकालीन दुःखप्रागभावों को लेकर लक्षण का समन्वय होगा। संसारकालीन दुःखप्रागभाव अपने अपने प्रतियोगी दुःखों की उत्पत्ति से ही नष्ट होने के कारण अन्तिम दुःखध्वंस के काल में विद्यमान न होंगे। अन्तिम दुःखध्वंस स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभावों का असमानकालीन होने से लक्षण की सङ्गति होगी।

आत्यन्तिकत्व का निर्वचन प्रकारान्तर से भी हो सकता है।[२] दुःखध्वंस के समान-कालीन दुःखप्रागभाव का असमानाधिकरणत्व को भी दुःखध्वंस का आत्यन्तिकत्व कहा जा सकता है। इस निर्वचन में भी अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति की सम्भावना नहीं है। किसी बद्ध पुरुष के संसारकालीन दुःखध्वंसों के समानकालीन दुःखप्रागभाव उसी पुरुष के आगामी दुःखों के प्रागभाव ही होंगे। जिससे संसारकालीन दुःखध्वंसों में स्वसमानकालीन दुःख-प्रागभाव के साथ सामानाधिकरण्य ही रहेगा, असामानाधिकरण्य नहीं। अतः संसार-कालीन दुःखध्वंस में आत्यन्तिकत्व के न रहने से लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार मोक्षकालीन अन्तिम दुःखध्वंस के समानकाल में मुक्तात्मा में किसी भी दुःख प्रागभाव के न होने से लक्षणघटक दुःखध्वंससमानकालीन-दुःखप्रागभाव शब्द से हम मुक्तात्मा के अन्तिम दुःखध्वंस के समानकाल में पुरुषान्तर (बद्ध पुरुषान्तर) के दुःख-प्रागभावों के सामानाधिकरण्य न रहने से मुक्तपुरुषीय दुःखध्वंस को आत्यन्तिक कहेंगे। इससे मुक्त पुरुष के अन्तिम दुःखध्वंस के समानकालीन दुःखप्रागभाव की अप्रसिद्धि के हेतु अव्याप्ति भी न होगी।

---

१. तद्भिन्नदुःखध्वंसो मोक्ष इति पर्यवस्यति। प्रकाशविवृति, पृ० ४३

२. तथा च समानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालो दुःखध्वंस इत्येकम्। समानकालीन-दुःखप्रागभावासमानाधिकरणो दुःखध्वंस इत्यपरम्। प्रकाशविवृति, पृ० ४४

प्रकाशकार ने भी आत्यन्तिक दुःखध्वंस को ही मुक्ति कहा है। आत्यन्तिकत्व का निर्वचन करते हुए उन्होंने कहा कि समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव का असमान-देशत्व ही दुःखध्वंस का आत्यन्तिकत्व है।[१] इस निर्वचन के अनुसार जिस दुःखध्वंस में स्वसमानकालीन तथा स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभाव का समानदेशता न हो वही आत्य-न्तिक दुःखध्वंस अर्थात् मोक्ष का स्वरूप कहा गया है। मुमुक्षु व्यक्ति का अन्तिम दुःखध्वंस में इस लक्षण का समन्वय करने में उस दुःखध्वंस में स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभाव शब्द से मुमुक्षु व्यक्ति का संसारकालीन दुःखप्रागभाव यदि लिया जाय तो वह दुःखप्रागभाव स्वसमानाधिकरण के होते हुये स्वसमानकालीन न होगा। संसारकालीन दुःखप्रागभाव मुमुक्षु के संसारकाल में ही रहता है। अन्तिम दुःखध्वंस के काल में मुमुक्षु का कोई भी दुःखप्रागभाव नहीं रहता है। यदि पुरुषान्तर (बद्ध जीव) के दुःखप्रागभाव को लेकर लक्षण समन्वय करना चाहेंगे तो मुमुक्षु का अन्तिम दुःखध्वंस उस दुःखप्रागभाव का समानकालीन होते हुए भी उसका समानाधिकरण नहीं होगा। क्योंकि बद्धपुरुष का दुःख-प्रागभाव बद्धपुरुष में ही रहता है। लक्षण समन्वय के लिये अपेक्षित ऐसा कोई दुःखप्रागभाव नहीं मिलता जो अन्तिम दुःखध्वंस के समानाधिकरण तथा समानकालीन हो। अन्तिम दुःखध्वंस का समानाधिकरण तथा समानकालीन कोई दुःखप्रागभाव प्राप्त न होने से उस दुःखप्रागभाव की असमानदेशता भी अन्तिम दुःखध्वंस में हो नहीं सकेगी। अतः इस लक्षण को अन्तिम दुःखध्वंस में घटाने के लिये जिस दुःखप्रागभाव की अपेक्षा है वह प्राप्त (प्रसिद्ध) नहीं है। अप्रसिद्ध (अलीक) वस्तु की समानदेशता तथा उसका अभाव (असमानदेशत्व) दोनों अप्रसिद्ध होने से इस अप्रसिद्धि के कारण लक्षण में असम्भव दोष होगा।

अन्तिम दुःखध्वंस में इस लक्षण को घटाने के लिये विवृतिकार ने कहा है कि 'स्वसमानकालीन-स्वसमानाधिकरण-दुःखप्रागभावासमानदेशत्व' रूप आत्यन्तिकत्व में पूर्वोक्त रूप 'स्व' शब्द से अन्तिम दुःखध्वंस को ग्रहण करने से अप्रसिद्धि दोष है। अतः बद्धपुरुष (हमारे जैसे) के दुःखध्वंस को 'स्व' शब्द से लेकर लक्षण का समन्वय करना चाहिये। उनके अनुसार अन्तिम भिन्न दुःखध्वंस के समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव संसारदशा के दुःखप्रागभाव मात्र ही होता है। उस दुःखप्रागभाव के समानदेशत्व संसारदशा के समस्त दुःखध्वंसों में होगा। तादृश दुखध्वंस से भिन्न दुःखध्वंस ही अन्तिम दुःखध्वंस तथा मोक्ष है। इस प्रकार व्याख्या से लक्षण की अप्रसिद्धि

---

१. तस्मात् समानकालीनसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानदेशत्वमेव दुःखध्वंसस्यात्यन्ति-कत्वम्। प्रकाश, पृ० ४३-४४

भी न रहेगी।[१] इस लक्षण में अन्तिमदुःख को लेकर लक्षणसमन्वय होता नहीं तथा अप्रसिद्धि दोष होता है यह पहले दिखाया जा चुका है।

अब लक्षण के घटकपदों की आवश्यकता पर विचार किया जाता है। संसारकालीन दुःखध्वंस को लेकर लक्षण घटाने के लिये गृहीत प्रागभाव के दो विशेषण दिये गये हैं। समानकालीन तथा समानाधिकरण अर्थात् संसारकाल के दुःखध्वंस के समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव के समानदेशत्वविशिष्ट दुःखध्वंस शब्द से केवल संसारकाल के दुखध्वंस होता है। अन्तिम दुःखध्वंस उससे भिन्न दुःखध्वंस है, आत्यन्तिक होने से वह मोक्षस्वरूप है। यहाँ दुःखप्रागभाव में प्रथम विशेषण 'समानकालीनत्व' यदि न हो तो केवल 'स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभावासमानदेशत्व' ही लक्षण होता है। यह लक्षण 'शुकदेव' आदि के चरम दुःखध्वंसरूप मुक्ति में समन्वित नहीं हो सकेगा। क्योंकि शुकदेवादि के चरम दुःखध्वंस के भी समानाधिकरण दुःखप्रागभाव प्राप्त है। वह दुःखप्रागभाव शुकदेव के आत्मा में कभी रहने के कारण शुकदेव के चरमदुःखध्वंस उस दुःखप्रागभाव के समानदेश ही हो जाता है। उस चरमदुःखध्वंस में स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभाव का असमानदेशत्व नहीं है। अतः अव्याप्ति होगी। इसी प्रकार इदानीन्तनों की मुक्ति में भी यह लक्षण का समन्वय नहीं हो सकता है। तदर्थ ही दुःखप्रागभाव में समानकालीनत्व विशेषण दिया गया है। इस विशेषण के रहने के कारण शुकदेव के अन्तिम दुःखध्वंस अपने समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव का समानदेशत्वविशिष्ट नहीं होता है। शुकदेव के अन्तिम दुःखध्वंस के समानकाल में उनकी आत्मा में संसारकाल के दुःखप्रागभाव नहीं रहते हैं। अतः शुकदेव के संसारकाल के ही दुःखध्वंस अपने समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव का समानदेशत्वविशिष्ट होगा। उस दुःखध्वंस से भिन्न दुःखध्वंस शुकदेव के अन्तिम दुःखध्वंस ही है। अतः अव्याप्ति की सम्भावना नहीं रहेगी।

यह शङ्का हो सकती है कि उपर्युक्त दोनों विशेषणों के रहते हुए अव्याप्ति रहेगी। क्योंकि शुकदेव के संसारकाल के दुःखध्वंस के समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव शब्द से यदि शुकदेव के संसारकालीन दुःखप्रागभाव को ही लेना पड़ेगा तथापि उस विलक्षण दुःखप्रागभाव की समानदेशता ही शुकदेव के अन्तिम दुःखध्वंस में रहेगी। क्योंकि वह विलक्षण दुःखप्रागभाव तथा अन्तिम दुःखध्वंस शुकदेव की आत्मा में ही रहता है। अतः शुकदेव के अन्तिम दुःखध्वंस में वह विलक्षण दुःखप्रागभाव की

---

१. तथाच स्वसमानकालीनस्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावसमानदेशो दुःखध्वंसोऽस्मदादीनां प्रसिद्धस्तद्भिन्नदुःखध्वंसो मोक्ष इति पर्यवस्यति, तेन नाप्रसिद्धिः। प्रकाशविवृतिः, पृ० ४३

असमानदेशता नहीं आवेगी। इसके समाधान में कहा जाता है कि 'विशिष्ट दुःखप्रागभावासमानदेशत्व' शब्द से उस दुःखप्राभावसमानदेशभिन्नत्व अर्थ होता है। परन्तु 'समानदेशभिन्नत्व' शब्द से सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से 'तादृशदुःखप्रागभावशून्यत्व' ही दुःखध्वंस का आत्यन्तिकत्व है। अर्थात् दुःखध्वंस समानकालीन तथा समानाधिकरण जो दुःखप्रागभाव सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उक्त दुःखप्रागभावशून्यत्व ही दुःखध्वंस का आत्यन्तिकत्व है। इस प्रकार अर्थ होने से समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभावविशिष्ट नहीं ऐसा दुःखध्वंस ही आत्यन्तिक दुःखध्वंस होगा। फलतः अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव शब्द से संसारकालीन दुःखप्रागभाव का ही ग्रहण होने से उस दुःखप्रागभाव तथा चरम दुःखध्वंस यह दोनों भिन्नकालीन होने के कारण एक (चरम दुःखध्वंस) का अपर (उक्त दुःखप्रागभाव) विशिष्ट होना सम्भव नहीं है। विभिन्नकालीन वस्तुद्वय में विशेष्यविशेषणभाव स्वीकृत नहीं है। अतः संसारकालीन दुःखध्वंस ही सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उक्त दुःखप्रागभावविशिष्ट होगा चरम दुःखध्वंस नहीं।

दुःखप्रागभाव में समानकालीनत्व को विशेषणरूप से देने की सार्थकता उपर्युक्त कारणों से निश्चित होने पर भी दुःखप्रागभाव में समानाधिकरणत्व को क्यों विशेषण दिया गया यह अभी निश्चित नहीं है। क्योंकि हम देख चुके हैं कि शुकदेवादि के चरम दुःखध्वंस में मोक्षलक्षण की अव्याप्ति के वारणार्थ दुःखप्रागभाव में समानकालीनत्व विशेषण की आवश्यकता है। दुःखध्वंस के समानकालीन दुःखप्रागभाव की असमानदेशता को दुःखध्वंस की आत्यन्तिकता कहने से ही शुकदेवादि के मोक्ष में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है। अतः दुःखप्रागभाव में समानकालीनत्व विशेषण रहते हुए पुनः उसमें समानाधिकरणत्व विशेषण देने की विशेष आवश्यकता क्या है? अन्यदीय दुःखप्रागभाव ही चरम दुःखध्वंस के समानकालीन होता है। संसारदशा के दुःखप्रागभाव स्वीय चरम दुःखध्वंस का समानकालीन कभी नहीं होता है। इसी से अव्याप्ति दोष का वारण हो जाता है। संसारदशा के दुःखध्वंस में दुःखप्रागभाव की समानकालीनता तथा एक ही आत्मा में रहने के कारण उस दुःखप्रागभाव की समानदेशता होने से दुःखप्रागभाव का असमानदेशत्व संसारदशा के दुःखध्वंस में नहीं होता है। इसलिए संसारदशा के दुःखध्वंस में लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं होती है। अतः 'समानाधिकरणत्व' विशेषण दुःखप्रागभाव में अनावश्यक प्रतीत होता है।[१]

इस शङ्का के समाधान में 'रुचिदत्त' ने कहा है कि 'असमानदेशत्व' पद के 'देश' शब्द कालादिसाधारण अधिकरणमात्र के लिये प्रयुक्त है।[२] ऐसा होने के कारण एक

---

१. न च देशपदमेव तत्परमस्तु, तथा च व्यर्थविशेषणत्वमेवेति वाच्यम्। प्रकाशविवृति, पृ. ४४

२. एकत्र देशपदं कालरूपाधिकरणपरम्। प्रकाशविवृति पृ० ४४

पुरुष के अन्तिम दुःखध्वंस के समानकालीन अन्यदीय दुःखप्रागभाव होते हैं। तथा उन दुःख-प्रागभावों के समानकालीन होने से उक्त अन्तिम दुःखध्वंस में उन दुःखप्रागभावों की समानदेशता (समानकालाधिकरणता रूप) के बन जाने से उक्त अन्तिम दुःखध्वंस में तादृश दुःखप्रागभाव की असमानदेशता न होने से अव्याप्ति का वारण नहीं होता। इसी लिए दुःखप्रागभाव में 'समानाधिकरणत्व' विशेषण की आवश्यकता है। इस विशेषण के रहने के कारण यह लक्षण फलतः स्वसमानकालीन-स्वसमानाधिकरण-दुःखप्रागभावक-भिन्नत्व रूप में पर्यवसित होगा। चरम दुःखध्वंस के समानकालीन तथा समानाधिकरण दुःखप्रागभाव की प्रसिद्धि न होने से संसारकालीन दुःखध्वंस को ही 'स्व' पद से ग्रहण करना होगा। तब स्वसमानकालीन-स्वसमानाधिकरण-दुःखप्रागभावकदुःखध्वंस संसार-कालीन दुःखध्वंस ही होगा। चरम दुःखध्वंस में उक्त दुःखध्वंसभिन्नत्व रहने के कारण अव्याप्ति न होगी। अतः 'स्वसमानाधिकरण' विशेषण सार्थक है।

इस प्रकार की व्याख्या से प्रकाशकार के 'आत्यन्तिकत्व' का परिष्कार में असामञ्जस्य दूर होता है। परन्तु 'आत्यन्तिकत्व' के इस प्रकार का लक्षण उन्होंने क्यों किया यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है। हमारे विचार से प्रकाशकार ने स्वसमानकालीन दुःखप्रागभावासमानदेशत्व, अथवा स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभावासमानकालीनत्व रूप दुःखध्वंस का आत्यन्तिकत्व स्वीकार किया था। परन्तु लिपिकरप्रमाद से उक्त दो लक्षण एक में मिल जाने के कारण समानकालीन-समानधिकरण-दुःखप्रागभावासमानदेशत्व रूप दुःखध्वंस के आत्यन्तिकत्व में पर्यवसित हुआ है। तथा रुचिदत्त आदि व्याख्याकारों ने इसी विकृत पंक्ति के सामञ्जस्य को बनाने के लिये प्रयास किया है।

यद्यपि प्रकाशकार ने थोड़े ही आगे चलकर "आद्यविशेषणद्वयनिवेशान्नेदानीन्तन-मुक्त्यतिव्याप्त्यसम्भवौ"[१] कहा है। जिससे मुक्ति के लक्षण में उन्होंने दोनों विशेषण प्रागभाव में देने की बात कही है। इससे हमारी पूर्वोक्त कल्पना निराधार प्रतीत होगी। परन्तु हमारा वक्तव्य यह है कि प्रकाशकार के अनुसार मुक्ति के दो लक्षणों के होने की सम्भावना हमने व्यक्त किया है। उन लक्षणों में प्रागभाव में पृथक् रूप से दो विशेषण एक ही प्रयोजन सिद्धि के लिये आवश्यक है। इसीलिए उन्होंने उन दोनों विशेषणों की सार्थकता बतलाते हुए "आद्यविशेषण" आदि कहा है। उनकी पंक्ति में मुक्ति के दो लक्षणों के विपरीत कुछ कहा गया है ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता है।

उदयनाचार्य ने आत्यन्तिक 'दुःखनिवृत्ति' को मुक्ति कहते हुए मुक्ति का उस स्वरूप, अर्थात् आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूपता के विषय में वादियों में कोई मतभेद नहीं है कहा

---

१. प्रकाश, पृ० ४४

है। परन्तु वेदान्तादि शास्त्रों में 'दुःखनिवृत्ति' रूप मुक्ति स्वीकृत नहीं है। सत्-चित् तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्मचैतन्य को ही मुक्ति का स्वरूप कहा गया है। यद्यपि "अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः" इस प्रामाणिक ग्रन्थ द्वारा ध्वंसात्मक "अविद्यास्तमय" अर्थात् निवृत्ति को मुक्ति का स्वरूप वेदान्त में भी स्वीकार किया गया है कहा जा सकता है। तथापि हम कहेंगे कि पूर्वपक्षी ने वेदान्तसिद्धान्त को ठीक हृदयङ्गम न करते हुए वेदान्तप्रतिपाद्यमुक्ति से वैशेषिकसम्मतमुक्ति का अभेद की कल्पना किया है। क्योंकि "अविद्यानिवृत्ति मुक्ति है" इस वाक्य से निवृत्ति का स्वरूप वर्णन के अवसर में ब्रह्मात्मा को ही अविद्यानिवृत्ति रूप कहा गया है। अविद्यानिवृत्तिकी अभावरूपता मानने से द्वैत की सम्भावना होती है। इसीलिए "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः" इस ग्रन्थ से भी ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मस्वरूप को ही निवृत्ति का तत्त्व कहा गया है। अतः वैशेषिकसम्मत अभावरूप मोक्ष कदापि वेदान्तमत में स्वीकृत नहीं है। फलतः वैशेषिक शास्त्रानुसार अभावात्मक मोक्ष सर्ववादिसिद्ध नहीं है।

इस आशङ्का को मनोगत रखते हुए उदयनाचार्य ने आगे कहा है कि "मुक्तव्यक्ति को दुःख पुनः प्राप्त होता है" यह कोई (वादी) भी स्वीकार नहीं करता है। शब्दतः मुक्ति स्वरूप में भेद रहने पर भी मुक्तावस्था में दुःख का न रहना सर्ववादिसिद्ध ही है। इसीलिए उन्होंने आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष को (अर्थतः) सर्ववादिसम्मत कहा है।

केवलमात्मापि दुःखहेतुत्वान्निवर्तयितव्यः शरीरादिवदिति ये वदन्ति तेषां यद्यसौ नास्ति किं निवर्तयितव्यम्। अत्यन्तासतो नित्य-निवृत्तत्वात्। अथास्ति तथापि किं निवर्तनीयं नित्यत्वेन तन्निवृत्तेर-शक्यत्वात्।

[केवल (शरीरवियुक्त) आत्मा भी दुःख के हेतु होने से शरीरादि के तुल्य ही निवर्त्तनीय (निवर्त्तनयोग्य) (है) यह जो (बौद्ध) कहते हैं उनके (मत में) यदि वह (शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा) नहीं है (तो) किसको निवृत्त करना होगा। क्योंकि जो अत्यन्त असत् है (वह तो) सर्वदा निवृत्त ही है। और (यदि वह) (शरीरादि से अतिरिक्त सत् वस्तुरूप आत्मा) है तब भी कौन निवर्त्तनीय होगा। क्योंकि (उस प्रकार आत्मा) नित्य होने से उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है।]

हम कह चुके हैं कि मुक्त पुरुष में अर्थतः आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति सर्ववादिसम्मत है। मुक्ति के लिए दुःखकारणों का नाश भी आवश्यक है। दुःखोत्पादक सामग्री रहते

हुए दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः मोक्ष के लिए दुःख-कारणों का ध्वंस आवश्यक है। शरीरादि के तुल्य ही आत्मा भी दुःख के कारणों में परिगणित है। इसीलिए बौद्धमत में मोक्ष में आत्मनाश स्वीकृत हुआ है।

बौद्धों की आत्मविनाश-कल्पना की अयौक्तिकता के प्रतिपादन के लिये आचार्य उदयन ने कहा है कि नैरात्म्यवादी होने से बौद्धों के मत में शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा शशशृङ्ग के तुल्य ही अलीकवस्तु है। इसीलिए उस प्रकार के आत्मा के विनाश का प्रश्न उठता ही नहीं। यदि वे (बौद्ध) नैरात्म्यवाद को त्यागकर शरीरादि से अतिरिक्त सत् आत्मा को स्वीकार करें तब भी नित्यत्व के कारण किसी उपाय से उस प्रकार आत्मा का उच्छेद होना सम्भव नहीं है। मोक्षवादी मुक्ति के लिए आत्मविनाश की आवश्यकता स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

अथ ज्ञानस्वभाव एवासौ निवर्तनीय इति मतम्। अनुमतमेतत्। दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति वक्ष्यमाणत्वात्। तस्मादतिरिक्ते आत्मनि प्रमाणं वक्तव्यमित्यवशिष्यते। तद्वक्ष्यामः।

[यदि आत्मा ज्ञानस्वभाव है इसलिए (मोक्ष में) उसकी निवृत्ति की आवश्यकता है यह कहा जाता है, तब वह (स्वभावभूत ज्ञान की निवृत्ति) (हमारा) स्वीकृत ही है। क्योंकि इन्धन के दग्ध होने से अग्नि जैसा शान्त होता है उसी प्रकार उपशम ही मोक्ष है यह आगे कहा जायेगा। अतः (शरीरादि से) अतिरिक्त आत्मा के विषय में (उस प्रकार आत्मा के अस्तित्वसिद्धि के निमित्त) प्रमाण का उपन्यास शेष रहा। वह (अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वभाव नहीं अपितु ज्ञानाश्रय है यह) आगे (आत्मनिरूपण प्रसङ्ग में) कहेंगे।]

बौद्धों के अनुसार पुद्गल (शरीर, इन्द्रिय तथा विज्ञान की समष्टि) रूप, भूत-भौतिक, तथा चित्त-चैत्तात्मक सङ्घ के अतिरिक्त चिरकाल स्थिर आत्मा स्वीकृत नहीं है। उक्त सङ्घात्मक पुद्गल के अन्तर्गत विज्ञानसन्तान को ही वे आत्मा कहते हैं। इसीलिए मोक्षकाल में उस विज्ञानसन्तानरूप आत्मा का उच्छेद स्वीकार किया जाता है। अन्यथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की सम्भावना नहीं रहेगी। इसीलिए उनके मत में मोक्ष के लिए आत्मा का उच्छेद की आवश्यकता है।

वैशेषिकों का वक्तव्य है कि मोक्षकाल में बौद्धगण जिस विज्ञान-सन्तान का उच्छेद स्वीकार करते हैं, यदि वही आत्मोच्छेद है तब वैशेषिक भी बौद्धों के साथ एकमत हो सकते हैं। क्योंकि वैशेषिक मत में भी मोक्षकाल में विज्ञान का नाश हो जाता है। अग्नि दाह्य-

वस्तु को नष्ट करने के पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि भी उसका दाह्यवस्तु मिथ्याज्ञान को समूल नष्ट कर स्वयं भी उच्छिन्न हो जाता है। अतः इस प्रकार आत्मोच्छेद की कल्पना करने वाले बौद्धोंसे वैशेषिक भी सहमत ही होंगे। वस्तुतः आत्मा विज्ञानसन्तान रूप नहीं है; वह विज्ञान का आश्रय तथा नित्य है। मुक्ति से उसका उच्छेद सम्भव नहीं है।

बौद्धों के मतानुसार विज्ञान से भिन्न तथा उसका आश्रय चिरस्थिर आत्मा प्रमाणसिद्ध नहीं है। पुद्गलान्तर्गत विज्ञान का धारा ही आत्मा है। विज्ञानधारा स्वसा-क्षिक होने से सर्ववादिसम्मत ही है। उसका विनाश भी मुक्तिकाल में अवश्य स्वीकार्य होगा। परन्तु वैशेषिकों के ग्रन्थों में विज्ञानातिरिक्त तथा विज्ञानाश्रय द्रव्यरूप आत्मा अनेकों प्रमाण द्वारा सिद्ध है। यह आत्मनिरूपणप्रकरण में विस्तार से कहा जायेगा।

सांख्यानामपि दुःखनिवृत्तिरपवर्ग इत्यत्र न विप्रतिपत्तिः। प्रकृत्या-श्रयं दुःखं, न पुरुषाश्रयमिति विवादः। तन्मतमग्रे निराकरिष्यामः।

[सांख्यमत में भी दुःखनिवृत्ति अपवर्ग है इस विषय में कोई विमति (मतभेद) नहीं है। दुःख प्रकृति में आश्रित है, पुरुष में आश्रित नहीं है इस विषय में (सांख्य मत से हमारा) विवाद है। वह मत आगे खण्डन करेंगे।]

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' इस सांख्यप्रवचनसूत्र (१।१) में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक यह त्रिविध दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। सांख्यप्रवचनभाष्य में विज्ञानभिक्षुने कहा है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की निःशेष निवृत्ति अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-साधारणरूप से निवृत्ति ही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति है।[१] यहाँ निवृत्ति शब्द ध्वंसार्थक है। अतीत दुःखों की निवृत्ति पहले ही हो चुकी है। वर्त्तमान दुःखों का स्वभाव से ही अपनी उत्पत्ति के तृतीयक्षण में नाश हो जायेगा। अतः सांख्यमत में अनागत दुःख ही हेय होने से उसकी निवृत्ति के लिए विवेकख्याति की आवश्यकता है। यह प्रश्न हो सकता है कि अनागत दुःख की निवृत्ति ध्वंसात्मक अथवा प्रागभावात्मक है। यदि वह प्रागभावात्मक हो तो प्रागभावा-त्मक निवृत्ति नित्य होने से हम विवेकख्याति को उसके कारणरूप से वर्णन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि नित्य का कोई कारण नहीं होता है। यदि अनागतदुःख निवृत्ति ध्वंसा-त्मक हो तब भी नैयायिकों की शङ्का होगी कि जो अनागत अर्थात् उत्पन्न हुआ ही नहीं

१. एषां त्रिविधदुःखानां यात्यन्तनिवृत्तिः स्थूलसूक्ष्मसाधारण्येन निःशेषतो निवृत्तिः। सांख्यप्रवचनभाष्य १।१

उसका विनाश सम्भव नहीं होता है। अतः दुःख निवृत्ति को प्रागभावात्मक अथवा ध्वंसात्मक कुछ भी कहा नहीं जा सकता है।[१] इस शङ्का के समाधान में सांख्याचार्यों का वक्तव्य यह है कि उत्पन्न वस्तु के स्वीय कारण में लीन होना ही उस वस्तु का ध्वंस है। तथा उपादान-कारण-गत शक्ति अर्थात् उपादान कारण में आश्रित सूक्ष्मभावापन्न कार्य ही उस वस्तु का प्रागभाव है।[२] सांख्यमत में सत्कार्यवाद स्वीकृत होने से नैयायिक मत के तुल्य प्रागभाव अथवा ध्वंस स्वीकृत नहीं है। प्रागभावदशा में भी वस्तु अपने उपादान कारण में सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान ही रहता है। इसीलिए उस स्थिति में भी वस्तु का नाश कल्पित हो सकता है। फलतः प्रागभावदशापन्न वस्तु का नाश के लिए वस्तु के उपादान कारण का ही नाश करना होगा। सांख्यसिद्धान्त में अनागत दुःख की निवृत्ति शब्द से सूक्ष्म रूप से अपने उपादान में विद्यमान दुःख के आश्रयभूत चित्त अर्थात् अन्तःकरण का लयरूप विनाश ही समझना होगा। विज्ञानभिक्षु ने अनागतदशा में स्थित वस्तु का विनाश भी स्वीकार किया है।[३] पूर्वोक्त चित्त का नाश दो प्रकार से हो सकता है। जीवन्मुक्तिदशा में चित्त रहने पर भी चित्ताश्रित दुःखबीज अर्थात् सूक्ष्मरूप से विद्यमान दुःख ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध हो जाता है। उस दशा में मूलीभूत चित्त विनष्ट न होने पर भी उसकी योग्यताएँ पङ्गु हो जाती हैं। इसलिए औपचारिक रूप से चित्त का विनाश होता है यह कहा जाता है। विदेहकैवल्य दशा में चित्त का स्वरूपतः विनाश होता है—अर्थात् वासना सहित चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है।[४]

सांख्यमत में अनागत दुःख के प्रागभाव को भी मुक्ति कही जा सकती है। प्रागभाव अनादि होने से उसका उत्पादक कारण नहीं होता है तथापि उसका क्षैमिक (क्षेम = रक्षा) कारण स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं है। विवेकख्याति ही दुःखप्रागभाव का परिपालन करते हुए उसे बीजावस्था में ही रख देता है।[५] प्रागभाव का परिपालक कारण को ही उसका क्षैमिक कारण कहा जाता है।

---

१. ननु कदाचिदप्यवर्त्तमानमनागतं दुःखमप्रामाणिकम् । अतः खपुष्पनिवृत्तिवत् तन्निवृत्तेर्न पुरुषार्थत्वं युक्तमिति । सां० प्र० भा० १।१

२. निवृत्तिश्च न नाशोऽपित्वतीतावस्था । ध्वंसप्रागभावयोरतीतानागतावस्थास्वरूपत्वात् सत्कार्यवादिभिरभावानङ्गीकारात् । सां० प्र० भा० १।१

३. अनागतावस्थस्याविवेकस्यास्मन्मते नाशसम्भवाच्च । सां० प्र० भा० १।५७

४. जीवन्मुक्तिदशायाञ्च प्रारब्धकर्मफलातिरिक्तानां दुःखानामनागतावस्थानां बीजाख्यानां दाहो, विदेहकैवल्ये तु चित्तेन सह विनाश इत्यवान्तरविशेषः । सां० प्र० भा० १।१

५. कारणविघटनमुखेन प्रागभावपरिपालनमिति न्यायवित्समयः । सां० सारविवेकप्रदीप, पृ० २६

सांख्यमत में पुरुष नित्य-शुद्ध-मुक्त-बुद्ध-स्वभाव है। शुद्ध-स्वभाव होने से उसमें दुःखादिरूप अशुद्धियों का रहना सम्भव नहीं है। इसलिए पूर्वोक्त दुःखनिवृत्ति को उस मत के अनुसार पुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता है ? दुःखादिरूप अशुद्धियों का सम्बन्ध बुद्धि में ही हो सकता है। अतः दुःखनाश बुद्धि के लिये अर्थ अर्थात् फल (प्रयोजन) हो सकता है। परन्तु बुद्धि स्वयं जड होने के कारण उसका कोई फल (प्रयोजन) रह नहीं सकता है। जड वस्तु का फल (प्रयोजन) किसी ने कल्पना नहीं किया है। फलतः दुःखनाश फल न होने से वह पुरुषार्थ कैसे होगा ?[१]

सांख्यमत में दुःख स्वरूपतः हेय नहीं कहा जाता है। दुःख का भोग ही हेय कहा जाता है। भोग हेय होने से भोग का विषयभूत दुःख को ही साधारणरूप से हेय कहा जाता है। हेय दुःख का भोग पुरुष का होने से भोगनाश पुरुषार्थ हो सकता है। भोगनाश के सहायक होने से दुःखनाश को भी औपचारिक रूप से पुरुषार्थ कहा जाता है। जिस दुःख का भोग नहीं हुआ वह दुःख किसी को अनभिप्रेत भी नहीं हो सकता है।[२]

सांख्यमत में कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व का सामानाधिकरण्य भी स्वीकृत नही है। प्रकृति अथवा उसके विकार बुद्धि आदि में कर्त्तृत्व, और चैतन्यस्वभाव पुरुष का भोक्तृत्व स्वीकृत है। प्रकृति नित्य तथा परिणामशालिनी है। उसी का परिणामविशेष ही बुद्धिरूप द्रव्य भी परिणामशाली है। घट पट आदि विषय के सान्निध्य होने से बुद्धि इन्द्रिय द्वारा तत्तत् विषय से युक्त होकर तत्तत् विषयाकार में आकारित होती है। बुद्धि का यह विषयसारूप्य अथवा विषयाकारपरिणाम ही ज्ञान है। दूरदृष्टवश बुद्धि का बाधना-लक्षण आकार अथवा परिणाम को ही दुःख कहा जाता है। बुद्धि के बाधना-लक्षण आकार अथवा बाधनाकार में आकारित बुद्धि पुरुष से सम्बन्ध न रखने पर भी स्वच्छ (निर्मल) पुरुष पर अपना प्रतिविम्ब समर्पण करती है। जपाकुसुम स्फटिकमणि से सम्बद्ध न होते हुए भी अपना लौहित्य स्फटिकमणि में जिस प्रकार संक्रामित करता है उसी प्रकार बाधना आकार में आकारित बुद्धि भी अपने प्रतिविम्ब का संक्रमण द्वारा पुरुष में बाधना आदि बुद्धि धर्मों को प्रतिविम्बित करती है। पुरुष में यह बाधनाप्रतिविम्ब ही पुरुष का दुःखभोग कहा जाता है। पुरुष परिणामी वस्तु न होने के कारण वह बुद्धि के विषयाकार में आकारित होने के तुल्य प्रतिविम्बित बाधनाकार में आकारित नहीं होता है। यदि वैसा होता तब

---

१. ननु तथापि दुःखभोगनिवृत्तिर्न पुरुषार्थः सम्भवति, दुःखस्य चित्तधर्मत्वेन पुरुषे तन्निवृत्त्य सम्भवात्। सां० प्र० भा० १।१

२. तदिदं दुःखभोगनिवृत्तेः पुरुषार्थत्वं योगभाष्ये व्यासदेवैरुक्तम्। तस्मिन् निवृत्ते पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्त इति। अतः श्रुतावपि दुःखनिवृत्तेः पुरुषार्थत्वं विषयता सम्बन्धेनैव बोध्यम्। सां० प्र० भा० १।१

दुःखभोग तात्त्विक होता। परन्तु वैसा न होने के कारण दुःखभोग पुरुष में औपचारिक मात्र ही है। पुरुष कूटस्थ होने के कारण स्वयं परिणाम रहित है यह कह चुके हैं। निर्मल पुरुष में बाधनादि का प्रतिबिम्बमात्र ही स्वीकृत है। पुरुष में प्रतिबिम्बात्मक भोग पुरुष के लिए तात्त्विक नहीं है। क्योंकि उससे पुरुष में विकार अथवा संस्कार नहीं होता है।[1] पूर्वोक्त दुःखभोग पुरुष के (अतात्त्विक) धर्म होने से भोगनाश भी पुरुषार्थ हो सकता है। भोगनाश के सहायक होने से आगामि-बाधना-युक्त चित्त के नाश को भी पुरुषार्थ कहा जा सकता है।[2]

सांख्यमत में प्रकृति तथा पुरुष में विद्यमान विवेक अर्थात् भेद के साक्षात्कार होने पर पुरुष मुक्त होता है। इस विवेकसाक्षात्कार होने से पुरुष मुक्त कैसे हो सकता है इसका विचार आवश्यक है। जो लोग जगत्प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं उनके विचार से तत्त्वसाक्षात्कार मिथ्याभूतप्रपञ्च का साक्षात्रूप से बाधक होने के कारण तत्त्वसाक्षात्कार के उदय होने से प्रपञ्चबाधरूप मोक्ष होना सम्भावित है। परन्तु सांख्यसिद्धान्तों में जडजगत् को मिथ्या नहीं माना गया है। अतः तत्त्वज्ञान के उदय होने पर भी प्रकृति से उत्पन्न जड़जगत् का अस्तित्व यथायथ बना ही रहेगा—और जड़जगत् वर्त्तमान रहने पर पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब अवश्य ही पड़ेगा। इस स्थिति में जगत् को पारमार्थिक मानते हुए सांख्यमत में आत्मानात्म-विवेक-साक्षात्कार होने से पुरुष मुक्त होता है यह कैसे कहा जा सकता है।

सांख्याचार्यों का वक्तव्य है कि जड़जगत् परमार्थसत् होने से विवेकख्याति द्वारा वह बाधित न होने पर भी विवेकख्याति के फलस्वरूप पुरुष की मुक्ति में बाधा नहीं है। विद्या अविद्या का नाशक है इसलिए विवेकख्यातिरूप विद्या के उदय से अविद्या बाधित होती है। अविद्या के तिरोधान से उसके कार्य रागद्वेषादि की पुनरुत्पत्ति न होगी। फलतः रागद्वेषादिजनित धर्माधर्म भी उत्पन्न न होंगे। पूर्वोत्पन्न सञ्चित कर्म भी रागद्वेष रूप

---

१. प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषेऽपि सुखदुःखे स्तः। अन्यथा तयोर्भोग्यत्वानुपपत्तेः। सुखादिग्रहणं भोगः। ग्रहणञ्च तदाकारता। साच कूटस्थचितौ बुद्धेरर्थाकारवत् परिणामो न सम्भवतीत्यगत्या प्रतिबिम्ब-स्वरूपतायामेव पर्यवस्यति। अयमेव बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बो वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति योगसूत्रेणोक्तः। सत्त्वेऽनुतप्यमाने तदाकारानुरोधात् पुरुषोऽप्यनुतप्यत इव दृश्यत इति। योगभाष्ये च तदाकारानुरोधशब्देन विशिष्यैव तापादिदुःखस्य प्रतिबिम्ब उक्तः। अतएव च पुरुषस्य बुद्धिवृत्त्युपरागे स्फाटिकं दृष्टान्तं सूत्रकारो वक्ष्यति। सां० प्र० भा० १।१

२. तस्मात् प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषे दुःखसम्बन्धो भोगाख्योऽस्ति। अतस्तेनैव रूपेण तन्निवृत्तेः पुरुषार्थत्वं युक्तम्। सां० प्र० भा० १।१

सहकारियों के अभाव में दग्ध हो जाएँगे। तब भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने पर पुनर्जन्म की सम्भावना न रहेगी। इस प्रकार से तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा क्रमशः पुरुष की मुक्ति असम्भव नहीं है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के परिणामभूत बुद्धि सुख-दुःख कर्त्तृत्व आदि धर्मों का आधार है। कर्त्तृत्व आदि के रूप में परिणामस्वभाव-बुद्धि का प्रतिविम्ब पुरुष में पड़ने पर ही पुरुष अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि मान लेता है। पुरुष का यह मान लेना आभिमानिक होता है। यह कर्त्तृत्व भोक्तृत्व आदि के विषय में अभिमान अविद्या है। तत्त्वज्ञान से इस अविद्या की निवृत्ति होती है। रागद्वेषादि भी इसी अभिमान का ही कार्य है। इस अभिमान के हेतु पुरुष किसी वस्तु को अपना अनुकूल तथा किसी वस्तु को अपना प्रतिकूल समझता है। राग द्वेष से ही धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति होती है। सञ्चितकर्म भी रागद्वेषादि सहकारियों की उपस्थिति में पुनर्जन्म का कारण होता है। सहकारियों से रहित सञ्चितकर्मों को ही दग्ध कहा जाता है। इस प्रकार से शेष प्रारब्धकर्मों का भोग द्वारा क्षय होने पर पुरुष अपने स्वभाव के कारण ही मुक्त हो जाता है।

सांख्यमत में प्रकृति को स्वभाव से ही परिणामशील स्वीकार किया गया है। वह पुरुष के साथ संयुक्त होने पर (विसदृशपरिणामरूप) जड़जगत् की सृष्टि करती रहती है। (पुरुषसंयोगरहित प्रकृति परिणामस्वभाव होने से सदृश रूप में ही परिणत होती रहती है)। पङ्गु तथा अन्ध का संयोग से अन्ध में अभीष्टदेशप्राप्तिजनक गमनरूप अभीष्ट सिद्धि के तुल्य प्रकृति का पुरुष से संयोग ही सृष्टिरूप अभीष्टकार्य में हेतु कहा जाता है। किसी-किसी के मत से प्रकृति में भोग्यत्व-योग्यता तथा पुरुष में भोक्तृत्व योग्यता ही प्रकृतिपुरुष-संयोग के नाम से सांख्यशास्त्र में कहा गया है। पुरुष की चित्स्वभावता (चैतन्य) ही उसकी भोक्तृत्व-योग्यता, तथा प्रकृति की जड़स्वभावता (जड़ता) ही उसकी भोग्यत्व-योग्यता है। इन दो योग्यतारूप संयोग रहने के कारण ही पुरुष तथा प्रकृति अपने कार्य करते हैं।[१] परन्तु विज्ञानभिक्षु संयोग का यह स्वरूप स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने प्रकृति तथा पुरुष का यथायथ संयोग ही स्वीकार किया है।[२]

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि विवेकख्याति के अनन्तर पुरुष अथवा प्रकृति के स्वभाव में किसी प्रकार परिवर्तन स्वीकृत न होने से सांख्यमत में विवेकख्याति के अनन्तर भी पुरुष चित्स्वभाव तथा प्रकृति जड़स्वभाव ही रह जाती है। इस स्थिति में

---

१. अपरस्तु भोग्यभोक्तृयोग्यतैवानयोः संयोग इत्याह। तदपि न। सां० प्र० भा० १।१९
२. सच संयोग एवान्यस्याप्रामाणिकत्वात्। सां० प्र० भा० १।१९

प्रकृति की कर्तृता तथा पुरुष की भोक्तृता अव्याहत रूप से रह जाने से विवेकख्याति होने पर भी पुरुष मुक्त कैसे होगा ?

इसके समाधान में कहा जाता है कि कर्तृत्व रहने पर भी अचेतन (जड़) प्रकृति का निजी प्रयोजन कुछ न होने से वह पुरुष के प्रयोजनों की सिद्धि के लिये अपने स्वभाव के सामर्थ्य पर नानाप्रकार भोग्यरूप में परिणत होती रहती है। जड़ प्रकृति से निष्प्रयोजन सृष्टि की कल्पना स्वाभाविक नहीं है। विवेकख्याति द्वारा पुरुष के सब प्रयोजन सिद्ध हो जाने के पश्चात् अन्य प्रयोजन न रहने से प्रकृति पुनः उस पुरुष के लिये सृष्टि नहीं करती है। वह पुरुष भी प्रकृति के परिणामों के सुख दुःख आदि प्रतिबिम्बों को ग्रहण न करने से बद्ध नहीं होता है। तत्तत् (विशेष) पुरुष का पुरुषार्थ काल में प्रकृति की जड़ता ही प्रकृति का तत्पुरुष-संयोग, तथा अपने प्रयोजन के समान काल के चैतन्य ही तत्पुरुषगत-प्रकृति-संयोग है। यह प्रकृति-पुरुष-संयोग सृष्टि के लिये अपेक्षित है। विवेकख्याति होने पर वह संयोग न रहने के कारण मुक्तपुरुष के लिये पुनः कोई सृष्टि नहीं होती है। फलतः विवेकख्याति के अनन्तर पुरुष की मुक्ति में बाधा नहीं रहती है।

ये त्वनुपप्लवां चित्तसन्ततिमनन्तामपवर्गमाहुस्तेऽप्युपप्लवस्य दुःखमयत्वात् तन्निवृत्तिमेवेच्छन्ति।

[जो लोग अनुपप्लुत (अनास्रव अथवा क्लेशादिवियुक्त) अनन्तचित्त-धारा (प्रवाह) को अपवर्ग कहते हैं वह लोग भी उपप्लवों की दुःखमयता के कारण उन (उपप्लवरूप दुःखों) की निवृत्ति ही चाहते हैं।]

बौद्धमत में अनुशयों को संसार अथवा बन्ध का मूल (कारण) कहा गया है। अनुशय मुख्यतया छः भागों में विभक्त है। राग, प्रतिघ (द्वेषादि) मान (अभिमानादि) अविद्या, दृष्टि तथा विमति (संशय) यह षड्विध अनुशयों के कारण पुद्गल संसार-बन्धन में बद्ध होता है। इन अनुशयों का मूल अविद्या है। इसीलिए उसका पृथक् उल्लेख किया जाता है। सत्कायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, अन्तग्राहदृष्टि, दृष्टिपरामर्श तथा शीलव्रत-परामर्श यह पाँच दृष्टियां हैं। सास्रव-क्षणिक वस्तुओं को सत्काय कहा जाता है। सत्कायों के प्रति आत्मत्वदृष्टि अथवा आत्मीयत्वदृष्टि को सत्कायदृष्टि कहते हैं। मनुष्य शरीर अथवा विज्ञान को आत्मा, तथा स्त्रीपुत्रादि को आत्मीय समझता है। इसी आत्मता अथवा आत्मीयता दृष्टि को सत्कायदृष्टि कहते हैं। पाप अथवा पुण्य का कोई फल नहीं—पाप से कोई हानि, अथवा पुण्य से कोई लाभ नहीं होता है यह समझना (अर्थात् सुकृति या दुष्कृतियों के फलों को अस्वीकार करना) मिथ्यादृष्टि कहलाती है। समस्त वस्तुओं को ध्रुव (स्थिर) समझने को अन्तग्राहदृष्टि कही जाती है। हीनोच्चदृष्टि अर्थात् किसी वस्तु को हेय तथा किसी वस्तु को उपादेय समझना, अथवा किसी को उत्तम तथा किसी को

अधम मानने को दृष्टिपरामर्श कहा जाता है। अहेतु को हेतु तथा अमार्ग को मार्ग समझने को शीलव्रतपरामर्श नाम दिया गया है। वस्तुतः ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नहीं तथापि लोग ईश्वर को जगत्कारण मानते हैं; यागादि का अनुष्ठान बन्धनिवृत्ति का कारण नहीं तथापि अनेक व्यक्ति उन्हें बन्धनिवर्तक मानते हैं; इसी प्रकार से प्रायः सभी लोग अहेतु को हेतु तथा अमार्ग को मार्ग समझते हैं।

अनुशयों के मूल को ही बौद्धशास्त्र में अविद्या कहा गया है। अविद्या ही एकमात्र अनुशय है। अविद्या को समझने के लिये ही उसके फलों का अर्थात् राग प्रतिघ आदि पाँच अनुशयों का उल्लेख किया गया है। इन अनुशयों के साथ अनादि काल से युक्त होने के कारण चित्त 'उपप्लुत' अर्थात् 'क्लिष्ट' होता है। चित्त की क्लिष्टावस्था का ही नाम संसार अथवा बन्धन है। किसी उपाय से इन अनुशयों का निरोध अथवा परिहार करने से चित्त-धातु 'निरुपप्लव' हो जाता है। उपप्लवरहित चित्तप्रवाह, जो पुनः उच्छिन्न न हो, का नाम मोक्ष है।

इन अनुशयों के परिहार के लिए मुख्यतया सत्कायदृष्टि आदि पञ्चविध दृष्टियों के प्रति प्रतिपक्षभावना करनी पड़ती है। दुःख, समुदय, निरोध तथा मार्ग इन चार आर्यसत्यों को अवलम्बन करके प्रतिपक्षभावना की जाती है। पञ्चविध उपादानस्कन्ध को दुःखसत्य; सास्रवधर्मों के हेतुओं को समुदयसत्य; प्रतिसंख्यानिरोध को निरोधसत्य; और शैक्ष तथा अशैक्ष धर्मों अथवा अष्टाङ्गमार्ग को मार्गसत्य कहा जाता है। दुःखसत्य के विषय में निम्नोक्त चार प्रकार से प्रतिपक्ष भावना हो सकती है—पञ्चविध उपादानस्कन्धरूप दुःखसत्य को (१) दुःख रूप, (२) अनित्य रूप, (३) शून्य रूप तथा (४) अनात्मरूप समझना। दुःखसत्य के उत्पादक समुदयसत्य में भी चार प्रकार से प्रतिपक्षभावना हो सकती है। समुदयसत्य को (१) समुदय, (२) प्रभव, (३) हेतु तथा (४) प्रत्यय रूप समझना। प्रतिसंख्यारूप निरोधसत्य में प्रतिपक्षभावना प्रतिसंख्यानिरोधसत्य को (१) निरोध, (२) शान्त, (३) प्रणीत तथा (४) निःसरणरूप समझने से हो सकती है। मार्गसत्य की प्रतिपक्षभावना में मार्गसत्य को (१) मार्ग, (२) न्याय, (३) प्रतिपत्ति तथा (४, नैर्याणिक समझना आवश्यक होता है।

उपर्युक्त षोलह प्रकार प्रतिपक्षभावना प्रकर्ष की चरम सीमा में उपस्थित होने पर उन्हें सत्याभिसमय कहा जाता है। सत्याभिसमय दर्शन तथा भावना यह दो प्रकार का होता हैं। दुःखदृष्टि से प्रतिपत्तिदृष्टि तक पन्द्रह (अर्थात् पञ्चदशक्षण) को दर्शनमार्ग तथा नैर्याणिकदृष्टि को भावनामार्ग कहा जाता है। इस षोडशक्षण अर्थात् नैर्याणिकदृष्टि में प्रविष्ट योगी भावनामार्ग प्रविष्ट है कहा जाता है। दर्शनमार्ग द्वारा प्रतिसंख्यानिरोध होने पर कुछ क्लेशों का निरोध हो जाता है। भावनामार्ग द्वारा प्रतिसंख्यानिरोध प्राप्त होने पर शेष क्लेशों का भी निरोध होता है। इसी क्रम से योगी का चित्त उपप्लव

रहित होता है। उस समय जिस प्रकार (उपप्लव रहित) चित्तप्रवाह चलता रहता है उसे ही मुक्ति कही जाती है। उस प्रवाह का पुनः उच्छेद न होने के कारण इसे 'ध्रुव' भी कहते हैं। संक्षेप में वैभाषिक अथवा योगाचार मत में मुक्ति का स्वरूप कहा गया। परन्तु सौत्रान्तिक अथवा शून्यवाद में चित्तप्रवाह की विरति ही मुक्ति है।

उपर्युक्त कथनानुसार यद्यपि वैभाषिक अथवा किसी-किसी विज्ञानवादी के अनुसार दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति मोक्ष का स्वरूप नहीं है तथापि उन मतों में भी मोक्ष काल में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति स्वीकृत है। अतः उन सब (बौद्ध) मतों में मुक्तपुरुष की दुःखनिवृत्ति होती है इस विषय में वैमत्य नहीं है।

न च चित्तसन्ततेरनन्तत्वं प्रामाणिकं, निमित्तस्य शरीरादेरपाये नैमित्तिकस्य चित्तस्योत्पादयितुमशक्यत्वात्।

[(उक्त मत प्रमाणसिद्ध नहीं, क्योंकि) चित्तधारा की अनन्तता (अविच्छेद) अप्रामाणिक (है)। क्योंकि (चित्त के) जनक शरीरादि के ध्वंस होने पर नैमित्तिक (शरीरादिनिमित्त से उत्पन्न) चित्त की उत्पत्ति सम्भव नहीं होता है।]

आचार्य उदयन ने जिस रीति से चित्तसन्तति का अनन्त अविच्छेद का खण्डन किया हैं उसके विषय में हमारा वक्तव्य नीचे दिया जा रहा है। बौद्धों में जो लोग मोक्षदशा में भी चित्-धातु का अनुवर्त्तन स्वीकार करते हैं वे चित्-धातु के द्विविध परिणाम भी स्वीकार करते हैं। जिसमें एक विषयप्रकाशात्मक परिणाम है। जिसे चित्-धातु का विसदृश परिणाम कहा जाता है। यह परिणाम संसार दशा में होता है। अतः यह सास्रव है। दूसरा केवल स्वप्रकाशात्मक परिणाम है। जिसे हम चित्-धातु का सदृशपरिणाम कह सकते हैं। यह परिणाम विषयप्रकाशात्मक नहीं है। वह शरीरादि निरपेक्ष रूप से हुआ करता है। इस परिणाम की तुलना सांख्यमत के प्रकृति का सदृशपरिणाम से किया जा सकता है। सदृशपरिणाम के काल में प्रकृति के क्षयनिरोध होने के तुल्य ही इस स्वप्रकाशात्मक परिणाम काल में चित्-धातु के भी क्षय का निरोध होता है। यह क्षयनिरोध चित्-धातु के स्वभाववश होता है। पुद्गलीय भोगादृष्ट से इसका किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। इसी सदृश-परिणाम को दृष्टिगत रखकर अभिधर्मकोशादि में चित्-धातु को 'ध्रुव' कहा गया है। आस्रवक्षय के पश्चात् शरीरनिरपेक्ष-रूप से यह सदृशपरिणाम अनन्तकाल तक चलता रहता है। इसी सदृशपरिणामशील चित्-धातु को ही उस सम्प्रदाय में मुक्ति या निर्वाण माना गया है। परन्तु सौत्रान्तिकों के मत में मुक्ति या निर्वाण में चित्-सन्तति का ऐकान्तिक उच्छेद ही होता है।

यद्यपि उपलब्ध बौद्धग्रन्थों में उपर्युक्त वर्णन के अनुसार कोई पंक्ति प्राप्त नहीं है तथापि गुरुमुख से प्राप्त उपदेश तथा बौद्ध दर्शन का अभिप्राय जैसा प्रतीत हुआ वही यहां कहा गया है।

उपप्लवावस्थायां तन्निमित्तमिति चेन्न, अनुपप्लवस्यापि तत्साध्यत्वात्। नहि शरीरनिरपेक्षा तत्सिद्धिः सम्भवति, योगाभ्याससाध्यत्वात् तस्य। अन्यथान्योन्याश्रयप्रसङ्गात्, शरीरादिनिवृत्तावनुपप्लवश्चित्तस्य, अनुपप्लवे च तस्मिञ् शरीरादिनिवृत्तिरिति। अथ शरीरादिकमपि चित्तविलसितमात्रं, नतु वास्तवमित्यभिप्रायस्तत्र वक्ष्यते।

[(इस प्रकार कहना भी सङ्गत नहीं होगा कि) उपप्लव दशा में (संसार काल में) ही शरीरादि उसके निमित्त है। क्यों कि (चित्त के) अनुपप्लव भी शरीरादि जन्य होता है। शरीर की अपेक्षा के बिना उस (चित्त के अनुपप्लव) की सिद्धि सम्भव नहीं होता है, क्यों कि चित्त का अनुपप्लव योगाभ्यास सापेक्ष है। (तथा उक्त मत में) अन्योन्याश्रयदोष की भी आपत्ति होगी। (क्यों कि) शरीरादिनिवृत्ति होने पर चित्त का अनुपप्लव होता है और चित्त के अनुपप्लुत होने से शरीरादि की निवृत्ति होती है। और यदि कहा जाय कि शरीरादि भी चित्त का विलास (चित्त के आकारविशेष) मात्र ही है, वह वास्तव (बाह्य पदार्थ) नहीं, इस विषय में आगे उत्तर दिया जायेगा।]

वेदान्तिनामप्यविद्यायां निवृत्तायां केवलमात्मैवापवर्गे वर्त्तत इति मते न नो विवादः। न पुत्रः पुत्राय प्रियो भवति आत्मने वै पुत्रः प्रियो भवतीत्यादि श्रौतोपपत्तिवलात् सर्वस्यात्मौपाधिकं प्रियत्वं स्वभावतश्चात्मैव प्रिय इति पुनरवशिष्यते, तत्र वक्ष्यते।

[अविद्या की निवृत्ति होने पर मुक्तिदशा में केवल आत्मा ही (शेष) रहता है—वेदान्तिमत के (इस अंश में) हमारा (कोई) विरोध नहीं है। (परन्तु) 'पुत्र पुत्र के लिए प्रिय नहीं होता आत्मा के लिये प्रिय होता है' आदि श्रौतयुक्ति के बल पर (अन्य) समस्त वस्तुओं के प्रियत्व आत्मरूप उपाधि पर आश्रित है तथा स्वभाववश आत्मा ही प्रिय है (इत्यादि जो कहे जाते हैं) उस विषय में हमारा वक्तव्य शेष रहा। (वह) उस स्थान (आत्मनिरूपण प्रस्ताव) में कहा जायेगा।]

ब्रह्माद्वैतवाद में सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म का ही पारमार्थिकत्व स्वीकृत है। ब्रह्म स्वरूपतः सत्, चित् तथा आनन्दात्मक है। वह स्वगतभेद, सजातीयभेद तथा विजातीयभेद यह त्रिविध भेद रहित अर्थतः अद्वितीय है। शाखा, पल्लव आदि से वृक्ष का भेद हि स्वगतभेद है। ब्रह्म में अंशांशिभाव न रहने से उक्त प्रकार भेद ब्रह्म में नहीं। एक वृक्ष से अन्य वृक्ष का भेद ही सजातीयभेद है। अद्वैतमत में एक से अधिक ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकृत नहीं फलतः सजातीयभेद भी नहीं है। पार्थिव वस्तु से जलीय वस्तु का भेद को विजातीयभेद कहा गया है। ब्रह्मातिरिक्त जड़ वस्तु का पारमार्थिकत्व अद्वैतमत में स्वीकृत न होने से विजातीयभेद भी उसमें नहीं है। उल्लिखित त्रिविध भेद रहित होने के कारण ब्रह्म में अंशांशिभाव एकाधिक ब्रह्म का अस्तित्व, अथवा चित् तथा अचित् द्विविध वस्तु स्वीकृत होने से जो द्वैतस्थिति की सम्भावना होती है अद्वैतवेदान्तमत में उस द्वैत कि पारमार्थिकता की सम्भावना नहीं है। सत् तथा चिदात्मक ब्रह्म ही अद्वितीय परमार्थसत् वस्तु रूप है यह सिद्धान्त किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मवस्तु परमार्थतः सर्वथा असङ्ग ही होगा।

यह भी स्मरण रखना है कि ब्रह्म ही परमार्थसत् है तथापि भोक्ता जीव तथा भोग्य जगत् को अद्वैतवेदान्तमत में शशशृङ्गतुल्य अलीक अथवा असत् नहीं कहा जाता है। यह जीव तथा जगत् उस मत में मिथ्या अथवा व्यावहारिकसत् रूप से स्वीकृत है। हम निरन्तर जीव तथा जगत् के विषय में नानाप्रकार व्यवहार करते हैं। उस व्यवहार को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसीलिए जीव तथा जगत् की व्यावहारिक सत्ता अद्वैतमत मे स्वीकृत हुआ है। परमार्थ-सत् अखण्ड सच्चिदानन्दैकरस असङ्ग ब्रह्म का वास्तव बन्ध या मुक्ति की सम्भावना भी नहीं हो सकती है। परन्तु व्यावहारिक सत् जीव का व्यावहारिक बन्धन अथवा मुक्ति का वर्णन किया जा सकता है।

व्यवहारमात्र ही अज्ञानमूलक है। इसीलिए व्यावहारिक सत् जीव तथा जगत् की व्याख्या करते समय अद्वैतमत में ब्रह्म के विषय में अज्ञान की सहायता ली जाती है। उक्त अज्ञान के अस्तित्व के विषय में हम सब लोग ही साक्षी (प्रमाण) हैं। परमार्थसत् ब्रह्म के विषय में हमारा किसी प्रकार अपरोक्ष अनुभव नहीं है। अतः हम उस अज्ञान को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। यह अज्ञान ज्ञानाभाव रूप नहीं है। परन्तु ज्ञान विरोधी भावपदार्थ है। सर्व प्रकार के व्यवहार तथा व्यावहारिक वस्तुओं का मूल कारण अज्ञान ही है। जीव स्वरूपतः ब्रह्मस्वरूप होने पर भी अज्ञान के कारण अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि मान लेता है। जीव-ब्रह्म सम्बन्धी अभेद विषयक ज्ञानविरोधी अज्ञान से आवृत होकर कल्पित जीवभाव में ब्रह्म बद्ध जैसा होता है। तथा नानाप्रकार सुखदुःख का भोक्ता होता है। अद्वैतमत में साक्षिसिद्ध व्यावहारिक अज्ञान ही ब्रह्म का जीवभाव अथवा बन्धन है। ज्ञानद्वारा उस अज्ञान के नाश होने से

ब्रह्म का जीवभाव या बन्धन नहीं रहता है ।[1] ध्वंसाभावरूप नाश को न्यायादि मत में भावातिरिक्त स्वीकार किया गया है। परन्तु अद्वैतमत में ऐसा नहीं है। जीव-ब्रह्म के अभेद विषयक तत्त्वसाक्षात्कारोपलक्षित ब्रह्म ही अविद्या का नाश अथवा मुक्ति का स्वरूप है ।[2]

अद्वैतमत में मुक्ति का जो स्वरूपवर्णन किया गया है तदनुसार मुक्तिकाल में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है इसमें वैमत्य (मतभेद) नहीं। परन्तु आचार्य उदयन न्याय-वैशेषिकमतावलम्बी हैं। उक्त मत में जीव तथा जगत् के पारमार्थिकत्व स्वीकृत है। इससे आचार्यने अद्वैतसिद्धान्त का ग्रहण नहीं किया है। न्यायवैशेषिकमतानुसार आत्मतत्त्ववर्णन के प्रसङ्ग में जीव तथा ब्रह्म का अभेदवाद का खण्डन किया गया है। उस विषय को हम आत्मतत्त्वनिरूपण में कहेंगे।

तौताततितास्त्वकार्यमपीश्वरज्ञानं शरीरमन्तरेणानिच्छन्तः कार्यमेव सुखज्ञानमपवर्गेऽस्तीति वदन्तस्त्रपा विरोधो भयमिति त्रयमपि त्यक्तवन्तश्च।

तौताततितमतवादी (ईश्वर के) शरीर न रहने के कारण ईश्वरीय नित्यज्ञान को भी अस्वीकार किये हैं परन्तु वे कहते हैं कि मुक्ति में कार्य (अनित्य) सुखभोग होता है—अतः उन लोगों ने लज्जा, विरोध तथा भय इन तीनों को भी त्याग दिया है।

किरणावलीकार के अनुसार तौताततितमत में मुक्तदशा में पुरुष स्वगत नित्यसुख का अनुभव करता है। इस मत में प्रत्येक आत्मा में एकप्रकार का विलक्षण सुख है जो संसार दशा में अभिव्यक्तसुख जैसा उत्पत्तिविनाशशील नहीं परन्तु नित्य या शाश्वत है। संसार-दशा मे जीव उस सुख का अनुभव नहीं कर पाता है। शरीरादिप्रपञ्च के साथ आत्मा का विलक्षण सम्बन्ध, जिसे संसार या बन्ध कहा जाता है वह, जीव का शाश्वत (नित्य) सुख के अनुभव में अन्तराय (बाधा) उत्पन्न करता है। तत्त्वज्ञान तथा नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा शरीरादि के साथ आत्मा का उस विलक्षण सम्बन्ध का आत्यन्तिक उच्छेद होने पर पुरुष अपना नित्यसुख का अनुभव करता है। उस नित्यसुख के अनुभव का पुनः विराम नहीं होता है।

उपर्युक्त तौताततितमत के खण्डन के अवसर में आचार्य उदयन ने किसी युक्ति का प्रदर्शन न करते हुए केवल सिद्धान्तविरोध मात्र का उल्लेख कर उस मत में अपनी अनास्था

---

१. अविद्यास्तमयो मोक्षः। सा च बन्ध उदाहृतः। लघुचन्द्रिका, पृ० २

२. निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः। लघु चन्द्रिका पृ० २

(अश्रद्धा) प्रकट किया है। उनका कहना है कि तौतातितलोग शरीररहित ईश्वर का नित्यज्ञान को स्वीकार नहीं करते। परन्तु कार्य (अनित्य) होने पर भी सुखज्ञान को अपवर्ग (शरीरसम्बन्ध के न रहने) के काल में स्वीकार करते हुए लज्जा, (स्व) विरोध तथा भय तीनों को त्याग दिया है। ईश्वरस्वीकार करने वाले ईश्वरको शरीर रहित तथा सर्वज्ञ मानते हैं। तौतातितलोग शरीररहित में ज्ञान स्वीकार नहीं करते हैं। इसीलिए उस मत में शरीररहित सर्वज्ञ ईश्वर प्रमाणसिद्ध नहीं होता है। शरीर के अभाव के कारण ईश्वर का सर्वविषयक नित्यज्ञान को अप्रामाणिक कहने वाले ही अपवर्ग (शरीर सम्बन्ध का अत्यन्त उच्छेद) काल में (शरीर न रहते हुए जीव का) नित्यसुख के अनित्यज्ञान को (उत्पत्ति तथा) स्थिति मानने में लज्जित नहीं होते हैं। ऐसा मानने में उक्त प्रकार से लज्जा, स्वविरोध, तथा सर्वज्ञ शरीररहित ईश्वर की सिद्धि का भय तीनों को त्याग दिया है। यहाँ एकत्र नित्यज्ञान के लिये भी शरीर की आवश्यकता अन्यत्र शरीरध्वंस के पश्चात् अनित्यज्ञान का स्वीकार में स्वविरोध है। तथा मोक्षदशा में शरीररहित जीव के अनित्यज्ञान स्वीकृत होने पर शरीररहित नित्यज्ञानसम्पन्न ईश्वर की सिद्धि का भय अत्यन्त स्पष्ट है।

इस तौतातितमत को प्रकाशकार ने भाट्टमत कहा है।[१] तत्त्व०चिन्ता०दीधिति के मङ्गलाचरण श्लोक में 'अखण्डानन्दबोधाय' विशेषण पद के भावार्थ का विश्लेषण करते हुए गदाधर भट्टाचार्य ने कहा है कि रघुनाथ शिरोमणि इस विशेषण द्वारा 'नित्यसुखाभिव्यक्ति ही मुक्ति है' यह भाट्टमत को ही परिष्कृत किये हैं।[२] माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में इस मत को भाट्टमत कहा है।[३] नारायण भट्ट के मानमेयोदय में कुमारिलमत की मुक्ति का विवरण देते हुए उस मत में नित्यसुख की मानस अभिव्यक्ति को स्वीकार किया गया है[४]। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्रायः सभी लोग भाट्टमत में मुक्तिदशा में नित्यसुख की मानस अभिव्यक्ति स्वीकृत है मानते थे। परन्तु हम इस मत को कोई

---

१. दुःखसाधनशरीरनाशे नित्यसुखाभिव्यक्तिरिति भाट्टमतं निराकरोति। प्रकाश, पृ० ४९

२. अथवा ग्रन्थकृता नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति भट्टमतस्य परिष्कृतत्वात्। गादाधरी, पृ० ४

३. नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति भट्टसर्वज्ञाद्यभिमतेऽपि……। अक्षपाददर्शन, सर्वदर्शनसंग्रह।

४. दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥
ननु यदि संसारावस्थायामप्यात्मसमवेत एवायमानन्दस्तर्हि कथं नानुभूयते। अनुभवहेतोरभावादिति ब्रूमः। देहेन्द्रियादीनामात्यन्तिकपरिध्वंसानुगृहीतं मनस्तदनुभवसाधनम्। किं तर्हि तादृशानन्दसद्भावे प्रमाणम्? आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते इति श्रुतिरेव। मानमेयोदय, द्रव्यप्रकरण।

प्राचीन नैयायिकसम्प्रदाय का मत समझते हैं। क्योंकि "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्या. सू. १।१।२२) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुक्तिकाल में नित्यसुख की अभिव्यक्ति का उल्लेख कर उसे अस्वीकार किये हैं। वात्स्यायन से पूर्वकाल में प्रसिद्ध मत को हम भाट्टमत कह नहीं सकते हैं। न्यायसार रचयिता भासर्वज्ञ तथा न्याय-भूषण अथवा भूषणटीकाकार उस प्राचीन मत का समर्थन भी किये हैं[1]। सर्वमत-संग्रह[2], संक्षेपशङ्करजय[3] तथा सर्वसिद्धान्तसंग्रह[4] में भी इस मत को न्यायमत ही कहा गया है। इन कारणों से हम भी इस मत को किसी नैयायिकसम्प्रदाय का मत ही निश्चित कर सकते हैं। भ्रमवश किरणावलीकार ने इसे तौतातितमत लिखा है। तौतातितमत भाट्टमत को ही कहा जाता है। भाट्टमत से पृथक् तौतातितमत के विषय में कोई प्रमाण आज तक उपलब्ध नहीं है। दृढ़तर प्रमाण न मिलने तक हम तौतातितमत शब्द से भाट्टमत को ही समझेंगे। स्वर्गत म. म. प. फणिभूषण तर्कवागीश महोदय न्यायदर्शन ग्रन्थ में इस विषय का विशेष रूप से विवेचन कर चुके हैं। पुनरुक्ति न हो इसलिये उस विवेचन का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया। जिज्ञासु पाठक उस ग्रन्थ के अध्ययन से उपकृत होंगे।

हमारे विचार से कुमारिल भट्ट 'प्रपञ्चसम्बन्धविलय' को ही मुक्ति कहे हैं[5]।

---

१. अनेन सुखविशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्षः। न्यायसार, आगमपरिच्छेद; पृ० ४१। अथ स्वाभिमतसिद्धिं दर्शयति—तद्सिद्धमेतन्नित्यसंवेद्यमानेन सुखेन विशिष्टात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष इति। न्यायतात्पर्यदीपिका पृ० २६३। अतएव हि भूषणमते नित्यसुखसंवेदनसिद्धिरपवर्गे। न्यायपरिशुद्धिः १म खण्ड, पृ० १७।

२. मोक्षस्तु न दुःखनिवृत्तिमात्रमपितु नित्यसुखस्याविर्भावोऽपि। सर्वमतसंग्रह, पृ० २७.

३. मुक्तिस्तदीये चरणाक्षपक्षे सानन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः। संक्षेपशङ्करजय, अध्याय १६-६६

४. नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते। सर्वसिद्धान्तसंग्रह, प्रकरण ६,४१

५. सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः॥
नहि कारणवत् किञ्चिदक्षयित्वेन गम्यते।
तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते॥
नह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्।
न च क्रियायाः कस्याश्चिदभावः फलमिष्यते॥

श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहारः, १०५-७

शरीरसम्बन्धो बन्धस्तदभावो मोक्षस्तेन निष्पन्नानां देहानां यः प्रध्वंसाभावो यश्चानुत्पन्नानां प्रागभावः स मोक्षः, कर्मनिमित्तश्च बन्धः कर्मक्षयादेव न भवतीति। न्यायरत्नाकर, पृ० ६७०

मुक्तिदशा में नित्यसुख अभिव्यक्त होता है यह उन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। भाट्टमत के व्याख्याता शास्त्रदीपिकाकार भी 'प्रपञ्चसम्बन्धविलय' को ही मुक्तिस्वरूप स्वीकार करते हैं[1]।

एतेन पारतन्त्र्यं बन्धः स्वातन्त्र्यश्च मुक्तिरित्यपास्तम्। नहि पारतन्त्र्यं स्वरूपतो हेयमपि तु दुःखहेतुतया।

[इससे परतन्त्रता बन्ध और स्वातन्त्र्य ही मुक्ति है यह मत भी खण्डित हुआ। परतन्त्रता दुःख का हेतु होने से ही हेय है स्वरूपतः नहीं। (अतः पारतन्त्र्य मुख्यरूप से बन्धन नहीं है परन्तु दुःख ही।)]

जो निरुपधि हेय अर्थात् स्वरूपतः हेय है वही मुख्यबन्ध होगा। स्वरूपतः हेय वस्तु का साधन औपाधिक अर्थात् औपचारिक रूप से हेय है मुख्यतया नहीं। पारतन्त्र्य स्वरूपतः दुःखात्मक न होकर यदि दुःख का कारण है तब वह औपचारिक रूप से ही बन्ध होगा मुख्यतया नहीं। इसीलिए पारतन्त्र्य को मुख्य बन्धन मानने वालों का मत ग्रहणयोग्य नहीं है।

माहेश्वर दर्शन में जीव परतन्त्र होने पर बद्ध तथा स्वतन्त्र होने पर मुक्त कहा जाता है। इसीलिए पारतन्त्र्य को बन्धन तथा स्वातन्त्र्य को मोक्ष कहा गया है। माहेश्वर दर्शन के मोक्ष अथवा बन्धन विषय को समझने के लिए उसके प्रमेय वस्तुओं को जानना आवश्यक है।

शिवाद्वैतवाद में परमशिव अथवा शिव ही एकमात्र तत्त्व हैं। इसी से अन्य तत्त्वों की कल्पना की गयी है। शिवतत्त्व से अन्य तत्त्वों का उन्मेष तथा उसी में अन्य तत्त्वों का विलय होता है। वह प्रकाशस्वभाव अर्थात् स्वतः प्रकाश है[2]। इस तत्त्व को हम अद्वैतवेदान्त के निर्गुण, निःसङ्ग, निर्विकल्पक ब्रह्मतत्त्व के सदृश कह सकते हैं। परन्तु माहेश्वरसम्प्रदाय में स्वीकार किया जाता है कि यदि शिवतत्त्व विमर्शरहित हो तो प्रकाशात्मक नहीं हो सकता है[3]। इसका तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक प्रकाश सर्वदा विमर्शयुक्त ही होता है। 'मैं यह जानता हूँ' 'मैं यह करता हूँ' 'मेरी यह इच्छा है' आदि रूप से ही हमें ज्ञान अथवा प्रकाश प्राप्त होता है। उक्त प्रकार के विमर्शरहित कोई प्रकाशात्मक तत्त्व हमें व्यावहारिक जगत् में उपलब्ध नहीं होता है। इससे

---

१. तस्मान्न प्रपञ्चविलयो मोक्षः किन्तु प्रपञ्चसम्बन्धविलयः। शास्त्रदीपिका, पृ० १२५

२. प्रकाशमात्रं यत्प्रोक्तम्। तन्त्रालोक, २।१

३. नहि निर्विमर्शः प्रकाशः समस्ति, उत्पद्यते वा। तन्त्रालोक टीका।

यह समझना होगा कि कोई भी प्रकाशात्मक तत्त्व विमर्शरहित नहीं होता है। वह अवश्य ही सविमर्श होगा। विमर्श तथा प्रकाशधातु भिन्नवस्तु नहीं। प्रकाशवस्तु विमर्शात्मक ही है। विमर्श उसका स्वरूप है धर्म नहीं। ऐसा मानने के कारण चैतन्य का विमर्श स्वभावता रहने पर भी द्वैतवाद की स्थिति नहीं आती है।

माहेश्वर मत में प्रकाशतत्त्व का स्वरूप को समझाने के लिए दृष्टान्तरूप में यहाँ लोक-व्यवहारसम्मत "मै यह जानता हूँ" "मैं यह करता हूँ" आदि रूप से विमर्श का उल्लेख किया गया है। वह अपूर्ण अहन्ता का विमर्श है। क्योंकि इस प्रकार विमर्शों में अति अल्प पदार्थ ही प्रकाशित हो रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड उसमें प्रकाशित नहीं हो रहा है। विमर्श में जब सर्वज्ञातृत्व, तथा सर्वकर्त्तृत्व बीज रूप से अन्तर्निहित हो तब उस विमर्श को पूर्णाहन्ता' का विमर्श कहा जाता है। उस प्रकार विमर्श का स्वरूप समझाने के लिये हम "प्रकाशवपुरहं प्रकाशे" (प्रकाश स्वभाव मैं प्रकाश प्राप्त हूँ) इस प्रकार विमर्श को ग्रहण कर सकते हैं। इसमें प्रकाश्यमान वस्तु शक्तिरूप में विद्यमान रहने के कारण उनका पृथक्-पृथक् नाम नहीं रहता। सर्वज्ञता तथा सर्वकर्त्तृत्व उसमें बीज रूप में अन्तर्निहित रहता है। 'पूर्णाहन्ता' के विमर्श को ही माहेश्वरदर्शन में स्वातन्त्र्य अथवा शक्ति कहा जाता है। इस विमर्श में समस्त जगत्, उसका प्रकाश, उसके सृष्टिस्थितिलय आदि अत्यन्त सूक्ष्मरूप में अन्तर्निहित है। इस प्रकार का विमर्शात्मक प्रकाशवस्तु ही शिवतत्त्व है। उसमें समस्त वर्ण स्फोटरूप से अन्तर्निहित रहता है। इसी को शास्त्र में स्वरसोदिता वाक्' कहा गया है। शास्त्रकार इसी को चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, मुख्य ऐश्वर्य, सर्वकर्त्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि नाना प्रकार शब्द से उल्लेख करते हैं।

यह शिवतत्त्व अपनी पूर्णाहन्ता के विमर्श को छोड़कर अन्य किसी उपादानादि कारणों के सापेक्ष न होकर विश्व की सृष्टि-स्थिति-संहार करता है। इसी कारण शिवतत्त्व को स्वतन्त्र तथा विमर्शशक्ति को स्वातन्त्र्य कहा गया है। शक्ति तथा शक्तिमान् में किसी प्रकार का भेद नहीं है। केवल समझने के लिए ही शक्ति तथा शक्तिमान् यह दो शब्द प्रयुक्त होता है। व्यवहार में हम जिन घट पटादि वस्तु के सृष्टि-संहारादि कार्य देखते हैं उन कार्यों में स्रष्टा अथवा संहर्त्ता का स्वातन्त्र्य परिलक्षित नहीं होता है। क्योंकि घटादि के निर्माण में मृत्तिका आदि उपादानों की अपेक्षा न रखते हुए कुम्भकार उसे निर्माण नहीं कर सकता है। इसी प्रकार संहार कार्य में भी संहर्त्ता अन्य साधनों की अपेक्षा रखता है। परन्तु माहेश्वर मत में शिव स्वतन्त्ररूप में ही जगत् का सृष्टि-स्थिति-संहार करते हैं। विमर्शशक्ति के सिवाय अन्य किसी उपादानादि साधनों की अपेक्षा जगत् की सृष्ट्यादि में शिव को नहीं है।

यद्यपि अपना शक्तिमात्र की सहायता से (उपादान-निरपेक्ष होकर) वस्तुसृष्टि का कोई दृष्टान्त हम व्यावहारिक जगत् में प्राप्त नहीं होते हैं यह सत्य है, तथा इसी कारण से

स्वतन्त्र निर्मातृत्व को बुद्धि या विचार में लाना हमारे लिए अनायास साध्य नहीं, तथापि जगत् के तत्त्व का विचार करने से यह प्रतीति होगी कि इसके निर्माणादि कार्य स्वतन्त्र रूप से ही होता है। व्यावहारिक स्थलों में हम कर्त्ता अर्थात् कार्य के निर्माता को चेतन तथा घटादि कार्यों को जड़स्वभाव समझते हैं। इस प्रकार भ्रम के लिए ही हम निर्माण-कार्य में स्वातन्त्र्य को देख नहीं पाते हैं। पारतन्त्र्य ही देखते हैं। यदि हम समझने की चेष्टा करें कि निर्मित घटपटादि भी तत्त्वतः जड़ नहीं परन्तु निर्माता पुरुष के तुल्य ही प्रकाशस्वभाव है तब हमें स्पष्ट प्रतीति होगी कि निर्माण कार्य में निर्माता की परतन्त्रता नहीं स्वातन्त्र्य ही है। निर्माता के स्वातन्त्र्य को समझने के लिए निर्मित वस्तु तथा निर्माता उभय की ही चिदात्मकता का अनुभव करना आवश्यक है। अर्थात् यदि हम अनुभव कर सकें कि घटपटादि के निर्माता मृत्तिका या सूत्र है अन्य कोई नहीं तभी यह अनुभव हो सकेगा कि मृत्तिका या सूत्र घट या पट के निर्माण में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखा है। मृत्तिका अपनी शक्ति से घट तथा तन्तु अपनी शक्ति से ही पट बना है। इस प्रकार का अनुभव तब ही हो सकता है यदि निर्माता तथा निर्मित उभय समानजातीय वस्तु हों। इन दोनों के भिन्नजातीय होने से उपादाननिरपेक्ष वस्तुसृष्टि आदि की कल्पना नहीं की जा सकती है। हम निर्माता को चेतन तथा निर्मित को जड़स्वभाव समझने के कारण ही कुम्भकारादि निर्माता को मृत्तिकादि उपादानसापेक्षरूप से घटादि का कर्त्ता समझते हैं।

शिवतत्त्व के स्वातन्त्र्य की व्याख्या करते हुये माहेश्वर सम्प्रदायवाले कहते हैं कि तत्त्वतः जगत् जड़स्वभाव नहीं परन्तु वह शिवस्वभाव अर्थात् प्रकाशस्वभाव ही है। स्वातन्त्र्य में सङ्कोच के कारण पशुभावप्राप्त (अर्थात् अल्पज्ञान तथा अल्पकर्तृत्व के अभिमानशाली) जीव भ्रमवश जगत् को जड़स्वभाव समझता है। घटपटादि निखिल जागतिक वस्तुओं का प्रकाश होता है यह सर्ववादिसिद्ध है। जड़वस्तुओं का प्रकाश ही नहीं होता यह हम नहीं समझते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न दर्शनों में नानाप्रकार की कल्पना की सहायता से जड़वस्तुओं के प्रकाश का रहस्य की व्याख्या की गयी है। जो स्वयं प्रकाश-प्राप्त न हो वह जड़ है तथा जो प्रकाश प्राप्त हो वही चित् है। अब यह विचार आवश्यक है कि जड़ का प्रकाश होना सम्भव है या नहीं। अनेक दार्शनिक समझते हैं कि प्रकाशात्मक चैतन्य की सहायता से जड़वस्तु प्रकाशप्राप्त होता है। किसी किसी ने स्वयं जड़रूप ज्ञानात्मक गुण की सहायता से जड़ का प्रकाश होता है माना है। परन्तु माहेश्वरदर्शन में कहा गया है कि प्रकाश तथा प्रकाश्य यदि भिन्नजातीय हो तो प्रकाश की सहायता से भी प्रकाश्य का प्रकाश नहीं हो सकता है। भिन्नजाति के दो वस्तुओं में एक दूसरे की सहायता से अन्य जाति का हो नहीं जा सकता है—अर्थात् जाति का विनिमय नहीं हो सकता है। अतः चैतन्य की सहायता रहने पर भी अचित् अचित् ही रहेगा। और अचित् ही यदि रहा तो उसके प्रकाश की सम्भावना नहीं

रहती है। चित्स्वभाव का ही प्रकाश होता है।[1] फलतः घट पट आदि जब प्रकाश प्राप्त होता है तब यह भी प्रमाणित होता है कि वे स्वरूपतः प्रकाशात्मक ही हैं।[2] उपर्युक्त रीति से जगत् प्रकाशरूप निश्चित होने पर उसकी सृष्टि में शिवतत्त्व का स्वातन्त्र्य भी असम्भव नहीं होगा। क्योंकि प्रकाशात्मक शिव के लिये अन्यनिरपेक्षरूप से अपनी ही विमर्शशक्ति के गर्भ में सूक्ष्मरूप से अन्तर्निहित प्रकाशस्वभाव जगत् की सृष्टि करना अत्यन्त स्वाभाविक है। लूता (मकड़ी) के शरीर में उसके जाल के बनाने का तन्तु सूक्ष्मरूप से रहने के कारण ही उसके लिए अन्य उपादानों की अपेक्षा न रखकर सूत्रों का निर्माण सम्भव होता है। लूता (मकड़ी) तथा उसके तन्तु (सूत्र) यदि भिन्नजाति के होते तो यह सम्भव न होता। अतः हम यह निश्चय कर सकते हैं कि प्रकाशमानता ही स्वयं साक्षी बन कर हमारे सामने जगत् की प्रकाश-स्वभावता को प्रकाशित करती है। तथा एक-जातीयता के कारण ही विमर्शशक्ति के गर्भ में जगत् सूक्ष्मरूप से रहता है। लूतातन्तु के तुल्य ही कभी वह प्रकाशित होता है। कभी विमर्शशक्ति में लीन रहता है।

तत्त्वतः प्रकाशस्वभाव होने से विश्व की सृष्टि शब्द से हम विमर्शशक्ति के गर्भ में अन्तर्लीनस्थिति से उसके परिस्फुटरूप में प्रकाश ही समझते हैं। शिव जब विमर्शशक्ति की सहायता से तदन्तर्निहित विश्व को प्रकाश करते हैं उस समय उसमें कार्यकारणभाव तथा जड़त्व का प्रकाश भी होता है। शिव ही किसी को कारण रूप से तथा किसी को कार्यरूप से और कार्यकारणात्मक जगत् को जड़ रूप से प्रकाशित करते हैं। इसीलिए हम किसी को कार्य तथा जगत् को जड़ समझते हैं। वस्तुतः कोई कार्यकारणभाव अथवा जड़त्व नहीं है। जगत्तत्त्व से शिवतत्त्व का किसी प्रकार भेद न रहने पर भी भिन्नरूप में प्रकाशित होने के निमित्त ही जगत् तथा उसके निर्माता में भेद प्रतीत होता है। जगत् का मिथ्यात्व, मायिकत्व अथवा जड़त्व माहेश्वरमत में स्वीकृत नहीं। वह शिवतत्त्व के समान ही प्रकाशात्मक है। इस अंश में अद्वैतवेदान्त से इस मत का भेद है। सांख्यमत में जगत् जड़ है तथा

---

१. ज्ञेयस्य हि परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः।
नह्यप्रकाशरूपस्य प्राकाश्यं वस्तुतापि वा ॥ तन्त्रालोक, १।५२

.......नन्वसौ स्वयमतथारूपोऽपि प्रकाशसम्बन्धात्तथा भविष्यतीत्याशङ्क्याह— न हीत्यादि। प्रकाशसम्बन्धेनापि हि प्रकाशमानो नीलादिः स्वयं प्रकाशरूप एव सन् प्रकाशते, नहि अप्रकाशरूपश्च प्रकाशते च इति स्यात्। नहि अश्वेतः प्रासादः श्वेतते। नचैवं वस्तुत्वमप्यस्य स्यात्। नहि प्रकाशरूपतामपहाय अन्यद् वस्तु सम्भवेदिति भावः। तन्त्रालोक टी.

२. नहि विश्वं नाम प्रकाशमानत्वात्तदतिरिक्तं किञ्चित् सम्भवति। तद्व्यतिरेकाभ्युपगमे ह्यस्य प्रकाशमानत्वायोगाद् भासनमेव न स्यादिति। तन्त्रालोक, ३।२, टीका।

जड़ प्रकृति का परिणाम है। अर्थात् जड़ प्रकृति के गर्भ में विश्व अपने आकारप्रकार के साथ सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहता है। पुरुष के सान्निध्य के कारण गुणों के क्षोभ (विसदृश परिणाम) होने पर प्रकृति अपने गर्भस्थित सूक्ष्मजगत् को स्थूलरूप से प्रकट करती है। इस अंश में माहेश्वरमत से सांख्यमत का भेद है। हम कह चुके हैं कि माहेश्वरमत में प्रकाशात्मक जगत् प्रकाशस्वभाव विमर्शशक्ति में सूक्ष्मरूप से प्रकाशित रहते हुए सृष्टि के समय स्थूलरूप में प्रकाशित होता है। जगत् शिव से भिन्न नहीं, शिवात्मक है।[१] शिवतत्त्व में समग्र भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान जगत् सूक्ष्मरूप से प्रकाशित है। सूक्ष्मता की चरम सीमा में रहने के कारण जगत्तत्त्व का शिव से भेद का लेशमात्र भी नहीं रहता। समग्र जगत् शिवाकार में पर्यवसित होता है। त्रैकालिक वस्तुओं की सूक्ष्मरूपता युक्तिसिद्ध भी है। जगत् तथा शिव में भेद के विलुप्त होने पर भी अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म के साथ माहेश्वर-मत के शिव अभिन्न तत्त्व नहीं है। क्योंकि यथावस्थित शिवतत्त्व में यथावस्थित वस्तुतत्त्व (जगत्तत्त्व) का विमर्श विद्यमान रहता है। परन्तु ब्रह्मतत्त्व में विमर्शरूपता अद्वैतवेदान्त में स्वीकृत नहीं है। वह निर्विमर्श चित्तत्त्व है।

माहेश्वर मत में शिवतत्त्व को शिव, सदाशिव तथा ईश्वर यह तीन भाग में विभक्त माना गया है। ऊपर हम शिवतत्त्व का वर्णन कर चुके हैं। शिवतत्त्व की विमर्शशक्ति में जगत्-तत्त्व का सूक्ष्मरूप से प्रकाश रहता है। इससे स्फुटतररूप से विमर्शशक्ति में जगत्तत्त्व का प्रकाश होने से वह प्रकाशात्मक, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता चित्तत्त्व को सदाशिव कहते हैं। जब उसी विमर्शशक्ति में जगत्तत्त्व का स्फुटतमरूप से प्रकाश हो तब उस प्रकाशात्मक, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता-चित्तत्त्व ही ईश्वर कहलाता है। कहना आवश्यक नहीं की इस प्रकार विभाग का दार्शनिक विचार में कोई उपयोगिता नहीं है।

माहेश्वर मत में १ शिव, २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४ ईश्वर, ५ शुद्धविद्या, ६ माया ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल, ११ नियति, १२ पुरुष, १३ प्रकृति, १४ बुद्धि, १५ अहङ्कार, १६ मनः, १७-२१ पञ्चकर्मेन्द्रिय, २२-२६ पञ्चज्ञानेन्द्रिय, २७-३१ पञ्चतन्मात्रा, तथा ३२-३६ पञ्चमहाभूत यह षट्त्रिंशत् तत्त्व स्वीकृत हैं। शिव, सदाशिव, तथा ईश्वरतत्त्व का स्वरूप कहा जा चुका है। शिवतत्त्व के पूर्णाहन्ता विमर्श के गर्भ में समस्त विश्व अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रकाशित रहता है यह भी कहा जा चुका है।

---

१. जलदर्पणवत् तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम्॥ तन्त्रालोक, १।६६,

दर्पणाद्यन्तःप्रतिबिंबितं घटादि यथा दर्पणादिव्यतिरेकेण प्रकाशमानमपि दर्पणाद्यनतिरिक्तमेव, अन्यथा दर्पणघटयोरन्योन्यं वैविक्त्येन भानं न स्यात्, तथैव प्रकाशात्मना शिवेनापि स्थावरजङ्गमात्मकमिदं विश्वं स्वेच्छया स्वस्वरूपातिरिक्तायमानत्वेनावभासितं सत्, व्याप्तं प्रकाशमानताऽन्यथानुपपत्त्या स्वस्वरूपानतिरेकेणैव क्रोडीकृतम्, अतएवायं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः। (द्र०—तट्टीका)

जब शिवतत्त्व की स्वातन्त्र्यशक्ति या पूर्णाहन्ताविमर्श में बहिःप्रकाश की इच्छा का उन्मेष होता हैं तब उसे शक्तितत्त्व कहते हैं। शिवतत्त्व के विमर्शशक्ति के गर्भ में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया यह तीन शक्ति भी साम्यावस्था में वर्त्तमान रहती हैं। जब विमर्शिनी (पूर्णाहन्ता विमर्श) में इच्छाशक्ति का समुद्रेक हो तब उसे शक्तितत्त्व कहा जाता हैं। शक्ति इच्छाप्रधान होती हैं। इच्छा के समुद्रेकयुक्त पूर्णहन्ताविमर्श के प्रकाश को ही सदाशिवतत्त्व कहा जाता है। इसीलिए सदाशिव को इच्छाप्रधानरूप से समझा जा सकता है। सदाशिव में इच्छा के समुद्रेक के साथ ही अन्य तत्त्व भी अस्फुटरूप से प्रकाशित होता हैं। क्रियाशक्ति के समुद्रेकयुक्त पूर्णहन्ताविमर्श के प्रकाश को ईश्वरतत्त्व कहते हैं। प्रकाशमानता ही वस्तु की सत्ता या तत्त्व है। समस्त अवस्था में वस्तुओं का प्रकाश अविलुप्त रहता है। ईश्वरतत्त्व में पूर्णहन्ता (प्रकाशतत्त्व) के साथ एकीभूत होकर जगत् प्रकाशित होने लगता हैं। जिन युक्ति या तर्कों की सहायता से हम निश्चितरूप से परमेश्वरतत्त्व को समझ सकते हैं वह, अथवा उन युक्तितर्कों के फलीभूत निश्चयात्मक ज्ञान को अभिनवगुप्ताचार्य ने शुद्धविद्या नाम से वर्णन किया है।

जब स्वातन्त्र्यशक्ति (पूर्णाहन्ताविमर्श) अपना स्वातन्त्र्यवश ही अभेद का प्रकाश को संकुचित करते हुए भेद का प्रकाश करता है तब वह स्वातन्त्र्यशक्ति ही माया के नाम से प्रसिद्ध होती है। इस मायाशक्ति के वश ही शिवतत्त्व का शिवत्व आच्छादितप्राय होने से शिव अपने को अल्पज्ञ तथा अल्पशक्तिमान् मानने लगते हैं। शिव जीवभाव धारण करते हैं। इसी अवस्था को शास्त्र में पुरुष नाम से वर्णन किया गया हैं। तब शिव स्वातन्त्र्य के ही प्रभाव से मायामुग्ध होकर संसारी होते हैं। वस्तुतः जीव (संसारी) शिव से भिन्न प्रकार का नहीं है। माया के प्राधान्य से जीव मोहयुक्त है। निखिलशक्तियों के प्राधान्य के कारण शिव परमेश्वर हैं।

विमर्शिनी के गर्भस्थ सर्वकर्त्तृत्व शक्ति के सङ्कोच होने पर उसी को कला कहा जाता है। विमर्शिनी में सर्वज्ञत्वशक्ति के सङ्कोच होने से उसे विद्या कहते हैं। पूर्णत्वशक्ति के सङ्कोचवश उसे राग कहा जाता है। नित्यत्वशक्ति के सङ्कोच के कारण वही काल नाम से व्यवहृत होता है। व्यापकत्वशक्ति के सङ्कोच हेतु वह नियति कहलाती है[१]। यहाँ कहना आवश्यक है कि सामान्य (कोई विशेष प्रकार का नहीं) सङ्कोच की दशा में विमर्शिनी का नाम माया होता है। तथा विशेषसङ्कोच (ऊपर वर्णन किया गया) दशा में उसी का नाम कला, विद्या आदि होता है। फलतः माया को ही कला, विद्या, राग, काल तथा नियति यह पाँच भाग में विभक्त किया गया है। यह माया अद्वैतवेदान्त की माया से तत्त्वतः भिन्न है। बन्धनरूप कार्य दोनों में समान होने पर भी

---

१. तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्तयः सङ्कोचं गृह्णाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति।

— प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ० २२

अद्वैतवेदान्त में माया जड़स्वभाव है। माहेश्वरमत की माया प्रकाशस्वभाव विमर्शिनी-शक्ति की ही सङ्कुचित दशा का नाम है। कला विद्या आदि पांच तत्त्व को, इनके द्वारा जीव आच्छादित होने के कारण, कञ्चुक कहा जाता है।[1]

जब विमर्शिनी शक्ति गुरु अथवा सच्छास्त्रादि के रूप में उपस्थित होकर सत्-तर्क की अवतारणा करती हैं तब जीव शुद्धविद्या का लाभ कर स्वातन्त्र्यशक्ति के ही प्रभाव से सर्वकर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, पूर्ण, नित्य तथा व्यापक हो जाता है। कोई भी बन्धन न रहने से वह परमेश्वर हो जाता है। इसी स्वातन्त्र्य को माहेश्वरमत में मुक्ति कही गयी है।

इस मत में जीवन्मुक्ति तथा परममुक्ति में कोई भेद नहीं है। क्योंकि सत्-तर्कादि की सहायता से शुद्धविद्या के उदय होने पर जीवद्दशा में ही शरीरादि से ब्रह्माण्ड तक समस्त पदार्थ ही प्रकाशात्मक हो जाता है—तब 'प्रकाशवपुरहं प्रकाशे' इस प्रकार पूर्णाहन्ता का विमर्श होने लगता है। फलतः प्रकाशातिरिक्त जड़ नाम का कुछ भी नहीं रहने से शरीरपात का प्रश्न ही नहीं उठता है। जिनके विचार से शरीर जड़ है उन्हीं के लिए शरीरपात के पश्चात् विदेहमुक्ति की कल्पना आवश्यक होती है। माहेश्वरमत में इसकी आवश्यकता नहीं है।

स्वातन्त्र्यमपि यदि दुःखतत्साधननिवृत्तिस्तदा ओमित्युच्यते। ऐश्वर्यञ्चेत्, कार्यतया तदपि साधनपरतन्त्रं क्षयि चेति दुःखाकरत्वाद्धेयमेवेति।

[दुःख तथा उसके साधनों की निवृत्तिरूप स्वातन्त्र्य ही यदि मुक्ति हो तब (उसको हम) अनुमत (स्वीकृत) ही कहेंगे। यदि ऐश्वर्य ही स्वातन्त्र्य हो तब वह (ऐश्वर्यरूप स्वातन्त्र्य) भी दुःख का आकर (उत्पत्ति स्थान) होने से अवश्य ही हेय होगा। क्योंकि वह (ऐश्वर्य) कार्य होने से साधनपरतन्त्र तथा क्षयशील ही होगा।]

तस्मादनिष्टनिवृत्तिरात्यन्तिकी निःश्रेयसमिति।

[अतः अनिष्ट की आत्यन्तिकनिवृत्ति (ही) मोक्ष (है)।]

---

१. अख्यातिवशात् कलाविद्यारागकालनियतिकञ्चुककवलितत्वात् पञ्चकस्वरूपः। प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृ० १६

नन्वपुरुषार्थोऽयं सुखस्यापि हानेरिति चेन्न। बहुतरदुःखानुविद्धतया सुखस्यापि प्रेक्षावद्धेयत्वात्, मधुविषसंपृक्तान्नभोजनजन्यसुखवत्।

[यदि कहा जाय कि यह (दुःखनिवृत्ति) पुरुषार्थ नहीं, क्योंकि (उससे) सुख का भी परिहार हो जायेगा—वह भी समीचीन न होगा। क्योंकि अनेकानेक दुःखों से मिश्रित होने से सुख भी प्रेक्षावान् (विवेकी) पुरुष के लिए मधु तथा विषमिश्रित अन्नभोजनजनित सुख जैसा (हेय होगा)।]

आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के लिए जन्म का अत्यन्त उच्छेद की आवश्यकता होती है। जन्म के अत्यन्त उच्छेद होने पर शरीर के अभाव के कारण दुःख के साथ-साथ सुख की भी निवृत्ति हो जाती है। दुःख तथा सुख दोनों शरीर में ही उत्पन्न तथा अनुभूत होते हैं। अतः दुःखनिवृत्ति चाहने वाले को सुख की कामना का भी त्याग करना पड़ता है। इस स्थिति के कारण पूर्वपक्षी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति की पुरुषार्थता में शङ्का प्रकट करता है। वह कहता है कि आय तथा व्यय समान होने से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति पुरुषार्थ नहीं। अनभिप्रेत दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति से पुरुष को जितना लाभ (आय) होगा उसी के साथ-साथ समस्त सुख का भी नाश हो जाने से हानि (व्यय) भी अधिक न भी हो तो तुल्य होगा। अतः दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को पुरुषार्थ समझना ठीक नहीं है। इसके समाधान में कहा गया है कि साधारण व्यक्ति सुख को काम्य समझने पर भी प्रेक्षावान् (विचारशील) पुरुष प्रत्येक सुख में ही दुःख का सम्बन्ध रहने के कारण उसे काम्य नहीं समझता है। जैसा क्षुधातुर व्यक्ति भोज्य की कामना रखते हुए भोज्य के विषमिश्रित होने पर उसका त्याग ही करता है। इसलिए दुःखपरिहार चाहने वाले के लिए सुख भी हेयपक्ष में ही निक्षिप्त होगा।

यदि कहा जाय कि सामान्यतः सुख परित्याज्य नहीं हो सकता है। दुःख हेय (परित्याज्य) है इसी से दुःखानुविद्ध (दुःख से जड़ा हुआ) सुख हेय होता है। यदि दुःखाननुविद्ध (दुःख सम्पर्कशून्य) सुख की काम्यता स्वीकार किया जाय तो उसकी स्वभावतः पुरुषार्थता नहीं रहेगी। निरुपधि इच्छा के विषय (अर्थात् किसी अन्य वस्तु की कामना से प्रेरित होकर जिसकी प्राप्ति की इच्छा हो तद्भिन्न इच्छा का विषय) होने वाले वस्तु की स्वतः पुरुषार्थता प्रसिद्ध है। अतः दुःख हेय होने पर भी सुख हेय हो नहीं सकता है। फलतः आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के लिए स्वतः पुरुषार्थभूत सुख का वर्जन भी अवश्यम्भावी होने के कारण इस प्रकार दुःखनिवृत्ति को पुरुषार्थ कहना सम्भव नहीं होगा।

इस पर सिद्धान्तवादी कह सकते हैं कि सुख के तुल्य दुःख का परिहार भी निरुपधि इच्छा (अन्य किसी इच्छा के निरपेक्ष इच्छा) के विषय होने के कारण वह भी स्वतः

पुरुषार्थ है।[1] दुःखभीत व्यक्ति अन्य कोई प्रयोजन न रहते हुए भी दुःखपरिहार चाहता है। दुःख के विगम (न रहने) से सुख प्राप्त होगा इसी कारण दुःख का उच्छेद काम्य होता है; सुख के लिए ही दुःख का उच्छेद काम्य है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। दुःखभीत व्यक्ति सुख के लिए दुःख परिहार की कामना नहीं करता है। अन्य इच्छानिरपेक्ष दुःखनिवारणेच्छा होती है इसलिए वह स्वतः पुरुषार्थ है। इसी कारण सुख का परिहार अवश्यम्भावी होने पर भी विवेकी पुरुष दुःखपरिहार को पुरुषार्थ मानकर तदर्थ प्रवृत्त भी होता है।

तथापि दुःखोच्छित्तिरपुरुषार्थः। अनागतस्य निवर्त्तयितुमशक्यत्वाद्, वर्त्तमानस्य च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैव विरोधिगुणान्तरोपनिपातनिवर्त्तनीयत्वाद्, अतीतस्यातीतत्वादिति चेन्न। हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात् प्रायश्चित्तवत्।

[ऐसा होने पर भी (आपत्ति हो सकती है कि) दुःख का उच्छेद पुरुषार्थ नहीं (क्योंकि वह प्रयत्नसाध्य नहीं)। अनागत दुःख का निवारण सम्भव नहीं, वर्त्तमान (दुःख) पुरुष के प्रयत्न के बिना ही विरोधी गुणान्तर के उदय से (स्वतः ही) निवृत्त हो जायेगा (और) अतीत (दुःख) अतीत होने से ही (निवृत्तियोग्य नहीं)। (फलतः आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति पुरुषप्रयत्नसाध्य न होने से वह पुरुषार्थ नहीं।) (ऐसा होते हुए भी कहा जा सकता है कि उक्त आपत्ति) समीचीन नहीं है। क्योंकि (दुःख के उच्छेद के लिए पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा न रहने पर भी) प्रायश्चित के तुल्य (दुःख के) कारण (मिथ्या ज्ञान) के उच्छेद के लिए पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा है।]

(इस संसार में पापजात दुःख के नाश के लिए अनेक प्रयत्न से प्रायश्चित्त का अनुष्ठान किया जाता है। उसी प्रकार मिथ्याज्ञानमूलक दुःख की निवृत्ति

---

१. ननु तवाप्यावश्यकत्वेन दुःखस्यैव हेयत्वं सुखस्य निरुपधीच्छाविषयत्वात्। अन्यथा दुःखाननुविद्धतया तस्य काम्यत्वे स्वतः पुरुषार्थत्वविरोधः। मैवम्। सुखमनुद्दिश्यापि दुःखभीरूणां दुःखहानार्थं प्रवृत्तिदर्शनेन दुःखाभावस्यैव स्वतः पुरुषार्थत्वात् नहि दुःखाभावदशायां सुखमस्तीत्युद्दिश्य दुःखाभावार्थं प्रवर्तते वैपरीत्यस्यापि सुवचनत्वेन सुखस्याप्यपुरुषार्थत्वापत्तेः। अतो दुःखाभावदशायां सुखं नास्तीति ज्ञानं न दुःखाभावार्थिनः प्रवृत्तिप्रतिबन्धकम्। दुःखभीरूणां सुखलिप्सूनां मोक्षेऽनधिकारात्। —प्रकाश पृ० ५१–५२

की कामना से मूलभूत मिथ्याज्ञान के उच्छेद के लिए तत्त्वज्ञानोत्पादक पुरुष व्यापार की अपेक्षा है। अतः यह कहा नहीं जा सकता कि पुरुषप्रयत्न के अधीन न होने से दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकता है।)

दुःख के उच्छेद के लिए साक्षात् रूप से पुरुषव्यापार के अपेक्षित न होने पर भी दुःख के मूल कारणभूत मिथ्याज्ञान के विरोधी तत्त्वज्ञानोत्पत्ति में पुरुषप्रयत्न अपेक्षित होने से फलीभूत दुःखोच्छेद के लिए पुरुषव्यापार की अपेक्षा है यही पूर्वोक्त ग्रन्थ से प्रतिपादित है। दुःख के तुल्य ही मिथ्याज्ञानों को भी निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। अतीत दुःख के जनक अतीतमिथ्याज्ञान, वर्त्तमान दुःख के जनक वर्तमान मिथ्याज्ञान, तथा आगामी दुःखजनक आगामी मिथ्याज्ञान। इनमें अतीत तथा वर्तमान मिथ्याज्ञानों के नाश के लिए पुरुषव्यापार की आवश्यकता नहीं हो सकती है। क्योंकि अतीत् मिथ्याज्ञान स्वकार्य दुःख के साथ पूर्वकाल में विनष्ट हो गया है। वर्तमान मिथ्याज्ञान भी वर्तमान दुःख के साथ विनष्ट हो ही जायेगा। क्योंकि मिथ्याज्ञान तथा दुःख दोनों क्षणिक हैं। आगामी दुःखजनक मिथ्याज्ञान के विरोधी तत्त्वज्ञान के लिए पुरुषव्यापार की अपेक्षा है कही जा सकती है। परन्तु जिस आगामी मिथ्याज्ञान के विरोधी तत्त्वज्ञान इदानीं (वर्त्तमान काल में) उत्पन्न हुआ उससे वह आगामी मिथ्याज्ञान आगे उत्पन्न ही नहीं होने से चिरकाल के लिए भविष्य के गर्भ में ही रह जायेगा। उस प्रकार (कभी उत्पन्न न होने वाला) मिथ्याज्ञान किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता है। ऐसे अप्रामाणिक मिथ्याज्ञान के विरोधी तत्त्वज्ञान के लिए पुरुषव्यापार भी स्वीकारयोग्य नहीं होता है। अतः प्रयत्नसाध्य न होने से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति को पुरुषार्थ कहा नहीं जा सकता है।

इसके समाधानार्थ प्रकाशकार ने कहा है कि चरमदुःख नाशक तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में पुरुषव्यापार अपेक्षित रहने के कारण चरमदुःखनाशरूप दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्ति पुरुषार्थ हो सकती है। यद्यपि वर्तमान समय में चरमदुःख भविष्यकाल के गर्भ में लीन है तथापि वह अलीक नहीं है। मुक्ति के अव्यवहितपूर्व तृतीय क्षण में वह उत्पन्न होगा। अन्य दुःखों के तुल्य ही क्षणिकत्व के कारण चरमदुःख यद्यपि उत्तरवर्ती अनुभव द्वारा विनष्ट होगा तथापि वह चरमदुःखध्वंस के प्रति उसके प्रतियोगी चरमदुःख के तुल्य ही तत्त्वज्ञान भी अन्वयव्यतिरेक के बल पर कारणरूप से निश्चित है[१]।

हमारे विचार से यद्यपि क्षणिकत्वनिबन्धन चरमदुःख सामान्यदुःख के तुल्य ही परवर्त्ती अनुभव द्वारा विनाश प्राप्त होगा तथा उस विनाश में तत्त्वज्ञान का कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। तथापि दुःख की चरमता सम्पादन में तत्त्वज्ञान का उपयोग

---

१. प्रतियोगिवत् तत्त्वज्ञानस्यापि तद्धेतुत्वात्। —प्रकाश पृष्ठ ५३

रहने से चरमदुःखध्वंसरूप मोक्ष में तत्त्वज्ञान के द्वारा पुरुषव्यापार की अपेक्षा है। तत्त्वज्ञानवान् पुरुष के दुःख का चरमत्व की सम्भावना है। साधारण व्यक्ति का दुःख चरम नहीं होता है।

तथाहि मिथ्याज्ञानं सवासनमिह संसारमूलकारणम्। तच्च तत्त्वज्ञानेन विरोधिना निवर्त्यते। तन्निवृत्तौ रागाद्यपाये प्रवृत्तेरपायाज्जन्माद्यपायः। तथा च दुःखसन्तानोच्छेदः। तच्च तत्त्वज्ञानं पुरुषप्रयत्नसाध्यमिति।

[वह इसी प्रकार ही है कि वासना सहित मिथ्याज्ञान ही संसार का मूलकारण है। वह (संसार के मूलकारण मिथ्याज्ञान) विरोधी तत्त्वज्ञान द्वारा निवर्त्तित होता है। उस (मिथ्याज्ञान) की निवृत्ति होने पर रागादि के निवृत्त होने के पश्चात् प्रवृत्ति के उच्छेद से जन्म आदि का उच्छेद होता है। इसी प्रकार दुःखसन्तति का उच्छेद होता है। वह तत्त्वज्ञान पुरुष का प्रयत्नसाध्य है। (यह कहा नहीं जा सकता है कि पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा न रहने के कारण दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ नहीं होगा।)]

किं पुनरत्र प्रमाणम्? दुःखसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवदित्याचार्याः।

[(इससे पूर्व जो कहा गया है) इसमें प्रमाण क्या? (अर्थात् पूर्वपक्षी कहता है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अप्रामाणिक है; अतः वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता है) (इसके उत्तर में) आचार्यों का कहना है कि दुःखसन्तति आत्यन्तिक रूप से उच्छिन्न होगा, क्योंकि वह सन्तति है, जैसा प्रदीपसन्तति। (इस प्रकार अनुमान द्वारा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति प्रमाणित होता है)।]

पार्थिवपरमाणुगतरूपादिसन्तानेनैकान्तिकमिदमिति चेन्न। सर्वात्मगतदुःखसन्ततिपक्षीकरणे फलतस्तस्यापि पक्षेऽन्तर्भावात्। नहि सर्वमुक्तिपक्षे सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तस्यादृष्टस्याभावात् तदुत्पत्तौ बीजमस्ति। न च सर्वभोक्तॄणामपवृक्तौ तदुत्पत्तेः प्रयोजनमस्ति। नहि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति।

[(पूर्वोक्त अनुमान के विरुद्ध निम्नोक्त शंका समीचीन नहीं कि) पार्थिवपरमाणुगत रूपादिसन्तान में सन्ततित्वरूप हेतु अनैकान्तिक हो गया है। क्योंकि समस्त-आत्मगत दुःखसन्तति के पक्ष होने से फलतः वह रूपादिसन्तति भी पक्षान्तर्गत हो गया है। क्योंकि (रूपादि सन्तानों के पक्ष में प्रविष्ट होने का कारण यह है कि)

सकल जीवों की मुक्ति के सिद्धान्त में (सर्वात्मगत दुःखसन्तति का उच्छेद स्वीकार करने पर फलतः समस्त जीवों की ही मुक्ति अर्थतः प्राप्त होता है इसी हेतु) जन्यमात्र के (प्रति साधारण) निमित्तभूत अदृष्ट के अभाव रहने से (सर्व मुक्तिपक्ष में भोगादृष्ट के अस्तित्व की कल्पना की सम्भावना न रहने से) उस (पार्थिवपरमाणुगत रूपादि) की उत्पत्ति में कोई बीज न रहेगा तथा भोक्ता मात्र के अपवर्ग होने पर उस (पार्थिवपरमाणुगत रूपादि) की उत्पत्ति का प्रयोजन भी नहीं रहता है। बीज तथा प्रयोजन के बिना किसी की उत्पत्ति नहीं होती है। (अतः यह समझा जा सकता है कि जो सर्वमुक्ति को अपना पक्ष समझते हैं वह अवश्य ही पार्थिवपरमाणुगत रूपादि का भी अत्यन्त उच्छेद स्वीकार करते हैं। इसी लिए सर्वमुक्ति के पक्ष होने पर पार्थिवपरमाणुगत-रूपादिसन्तान का आत्यन्तिक उच्छेद भी फलतः पक्ष के अन्तर्गत ही हो जायेगा।)]

'दुःखसन्ततिः अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात्, प्रदीपसन्ततिवत्'[1] । इस प्रकार अनुमान द्वारा आचार्य उदयनने दुःखधारा का आत्यन्तिक उच्छेद प्रमाणित किया है। परन्तु यहाँ सन्ततिशब्द से क्या समझा जाय यह स्पष्टतया उन्होंने कहा नहीं है। पूर्वापरीभावापन्न कार्यों को सामान्यतया सन्तति या धारा कही जाती है। प्रकाशकार ने कहा है कि 'अत्यन्तमुच्छिद्यते' इस प्रतिज्ञावाक्य में लट् विभक्ति के होने से वर्त्तमान-काल के अत्यन्त उच्छेद ही उस अनुमान का साध्य है। वर्त्तमानकाल में भी दुःखधारा विद्यमान है। अतः दुःखसन्तति अर्थात् पूर्वापरीभावापन्न दुःखरूप कार्यों में वर्त्तमानकाल में आत्यन्तिक उच्छेद न रहने से उल्लिखित अनुमान में बाधदोष स्पष्ट है।[2] परन्तु हम

---

१. यहाँ 'आचार्याः' इस पद से उदयनाचार्य ने प्राचीन किसी आचार्य का उल्लेख किया है प्रतीत होता है उदयन के पूर्ववर्त्ती वैशेषिक आचार्यों में व्योमशिवाचार्य ने अपनी व्योमवती टीका में प्रायः इसी प्रकार के अनुमान का उल्लेख किया है। न्यायकन्दली में श्रीधर ने भी इस प्रकार अनुमान का प्रयोग किया है।

नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्। यो यः सन्तानः सः सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टः, यथा प्रदीपसन्तानः। —व्योमवती पृष्ठ २० (क)

तस्याः सद्भावे किं प्रमाणम् ? दुःखसन्ततिर्धर्मिणी अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वाद्दीपसन्ततिवदिति तार्किकाः। न्यायकन्दली पृ० ४

२. ननु कासन्ततिः ? न तावत्पूर्वापरीभावापन्ना कार्यपरम्परा······। इदानीमपि दुःखधारादर्शनात्। प्रकाश पृ० ५८

नन्वस्यापि पक्षसमत्वादनेन प्रकृतानुमाने किं दूषणमिति चेन्न। उच्छिद्यत इति वर्तमानत्वाभिप्रायेण बाधे तात्पर्यादित्येके। प्रकाशविवृति० पृ० ५८

प्रकाशकार द्वारा प्रदर्शित बाधदोष का समर्थन नहीं करते। क्योंकि प्रतिज्ञावाक्य में लट् प्रयुक्त होने पर भी वर्त्तमानकाल के उच्छेद ग्रन्थकार का वक्तव्य हो नहीं सकता। ग्रन्थकार को कम से कम अपने जीवनकाल में अपनी दुःखधारा का ज्ञान अवश्य ही था। अतः वर्त्तमान काल की दुःखधारा का उच्छेद उनका अभिप्रेत नहीं हो सकता है। इसीलिए दुःखधारा का आत्यन्तिक उच्छेद ही यहाँ विवक्षित है वर्त्तमान काल की दुःखधारामात्र का उच्छेद नहीं। हम इस अनुमान को अन्य कारण से दुष्ट समझ सकते हैं। यदि पूर्वापरीभूत कार्य-परम्परा ही सन्तति हो तब प्रदीपसन्ततिरूप दृष्टान्त साध्यविकल हो जाता है। क्योंकि पूर्वापरीभावापन्न प्रदीपरूप कार्यों की परम्परा ही प्रदीपसन्तति कहलाएगा। महाप्रलय के प्रमाणसिद्ध हुए विना ऐसी प्रदीपसन्तति का आत्यन्तिक उच्छेद का निश्चय हो नहीं सकता है। इसीलिए यह दृष्टान्त साध्यविकल हो गया है। यदि सामान्यतः प्रदीपसन्तति को दृष्टान्त न लेकर विशेष किसी प्रदीपसन्तति अर्थात् पूर्वापरीभावापन्न विशेष विशेष शिखाओं को दृष्टान्त लें तब यह दृष्टान्त साध्यविकल न होगा।

पूर्वोक्त अनुमान में साध्य अंश में प्रविष्ट 'आत्यन्तिकत्व' की व्याख्या आवश्यक है। जो कदाचित् हो अर्थात् जो वस्तु किसी समय रहता हो और किसी समय नहीं रहता उसे आत्यन्तिक कहा नहीं जाता है। अतः कादाचित्कत्व का अभाव ही आत्यन्तिकत्व होगा। इससे आत्यन्तिक उच्छेद शब्द से जो उच्छेद या ध्वंस कादाचित्क नहीं उसी को साध्य माना गया है यह स्वीकार करना होगा[1]। परन्तु ध्वंसमात्र ही उत्पन्न होता है। अतः उत्पत्ति के पूर्व न रहने के कारण ध्वंसाभावमात्र ही कादाचित्क है अकादाचित्क अर्थात् सर्वकालसम्बन्धी नहीं होता है। अतः आत्यन्तिक पद का उल्लिखित अर्थ मानना साध्य अर्थात् 'अत्यन्तोच्छेद' की अप्रसिद्धि होने की शंका के कारण उचित नहीं। इस प्रकार अर्थ का दोष दिखलाते हुए प्रकाशकारने बाध दोष का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य साध्याप्रसिद्धि ही है[2]।

यदि 'आत्यन्तिकत्व' का अर्थ 'ध्वंसाप्रतियोगित्व' किया जाय तो साध्याप्रसिद्धि न होगी। क्योंकि ध्वंस का ध्वंस न होने से वह किसी ध्वंस का प्रतियोगी नहीं होता है उसमें ध्वंसाप्रतियोगित्व ही है। फलतः 'अत्यन्तमुच्छिद्यते' इस ग्रन्थ से ध्वंसाप्रतियोगी ध्वंस को ही साध्यरूप से निर्देश किया गया समझना है। ऐसा होने पर भी इस अनुमान में पक्षीभूत दुःखसन्तति के अन्तर्गत प्रत्येक दुःखव्यक्ति का उल्लिखित

---

१. साध्यमप्यात्यन्तिकत्वमुच्छेदस्य किमकादाचित्कत्वम्। प्रकाश पृ० ५९

२. आद्ये बाधः। प्रकाश पृ० ५९; बाध इति साध्याप्रसिद्धिरितिभावः। प्रकाशविवृति पृ० ५९

रूप आत्यन्तिक उच्छेद सर्वसम्मत न होने के कारण यह अनुमान सिद्धसाधन-दोषदुष्ट होता है[१]।

यह भी कहना आवश्यक है कि ध्वंस का ध्वंस स्वीकृत नहीं है। इसलिए ध्वंस शब्द में 'ध्वंसाप्रतियोगित्व' विशेषण की अर्थसङ्कोचजनकता न रहने से 'व्यर्थविशेषणता' दोष भी है। विशेष्यतावच्छेदकीभूत धर्म का अव्यापक होते हुए व्यभिचारी धर्म ही सार्थकविशेषण होता है[२]। विशेष्यतावच्छेदकीभूत धर्म के अव्यापक होने से विशेष्यांश का सङ्कोच तथा विशेष्यतावच्छेदकीभूत धर्म का व्यभिचार द्वारा विशेष्यांश की सार्थकता बनी रहती है। प्रस्तुत स्थल में 'ध्वंसाप्रतियोगित्व'रूप विशेषण ध्वंसत्वरूप विशेष्यतावच्छेदकीभूत धर्म का व्यापक ही होने से वह ध्वंस का सार्थक विशेषण नहीं हो सकता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष के लक्षण में भी आत्यन्तिक निवृत्ति (ध्वंस) का लक्षण 'स्वसमानाधिकरण-दुःखप्रागभावासमानकालीनत्व' रूप बताया गया है। प्रस्तुत स्थल में आत्यन्तिक ध्वंस का लक्षण उसी को क्यों नहीं कहा जा रहा है ? इसका उत्तर यह है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का जो लक्षण पूर्वोक्त रूप स्वीकार किया गया उस स्वरूप को प्रमाणसिद्ध करने के लिए वर्त्तमान अनुमान 'अत्यन्तमुच्छिद्यते' रूप किया जा रहा है। जिसे प्रमाणित करने के लिए यह अनुमान है उसमें यदि अभी तक जो स्वरूप प्रमाणसिद्ध नहीं उसे पुनः साध्यांश में प्रविष्ट किया जाय तो वह अनुमान के साध्य अभी तक प्रमाणसिद्ध न होने से अनुमान साध्याप्रसिद्धिदोषदुष्ट हो जायेगा। अतः आत्यन्तिकत्व का पूर्वोक्तस्वरूप यहाँ भी स्वीकार करना उचित नहीं।

इसीलिए व्याख्याकारों का विचार है कि 'दुःखसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवत्' यह अनुमानवाक्य का यथाश्रुत अर्थ नहीं। "अयमात्मा एतद्दुःखप्रागभावसमानकालीनैतद्दुःखान्यदुःखध्वंसवान् अनित्यज्ञानाश्रयत्वात् अपरात्मवत्"[३] इस अनुमान की सहायता से मोक्ष को प्रमाणित करना आवश्यक है। इस अनुमान

१. यद्वा ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। ...अन्त्ये संसारिदुःखध्वंसेन सिद्धसाधनम्। प्र० ५६-६०

२. यथा नीलमुत्पलम् आदि प्रयोग में नीलत्व विशेष्यतावच्छेदकीभूत धर्म उत्पलत्व का व्यापक नहीं परन्तु विशेष्यतावच्छेदकीभूत धर्म उत्पलत्व के व्यभिचारी होने से नीलत्व को उत्पल का विशेषण कहा जाता है। अर्थात् जो उत्पल है नियमतः वही नील नहीं तथा नील वस्तु मात्र भी उत्पल नहीं होता है।

३. प्रकाश पृ० ५८।

यद्यपि दुःखसन्ततिर्यत्रेति बहुव्रीहिणापि दुःखसन्तत्याश्रयत्वादिति हेत्वर्थः पर्यवस्यति न त्वनित्यज्ञानवाचकपदाभावात्। तथाप्यनमोः। समनियमादस्यापि प्रकृतसाध्यहेतुत्वादेव मुक्तेः। प्रकाशविवृत्तिः पृ० ५६

में प्रथम तथा द्वितीय 'एतत्' पद 'एतदीय' अर्थ में प्रयुक्त है। प्रथम 'एतत् दुःख' शब्द से पक्षभूत (मुक्त) आत्मा से सम्बद्ध दुःखों को ग्रहण करना है। अर्थात् मुक्त आत्मा के संसारकालीन दुःखों को ही 'एतत् दुःख' शब्द से समझना है। द्वितीय 'एतत् दुःख' भी उसी आत्मा के संसारदशा में उसके दुःखप्रागभावों के समानकाल के दुःखों का बोधक है। फलतः पक्षभूत मुक्तात्मा में उसके संसारकाल के दुःखप्रागभावों के समानकालीन उसके दुःख उसके संसारकाल में उसी में रहने के कारण द्वितीय 'एतत् दुःख' शब्द से ग्रहण किया जाता है। तादृश 'दुःखान्यदुःख' शब्द से अन्य आत्मा के संसार-काल के दुःख होते हैं। इससे उन दुःखों के ध्वंसरूप साध्य अन्य आत्मा में आश्रित होने से अन्य आत्मा दृष्टान्त भी बन सकता है। अनित्यज्ञानाश्रयत्व आत्माओं (जीवात्माओं) में निश्चित ही है। अतः साध्य तथा हेतु उभय की उपस्थिति रहने से दृष्टान्त साध्य या साधनविकल नहीं होगा। अब साध्य की पक्ष में स्थिति के लिए पक्षभूत मुक्तात्मा के चरमदुःख को लेना है। उस चरमदुःख के समान काल में कोई आगामी दुःख का प्राग-भाव न रहने से वह चरमदुःख में 'एतदीयदुःखप्रागभावसमानकालीनत्व' नहीं होता है। अतः 'एतदीय-दुःखप्रागभाव-समानकालीन-दुःखान्यदुःख' के ध्वंस शब्द से पक्षभूत मुक्तात्मा के चरमदुःख ध्वंस को ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं। फलतः मुक्तात्मा पक्ष है। मुक्तात्मा के संसारकाल के दुःखप्रागभावों के समानकाल के दुःखों से भिन्न उसी मुक्तात्मा के चरमदुःख होगा। जिसका ध्वंस मोक्ष के साथ ही मुक्तात्मा में होने से पक्षभूत मुक्तात्मा में साध्य की उपस्थिति रहेगी। और इस दुःखध्वंसरूप साध्य की प्रसिद्धि दृष्टान्त में करने के लिये मुक्तात्मा के संसारकाल के दुःखप्रागभावों के समानकालीन दुःखों से भिन्न दुःख शब्द से किसी भी अन्य (अमुक्त) आत्मा के दुःख को लेकर उसका ध्वंसरूप अभीष्ट साध्य उसी अमुक्त आत्मा में रहने से, दृष्टान्तभूत अमुक्तात्मा में साध्य की प्रसिद्धि भी हो जाती है। और भी स्पष्टता के लिए लिखना आवश्यक है कि यहाँ साध्य मुक्तात्मा के संसार-काल के दुःखप्रागभावों के समानकाल के दुःखों से भिन्न दुःख का ध्वंसरूप है। यह साध्यभूत विलक्षण दुःखध्वंस जैसा मुक्तात्मा में है ठीक उसी प्रकार से अमुक्त आत्माओं में भी है। मुक्तात्मा के विलक्षण दुःखध्वंस उसका चरमदुःखध्वंस ही होगा। उसके चरम दुःख उसके संसार काल के दुःखप्रागभावों के समानकालीन दुःखों से अवश्य ही भिन्न दुःख है। क्योंकि मुक्तात्मा के चरम दुःख के साथ एक ही काल में किसी दुःख का प्राग-भाव नहीं रहता है। इससे पक्ष में साध्य का ज्ञान होता है। अमुक्त आत्माओं के संसार-काल के दुःखध्वंस भी विलक्षण दुःखध्वंस ही है। क्योंकि उन दुःखध्वंसों में मुक्तात्मा के संसारकाल के दुःख प्रागभावों के समानकाल के दुःख उसी मुक्तात्मा के संसारकाल के दुःख ही होगा जिससे अमुक्त आत्माओं के संसारकाल के दुःख भिन्न होता है। अतः विलक्षण दुःख होने से उन दुःखों का ध्वंस भी उसी अमुक्त आत्मारूप दृष्टान्त में अवश्य रहता है। अब "यत्र यत्र अनित्यज्ञानाश्रयत्वं तत्र तत्र एतदीयदुःख-प्रागभावसमानकालीनं यद् एतदीयं

दुःखं तदन्यदुःखध्वंसः" इस व्याप्ति के बल पर जब 'इदमात्म' रूप पक्ष में यथाकथित दुःख से भिन्न दुःखध्वंस रूप साध्य का निश्चय होगा तब वह फलतः इदमात्मरूप पक्ष में चरम दुःख का ध्वंसरूप मुक्ति की सिद्धि में ही पर्यवसित हो जायेगा। क्योंकि अन्य (अमुक्त) आत्माओं में अवस्थित उनके दुःखों का ध्वंस उन्हीं आत्माओं में रहेगा 'इदमात्मा' में नहीं। फलतः इदमात्मगत चरमदुःख का ही ध्वंस होगा। अनित्यज्ञानाश्रयत्व रूप हेतु के बल पर 'इदमात्मा' में वह दुःखध्वंस का अनुमान हो सकेगा।

इस अनुमान के साध्यांश में दो बार 'एतदीय' शब्द का प्रयोग है। एतदीय-दुःखप्रागभावसमानकालीन-एतदीय-दुःखभिन्नदुःख का ध्वंस ही साध्य है। इसमें प्रथम एतदीय शब्द यदि विशेषण न हो तो दुःखप्रागभावसमानकालीन-एतदीयदुःखभिन्न दुःख का ध्वंस ही साध्य होगा। तदानीं पक्षभूत (मुक्त) आत्मा के चरमदुःख को दुःखप्राग-भावसमानकालीन एतदीय (उस मुक्तात्मसम्बन्धी) दुःखभिन्न दुःखरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि इदमात्मरूप (मुक्तात्मरूप) पक्ष के संसार काल के दुःखों के तुल्य ही उसके चरमदुःख भी अन्य (अमुक्त) आत्माओं के दुःखप्रागभावों के समान-कालीन तथा एतदीय (पक्षभूत मुक्त आत्मसम्बन्धी) दुःख भी है। फलतः दुःखप्रागभाव-समानकालीन एतदीयदुःखभिन्न दुःख शब्द से अन्य अमुक्त आत्माओं के दुःख ही होंगे। अन्य आत्माओं के दुःख का ध्वंस उन आत्माओं में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। इदमात्मरूप पक्ष में कदापि नहीं रहता। अतः इस अनुमान में बाध दोष हो जायेगा। उसके वारणार्थ प्रथम एतदीय पद का प्रयोग समझना चाहिए। इस विशेषण के रहने पर पक्षभूत मुक्तात्मा के चरमदुःख उसी के संसारकाल के दुःखप्रागभावों के समानकालीन नहीं होने से द्वितीय एतदीय दुःख शब्द से उस चरम दुःख का ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः द्वितीय एतदीय-दुःख से भिन्नदुःख पद से उस चरमदुःख का ग्रहण होने में बाधा नहीं है। उस चरम दुःख का ध्वंस स्वरूपसम्बन्ध से इदमात्म-रूप पक्ष में ही रहता है। अतः बाधदोष की सम्भावना नहीं रहेगी।

'एतदीय-दुःखप्रागभाव-समानकालीन' इस समस्त पद में प्रागभाव शब्द का प्रयोग बाध दोष के वारणार्थ ही है। वह पद न रहने से एतदीयदुःखसमकालीन एतदीयदुःख-भिन्न-दुःखध्वंस ही साध्य होगा। अब मुक्त आत्मरूप पक्ष के संसार काल के दुःखों के समानकालीन उस मुक्तात्मा के दुःख शब्द से उस चरमदुःख का भी ग्रहण होने में बाधा न होने से एतदीय दुःखसमानकालीन एतदीय दुःखभिन्न दुःख वह चरमदुःख नहीं होगा। मुक्तात्मा के चरमदुःख उस आत्मा के संसार काल के दुःखों के तुल्य ही कम से कम उसी चरमदुःख अथवा उसके उपान्त्य दुःख (चरमदुःख के अव्यवहित पूर्वक्षण का दुःख) का समान कालीन तथा एतदीय दुःख (मुक्तात्मा के दुःख) भी होने से एतदीय दुःख भिन्न नहीं होगा। पक्षभूत मुक्तात्मा के संसारकाल के दुःख तथा चरमदुःख सभी एतदीयदुःख समानकालीन

एतदीयदुःख ही होंगें । फलतः तद्भिन्नदुःख अन्य अमुक्त आत्माओं के दुःख ही होंगे जिनका ध्वंस पूर्वोक्त रूप से उन अमुक्त आत्माओं में स्वरूप सम्बन्ध से रहने के, तथा पक्ष में कदापि न रहने के कारण बाध की उपस्थिति होगी । प्रागभाव पद विशेषण रहने से एतदीयदुःख-प्रागभाव-समानकालीन एतदीयदुःख शब्द से पक्षभूत मुक्तात्मा के चरमदुःख का ग्रहण नहीं हो सकता है। चरमदुःख उस मुक्तात्मा के किसी दुःखप्रागभाव के समानकालीन नहीं होता है । अतः द्वितीय एतदीयदुःख शब्द से अब उसका ग्रहण नहीं होगा । जिससे तद्भिन्नदुःख होने से उसका ध्वंस उसी पक्षभूत आत्मा में स्वरूप सम्बन्ध से रहने के कारण बाध का अवसर नहीं रहेगा । क्यों कि इस स्थिति में पक्षभूत मुक्तात्मा के चरमदुःख ही एतदीय (उस मुक्तात्मा के) दुःख-प्रागभावसमान-कालीन एतदीय (उस मुक्तात्मा के) दुःख (संसार काल के दुःख) से भिन्नदुःख के अन्तर्गत हो सकेगा । अन्य अमुक्त आत्माओं के समस्त दुःख तथा पक्षभूत मुक्तात्मा के केवल चरमदुःख ही उन विशेषणों से युक्त होते हैं । अतः उन दुःखों के ध्वंस भी अपने प्रतियोगियों के अधिकरण में स्वरूप सम्बन्ध से रहने के कारण चरमदुःख का ध्वंस स्वरूपसम्बन्ध से पक्षभूत मुक्तात्मा में तथा अमुक्त आत्माओं के समस्त दुःखों के ध्वंस भी तत्तद् ध्वंस के प्रतियोगिभूत दुःखों के अधिकरणों (अमुक्त आत्माओं) में स्वरूपसम्बन्ध से रहेगा । फलतः बाध हेत्वाभास का अवसर नहीं रहेगा ।

साध्यांश में द्वितीय 'एतदीय' पद का प्रयोग रहने से दृष्टान्त साध्यविकल न होगा। अन्यथा साध्य का रूप होगा—एतदीय दुःखप्रागभावकालीनदुःखभिन्न-दुःखध्वंस । तदानीं पक्षभूत मुक्तात्मा के संसार काल के दुःख प्रागभावों के समानकालीन दुःख शब्द से अन्य अमुक्त आत्माओं के दुःखों का ही ग्रहण हो सकेगा । (स्मरण रखना है कि मुक्त आत्मा के चरम दुःख उसके संसारकालीन दुःखप्रागभावों के समानकालीन नहीं होता है) । ऐसा होने से अन्य अमुक्त आत्माओं के दुःख एतदीय (मुक्तत्मा के) दुःखप्रागभाव के समानकालीन दुःख होने से तद्भिन्न दुःख शब्द से केवल मुक्तात्मा के चरमदुःखध्वंस ही प्राप्त होगा। फलतः मुक्तात्मा को छोड़कर अन्य कहीं एतदीयदुःखप्रागभाव-समानकालीन-दुःखभिन्न-दुःख विद्यमान न होने से साध्याप्रसिद्धि (साध्यधर्म का निश्चयाभाव) के कारण दृष्टान्तासिद्धि दोष हो जायेगा । उक्त विशेषण के रहने से पक्षभूत इदमात्मरूप मुक्तामा के संसारकाल के दुःखप्रागभावों के समानकालीन उसी आत्मा के दुःख ही होंगे और उस आत्मा के चरम दुःख तथा अन्य अमुक्त आत्माओं के दुःखों के उस दुःख से भिन्न होने के कारण उन दुःखों के ध्वंस का अधिकरण अन्य अमुक्त आत्माओं के हो जाने के कारण दृष्टान्तभूत अन्य अमुक्त आत्माओं में वह दुःखभिन्न दुःखध्वंस निश्चितज्ञान का विषय होने से दृष्टान्त साध्य-विकल न होगा । यहाँ साध्याप्रसिद्धि के कारण दृष्टान्तविकल होने से साध्याप्रसिद्धि ही वास्तविक दोष है ।

प्रकाशकार इस अनुमान को भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति का साधक नहीं

समझते हैं। क्योंकि इस अनुमान में हेतुभूत 'अनित्यज्ञानाश्रयत्व' में 'अन्यात्मत्व' रूप उपाधि उपलब्ध है। सोपाधिकत्व के कारण वह हेतु साध्यनिश्चय नहीं करा सकेगा। अन्यात्मत्वरूप धर्म पक्षभिन्न समस्त आत्मा में अनित्यज्ञानाश्रयत्वरूप हेतु के साथ विद्यमान रहने से अन्य आत्माओं में इसका साध्यव्यापकत्व निश्चित हो जाता है। परन्तु अनित्यज्ञानाश्रयत्वरूप हेतु मुक्तात्मा में निश्चित रूप से विद्यमान होते हुए उसमें अन्यात्मत्व का अभाव रहने से वह हेतु का अव्यापक ही है। अतः सोपाधिकत्व के कारण यह हेतु साध्य का अनुमापक न होगा[१]।

परन्तु विचार करने पर इस हेतु को हम सोपाधिक नहीं कह सकते हैं। क्योंकि 'अन्यात्मत्व' रूप उपाधि वस्तुतः 'पक्षभिन्नत्व' में ही पर्यवसित होगा। 'पक्षभिन्नत्व' को उपाधि स्वीकार करने पर अनुमानमात्र का ही उच्छेद हो जायेगा। अतः उक्त अनुमान द्वारा दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्तिरूप मोक्ष का अनुमान होना हम सम्भव मानते हैं।

सर्वमुक्तिरित्येव नेष्यत इति चेत्, तर्हि य एव नापवृज्यते तस्यैव दुःखसन्तानेनैकान्तिकमिदं, किमुदाहरणान्तरगवेषणया। एवमस्तु। न चोदाहरणमादरणीयमिति चेन्न, नासिद्धेः। सिद्धौ वा संसार्येकस्वभावा एव केचिदात्मान इति स्थिते अहमेव यदि तथा स्यां तदा मम विपरीत-प्रयोजनं पारिव्राजकमिति शङ्कया न कश्चित् तदर्थं ब्रह्मचर्यादिदुःखमनु-भवेत्।

[(यदि कहा जाय कि) "सभी की मुक्ति होती है" यह अभिप्रेत नहीं है (सभी की मुक्ति होगी यह हम स्वीकार नहीं करते हैं) तथापि (इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि) जो मुक्त नहीं हैं उनका दुःखसन्तान में ही यह (पूर्वोक्त सन्ततित्वरूप हेतु) अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हो जाता है। (अतः) अन्य उदाहरण के अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं है (यदि पूर्वपक्षी सर्वमुक्ति अर्थात् महाप्रलय स्वीकार न करें तो जो अमुक्त रह जायेगा उसी के दुःखसन्तान आत्यन्तिक रूप से उच्छिन्न न होने से उस दुःखसन्तान में ही पूर्वोक्त अनुमान के साध्यभूत 'आत्यन्तिक उच्छेद' न रहा परन्तु सन्ततित्वरूप हेतु उसमें भी विद्यमान रहने के कारण पूर्वपक्षी द्वारा स्वीकृत अमुक्त आत्मा के दुःख-सन्तान में ही 'सन्ततित्व' रूप हेतु का व्यभिचार सिद्ध हो जाने के कारण उनके लिए पार्थिवपरमाणुरूप-सन्तति में सन्ततित्वरूप हेतु का व्यभिचार उद्भावन अनावश्यक है।

१. तन्न। अन्यात्मस्योपाधित्वात्। प्रकाश, पृ० ५६

(यदि पूर्वपक्षी कहें कि) वैसा ही हो (अर्थात् अमुक्त आत्माओं के दुःखसन्तानों में हेतु साध्य का व्यभिचारी हो) उदाहरण (अर्थात् पार्थिवपरमाणु के रूपसन्तानों में व्यभिचारप्रदर्शक अन्य उदाहरण) आदरणीय नहीं। (यह कहने पर भी कहा जा सकता है कि) नहीं (अर्थात् अमुक्त आत्माओं के दुःख-सन्तानरूप उदाहरण के बल पर पूर्वपक्षी द्वारा पूर्वप्रदर्शित हेतु में साध्यव्यभिचार प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है); क्योंकि (वह) असिद्ध है (अर्थात् पूर्वोल्लिखित अनुमान द्वारा प्रत्येक आत्मा की दुःखसन्तति का आत्यन्तिक-उच्छेद प्रमाणित रहने के कारण इस प्रकार का कोई संसारी आत्मा प्रमाणसिद्ध नहीं जिसकी दुःखसन्तति कभी भी आत्यन्तिकरूप से उच्छिन्न न होगी)।

(उस प्रकार आत्मा प्रमाण द्वारा) सिद्ध रहने पर कोई आत्मा संसारी रूप एकमात्र स्वभाव ही है यह स्थिति रहने से (अर्थात् किसी किसी आत्मा की मुक्ति कभी भी न होगी यह पूर्वपक्षी स्वीकार करने पर) "यदि मैं ही उस प्रकार का हूं तो मेरी प्रव्रज्या (संन्यासादिव्रत) विपरीतप्रयोजन (अर्थात् प्रयोजन के विपरीत का साधक) हो जायेगा" इस आशङ्का के हेतु (प्रत्येक जीव के लिए यह शङ्का स्वाभाविक होने से) कोई भी उस (प्रव्रज्या) के लिए ब्रह्मचर्यादिरूप दुःख का अनुभव नहीं करेगा (नहीं करना चाहेगा)।]

अथ यदि सर्वदुःखसन्ततिनिवृत्तिर्भविष्यति तर्हीयता कालेन किं नाम नाभूत्। एकैकस्मिन् कल्पे यद्येकोऽप्यपवृज्येत तदाप्युच्छेदः संसारस्य स्यात्, कल्पानामनन्तत्वात्। सत्यम्। अनन्ता ह्यपवृक्ता न तु सर्वे, सम्प्रति संसारस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। नन्वेतदेव न स्यादित्युच्यत इति चेन्, न। कालनियमे प्रमाणाभावात्।

[यदि (सिद्धान्ती के विचारानुसार) समस्त जीवों की दुःखसन्तति का उच्छेद होता है तब इतने काल में क्यों नहीं हुआ (अर्थात् इतने काल तक हो जाना उचित था) ? एक-एक कल्प में यदि एक-एक जीव भी अपवृक्त (मुक्त) हुआ होता तब भी संसार का उच्छेद हो गया होता, क्योंकि कल्पों की अनन्तता है (अनन्त कल्प अतीत हो चुका है)।]

(समाधानार्थ सिद्धान्ती कह सकते हैं कि पूर्वपक्षी ने जैसा कहा है वह) सत्य है। (आज तक) अनन्त (असंख्य) जीव ही अपवृक्त (मुक्त) हो चुके हैं। (किन्तु) समस्त (मुक्त) नहीं। क्यों कि इस समय संसार की प्रत्यक्षसिद्धता है। (यदि पूर्वपक्षी कहें कि) यह न होना ही उचित था (अतीत अनन्त कल्पों के एक-एक

में भी यदि एक-एक जीव मुक्त हुए होते तो इस समय तक समस्त जीवों की ही मुक्ति हो जाने के कारण प्रत्यक्षसिद्ध संसार का न रहना ही उचित था), (सिद्धान्ती कहते हैं कि) नहीं (पूर्वपक्षी का शङ्का समीचीन नहीं), क्योंकि काल के नियम के विषय में प्रमाण का अभाव है। (अर्थात् किसी निर्दिष्ट काल के मध्य में ही समस्त जीव मुक्त हो जायेंगे यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः इस समय तक समस्त जीव की मुक्ति न होने पर भी आगे वह कभी न होगी यह प्रमाण सिद्ध नहीं किया जा सकता है)।]

न च सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तादृष्टानुत्पत्तौ सर्वमुक्तेरनुत्पत्तिः। अपवर्गस्य भोगतत्साधनेतरत्वात्। न ह्यदृष्टनिवृत्तिरदृष्टसाध्या एकस्याप्यनपवर्गप्रसङ्गात्।

[यह भी (कहना) उचित नहीं कि, समस्त सादिपदार्थ ही (अपनी उत्पत्ति में) अदृष्टसापेक्ष होने से (मुक्ति भी सादि होने से अदृष्टसापेक्ष होगा तथा भोगजनक अदृष्ट प्रमाणसिद्ध होने पर भी मोक्षजनक अदृष्ट प्रमाणसिद्ध न होने से) अदृष्टरूप कारण के अभाववश सर्वमुक्ति अनुत्पन्न ही रहेगी। क्योंकि अपवर्ग (मोक्ष) भोग भी नहीं, भोगसाधन भी नहीं है। (अर्थात् भोग तथा भोगसाधन सादि वस्तुओं की उत्पत्ति अदृष्टसापेक्ष है। सादि वस्तु मात्र की उत्पत्ति अदृष्टसापेक्ष नहीं है। अतः मोक्ष सादि होने पर भी अदृष्टनिरपेक्ष होने से अदृष्ट के अभाव में भी उत्पन्न हो सकता है)। (सादि होने पर भी) अदृष्ट निवृत्ति को कोई भी अदृष्टसाध्य नहीं कहता है क्योंकि (मोक्ष में अदृष्ट की अपेक्षा स्वीकृत होने से सर्वमुक्ति तो दूर रही) एक भी जीव की मुक्ति न हो सकेगी।]

यहाँ पूर्वपक्षी जन्यवस्तुमात्र के प्रति अदृष्ट की कारणता मानकर मुक्तिजनक अदृष्ट को अस्वीकार कर सर्वमुक्ति का निषेध करता है। उसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि समस्त जन्यवस्तु में अदृष्ट की कारणता कल्पित होने पर भी मुक्ति में किसी अदृष्ट की कारणता कल्पित नहीं हो सकती है। क्योंकि मुक्ति के प्रति अदृष्ट कारण होने पर उस अदृष्ट की उत्पत्ति श्रवण मनन अथवा निष्काम कर्म आदि से ही होगी। परन्तु उस प्रकार अदृष्ट को मोक्षसाधन स्वीकार करने से मोक्ष की सम्भावना नहीं रहती है। ज्ञान, प्रायश्चित्त आदि का अनुष्ठान अथवा भोग से अदृष्ट का क्षय शास्त्र में स्वीकृत है। प्रस्तुत स्थल में भोगविरोधी होने से वह अदृष्ट भोगनाश्य न होगा। प्रायश्चित्त द्वारा भी उस प्रकार अदृष्ट का नाश मुक्ति के स्थल में सम्भव नहीं है। एकमात्र ज्ञान से ही उस प्रकार अदृष्ट का नाश हो सकता है। मुक्ति का प्रथम सोपान (सीढ़ी)

ज्ञान है। उसकी उत्पत्ति बहुपूर्वकाल में होने से उस ज्ञान द्वारा अदृष्ट का नाश भी मुक्ति से बहुपूर्वकाल में ही हो जायेगा। इसलिए ज्ञाननाश्य अदृष्ट को मुक्ति का उपाय कहा नहीं जा सकता है। अतः मुक्तिजनक कोई अदृष्ट स्वीकार करने पर मुक्ति होने पर भी मुक्तात्मा में वह अदृष्ट बना रहेगा यह मानना पड़ेगा। परन्तु अदृष्टविशिष्ट जीव को मुक्त कहा नहीं जा सकता है। इसीलिए पूर्वपक्षी कहता है कि सादित्व के कारण मुक्ति की अदृष्टसापेक्षता प्रमाणित रहने से तथा उस प्रकार अदष्ट की सम्भावना न रहने से कारणाभाववश सर्वमुक्ति स्वीकृत नहीं हो सकती है।

इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षी जन्यमात्र के प्रति अदृष्ट की कारणता मानकर उल्लिखित आशङ्का किये हैं। वस्तुतः भोग तथा उसके साधन प्रत्येक भाववस्तु के प्रति अदृष्ट की कारणता शास्त्र में स्वीकृत है। जन्य होने पर भी मोक्ष भोग अथवा भोगसाधन रूप भावपदार्थ न होने से अदृष्टसापेक्ष नहीं है। अतः कारण के अभाव में सर्व मुक्ति का निषेध पूर्वपक्षी कर नहीं सकते हैं। अदृष्टनाश के प्रति प्रतियोगी होने से अदृष्ट कारण होने पर भी भोग अथवा भोग्यवस्तु के तुल्य अन्य रूप से वह अदृष्टनाश का कारण नहीं होता है। जन्यभावपदार्थों के प्रति भोग तथा भोगसाधन के रूप में अदृष्ट की कारणता स्वीकार करना पड़ेगा। इस स्थिति में भी यदि पूर्वपक्षी जन्यमात्र के प्रति अदृष्ट की कारणता मानेंगे तो मुक्तिदशा में मुक्तिजनक अदृष्ट की अनुवृत्ति के हेतु जीव की मुक्ति भी सम्भव न होगी।

भावाभावसाधारण उत्पन्नवस्तुमात्र के प्रति अदृष्ट को कारण मानकर यदि चरम दुःखनाश रूप मुक्ति के प्रति अदृष्ट की कारणता माना जाय तथा उक्त अदृष्ट का नाश चरमदुःख से हो तब अवश्य ही चरमदुःख तथा वह अदष्ट दोनों का सुन्दोपसुन्दन्यायानुसार परस्पर नाश्यनाशकभाव बनने के कारण एक काल में ही दोनों का नाश की कल्पना की जा सकती है[1] तथा मुक्तिकाल में अदष्ट की अनुवृत्ति भी न रहेगी। परन्तु यह प्रमाणविरोधी कल्पनामात्र है। इसमें भी अदष्टनाशरूप जन्यवस्तु के प्रति अदष्ट की कारणता न रही। क्योंकि दुःखद्वारा ही उस अदष्ट का नाश स्वीकृत हुआ अदष्ट द्वारा नहीं। यद्यपि उस अदष्टनाश के प्रति प्रतियोगी के रूप में उस अदष्ट की कारणता है तथापि वह जन्यत्वावच्छिन्न कार्यता-निरूपित-अदष्टत्वावच्छिन्न कारणता नहीं है। परन्तु जन्यभावत्वावच्छिन्नकार्यता निरूपित अदष्टत्वावच्छिन्नकारणता है। ऐसा होने से भोग तथा भोगसाधन के प्रति अदष्ट की कारणता रहते हुए मुक्ति के प्रति उसकी कारणता नहीं रहती है। अतः अदष्टरूप कारण के अभाव से मुक्ति की अनुपपत्ति प्रमाण सिद्ध नहीं होगी।

---

१. चरमदुःखेनादृष्टं चरमदुःखञ्चादृष्टेन नाश्यत इति अन्योन्यनाशकत्वाभिप्रायेण सुन्दोपसुन्दन्याय इत्यर्थः। प्रकाशविवृति, पृ० ६५

स्यादेतद्, आदिमती प्रदीपसन्ततिर्निवर्त्तते दुःखसन्ततिस्त्वयमनादिरनुवर्त्तिष्यत इति चेन्, नः मूलोच्छेदानुवृत्त्योः प्रयोजकत्वात्। मूलोच्छेदाद्धि सन्ततेरुच्छेदो मूलानुवृत्तौ चानुवृत्तिः। अन्यथा आदिमत्त्वाविशेषेऽपि कालानियमो न स्यात्। काचित् प्रदीपसन्ततिः प्रहरमनुवर्त्तते काचिदहोरात्रमित्याद्यनियमो हि तैलादिमूलोच्छेदादिनियमप्रयुक्त इति। अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत इत्याद्यागमाच्चायमर्थोऽध्यवसेयः।

[यद्यपि यह सम्भव है कि (पूर्वोक्त मुक्तिसाधक अनुमान में दृष्टान्तरूप से उपस्थापित) प्रदीपसन्तति सादि (कार्य) तथा आत्यन्तिक रूप से उच्छिन्न हो जाती है, तथापि अनादि है इसी लिए वह (दुःखसन्तति) अनुवृत्त होगा (आत्यन्तिक रूप से उच्छिन्न न होगा)—इस प्रकार प्रश्न उचित नहीं। क्योंकि मूल के उच्छेद तथा मूल की अनुवृत्ति ही (सन्तति के उच्छेद तथा सन्तति की अनुवृत्ति का) नियामक हैं। मूल के उच्छेद से ही सन्तति का उच्छेद तथा मूल की अनुवृत्ति से सन्तति की अनुवृत्ति (देखी जाती है)। ऐसा न होने से (मूलोच्छेद से सन्तति के उच्छेद तथा मूल की अनुवृत्ति से सन्तति की अनुवृत्ति न होने से) सादिरूप से अविशिष्ट (समान) वस्तुओं के (अनुवृत्ति तथा उच्छेद के विषय में) काल का अनियम (जो देखा जाता है) हो नहीं सकता है। (समस्त प्रदीपसन्तान तुल्यरूप से सादि होने पर भी) कोई प्रदीपसन्तान एक प्रहर तक अनुवृत्त रहता है और दूसरा सन्तान अहोरात्र तक अनुवृत्त रहता है यह (उनके अनुवर्त्तन काल का) अनियम (जो देखा जाता है) वह तैलादि रूप मूल के उच्छेद तथा अनुवर्त्तन के नियमवश ही होता है। "अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इत्यादि श्रुतिवाक्य से भी यही अर्थ (दुःख सन्तति का अत्यन्त उच्छेद) निर्णीत होता है।]

'दुःख सन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते कार्यत्वात् (सन्ततित्वात्) प्रदीपसन्ततिवत्' इस अनुमान में प्रदीपसन्तति का दृष्टान्त रूप से उपन्यास के विरोध में यह शङ्का हो सकती है कि इस दृष्टान्त में दार्ष्टान्तिक के साथ वैषम्य रहने के कारण इस अनुमान द्वारा दुःखसन्तति का आत्यन्तिक उच्छेद प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता है। इस अनुमान के दृष्टान्त प्रदीपसन्तति सादि वस्तु है तथा दार्ष्टान्तिक दुःखसन्तति अनादि वस्तु है। सादि वस्तु प्रदीपसन्तति को दृष्टान्त रूप में लेकर कार्यत्वरूप हेतु से अनादि दुःखसन्तति में आत्यन्तिक उच्छेद प्रमाणित करना समीचीन नहीं है।

इस शङ्का पर कहा जा सकता है कि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में वैषम्य प्रदर्शित करते हुए पूर्वपक्षी उक्त अनुमान को असङ्गत कहने से उनके मत में अनुमानप्रमाणमात्र का उच्छेद हो जायेगा। क्योंकि समस्त अनुमान में ही दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में किसी न किसी अंश में वैषम्य अवश्य रहता है। अतः दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक में वैषम्य प्रदर्शन करते हुए अनुमान में दोषाविष्कार सङ्गत नहीं। किन्तु हमारे विचार से सिद्धान्तिपक्ष का यह उत्तर उचित नहीं है। क्योंकि पूर्वपक्षी दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में वैषम्यमात्र के बल पर ही उक्त अनुमान को असङ्गत नहीं कहता है। परन्तु उस वैषम्य के हेतु सिद्धान्ती के उल्लिखित अनुमान में सत्प्रतिपक्ष अथवा उपाधि का उद्‌भावन किया है। दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक के सादित्व तथा अनादित्व को देखते हुए पूर्वपक्षी का अनुमान है कि 'दुःख-सन्ततिः न अत्यन्तमुच्छिद्यते अनादित्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रदीपसन्ततिः' इस व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा सिद्धान्ती के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष का उद्‌भावन करना पूर्वपक्षी का आशय है।[१] यहाँ आकाश को दृष्टान्त रूप से लेने पर प्रतिपक्ष के अनुमान को अन्वयव्यतिरेकी भी कहा जा सकता है।[२] आकाशदृष्टान्त के बल पर 'अनादि' वस्तु का अत्यन्तोच्छेद नहीं होता है यह प्रमाणित हो जाता है। आत्यन्तिक अनुच्छेद के व्याप्य होने से 'अनादित्व' हेतु से दुःखसन्तति का आत्यन्तिक अनुच्छेद अवश्य ही प्रमाणित होगा। इसी सत्प्रतिपक्ष के उद्‌भावन के अभिप्राय से ही पूर्वपक्षी ने अनुमान में गृहीत दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक के वैषम्य का उल्लेख किया है।

अथवा सिद्धान्ती के अनुमान में उपाधि के उद्‌भावन के लिए वैषम्य का उल्लेख किया गया है। पूर्वपक्षी समझता है कि उस अनुमान में 'सादित्व' रूप धर्म उपाधि हुआ है। क्योंकि वस्तुओं, जिनके आत्यन्तिक उच्छेद उभयवादिसिद्ध है, सभी सादि होते हैं तथा कार्यत्वरूप हेतु के आश्रय दुःखसन्ततिरूपपक्ष सादित्वधर्मयुक्त नहीं है। अतः अत्यन्त उच्छेदरूप साध्य के व्यापक तथा कार्यत्वरूप हेतु का अव्यापक सादित्वरूप धर्म सिद्धान्ती के अनुमान में उपाधि हो गया है। अतः वह अनुमान दुःखसन्तति का आत्यन्तिक उच्छेद प्रमाणित नहीं कर सकता है।

जिस 'अनादित्व' हेतु के बल पर दुःखसन्तति का आत्यन्तिक अनुच्छेद प्रमाणित करने का प्रयास पूर्वपक्षी ने किया है उस अनादित्व को उन्होंने अनुत्पन्नत्व ही मान लिया है। परन्तु अनुत्पन्नत्व को 'अनादित्व' मानने पर दुःखसन्ततिरूप पक्ष में अनादित्व अर्थात् अनुत्पन्नत्व न रहने से हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायेगा। अतः स्वाश्रयध्वंसव्याप्यप्रागभाव-

१. तथा च तद्‌व्यतिरेकमादाय केवलव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षत्वमादिमत्वञ्चोपाधिरित्यर्थः। प्रकाश, पृ० ६५-६

२. ननु दुःखसन्ततिरत्यन्तानुच्छिन्ना अनादित्वाद् इत्यत्राकाशदृष्टान्तेन अन्वयव्यतिरेकित्व-सम्भवे किं केवलव्यतिरेक्युपन्यासेनेति चेत्। प्रकाशविवृति पृ० ६६

प्रतियोगिमात्रवृत्तिधर्मवत्त्वरूप ही अनादित्व कहना पड़ेगा।[1] इस प्रकार अनादित्व उत्पन्न वस्तु में भी सम्भव होने से दुःसन्ततिरूप पक्ष में रह सकेगा तथा पूर्वपक्षी द्वारा उद्भावित प्रतिपक्षभूत अनुमान के 'हेतु' स्वरूपासिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार 'अनादित्व' आकाश में न होने से प्रतिपक्ष अनुमान के अन्वयी दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं होगा। फलतः प्रतिपक्षअनुमान केवलव्यतिरेकी ही रहेगा। यदि किसी वस्तु प्रवाह के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु के प्रागभाव के अधिकरणीभूत प्रत्येक क्षण में तज्जातीय अपर एक वस्तु का ध्वंस वर्त्तमान रहे तभी वह वस्तुप्रवाह अनादि होगा। तात्पर्य यह है कि यदि प्रत्येक प्रागभाव के स्थल में अन्य एक वस्तु का ध्वंस वर्त्तमान रहे तब प्रत्येक प्रागभाव के पूर्व ही तज्जातीय एक वस्तु रहना आवश्यक होगा अन्यथा उसका ध्वंस हो नहीं सकता है। इस प्रकार होने से प्रवाह का आदि नहीं प्राप्त होगा। प्रस्तुत निर्वचन में स्वपद से 'दुःखत्व' रूप धर्म का ग्रहण होगा। उस दुःखत्व के आश्रय एक एक दुःख व्यक्ति के प्रत्येक के प्रागभाव काल में दूसरे एक एक दुःखव्यक्ति का ध्वंस वर्त्तमान रहता है ऐसा पूर्वपक्षी समझता है। अतः उनके मत से दुःख उत्पन्न होने पर भी उसमें स्वाश्रयध्वंसव्याप्यप्रागभावप्रतियोगिमात्रवृत्ति-दुःखत्वरूप अनादित्व रहने के कारण वह स्वरूपासिद्ध न होगा। इसी अभिप्राय से पूर्वपक्षी अनादित्व रूप हेतु द्वारा प्रतिपक्ष अनुमान उपस्थापित किया है।

उपर्युक्त प्रतिपक्ष अनुमान में अर्थात् "दुःखसन्ततिः न अत्यन्तमुच्छिद्यते अनादित्वात्" इस अनुमान में दोष प्रदर्शन के लिए किरणावलीकार ने "मूलोच्छेदाद्धि सन्ततेरुच्छेदः मूलानुवृत्तौ चानुवृत्तिः" यह पंक्ति कहा है। इससे अनादित्वरूपधर्म सन्तति के आत्यन्तिक अनुच्छेद का नियामक नहीं अपितु मूल के अनुच्छेद ही अनुच्छेद का नियामक है कहा गया है। यह कभी कहा नहीं जा सकता है कि अनादि होने से ही दुःख सन्तति का आत्यन्तिक उच्छेद न होगा। यदि व्यभिचारादि दोष न रहने से 'अनादित्व' भी अनुच्छेद का व्याप्य होने से उसका अनुमापक होगा यह आशा पूर्वपक्षी करेंगे तो सिद्धान्ती का वक्तव्य यह है कि पूर्वपक्षी के अनुमान में प्रयुक्त अनादित्व रूप हेतु में "अनुच्छिन्नमूलत्व" रूप धर्म के रहने के कारण वह हेतु भी सोपाधिक होने से अनुमापक नहीं है। उनके अनुमान में आत्यन्तिक अनुच्छेद साध्य है। वह आकाशादि नित्यपदार्थों में सर्ववादिसिद्ध है। तथा आकाशादि नित्य वस्तु में अनुच्छिन्नमूलत्व अर्थात् 'उच्छिन्नमूलभिन्नत्व' रूप धर्म भी वर्त्तमान है। अतः वह साध्य का व्यापक है। प्रतिपक्ष अनुमान में अनादित्वरूप हेतु के आश्रय के रूप में दुःख सन्ततिरूप पक्ष भी प्राप्त है। क्योंकि दुःखसन्तति के अनादित्व दोनों वादी ने ही स्वीकार किया है। परन्तु दुःखसन्तति में 'अनुच्छिन्नमूलत्व' रूप धर्म उभयवादिसिद्ध नहीं है। इसलिए वह अनादित्व रूप हेतु का अव्यापक भी होता है। इससे अनुच्छिन्नमूलत्व रूप धर्म में साध्य की व्यापकता तथा हेतु की अव्यापकता दोनों बनने के कारण वह उपाधि होता

---

१. अनादित्वं हि स्वाश्रयध्वंसव्याप्यप्रागभावप्रतियोगिमात्रवृत्तिमत्त्वम्। प्रकाश, पृ० ६६

है। सोपाधिक होने से अनादित्व हेतु आत्यन्तिक अनुच्छेद का अनुमापक है यह पूर्वपक्षी कह नहीं सकते। फलतः सिद्धान्ती के लिये अपने पूर्वोक्त अनुमान की सहायता से दुःख-सन्तति का आत्यन्तिक उच्छेद अर्थात् मुक्ति का अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

स्यादेतत्, तत्त्वज्ञानं हि विरोधितया समूलं मिथ्याज्ञानमुन्मूलयन्निःश्रेयसहेतुः। न चोपपत्त्या शब्देन वा जनितमिदं परोक्षमपरोक्षं मिथ्याज्ञानं निवर्त्तयितुमुत्सहते दिङ्मोहादौ तथानुपलब्धेः। ततोऽपरोक्षमभ्युत्थायि बलवत्तरं तत्त्वज्ञानं तन्निवर्त्तनसमर्थम्। तच्च कुतो-भवतीत्यत आह, तच्चेति। ईश्वरस्य चोदना उपदेशो वेद इति यावत्। तेनाभिव्यक्तात् प्रतिपादिताद् धर्मादेवेत्यर्थः। अयमर्थः, शास्त्रेण पदार्थान् विविच्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणोपदिष्टयोगविधिना दीर्घकालादरनैरन्तर्या-सेवितान्निवृत्तिलक्षणाद् धर्मादेव तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, यतोऽपवृज्यते। नह्युपपत्त्या विना विवेको, न च विवेकाद्विनोपदेशमात्रेणाश्रद्धामलक्षालनं, न च तेन विना शङ्काशूकत्यागो, न च तमन्तरेण निवर्त्तकोधर्मो, न च तेन विना दृढभूमिविभ्रमसमुन्मूलनसमर्थस्तत्त्वसाक्षात्कार इति।

[यह हो सकता है कि तत्त्वज्ञान विरोधी होने के हेतु मूलसहित मिथ्या-ज्ञान को उन्मूलित कर निःश्रेयस (मुक्ति) का हेतु हो। (किन्तु) उपपत्ति (युक्ति) अथवा शब्द द्वारा उत्पन्न यह परोक्ष (तत्त्वज्ञान) अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) मिथ्याज्ञान को निवृत्त करने में समर्थ न होगा। क्योंकि दिग्भ्रमादि स्थल में वैसा देखा नहीं जाता है। (अर्थात् वाक्यादिजनित दिगादिविषयक परोक्ष यथार्थज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष दिगादिभ्रम की निवृत्ति देखी नहीं जाती है)। इसलिए अभ्रान्त, अतिशय बलवान् प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान ही उसका (अपरोक्ष मिथ्याज्ञान का) निवर्त्तन में समर्थ है। उक्त तत्त्वज्ञान किस साधन द्वारा होगा इस जिज्ञासा के उत्तर में ही मूल (प्रशस्तपादभाष्य) में 'तच्च' इत्यादि ग्रन्थ कहे गये हैं। ईश्वर की 'चोदना' (अर्थात्) उपदेश (अर्थात्) वेद नाम से जो प्रसिद्ध है, उसके द्वारा अभिव्यक्त (अर्थात्) प्रतिपादित धर्म से ही (वह होता है) यही अर्थ है। इसका भावार्थ यह है कि, शास्त्रद्वारा पदार्थों के विचारपूर्वक वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि में उपदिष्ट योगक्रिया की सहायता से दीर्घकाल तक आदर के साथ निरन्तर अनुष्ठित निवृत्तिरूप धर्म से ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है,

जिससे (जीव) अपवृक्त (मुक्त) होता है । उपपत्ति (विचार) के बिना विवेक (अनात्मा से पृथक्‌रूपी आत्मा का ज्ञान) नहीं होता, विवेक के बिना केवल उपदेश (शब्दज ज्ञान) द्वारा अश्रद्धा (अविश्वासरूप मल) दोष का क्षालण नहीं होता । उस (अश्रद्धा के क्षालण) के बिना शङ्का रूप शल्य का त्याग नहीं होता, उस (शङ्का रूपी शल्य का त्याग) के बिना निवर्त्तक धर्म (निवृत्ति रूप धर्म) (उत्पन्न) नहीं होता, उस (निवर्त्तक धर्म) के बिना दृढ़मूल भ्रमज्ञान का समुत्पाटनसमर्थ तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता है ।]

यहाँ "न चोपपत्त्या शब्देन वा जनितमिदं परोक्षम्" इस ग्रन्थ में प्रयुक्त उपपत्ति तथा शब्द यह दो शब्द से साधारणतया युक्तिजन्य आत्मज्ञान तथा वाक्यजन्य अर्थात् शाब्द आत्मज्ञान यह द्विविध आत्मज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा गया है । उपपत्तिजन्य आत्मज्ञान को अनुमानलभ्य आत्मज्ञान ही समझना चाहिये । अर्थात् जिन युक्तियों की सहायता से आत्मा को शरीर तथा इन्द्रियादि से पृथक् तथा ज्ञानादि के आश्रयरूप समझा जा सके ऐसे अनुमित्यात्मक आत्मज्ञान ही यहाँ उपपत्तिजनित आत्मज्ञान है । वैशेषिक मत में शब्द की पृथक् प्रमाणता स्वीकृत नहीं, उसे अनुमान में अन्तर्भूत किया गया है । अतः तदनुसार शब्दलिङ्गक आत्मानुमान को ही शब्दजनित परोक्षज्ञान समझना होगा । फलतः उपपत्ति पद को शब्दातिरिक्त लिङ्ग अथवा युक्ति अर्थ में ग्रहण करना है । अथवा आचार्य ने न्यायमत को अनुसरण करते हुए आत्मविषयक शाब्दज्ञान को ही परोक्षज्ञान कहा है यह भी कहा जा सकता है । न्यायमत में शब्द का पृथक् प्रामाण्य स्वीकृत है । 'रहस्य' टीका में मथुरानाथ तर्कवागीश ने उक्त पंक्तियों की इसी प्रकार व्याख्या की है ।[1]

परोक्ष तत्त्वज्ञान से अपरोक्ष मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है यह सर्ववादि-सम्मत है । अतः संसारी जीव के देहादि में आत्मभ्रम अपरोक्ष होने से, पूर्वोक्त युक्ति अथवा शब्दजन्य आत्मविषयक परोक्ष तत्त्वज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं होगी । इसीलिए आत्म-विषयक अपरोक्ष तत्त्वज्ञान को आत्मविषयक भ्रम का निवर्त्तक कहना पड़ेगा । अपरोक्ष आत्मतत्त्वज्ञान किन उपायों से लाभ करना सम्भव है यह प्रदर्शन के लिए कहा गया है कि ईश्वरचोदना से अभिव्यक्तधर्म से ही शरीरादि में आत्मभ्रम का निवर्त्तक आत्मविषयक अपरोक्ष तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है । 'ईश्वरचोदना' पद से ईश्वरोपदिष्ट वेद का उल्लेख किया गया है । वेद के द्वारा अभिव्यक्त अर्थात् प्रतिपादित धर्म को ही अपरोक्ष आत्मतत्त्वज्ञान का कारण समझना है ।

---

१. उपपत्त्येति अनुमानेनेत्यर्थः । शब्देन वेति । यद्यप्येतन्मते शाब्दं ज्ञानं नास्ति तथापि न्यायमतमभ्युपेत्येदमुक्तम् । यद्वा उपपत्तिपदं शब्देतरलिङ्गपरम् । तथा च शब्देतरलिङ्गेन शब्दलिङ्गेन वेत्यर्थः । रहस्य टी० पृ० ६०

"द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः"[१] इस ग्रन्थ द्वारा प्रशस्तपादने तत्त्वज्ञानको निःश्रेयस का कारण कहा है। तत्त्वज्ञान की मोक्षहेतुता की व्याख्या करते हुए किरणावलीकार ने कहा है कि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान को सम्यक् प्रकार से उच्छेद करके ही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति अर्थात् निःश्रेयस अथवा मुक्ति का कारण होता है। आत्मादिविषयक तत्त्वज्ञान होने पर आत्मादिविषयक मिथ्याज्ञान का समुच्छेद होता है, मिथ्याज्ञान के समुच्छेद से रागद्वेषरूप दोषों का अपगम होता है, दोषों के अपगम से प्रवृत्ति अर्थात् काम्य तथा निषिद्धकर्म अपगत होते हैं अर्थात् उन कर्मों का अनुष्ठान नहीं होता है। प्रवृत्ति के अपगम से जन्म का समुच्छेद अर्थात् आत्यन्तिक उपरम होता है। जन्म उपरत होने से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। दुःख की आत्यन्तिक विनिवृत्ति ही शास्त्रसम्मत निःश्रेयस या मुक्ति है। पूर्वोक्त प्रणाली से ही आत्मादिविषयक तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण होता है।

संसार का हेतुभुत आत्मादिविषयक मिथ्याज्ञान प्रात्यक्षिक है। प्रात्यक्षिक भ्रम का नाश परोक्ष तत्त्वज्ञान से नहीं होता है। इसीलिए मिथ्याज्ञाननाशक तत्त्वज्ञान को किरणावलीकार ने प्रात्यक्षिक कहा है। किसी लौकिक उपाय से वह आत्मादिविषयक प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। वह तत्त्वज्ञान किस उपाय से उत्पन्न हो सकता है इस जिज्ञासा के उत्तर में ही किरणावलीकार ने 'तच्च ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मात्" यह प्रशस्तपाद की पंक्ति का उल्लेख किया हे। इस पंक्ति के 'तत्' पद उसी तत्त्वज्ञान का परामर्श करता है। प्रशस्तपाद का वक्तव्य है कि संसार के निदान (मूलभूत कारण) भ्रमज्ञान को समूल उन्मूलित करने में समर्थ आत्मादिविषयक तत्त्वज्ञान लौकिक उपाय से उत्पन्न नही होता है। योगरूप अलौकिक उपाय से ही वह उत्पन्न होता है। ईश्वरीय चोदना द्वारा अभिव्यक्त अर्थात् वेदप्रतिपादित योग से समुत्पन्न विलक्षण धर्म की सहायता से वह तत्त्वज्ञान का उदय होता है। वह प्रात्यक्षिक मिथ्याज्ञान को निर्वात्तित कर उपर वर्णित प्रणाली से निःश्रेयस का जनक होता है। ईश्वरचोदना शब्द वेद का बोधक है। क्योंकि न्यायवैशेषिक शास्त्रों में ईश्वर को वेदकर्त्ता कहा गया है। उस वेद द्वारा अभिव्यक्त अर्थात् बोधित धर्म अथवा योगज शुभादृष्टविशेष ही उक्त तत्त्वज्ञान का उपाय है। प्रथमतः श्रुतिवाक्य से आत्मतत्त्व को जानना है। अनन्तर शास्त्रनिर्दिष्ट साधर्म्य तथा वैधर्म्य अर्थात् साधारण तथा असाधारण धर्म की सहायता से आत्मतत्त्व का मनन करना है।[२] इसी

१. मुद्रित वैशेषिकसूत्रों में ''''साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानात्''' (१।१।४) पाठ प्राप्त है। परन्तु प्रशस्तपादभाष्य के मुद्रित ग्रन्थों में उक्त सूत्रपाठ तथा "साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानात्" पाठ भी देखा जाता है।

२. परस्पर विरोधी श्रुतिवाक्यों के विचार द्वारा तात्पर्यनिर्णय भी मनन में परिगणित है। वेदान्त में इसे श्रवण कहा जाता है।

मनन को ही तत्त्वविवेचन कहा गया है। तत्त्वविवेचन के पश्चात् उसके श्रुतिस्मृतिविहित ध्यानात्मक निदिध्यासनरूप धर्म का अनुष्ठान आवश्यक है। इस प्रकार अनुष्ठान को शास्त्र में निवृत्तिरूप धर्म कहा गया है। इस धर्म के अनुष्ठान से शुभादृष्टविशेष की प्राप्ति होती है। उसका नामान्तर योगजधर्म है। इसके परिपक्व होकर कार्योन्मुख होने से आत्मतत्त्व का अपरोक्षानुभव होता है। पूर्वोक्त योगाभ्यास श्रद्धा के साथ निरन्तर कर्त्तव्य है।

"तच्च ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव" प्रशस्तपाद की इस पंक्ति में 'तच्च' शब्द की एक मौलिक व्याख्या किरणावली के रहस्यटीकाकार मथुरानाथ तर्कवागीश ने की है। उनके अनुसार साधर्म्यवैधर्म्यरूप हेतु-जन्य आत्मादिविषयक अनुमित्यात्मक परोक्ष तत्त्वज्ञान ही 'तत्' पद का अर्थ है। यह अर्थ प्रशस्तपाद के ग्रन्थ के साथ अधिकत्तर सामञ्जस्यपूर्ण है[1]। क्यों कि पूर्ववर्त्ती प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में साधर्म्यवैधर्म्यहेतुक तत्त्वज्ञान का ही उल्लेख है। इस स्थिति में यह जिज्ञासा होती है कि जो लोग श्रद्धा के साथ वैशेषिकशास्त्र का अध्ययन करते हैं उन सब को ही इस प्रकार मननात्मक तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु वे सभी संसारी जीव हैं। अतः ईदृश तत्त्वज्ञान को मोक्षहेतु किस प्रकार से कहा जायेगा? इसी के उत्तर में प्रशस्तपाद ने "ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव" इस ग्रन्थ की अवतारणा की है। इस ग्रन्थ द्वारा कहा गया है कि वेदकथित निदिध्यासनरूप निवर्त्तकधर्म की सहायता से उक्त मननाख्य तत्त्वज्ञान मोक्ष को लाता है अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि निवर्त्तक धर्म के अनुष्ठान से परवर्त्तिकाल में आत्मतत्त्व के मनन में एक विलक्षणता आती है। वह विलक्षण मनन ही अज्ञाननिवृत्ति द्वारा मोक्ष का आनयन करता है साधारण मनन नहीं। मथुरानाथ के अनुसार संसारकाल में मनन मोक्षजनक न होने पर भी निवर्त्तक धर्मानुष्ठान के पश्चाद्वर्ती मनन अज्ञाननिवृत्ति द्वारा मोक्षजनक होता है। यह व्याख्या पूर्णतया नवीन तथा प्रशस्तपाद के ग्रन्थ के साक्षात् अनुसारी ही है. ऐसा हमारा विचार है। यद्यपि आचार्य प्रशस्तपाद ने अपवर्गनिरूपण के प्रसङ्ग में पदार्थतत्त्वज्ञान को अज्ञान-निवृत्ति का कारण कहा है तथापि वह तत्त्वज्ञान साक्षात्कारात्मक है यह बात उन्होंने कण्ठतः नहीं कहा है। किरणावलीकार आदि व्याख्यातृगण पदार्थतत्त्वज्ञान को आत्मतत्त्वसाक्षात्कार के रूप में मानकर पदार्थतत्त्वज्ञान तथा तज्जनित अन्य एक आत्मतत्त्वसाक्षातकार नाम का

---

१. भाष्ये तच्चेति। साधर्म्यवैधर्म्यहेतुकतत्त्वज्ञानञ्चेत्यर्थः। ईश्वरचोदनेति। ईश्वर-चोदना वेदः। तेनाभिव्यक्त: कथितो यो धर्मो निदिध्यासनरूपस्तस्मादेव तत्सहकारेणैव निःश्रेयसहेतुरित्यनुषज्यते। एतच्च समाधिसौकर्यादुक्तम्। वस्तुतस्तु मननस्यानुमितित्व-व्याप्यवैजात्येनैव मोक्षजनकत्वं, तच्च वैजात्यं संसारिताकालीनसाधर्म्यादिहेतुकतत्त्व-ज्ञानव्यावृत्तमतो न ततो मुक्तिरित्यपि बोध्यमित्येव भाष्यव्याख्यानं ज्यायः। रहस्य, पृ० ५८-५९

ज्ञान की कल्पना करते हैं। यह द्वितीय साक्षात्कारात्मक ज्ञान द्वारा ही अज्ञाननिवृत्ति की कल्पना किया गया है। तथापि मूलग्रन्थ में वह द्विविधज्ञान कण्ठतः कथित नहीं है।

आचार्य व्योमशिव "···साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः" इस ग्रन्थ के 'तत्त्वज्ञान' पद से साक्षात्कारात्मक ज्ञान तक आक्षिप्त होगा या नहीं इस विषय में स्पष्टतया कोई निर्णय नहीं किये हैं। अतः शास्त्र में वर्णित साधर्म्यवैधर्म्यरूप हेतु से मननात्मक तत्त्वज्ञान को ही उनके मत में मोक्ष हेतु समझना होगा। वह तत्त्वज्ञान नित्यनैमित्तिकादि कर्मजन्य-धर्मद्वारा परिपुष्ट होकर मोक्ष का आनयन करता है। आचार्य व्योमशिव ज्ञान तथा कर्म का समुच्चयवादी थे। उनके अनुसार संसारी जीव का भी शास्त्रीय साधर्म्यवैधर्म्यरूप लिङ्गजनित मननात्मक तत्त्वज्ञान रहते हुए मोक्ष नहीं होता। तथापि वह तत्त्वज्ञान मोक्ष के प्रति अन्वयव्यभिचारी न होगा। क्योंकि नित्यनैमित्तिकादि कर्मजनितधर्मरूप सहकारी कारण के अभाववश संसारी जीव के मोक्ष का अभाव है यह समझना पड़ेगा।

'तच्च ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव' इस ग्रन्थ की व्याख्या में आचार्य व्योमशिव ने शंका की हैं कि यदि शास्त्रप्रतिपादित साधर्म्यवैधर्म्यादिलिङ्गजन्य तत्त्वज्ञान ही मुक्ति का कारण हो तब सूत्रकार का उस प्रकार का तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं था। सूत्रकार के काल में पदार्थधर्मसंग्रह आदि ग्रन्थ नहीं थे जिनकी सहायता से साधर्म्यवैधर्म्यादि ज्ञात होकर उन्हें साधर्म्यवैधर्म्यादिलिङ्गजनित तत्त्वज्ञान हो सके[1]। इस प्रकार की शंका के समाधान के लिये ही प्रशस्तपाद ने 'तच्च' इत्यादि उल्लिखित वाक्य को कहा है। इस ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि तादृश तत्त्वज्ञान वेदप्रतिपादित धर्म की सहायता से उत्पन्न होता है। 'धर्मादेव' प्रयोग के "एव"कार "अपि" अर्थ में प्रयुक्त है[2]। ऐसी व्याख्या से पूर्वोक्त शङ्का का अवसर न रहेगा। क्योंकि शास्त्र की सहायता के विना भी सूत्रकार वेदविहित धर्म की सहायता से साधर्म्यवैधर्म्यो को ज्ञात होकर तत्त्वज्ञान का लाभ किये थे। वेदबोधित धर्म की सहायता से साधर्म्यवैधर्म्यो को ज्ञात होकर यह तत्त्वज्ञान लाभ करें इस प्रकार सङ्कल्प ईश्वर का है। इसीलिए व्योमशिवाचार्य यह समझते थे कि वैदिक धर्म की सहायता से भी तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है। उल्लिखित सङ्कल्प को ही उन्होंने 'ईश्वरचोदना' कहा है। ईश्वरसङ्कल्परूप चोदना द्वारा अभिव्यक्त (सहकृत) अर्थात् फलोन्मुखीकृत धर्म के

---

१. तथाहि यदि संग्रहादेव तत्त्वज्ञानं, सूत्रकारस्य न स्यात्, संग्रहाभावात्। व्योमवती (द्रव्य ग्रन्थ, उद्देशप्रकरण) पृ० ३३

२. तथाहि अस्मदादेः संग्रहादेव तत्त्वज्ञानं, यच्च सूत्रकारस्य ज्ञानं तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादिविशेषादेवेति। न च स एवास्त्विति वाच्यम्, अस्मदादेस्तथाविधधर्माभावात्। तथा संग्रहाद् भवत्येव तत्त्वज्ञानं। यदि नाम तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेवेति समुच्चीयमानावधारणमनिर्दिष्टप्रतिषेधार्थम्। व्योमवती, पृ० ३३

कारण साधर्म्यवैधर्म्य ज्ञान हो सकता है[१]। मोक्षनिरूपण के प्रसङ्ग में भी व्योमशिवाचार्य ने शास्त्राभ्यासजनित तत्त्वज्ञान को मोक्षजनक कहा है। वहाँ भी उक्त प्रकार तत्त्वज्ञान से भिन्न किसी साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान को मोक्ष के उपयोगी के रूप में उन्होंने वर्णन नहीं किया है। इससे भी मथुरानाथ की व्याख्या का समर्थन प्राप्त होता है।

"षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यंतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः" प्रशस्तपाद के इस कथन द्वारा तत्त्वज्ञान तथा निःश्रेयस में कार्यकारणभाव प्रदर्शित हुआ है। "तच्च ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव" इस ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए न्यायकन्दलीकार श्रीधर ने कहा है कि यदि हम पूर्वोक्त मूल के अनुसार तत्त्वज्ञान को ही निःश्रेयस का कारण रूप से स्वीकार करते हैं तो "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वै. सू. १।१।२) इस सूत्र से पूर्वोक्त ग्रन्थ का विरोध होगा[२]। सूत्र में धर्म को निःश्रेयस का कारण कहा गया है। इस विरोध के समाधान के लिये न्यायकन्दलीकार ने "तच्च ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव" इस पंक्ति के 'तत्' पद का निःश्रेयस रूप अर्थ ही प्रदर्शन किया है। ऐसा अर्थ होने पर प्रशस्तपाद धर्म को ही मोक्ष के कारण कहने से सूत्र से उनका विरोध नहीं रहता यह न्यायकन्दलीकार का अभिप्राय है[३]। यद्यपि प्रशस्तपाद ने "षण्णां पदार्थानां" आदि पंक्ति द्वारा तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का कारण कहा है तथापि मुक्तिजनक धर्म के उत्पादक होने के कारण ही तत्त्वज्ञान को मुक्ति का प्रयोजक रूप में उन्होंने वर्णन किया है यही समझना चाहिए। धर्म उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जायेगा यह उनका अभिप्राय नहीं है। वह धर्म भी ईश्वरेच्छा द्वारा फलोन्मुख होने से ही मुक्ति होगी, अन्यथा नहीं इस प्रकार अर्थ को व्यक्त करने के हेतु 'तच्च धर्मादेव" ऐसा न कहकर "तच्च ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव" कहा गया है। यहाँ 'ईश्वरचोदना' शब्द ईश्वरेच्छा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। न्यायकन्दलीकार के अनुसार ईश्वरेच्छा द्वारा अभिव्यक्त अर्थात् फलोन्मुख धर्म से ही मोक्ष होता है यही प्रशस्तपाद के ग्रन्थ का अर्थ होगा। 'तच्च' पद के 'च'कार द्वारा साधर्म्यवैधर्म्य तत्त्वज्ञान तथा धर्म यह दोनों के समुच्चय को मोक्ष के प्रति कारण कहा गया है। एकाकी धर्म मोक्ष का कारण नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि कन्दलीकार ज्ञान तथा कर्म के समुच्चयवादी थे।

---

१. ईश्वरस्य चोदना सङ्कल्पविशेषोऽस्येदमस्मात् सम्पद्यतामिति। तयाभिव्यक्तान् सहकृताद् धर्मात् तत्त्वज्ञानमिति। व्योमवती, पृ० ३३

२. ननु यदि तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुस्तर्हि धर्मो न कारणम्। ततः सूत्रविरोधः। न्यायकन्दली, पृ० ७

३. तन्निःश्रेयसं धर्मादेव भवति, द्रव्यादितत्त्वज्ञानं तस्य कारणत्वेन निःश्रेयससाधनमित्यभिप्रायः। न्यायकन्दली, पृ० ७

यह कहना आवश्यक है कि यहाँ के कन्दलीग्रन्थ से अपवर्गप्रकरण के कन्दली ग्रन्थ का सामञ्जस्य नहीं है। अपवर्गप्रकरण में कन्दलीकार ने साधर्म्यवैधर्म्यविषयक तत्त्वज्ञान तथा आत्मतत्त्वसाक्षात्कार यह दो ज्ञान को मानकर प्रथम ज्ञान को आत्मतत्त्व-साक्षात्काररूप द्वितीयज्ञान द्वारा मोक्ष का प्रयोजक कहा है। प्रथमज्ञान द्वितीयज्ञान का कारण है! आचार्यों के उपदेश से साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। अनन्तर वह श्रवण मनन निदिध्यासन आदि क्रम से आत्मतत्त्व के साक्षात्कारात्मक ज्ञान को उत्पन्न करता है। यह आत्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मक ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का आनयन करता है। अपवर्गप्रकरण में इस प्रकार कहने पर भी प्रस्तुत प्रकरण में उन्होंने साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञान को धर्म का कारण कहा है। अपवर्गप्रकरण में जिस ज्ञान को धर्म के प्रति कारण कहा गया है उसे साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञान नहीं कहा गया है। तथा कन्दलीकार ने साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञान को वहाँ निष्कामकर्मादि-रूप धर्म के प्रति कारण नहीं कहा है[1]। प्रस्तुत स्थल की व्याख्या में उस प्रकार कहने

---

१. ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसङ्कल्पितफलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसङ्गम्योत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदञ्चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्त्तते। तदा निरोधान्निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति। प्रशस्तपाद, पृ० १४३-४

तस्मात् कर्मणो ज्ञानपूर्वकात् कृतादस्य विशुद्धे कुले जन्म भवति। अकुलीनस्य श्रद्धा न भवति, न चाश्रद्दधानस्य जिज्ञासा सम्पद्यते, न चाजिज्ञासोस्तत्त्वज्ञानं, तद्विकलस्य च नास्ति मोक्षप्राप्तिः। अतो मोक्षानुगुणमसङ्कल्पितफलं कर्म विशुद्धे कुले जन्म ग्राहयति। विशुद्धे कुले जातस्य प्रत्यहं दुःखैरभिहन्यमानस्य दुःखविगमोपाये जिज्ञासा सम्पद्यते कुतो नु खल्वयं मम दुःखोपरमः स्यादिति। स चैवमाविर्भूतजिज्ञास आचार्यमुपगच्छति। तस्य चाचार्योपदेशात् षण्णां पदार्थानां श्रौतं तत्त्वज्ञानं जायते। तदनु श्रवणमननिदिध्यासनादिक्रमेण प्रत्यक्षं भवति। उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ सवासनविपर्ययज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य विच्छिन्नरागद्वेषसंस्कारस्य रागद्वेषयोरभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पादः ..... । पूर्वसञ्चितयोश्च धर्माधर्मयोर्निरोध उपभोगान्निवृत्तिफलहेतोश्च कर्मान्तरात् सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदञ्चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलोधर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्त्तते ....। आभिमानिककार्यविनिरोधात् तदा निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तौ पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः। न्यायकन्दली, पृ० २८२-८३

के कारण अपवर्गप्रकरण तथा प्रस्तुत स्थल के ग्रन्थ का सामञ्जस्य नहीं है प्रतीत होता है।

वैशे. सू. उपस्कार टीका में शङ्करमिश्र ने साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। शास्त्रोक्त साधर्म्यवैधर्म्यादिलिङ्गजन्य षट्पदार्थतत्त्वज्ञान निदिध्यासनरूप निवर्त्तक धर्म की सहायता से आत्मतत्त्व का साक्षात्कारात्मक ज्ञान को उत्पन्न करता है। इसी प्रणाली से ही निवर्त्तकधर्म अर्थात् निदिध्यासनादिरूप योगजधर्म आत्मतत्त्व के साक्षात्कारात्मक ज्ञान को उत्पन्न करता है शङ्करमिश्र का यही अभिप्राय है। इस व्याख्या से किरणावली की व्याख्या का पूर्णतया सामञ्जस्य है। प्रशस्तपाद भा. टीका सेतु में पद्मनाभमिश्र भी इसी प्रकार से मोक्ष तथा तत्त्वज्ञान का कार्यकारणभाव की कल्पना किये हैं। प्रशस्तपाद भा. टीका सूक्ति में जगदीश ने मोक्षजनक तत्त्वज्ञान को शब्दशः साक्षात्कारात्मक नहीं कहा है। उनका कहना है कि शास्त्राभ्यासजन्य तत्त्वज्ञान के तुल्य निदिध्यासनरूप धर्म भी मोक्ष के अन्यतम कारण है। अतः शास्त्राभ्यासजनित तत्त्वज्ञान रहने पर भी जब तक निवर्त्तकधर्मानुष्ठान न किया जाय तब तक संसारी जीव का मोक्ष न होगा। इससे हम समझते हैं कि जगदीश साक्षात्कारात्मक ज्ञान की आवश्यकता है यह नहीं स्वीकार करते हैं। अन्यथा जगदीश निदिध्यासनरूप योगज आत्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष के प्रति कारण कहे होते। वैसा न कहकर उन्होंने शास्त्राभ्यासजनित साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञान तथा निवृत्तिरूप धर्म यह दोनों को समुच्चित रूप से मोक्ष का कारण कहा है। मथुरानाथ की पूर्वोक्त व्याख्या से इस व्याख्या का सामञ्जस्य देखा जाता है।

एतेन सत्त्वशुद्धिद्वारेण आरादुपकारकं कर्म सन्निपत्योपकारकश्च तत्त्वज्ञानमिति मन्तव्यम्। नतु तुल्यकक्षतया तत्समुच्चयः। नापि ज्ञानेन धर्मो जन्यते विहितत्वादिति धर्मस्यैव प्राधान्यम्। दृष्टद्वारेणैवोपपत्तावदृष्टकल्पनानवकाशात्। अन्यथा भेषजादिविधिष्वपि तथा कल्प्येत। उपपत्तिविरुद्धश्च ज्ञानकर्मसमुच्चयः, काम्यनिषिद्धयोस्त्यागादेव समुच्चयानुपपत्तेः। नापि असङ्कल्पितफलकाम्यकर्मसमुच्चयः चतुर्थाश्रमविधिविरोधात्। यावन्नित्यनैमित्तिकसमुच्चयस्यापि तत एवानुपपत्तेः। यत्याश्रमविहित कर्मणा ज्ञानस्य समुच्चय इत्यपि नास्ति। तदभावेऽपि गृहस्थस्य ज्ञाने सति मुक्तेः। यतः स्मरति,

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय" इति।

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥

न च साध्यस्यावैचित्र्ये साधनवैचित्र्यमुपपद्यते। न च स्वर्गवदपवर्गेऽपि प्रकारभेदः सम्भवति। तस्मात् तत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयसहेतुः। कर्माणि त्वनुत्पन्नज्ञानस्य ज्ञानार्थिनस्तत्प्रतिबन्धकाधर्मनिवारणद्वारेण प्रायश्चित्तवदुपयुज्यते। उत्पन्नज्ञानस्य त्वन्तरा-लब्धवृष्टे कारीरीपरिसमाप्तिवत् प्रारब्धाश्रमधर्मसमापनं लोकसंग्रहार्थमितियुक्तमुत्पश्यामः।

[इसलिए समझना होगा कि कर्म सत्त्वशुद्धि (तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के प्रति प्रतिबन्धक आत्मगत अधर्म की निवृत्ति) द्वारा परम्परया (मोक्ष के प्रति) उपकारक तथा तत्त्वज्ञान साक्षात् रूप से (मोक्ष के प्रति) उपकारक (है); परन्तु उन (कर्म तथा ज्ञान) के समुच्चय समान रूप से (मोक्ष का उपकारक) नहीं है। यह भी (यथार्थ) नहीं कि विहित होने के कारण (कर्म के तुल्य ही) ज्ञान द्वारा धर्म उत्पन्न होता है इसलिये धर्म का ही (मोक्ष के प्रति) प्राधान्य (है)। क्योंकि दृष्ट के द्वारा उपपत्ति (समाधान) होने की सम्भावना रहने से अदृष्ट की कल्पना की (कोई) आवश्यकता नहीं है। अन्यथा औषधादि सम्बन्धी विधानों के स्थलों में भी वैसी (अदृष्ट जनित आरोग्यरूप फल की) कल्पना उचित होता। ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय युक्तिविरुद्ध भी है। क्योंकि काम्य तथा निषिद्ध कर्मों के त्याग उपदिष्ट होने से (ज्ञान के साथ कर्म का) समुच्चय उपपन्न नहीं हो सकता है। यह भी (यथार्थ) नहीं कि फलाभिसन्धिवर्जित काम्यकर्म के साथ (ज्ञान का) समुच्चय होगा। क्योंकि उससे संन्यासाश्रम के विधियों से विरोध होता है। इसीलिए ही समस्त नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का भी ज्ञान के साथ समुच्चय अनुपपन्न है। संन्यासाश्रम में विहित कर्मों के साथ ज्ञान का समुच्चय होगा यह भी (सत्य) नहीं है। उस (संन्यासाश्रम में विहित कर्मों के अनुष्ठान) के अभाव में भी (केवल) ज्ञान रहने से ही गृहस्थ का मोक्ष होता है, क्योंकि जनक आदि (गृहस्थ) कर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त हुए थे यह स्मृति (श्रीमद्भगवद्गीता) में उल्लिखित है। जो न्याय्य उपायों से धन का संग्रह करे, (जो) अतिथिप्रिय, सत्यवादी (तथा) श्राद्धादि कर्मों के अनुष्ठान करने वाला हो ऐसा गृहस्थ भी तत्त्वज्ञाननिष्ठ होने पर निश्चित ही मुक्त होता है। (अतः मुक्ति के लिये ज्ञान तथा कर्मों अर्थात् गृहस्थाश्रम अथवा संन्यासाश्रम विहित कर्मों का समुच्चय सम्भव नहीं है)। साध्य (फल) के वैचित्र्य (वैलक्षण्य) न रहने से साधन

(कारण) के वैचित्र्य (की कल्पना) युक्तियुक्त नहीं होता है। यह भी सम्भव नहीं कि स्वर्ग के तुल्य ही मुक्ति में भी विलक्षणता सम्भव होगा। इसलिए केवल तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण होगा। जिनका तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसे तत्त्वज्ञानार्थी व्यक्ति के कर्म तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक अधर्म का निवारण करते हुए प्रायश्चित्त के तुल्य ही (मोक्ष में) उपयोगी होता है। 'कारीरी' याग की समाप्ति से पूर्व वर्षा हो जाने पर भी आरब्ध याग की समाप्ति जिस प्रकार की जाती है उसी प्रकार जिनका तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है उनके लिये भी पूर्वारब्ध आश्रमविहित धर्म (अर्थात् कर्म) का परिसमापन लोकशिक्षा के लिये कर्त्तव्य है यही हम (युक्तियुक्त) समझते हैं।]

मोक्ष के प्रति तत्त्वज्ञान के तुल्यप्रधानरूप से नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान को भी कारण माननेवालों को 'ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी' कहा जाता है। यह ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद अति प्राचीन है। क्योंकि भाष्यकार वात्स्यायन, आचार्य शंकर आदि शास्त्रकारों ने इस मत की तीक्ष्ण समालोचना की है। भट्टपाद कुमारिल ज्ञानकर्मसमुच्चयवादियों में अन्यतम हैं। श्लोकवार्त्तिक में उन्होंने कहा है कि आत्मतत्त्वज्ञान से जीव का राग, द्वेष, मोह आदि दोष क्षयप्राप्त होते हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुष आगामी जन्म के सहायक कोई नया अपूर्व का संग्रह नहीं करते[१]। दोषरूप सहकारी के अभाव के कारण उनके पूर्वसञ्चित कर्म भी फलोत्पत्ति में असमर्थ हो जाता है। भोग द्वारा उनका प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाता है। भट्टपाद यह भी समझते हैं कि यदि कोई व्यक्ति ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् जीवनकाल में नित्य, नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान न करे तो वह अधर्मार्जन करता रहेगा और पाप अर्जित होने पर आगामी जन्म में उसका फल भी भोगना पड़ेगा। यह शङ्का हो सकती है कि ज्ञानी पुरुष के सञ्चितकर्म यदि राग-द्वेष-मोह-रूप सहकारिओं के अभाव के कारण अपनी अपनी फलोत्पत्ति में असमर्थ हो जाते हों तब नित्यनैमित्तिक कर्मों के अननुष्ठानजनित अधर्म भी उन्हीं सहकारियों के अभाव रहने से अपनी फलोत्पत्ति में किस प्रकार समर्थ होगा ? अतः नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान न करने से यदि पुरुष में अधर्म की उत्पत्ति हो भी जाती हो तो वह अधर्म अपने फल का उत्पादन में असमर्थ रहेगा। इस स्थिति में ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् मुमुक्षु पुरुष के लिए नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान की आवश्यकता न रहने से उन कर्मों के अनुष्ठान मोक्ष में ज्ञान के तुल्य साक्षात् उपयोगी कैसे हो सकता है ?

इसके समाधान में हम कह सकते हैं कि ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् भी जीवनकाल में पुरुष प्रारब्ध कर्मों का फल भोग करता है यह सर्ववादिसिद्ध है। अतः यह देखा जाता है

१. दोषरूप सहकारी का नाशक होने के कारण शास्त्र में ज्ञानको सञ्चितकर्मों के दाहक कहा गया है।

कि कर्ममात्र के फलप्रदान के लिए राग-द्वेष-मोहरूप सहकारियों की अपेक्षा नहीं रहती है। अन्यथा ज्ञानी व्यक्ति के प्रारब्ध कर्म का फल भोग की उपपत्ति नहीं हो सकती है। अतः वर्त्तमान शरीर में उत्पन्न कर्म के फलभोग के लिये प्रारब्धकर्मों के तुल्य ही पूर्वोक्त सहकारियों की अपेक्षा नहीं है। अतः नित्यनैमित्तिकादि कर्मों के अननुष्ठान से उत्पन्न अधर्म राग-द्वेषादि सहकारियों के अभाव में भी अपना फल उत्पन्न करेगा। इसी कारण भट्टपाद ने कहा है कि वर्त्तमान जन्म में उत्पन्न उन अधर्मों से छुटकारा पाने के लिए मुमुक्षु ज्ञानी व्यक्ति अवश्य ही नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान करेंगे।[1]

मीमांसादर्शन के व्याकरणाधिकरण के तन्त्रवार्त्तिक में भट्टपाद ने प्रकारान्तर से भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन किया है। उनका कहना है कि 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा आत्मज्ञान को शोकोत्तरण अर्थात् आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष का कारण कहा गया है। वह आत्मज्ञान अभ्युदयफलक अश्वमेधादि याग के तुल्य अदृष्टोत्पत्तिद्वारा मोक्षरूप फल को उत्पन्न नहीं करता है, परन्तु युक्तिसिद्ध उपाय से ही फलदान में समर्थ है। आत्मा के शरीरसम्बन्ध की सम्भावना रहने तक आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती है। उत्पत्ति-ध्वंसस्वभाव शरीर से आत्मसम्बन्ध रहने तक वह किसी प्रकार से भी दुःखरहित नहीं हो सकता है। इसी कारण मुमुक्षु को अवश्य ही शरीररहित होना पड़ेगा। आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर पुरुष अक्लेश से अशरीर हो जाता है। मोह न रहने से ज्ञानी का राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता, राग-द्वेष के प्रभाव से ही पुरुष (संसारी) काम्य या निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान कर धर्माधर्मरूप भविष्यजन्म के बीज का संग्रह करता है। आत्मज्ञ पुरुष भविष्य जन्म के बीज का संग्रह नहीं करता है। भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने पर मृत्यु के पश्चात् आत्मा सर्वथा अशरीर या विदेह होता है और ज्ञानी पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि होती है। इसी प्रकार से ज्ञान द्वारा दृष्ट-उपाय से आत्मा मुक्त हो जाता है। ज्ञान तथा मोक्ष के यह लोकसिद्ध कार्य-कारण भाव से प्रतीत होता है कि भट्टपाद नैयायिकों के तुल्य ही जीवन्मुक्ति को मुख्यमुक्ति नहीं स्वीकार करते

---

१. तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये।
उत्तरप्रचयासत्त्वाद्देहो नोत्पद्यते पुनः॥
कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्त्तते।
तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते॥
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥

श्लो० वार्त्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरि० १०८-१०

तेन मोक्षार्थिभिर्न विवेकज्ञानमात्रेण कृतार्थम्मन्यमानैः स्थातव्यं किन्त्वेवं कर्त्तव्यम्। न्यायरत्नाकर, पृ० ६७१

थे । भाट्ट तथा नैयायिक मत में जीवन्मुक्ति को तत्त्वज्ञान ही समझना है—वह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिस्वरूप नहीं क्योंकि जीवनकाल में वह किसी प्रकार से भी नहीं हो सकती है ।

उपर्युक्त रूप से ज्ञान मोक्षोपयोगी होने पर भी मोक्ष में साक्षात् रूप से वही एकमात्र उपयोगी है, तुल्यप्रधानरूप से अन्य कोई कर्म मोक्ष में आवश्यक नहीं, यह भट्टपाद का अभिप्रेत नहीं है । क्योंकि जिन युक्तियों से ज्ञान की मोक्षोपयोगिता प्राप्त है उन्हीं से विभिन्नाश्रमों में विहित नित्यादि कर्मों को भी मोक्षोपयोगिता प्राप्त है । ज्ञान के तुल्य उन कर्मों के अनुष्ठान भी अशरीरत्व प्राप्ति का सहायक है । नित्यनैमित्तिक कर्मों के अननुष्ठान से प्रत्यवाय होता है । वह प्रत्यवाय ज्ञानी के लिये भी भविष्यजन्म का बीज है इसी प्रकार से उन कर्मों के अनुष्ठान द्वारा पूर्वार्जित पापों का क्षय होने से वे अशरीरत्वलाभ में सहायक होते हैं । नित्यनैमित्तिक कर्मों द्वारा पूर्वार्जित पाप नष्ट होने और उनके अननुष्ठान द्वारा प्रत्यवाय के अनुत्पन्न होने से वह कर्मानुष्ठान तत्त्वज्ञान के तुल्य ही समबलरूप से मोक्षोपयोगी होता है यही भट्टपाद समझे थे । नित्यनैमित्तिकादि कर्मों के अनुष्ठान अन्य प्रकरण में पठित होने के कारण मोक्ष प्रकरण में पठित ज्ञान द्वारा बाधित नहीं होगा । तथा वह अनुष्ठान ज्ञान का अङ्ग भी नहीं हो सकेगा । अतः तत्त्वज्ञान तथा विभिन्नाश्रमों के लिए विहित नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान समप्रधानरूप से ही मोक्ष के उपयोगी है यह स्पष्ट है ।[1]

ब्रह्मसूत्रभाष्यकार आचार्य भास्कर भी मोक्ष के प्रति तुल्यप्राधान्य से ज्ञान तथा कर्म का उपयोग स्वीकार करते हैं । उनका अभिप्राय है कि पुनः पुनः अभ्यस्त ज्ञान से जिस प्रकार अविद्या सम्बन्धी वासना का क्षय होता है उसी प्रकार नित्यनैमित्तिक कर्मों के यावज्जीवन अनुष्ठान से कर्मवासना क्षीण हो जाती है । इस प्रकार से दोनों वासनाओं के क्षय होने से जीव मुक्त हो जाता है अन्यथा नहीं । "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुतिवाक्य में 'निदिध्यासितव्यः' पद से तत्त्वज्ञान की बारंबार आवृत्ति उपदिष्ट है । तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने से ही अज्ञान सर्वथा क्षीण नहीं हो जाता है । यदि वैसा हो तो 'निदिध्यासितव्यः' पद द्वारा ज्ञानाभ्यास का उपदेश व्यर्थ हो जाता है । अतः श्रुति के तात्पर्यानुसार स्पष्ट है कि सकृदुत्पन्न ज्ञान से अविद्या बाधित होने पर भी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती । अविद्यावासना उस स्थिति में भी रहती है । उस वासना के

---

१. न च ज्ञानविधानेन कर्मसम्बन्धवारणम् । प्रत्याश्रमवर्णनियतानि नित्यनैमित्तिककर्माण्यपि पूर्वकृतदुरितक्षयार्थमकरणनिमित्तानागतप्रत्यवायपरिहारार्थञ्च कर्त्तव्यानि । न च तेषां भिन्नप्रयोजनत्वाद् भिन्नमार्गत्वाच्च बाधविकल्पपरस्पराङ्गाङ्गिभावाः सम्भवन्ति । तन्त्रवार्त्तिक पृ० २८८

समुच्छेद के निमित्त ही श्रुति निदिध्यासितव्यः' पद के प्रयोग से ज्ञान के अभ्यास का आदेश देती है। पुनः पुनः अभ्यस्त ज्ञान से ही अविद्या वासना का क्षय होता है। तुल्य रीति से कर्मवासना के क्षय के निमित्त भी यावज्जीवन विभिन्न आश्रम विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा कर्मवासना का समूल उच्छेद होता है। उक्त दो वासनाओं में कोई भी एक के रह जाने से मोक्ष की सम्भावना सुदूरपराहत हो जाती है। अतः ज्ञान के तुल्य ही मोक्ष में कर्म साक्षात्रूप से उपयोगी है।[1]

आचार्य भास्कर ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के समर्थन में शारीरकसूत्रकार को भी प्रमाण-रूप में उपस्थित किये हैं। उनके अनुसार मोक्ष में कर्म की उपयोगिता स्वीकार करने के कारण ज्ञानकर्मसमुच्चय अवश्य ही सूत्रकार के अनुमत था।[2] "सर्वापेक्षा च यज्ञादि-श्रुतेरश्ववत्" (ब्रह्म० सू० ३।४।२६) सूत्र में भगवान् बादरायण ने कहा है कि मोक्ष के लिए समस्त कर्म की ही अपेक्षा है। क्योंकि 'तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन" इस श्रुति में मोक्षप्राप्ति में ज्ञान के सहकारिरूप में यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मों का उल्लेख किया गया है। इसीलिए ज्ञान के तुल्य कर्म भी मोक्षोप-योगी है मानना पड़ेगा। ज्ञानी के लिये यावज्जीवन शम, दम आदि के अनुष्ठान के तुल्य नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान भी आवश्यक है। फलतः आचार्य भास्कर विभिन्न आश्रमों के लिए निर्दिष्ट नित्यनैमित्तिक कर्म परस्पर के सहकारिरूप से रहकर मोक्ष में उपयोगी होते हैं मानते थे।[3]

आचार्य भर्तृप्रपञ्च भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। आचार्य शङ्कर ने उन्हें द्वैताद्वैत-वादी कहा है। उनके विचार से व्यक्त, अव्यक्त दोनों दशा में ही ब्रह्म परमार्थसत् है। ब्रह्म से आविर्भूत ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म की व्यक्तदशा है। तथा ब्रह्माण्ड अपने कारण में लीन

---

१. विदिते चात्मतत्त्वे प्रत्ययावृत्तिलक्षणं तदुपासनमुपदिश्यते निदिध्यासितव्यो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेति। कर्मोपासनयोश्च समुच्चयो वक्ष्यते। अभेदज्ञानमभ्यस्यमानमज्ञानवासना-मुच्छिनत्ति रागादिवासनाश्च। कर्म पुनः कर्मवासनामित्युपरिष्टात् स्थास्यति। ब्रह्म-सूत्रभाष्य १।१।१। पृ० ३

२. अत्र ब्रूमः। यत्तावदुक्तं धर्मजिज्ञासायाः प्रागपि ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति। तदयुक्तम्। अत्र हि ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्षप्राप्तिः सूत्रकारस्याभिप्रेता। तथा च वक्ष्यति। सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्। ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१ पृ० २

३. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेनेति श्रुतेर्ज्ञानं प्रति अपवर्गसिद्धौ यज्ञादयस्तृतीयया विभक्त्याङ्गत्वेन प्रयाजादिवद् विधीयन्ते।.......... तस्माद् यथैव शमादयो यावज्जीवमनुवर्तन्ते विदुषामपवर्गप्राप्तये तथाश्रमकर्माणीति नान्तराले परित्यागः। ब्रह्मसूत्रभाष्य ३।४।२६ पृ० २०७

होने पर उसके कारणरूप में स्वरूपस्थिति ही ब्रह्म की अव्यक्त दशा है। ब्रह्माण्डरूप में व्याकृत, तथा ब्रह्माण्ड के लयाधाररूप में अव्याकृत ब्रह्म यह दोनों ही परमार्थसत् हैं। अवस्थाभेद रहने पर भी ब्रह्म में वस्तुतः कोई भेद नहीं। एक ही ब्रह्म कार्यरूप में व्याकृत तथा कारणरूप में अव्याकृत होते हैं। ब्रह्म के व्याकृत अवस्था जिसे ब्रह्माण्ड अथवा कार्य कहा जाता है मिथ्याभूत नहीं परन्तु परमार्थसत् ब्रह्मात्मक ही है। जल के फेन, तरङ्ग, बुद्बुद आदि अवस्था जिस प्रकार जल से अभिन्न तथा जलरूप में सत्य है उसी प्रकार ब्रह्म से समुत्पन्न जगत् ब्रह्म से अभिन्न है तथा ब्रह्मतुल्य परमार्थसत् है। कार्यरूप से द्वैत-भाव प्राप्त ब्रह्म तथा कारणरूप से कार्य के लयाधिष्ठान ब्रह्म परस्पर भेदरहित हैं। जिस प्रकार फेन, तरङ्ग बुद्बुदादिरूप में परिणत जल तथा फेन, तरङ्गादि के लयाधिष्ठान जल में कोई भेद नहीं एक ही जल के नाना प्रकार अवस्थाभेद मात्र ही है उसी प्रकार व्याकृत तथा अव्याकृत ब्रह्म में कोई वास्तविक भेद नहीं है वह एक ही है।[१]

इस मत में महावाक्य-श्रवण से उत्पन्न शाब्दब्रह्मज्ञान को अविद्यानिवर्त्तक नहीं माना गया है। क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान के रहते हुए भी अविद्या की अनुवृत्ति रहती है। इसीलिए शाब्दब्रह्मज्ञान के पश्चात् तन्मूलक निदिध्यासन या ध्यान की आवश्यकता होती है। ध्यान के साथ नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान अपरिहार्य ही रहता है। यह ध्यान व्याकृत ब्रह्म अथवा सूत्रात्मा के विषय में भी हो सकता है। व्याकृतब्रह्मध्यान के फल का क्षय होता है। इसलिए वह साक्षात्‌रूप से मोक्ष का साधक नहीं होता है। मोक्षार्थी (मुमुक्षु) के लिये अव्याकृतब्रह्म के विषय में ही निदिध्यासन आवश्यक है। यह निदिध्यासन परिपक्व अवस्था में दर्शनरूपता प्राप्त होते हुए अविद्या का क्षय करते हुए मोक्ष को लाता है। इस ध्यान के साथ आमृत्यु नित्यनैमित्तिक आदि कर्मों का अनुष्ठान की आवश्यकता है। अन्यथा नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान न रहने पर शतशः अनुष्ठित ध्यान या निदिध्यासन दर्शनरूप में पर्यवसित न होगा। इसलिए भर्तृ-प्रपञ्च विश्वास करते हैं कि ज्ञान तथा कर्म समुच्चित रूप से ही मोक्ष का जनक है[२]।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ब्रह्मदत्त भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। आचार्य सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा गया है कि किसी-किसी आचार्य के मत में वेदान्तवाक्य से 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान उत्पन्न होते ही अज्ञान का निरास करने में समर्थ नहीं होता है। दीर्घकाल तक प्रतिदिन उपासना करने पर भावना के उत्कर्ष होने पर अज्ञान निःशेष रूप से निरस्त होता है। इस मत की व्याख्या करते हुये चन्द्रिकाटीकाकार ज्ञानोत्तम ने

१. बृहदारण्यक भाष्य पृ० ७३१

२. बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक १।४।१७००, १७०४-८ तथा आनन्दगिरिकृत शास्त्र-प्रकाशिका।

कहा है कि श्रुतिवाक्यजन्य ज्ञान के पश्चात् अभ्यास से भावना के उत्कर्ष होने पर फलतः
तत्त्वसाक्षात्कारात्मक एक विलक्षण ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे ही अज्ञान की निवृत्ति
होती है। जब तक ज्ञान का अभ्यास चलता रहता है तब तक ज्ञान तथा कर्मों का समुच्चय
अवश्यम्भावी है। चन्द्रिकाकार ने इस मत के प्रवर्तक के नाम का उल्लेख नहीं किया है।
परन्तु नैष्कर्म्यसिद्धि की 'विद्यासुरभि' नामकी टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य
ब्रह्मदत्त ही इस मत के प्रवर्तक थे[१]। सम्बन्धवार्त्तिक में आचार्य आनन्दगिरि भी ब्रह्मदत्त
तथा उनके सिद्धान्त का उल्लेख किये हैं[२]।

मण्डनमिश्र ने अपनी ब्रह्मसिद्धि में विशेषस्थलों में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय
स्वीकार किया है। वह कहते हैं कि—प्रमाण से तत्त्वनिश्चय होने पर प्रायः समस्त स्थलों
में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है। परन्तु कुछ स्थलों मे विशेष कारण की उपस्थिति
रहने से तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति देखी जाती है। प्रमाण द्वारा
चन्द्रमा के एकत्व निश्चित रहने पर भी अवपीडतादि से चक्षु के रश्मिभेद उत्पन्न होने
से पुनः द्विचन्द्रभ्रम अनुवृत्त होता है। इसी प्रकार आप्तवाक्य से दिग्विशेष के उत्तरत्वादि-
रूप तत्त्व निर्णीत रहने पर भी प्रत्यक्ष से उसी दिशा को दक्षिणरूप से भ्रम अनुवृत्त होते
देखा जाता है। अतः तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति होती है यह सिद्ध
है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा जीव तथा ब्रह्म के अभेदज्ञान होने पर भी
व्यावहारिक जगत् में भेदबुद्धि उच्छिन्न नहीं होती है। वहाँ अनादिकाल से भेद के
दर्शन के बारम्बार अभ्यास के फलस्वरूप भेदसंस्कार अत्यन्त बलवान होने के कारण
मिथ्याज्ञान अनुवृत्त होता है। अभेददर्शनरूप तत्त्वज्ञान भेदसंस्कार को समूल
उत्पाटित नहीं कर सकता है। इसीलिए शाब्दतत्त्वज्ञान के पश्चात् भी भेदभ्रम चलता
रहता है। इस भेदसंस्कार को बलहीन अथवा उन्मूलित करने के लिए अभेददर्शन का
पुनः पुनः अभ्यास करना आवश्यक है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से अभेदसंस्कार प्रबलतर
होकर पूर्वार्जित भेदसंस्कार को दुर्बल या मूल के सहित उत्पाटित करता है। तत्त्वाभ्यास
के फलस्वरूप मिथ्यावासना का क्षय या अभिभव होना अन्वयव्यतिरेक से ही सिद्ध है।

---

१. केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः। नैष्कर्म्यसिद्धि, पृ० ३८
वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षाद् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्त-
रेणैवाज्ञानस्य निवृत्तेर्ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तेरित्येकदेशिनां
मतम्। चन्द्रिका, पृ० ३८; केचिद् ब्रह्मदत्तादयः। नैष्कर्म्यसिद्धि की भूमिका,
पृ० XXIII

२. इह तु ब्रह्मदत्तादिमतेन ज्ञानाभ्यासे विधिमाशङ्क्य निरस्यते……। आनन्दगिरिकृत
शास्त्रप्रकाशिका (सम्बन्धवार्त्तिक, पृ० २२०)

यज्ञादि कार्य भी तत्त्वाभ्यास के तुल्य ही मिथ्यावासना का क्षय या अभिभव में अपेक्षित है। क्योंकि यज्ञादिविषयक श्रुति तथा "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इस बादरायण-सूत्र में अविद्या के निवर्त्तक रूप से कर्म की अपेक्षा प्रतिपादित हुआ है। अतः कर्म भी अदृष्टद्वारा अवश्य ही अविद्यानिवृत्ति में अपेक्षित होगा[1]। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वाभ्यासजन्य बलवत्तरसंस्कार तथा श्रौतकर्मजन्य अदृष्ट दोनों मिलकर ही अनादिकाल से सञ्चित भेदवासना को समूल उन्मूलित करते हैं। पुनः पुनः अनुशीलित तत्त्वज्ञान से भेद वासना की निवृत्ति में यज्ञादिकर्मजनित अदृष्ट भी अपेक्षित है। तत्त्वज्ञान के वासना-निवृत्तिरूप अपने फल की उत्पत्ति में यज्ञादिकर्म आवश्यक अङ्ग रूप से ही अपेक्षित है।

मण्डनमिश्र ने उल्लिखित रूप से ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन कर प्रकारान्तर से भी उस वाद का समर्थन किया है। उन्होंने कहा है कि यद्यपि तत्त्वज्ञान के कार्य अविद्या-निवृत्ति में यागादि क्रियाओं की अपेक्षा स्वीकृत होने पर क्रियासापेक्ष होने के कारण मोक्ष की अनित्यता की शङ्का होती है। तथापि तत्त्व की अभिव्यक्तिविशेष ही यागादि-क्रियासापेक्ष है। अतः मुक्ति की नित्यता अव्याहत ही रहती है।[2] कथन का तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान के कार्य अविद्यानिवृत्ति में यागादिक्रियाओं के उपयोग को अस्वीकार करने वालों के मत में भी तत्त्वाभिव्यक्ति अर्थात् तत्त्वज्ञान को अवश्य ही प्रमाणसापेक्ष मानना ही पड़ेगा। यदि तत्त्वाभिव्यक्ति के प्रमाणसापेक्ष होते हुए मोक्ष की नित्यता सम्भव है तब समुच्चयपक्ष में भी मोक्ष की नित्यता असम्भव न होगा। सर्वथा दोषरहित प्रमाण से जीव तथा ब्रह्म की अभेदानुभूति की उपस्थिति से अविद्या समूल निर्मूल हो जाती है तथा स्वतःप्रकाश जीवस्वरूप की नित्यमुक्तता स्वयं ही आविर्भूत होती है। इसी लिए ही असमुच्चयवादियों ने तत्त्वाभिव्यक्ति की प्रमाणसापेक्षता को मानते हुए मोक्ष की नित्यता का समर्थन किया है। उसी प्रकार ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद में भी हम मुक्ति की नित्यता में विश्वास रख सकते हैं। शाब्दतत्त्वज्ञान के पश्चात् भी अविद्या की अनुवृत्ति होते देखी जाती है। इसी लिए उक्त तत्त्वज्ञान को अविद्या का निवर्त्तक कहा नहीं जा सकता है। अतः शाब्दज्ञान को त्याग कर प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान को ही अविद्यानिवर्त्तक कहना आवश्यक है। शाब्दतत्त्वज्ञान के पुनः पुनः अभ्यास के

---

१. अभ्यासो हि संस्कारं प्रदधत् पूर्वसंस्कारं प्रतिबध्य स्वकार्यं सन्तनोति; यज्ञादयश्च केनाप्यदृष्टेन प्रकारेण। ब्रह्मसिद्धि, पृ० ३५

तस्मात् तन्निवृत्तये विनिश्चितब्रह्मात्मभावेनापि साधनान्यपेक्ष्याणि। ब्रह्मसिद्धि, पृ० ३५,

२. यथैव प्रमाणात् तत्त्वाभिव्यक्तौ न मुक्तेः कार्यता, तथाभिव्यक्तिविशेषेऽपि साधनेभ्यः। ब्रह्मसिद्धि, पृ० २६

कारण प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान की अभिव्यक्ति में ही सम्यग् अनुष्ठित यागादि क्रियाएं अदृष्टोत्पत्ति द्वारा सहायक होती हैं।[१] इस प्रकार प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान से अविद्या का समूलविनाश होकर स्वतःप्रकाश जीवस्वरूप की नित्यमुक्तता स्वयं प्रकाशित होता है। अतः तत्त्वाभिव्यक्ति में कर्म की अपेक्षा रहने पर भी मुक्ति की नित्यता में बाधा नहीं है। इस प्रकार की व्याख्या में पूर्व व्याख्या के तुल्य कर्मों को ज्ञान के फलोपकारी अङ्ग नहीं माना गया है। परन्तु कर्मों को तत्त्वाभिव्यक्ति के स्वरूपोपकारी अङ्ग अर्थात् प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायक अङ्ग ही माना गया है। इस मत में प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर पुनः यागादि कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं है यही समझना है। आचार्य शङ्कर के अनुसार विविदिषा के पूर्व ही कर्मानुष्ठान की आवश्यकता होती है। विविदिषा के पश्चात् मुमुक्षु के लौकिक उपाय से तर्कसहकृत प्रमाणों द्वारा तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति स्वीकृत है। तत्त्वज्ञान के स्वरूप अथवा अविद्या-निवृत्तिरूप फल में कर्मों की अपेक्षा स्वीकृत न होने के कारण वह मत ज्ञानकर्मसमुच्चय-विरोधी रूप से प्रसिद्ध है। मण्डनमिश्र के मत में शाब्दतत्त्वज्ञान के पश्चात् प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञानोत्पत्ति तक कर्मानुष्ठान की आवश्यकता स्वीकृत रहने से उस मत को ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद कहा जाता है। उस मत में कर्मानुष्ठान को अदृष्टोत्पत्ति द्वारा प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान का उत्पादक कहा गया है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि दृष्ट उपायों से उक्त तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति सम्भव होने से तदर्थ कर्मानुष्ठानजन्य अदृष्ट का उपयोग स्वीकार करना उचित न होगा। अर्थात् शाब्दतत्त्वज्ञान के पुनः पुनः अभ्यास रूप निदिध्यासन तथा चित्तविक्षेपनिवर्त्तक शमदमादि-षट्सम्पत्ति यह दो दृष्ट उपायों से ही प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञानोत्पत्ति में बाधा नहीं। अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा अविद्याविध्वंसी तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है यह योगिसम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। अतः मण्डनमिश्र द्वारा प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान में उक्त दृष्ट उपाय के समान ही अदृष्टोत्पादक कर्म का भी उपयोग स्वीकार करना उचित नहीं है। दृष्ट उपाय से फल लाभ की सम्भावना रहने पर अदृष्ट की कल्पना शास्त्रनिषिद्ध है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता है।

इस शङ्का के उत्तर में मण्डनमिश्र कहते हैं कि पूर्वपक्षी की व्याख्या विशेषस्थल में सम्भव होने पर भी वह सार्वत्रिक सिद्धान्त नहीं है। ऊर्ध्वस्रोता मुख्य अधिकारी के लिए पूर्वोक्त दृष्ट (कर्मजन्य अदृष्टनिरपेक्षरूप) उपायों से प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञानो-

---

१. प्रथमं शब्दाद् विज्ञायात्मतत्त्वं तस्यानुचिन्तनमभ्यासः, तस्य परिनिष्पत्तौ सत्यां या विगलितसकलशोकादिसंसारधर्मसाक्षात्कारिज्ञानावस्था तद्विषया इत्यर्थः। शङ्खपाणि-कृतव्याख्या, पृ० ६८-९

त्पत्ति की सम्भावना रहने पर भी गौण अधिकारी आमृत्यु शाब्दतत्त्वज्ञान के अभ्यासरूप निदिध्यासन करने पर भी कर्मानुष्ठान के बिना प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान के उत्पादन करने में समर्थ नहीं होते हैं। गौण अधिकारी निषिद्ध कर्म के अननुष्ठान के साथ विहित कर्मों के अनुष्ठान तथा पूर्वोक्त तत्त्वाभ्यासरूप निदिध्यासन इन लौकिक तथा अलौकिक उभय प्रकार साधनों से प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान का उत्पादन करने में समर्थ होते हैं। उन स्थलों में ज्ञानकर्मसमुच्चय की आवश्यकता है। यद्यपि उत्तम अधिकारी जिन दृष्ट उपायों द्वारा प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान को प्राप्त होने में समर्थ होते हैं, गौण अधिकारियों के लिए उन्हीं दृष्ट उपायों से अनेक जन्मान्तरों के पश्चात् प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान प्राप्ति की सम्भावना होती है। तथापि गौण अधिकारी के लिए उससे अल्पकाल में (प्रात्यक्षिक) तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए (तत्त्वज्ञान के) अभ्यास के साथ कर्मानुष्ठान प्रयोजनरहित न होगा।[१] अतः विशेष स्थलों में ज्ञानकर्मसमुच्चय स्वीकार करना उचित ही होगा। इस प्रकार अधिकारी के भेद के कारण ही अग्निहोत्रादि यागों के जरामर्यवाद तथा जिस किसी आश्रम से प्रव्रज्यावाद यह दोनों पक्ष ही श्रुति द्वारा समर्थित हुआ है।[२] इसी कारण ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद सर्वथा अयौक्तिक नहीं है। इसके स्वीकार करने के कारण समस्त स्थलों में ही ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय आवश्यक है यह मण्डनमिश्र का अभिप्राय नहीं है। क्योंकि उन्होंने विशेष विशेष अधिकारी के लिए ही समुच्चयवाद का समर्थन किया है।

श्रीभाष्यकार आचार्य रामानुज भी ज्ञानकर्मसमुच्चवादी थे। उनका कहना है कि— "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" आदि श्रौतवाक्यों द्वारा ध्यानात्मक निदिध्यासन का विधान किया गया है। मृत्यु पर्यन्त ध्यानात्मक निदिध्यासन का अनुष्ठान आवश्यक है। पुनः पुनः अभ्यास से अन्तिम स्थिति में ध्यान दर्शन में परिणत होकर ब्रह्मप्राप्ति या मोक्ष का कारण होता है।

---

१. ननु दृष्टोपाय एव विद्योत्पादः; तत्र दृष्टैवेतिकर्त्तव्यतापेक्ष्यतां शमदमादिसाधनविशेषश्चित्तविक्षेपस्य विहन्त्री, समाहितचित्तस्याभ्यस्यतो ज्ञानप्रसादोत्पत्तेः, न तु यज्ञादयः, तैर्विनाप्यभ्यासेन तत्सम्भवात्। सत्यम्। तथाचोर्ध्वरेतसां चाश्रमिणां विनापि तैर्विशुद्धविद्योदय इष्यते; किन्तु कालकृतो विशेषः; साधनविशेषाद्धि सा क्षिप्रं क्षिप्रतरञ्च व्यज्यते; तदभावे चिरेण चिरतरेण च। ब्रह्मसिद्धि, पृ० ५६

२. …आश्रमविकल्पस्मरणात्—'तस्याश्रमविकल्पमेके' 'यमिच्छेत्तमावसेत्' इति, यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति श्रवणात्; 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे'। तथा 'किं प्रजया करिष्यामः' तथा 'किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे' इति कर्मत्यागदर्शनात्। प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यात्मविद्ययैव कृतकृत्यतां मन्वानस्य ऋणापाकरणं प्रत्यनादृतस्य विहिताकरणनिमित्तस्य पाप्मनो विद्योदयप्रतिबन्धृत्वं दर्शयति—ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य इति। ब्रह्मसिद्धि, पृ० ५६

ध्यान को दर्शन में परिणत करने के लिये बार बार अभ्यास के तुल्य ही आश्रमविहित कर्मों के यथार्थ अनुष्ठान भी एकान्तरूप से आवश्यक है। अतः आश्रमविहित कर्म तथा ज्ञान समुच्चित रूप से ही ब्रह्मप्राप्ति अथवा मोक्ष का साधन होता है।[१]

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य ज्ञान सर्वथा कर्मनिरपेक्ष होकर ही अविद्यानिवृत्ति-रूप मोक्ष का सहायक होता है। इस अद्वैतमत की समालोचना के अवसर में रामानुज कहते हैं कि अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है तथा ब्रह्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है अद्वैतवादियों का यह सिद्धान्त उन्हें स्वीकृत है[२]। परन्तु "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" आदि श्रुतिओं में मोक्ष के साधनरूप से ब्रह्मज्ञान को कहा गया है। यह ब्रह्मज्ञान महावाक्यजन्य शब्दज्ञान है अथवा "आत्मानमेव लोकमुपासीत" आदि वेदान्तवाक्यों से प्राप्त उपासनात्मक ज्ञान है।[३] यह शङ्का हो सकती है कि महावाक्यजन्य शाब्दज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है उपासना नहीं। क्यों कि ध्यानात्मक उपासना परोक्षज्ञान के अन्तर्गत स्मृति में परिगणित होने से वह अविद्यानिवृत्ति में समर्थ नहीं हो सकती है। अतः वेदान्तवाक्यों द्वारा अविद्यानिवर्त्तकरूप से जिस ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है वह महावाक्यजन्य शाब्दज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है। इसके समाधान में रामानुज का वक्तव्य है कि—महावाक्यजन्य शाब्द-ज्ञान ही यदि मोक्षोपयोगी हो तो वह "प्रज्ञां कुर्वीत" आदि श्रुतिवाक्यों द्वारा विहित नहीं हो सकता। क्योंकि प्रमाणज्ञान अर्थात् शब्दादिप्रमाणपरतन्त्रज्ञान पुरुषतन्त्र न होने से विधि का विषयीभूत नहीं हो सकता है। पुरुषतन्त्र वस्तु में ही विधि का अवकाश रहता है। प्रमाणतन्त्र अथवा वस्तुतन्त्र वस्तु में विधि निरवकाश हो जाता है। अद्वैतमत के आचार्य भी अपुरुषतन्त्र ज्ञान में विधि (का अवकाश) नहीं स्वीकार करते हैं। अतः वेदान्तवाक्यों द्वारा जो ज्ञान मोक्ष के उपायरूप से विहित है वह कथमपि शाब्द (ज्ञान) नहीं हो सकता है[४]। पूर्वपक्षी यदि कहें कि किसी वेदान्तवाक्य से मोक्षोपयोगी ज्ञान का विधान नहीं किया गया है; विधितुल्य प्रतीयमान होने पर भी "प्रज्ञां कुर्वीत"

---

१. तस्यैव वेदनस्य ध्यानरूपस्याहरहरनुष्ठीयमानस्याभ्यासाधेयातिशयस्याप्रयाणादनुवर्त्तमानस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वात्तदुत्पत्तये सर्वाण्याश्रमकर्माणि यावज्जीवमनुष्ठेयानि। श्रीभाष्य, पृ० १००

२. यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव हि मोक्षः सा च ब्रह्मविज्ञानादेव भवतीति तदभ्युपगम्यते। श्रीभाष्य, पृ० ७७

३. अविद्यानिवृत्तये वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितं ज्ञानं किंरूपमिति विवेचनीयम्। किं वाक्याद् वाक्यार्थज्ञानमात्रमुत तन्मूलमुपासनात्मकं ज्ञानमिति। श्रीभाष्य, पृ० ७८

४. प्रमाणज्ञानं वस्तुतन्त्रं न पुरुषतन्त्रम्......अतः पुरुषतन्त्रत्वाभावान्न तद्विधेयम्। श्रुतप्रकाशिका, पृ० ७८

आदि श्रुतिवाक्य विधिस्वरूप नहीं परन्तु विधिसरूप अर्थात् विधितुल्य हैं। ज्ञान के लिए विधि सम्भव नहीं होने से ही इन वाक्यों को विधि न कहकर विधिसदृश कहना है। अतः विधि की अनुपपत्ति के कारण मोक्षोपयोगी ज्ञान के शाब्दत्व का निषेध उचित नहीं है। अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मज्ञान को शाब्द कहने में कोई बाधा नहीं है।

इसके उत्तर में रामानुज ने कहा है कि जिन श्रुतिवाक्यों द्वारा ज्ञान विहित है कहा जाता है वस्तुतः वह ज्ञान का विधायक नहीं हैं। वह विधितुल्य हैं। अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मज्ञान किसी श्रुति द्वारा विहित नहीं है अभ्युपगमवाद का आश्रय लेकर यदि यह मान भी लिया जाए तथापि अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मज्ञान को शाब्दज्ञानरूप सिद्धान्त करना सम्भव नहीं है। क्योंकि इससे प्रत्यक्षविरोध होगा। शब्दन्याय में अभिज्ञ बहु विद्वान् व्यक्ति हैं जिनको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य शाब्दज्ञान अभ्रान्तरूप से ही उत्पन्न होता है। परन्तु उनकी अविद्या की निवृत्ति नहीं होती है। अतः श्रुतिप्रतिपादित अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मज्ञान का वाक्यमात्रजन्य शाब्दज्ञान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

यदि कहा जाए कि "तत्त्वमसि" आदि श्रुति से शाब्दतत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी अविद्या की अनुवृत्ति देखी जाती है इस लिए उस तत्त्वज्ञान की मोक्षोपयोगिता न मानना उचित नहीं। क्योंकि उस तत्त्वज्ञान् द्वारा तत्काल अविद्यानिवृत्ति न होने पर भी यथा समय उसी से अविद्या की निवृत्ति असम्भव नहीं है। यह प्रायः देखा जाता है कि चन्द्रमा के विषय में एकत्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी तत्काल ही द्विचन्द्रभ्रम निरस्त नहीं होता है। अतः वाक्यजन्य तत्त्वज्ञान से तत्काल अविद्यानिवृत्ति न होने पर भी चन्द्रैकत्वज्ञान द्वारा द्विचन्द्रभ्रम के तुल्य ही वह (तत्त्वज्ञान) अनुवृत्त होने से अविद्या छिन्नमूल अर्थात् अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। इस प्रकार दुर्बल से दुर्बलतर होते हुए क्रमशः वह (अविद्या) शाब्दतत्त्वज्ञान के फलस्वरूप पूर्णरूप से बाधा प्राप्त हो जाएगा। अतः पश्चात् काल में अविद्या की अनुवृत्तिमात्र को देखते ही शाब्दतत्त्वज्ञान का मोक्षोपयोगित्व खण्डित नहीं होता है।[1]

इसके समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि उल्लिखित पूर्वपक्ष में दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में वैषम्य के कारण शङ्का उचित नहीं है। द्विचन्द्रभ्रम चक्षुरश्मियों के भेदरूप दोषजन्य होता है। वह परमार्थसत् होने से पूर्ववर्त्ती चन्द्रैकत्वज्ञान उस दोष के निवर्त्तन में समर्थ नहीं होता है। ज्ञान से सद्वस्तु की बाधा नहीं होती है। इसी लिए चन्द्रैकत्वज्ञान के पश्चात् भी द्विचन्द्रभ्रम की अनुवृत्ति होती है। प्रस्तुत स्थल में अद्वैतवादी उस दृष्टान्त के

---

१. जातेऽपि सर्वस्य सहसैव भेदज्ञानानिवृत्ति र्न दोषाय चन्द्रैकत्वे ज्ञातेऽपि द्विचन्द्रज्ञानानिवृत्तिवद् अनिवृत्तामपि छिन्नमूलत्वेन न बन्धाय भवतीति। श्रीभाष्य, पृ० ८०

बल पर तत्त्वज्ञान के पश्चात् काल में अविद्या की अनुवृत्ति का समर्थन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि उनके मत में अविद्या या भेदवासना को परमार्थसत् वस्तुरूप स्वीकार नहीं किया गया है। ब्रह्मचैतन्यातिरिक्त वस्तुमात्र ही का मिथ्यात्व का सिद्धान्त रहने के कारण ही उनके मत में तत्त्वज्ञान द्वारा संसार की निवृत्ति की सम्भावना है। इस स्थिति में वे लोग यह कह नहीं सकते कि शाब्दतत्त्वज्ञान के पश्चात् अत्यल्पकाल के लिए भी अविद्या की अनुवृत्ति हो सकती है। क्योंकि मिथ्या के अस्तित्व तत्त्वज्ञान के बाद कभी स्वीकृत नहीं हो सकता है। ऐसा स्वीकार करने पर अविद्या की निःशेषनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती है। शाब्दतत्त्वज्ञान के पश्चात् छिन्नमूल अविद्या की अनुवृत्ति होती है कहने का कोई अर्थ नहीं। मूल न रहने पर भी अविद्या अनुवृत्त हो रही है यह समझना सम्भव नहीं। अतः श्रुति-वाक्यजन्य शाब्दतत्त्वज्ञान को हम अविद्यानिवर्तक स्वीकार नहीं कर सकते हैं।[१]

अद्वैतवादी यदि कहें कि शाब्दतत्त्वज्ञान के पश्चात् अविद्या की अनुवृत्ति रहने से उस तत्त्वज्ञान की मोक्षोपयोगिता नहीं यह कहना अकिञ्चित्कर है। क्योंकि उनके मत में अविद्यानिवृत्ति से पूर्व महावाक्यजन्य तत्त्वज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता है। भेदवासना के रहते हुए शतशः महावाक्यश्रवण से भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है। विरोधी अभेदवासना द्वारा भेदवासना के निर्मूल होने पर ही वाक्यजन्य तत्त्वज्ञान होता है।

रामानुज के अनुसार उपर्युक्त उक्ति भी भ्रमपूर्ण है। जिस अभेदवासना से भेदवासना की निवृत्ति कही जाती है वह सम्भव नहीं। अनादिकाल से अर्जित भेदवासना अत्यल्पकालार्जित अभेदवासना से निरस्त हो नहीं सकती है। अतः भेदवासना की निवृत्ति के पश्चात् तत्त्वज्ञान होता है यह असम्भवोक्ति है। विरोधी संस्कार रहते हुए निरङ्कुश प्रमाण द्वारा ज्ञानोत्पत्ति होते देखी जाती है। शास्त्र वाक्य अथवा अनुमान आदि द्वारा देहातिरिक्त आत्मबोध की उत्पत्ति सभी स्वीकार करते हैं। अन्यथा उस प्रकार आत्मज्ञान होना सम्भव न होगा। अतः भेदवासना रहने पर भी श्रुतिवाक्य से वाक्यन्यायवेत्ता पुरुष के शाब्दतत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं। इसीलिए शाब्दतत्त्वज्ञान मोक्ष का चरम कारण नहीं है।[२]

---

१. सत्यपि वाक्यार्थज्ञानेऽनादिवासनामात्रया भेदज्ञानमनुवर्तत इति भवता न शक्यते वक्तुम्। भेदज्ञानसामग्र्या अपि वासनाया मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्पत्त्यैव निवृत्तत्वाज् ज्ञानोत्पत्तावपि मिथ्यारूपायास्तस्या अनिवृत्तौ निवर्तकान्तराभावात् कदाचिदपि नास्या वासनाया निवृत्तिः। श्रीभाष्य, पृ० ८१

२. अपि च भेदवासनानिरसनद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिमभ्युपगच्छतां कदाचिदपि ज्ञानोत्पत्तिर्न सेत्स्यति। भेदवासनाया अनादिकालोपचितत्वेनापरिमितत्वात् तद्विरुद्धभावनायाश्चाल्पत्वादनया तन्निरासानुपपत्तेः। अतो वाक्यार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानोपासनादि-शब्दवाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितम्। श्रीभाष्य, पृ० ८१

रामानुज के अनुसार उपासनारूप ज्ञान ही मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान है। मुमुक्षु पुरुष के वेदान्तवाक्यश्रवण से शाब्दतत्त्वज्ञान होता है। वह शाब्दतत्त्वज्ञान के अनुसार उपासना अर्थात् तत्त्वध्यान आवश्यक है। वह ध्यान परिपक्व होने पर मोक्ष होता है। इस ध्यानात्मक ज्ञान को ही श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रों के अनुसार मोक्ष का साक्षात् कारण कहना चाहिए। "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आदि श्रुति द्वारा श्रवण तथा मनन के पश्चात् निदिध्यासन को कर्त्तव्य कहा गया है। अतः शाब्दतत्त्वज्ञान के पश्चात् निदिध्यासन ही मोक्ष का चरम उपाय है यह स्पष्ट है। "अनुविद्य विजानाति" "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" आदि अनेक श्रुतियों से वाक्यार्थज्ञानमूलक अन्यज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है। पूर्वोक्त श्रुति के निदिध्यासन तथा परवर्ती श्रुतिप्रतिपादित विज्ञान या प्रज्ञा अभिन्न है। अर्थात् विभिन्न श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित निदिध्यासन, विज्ञान अथवा प्रज्ञा एक ही वस्तु है। 'आत्मानमेव लोकमुपासीत" आदि श्रुति से निदिध्यासन की उपासनारूपता स्पष्ट है। अतः स्पष्ट है कि शाब्दतत्त्वज्ञान मोक्ष के साक्षात् उपयोगी नहीं परन्तु उपासना या ध्यानात्मक तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् उपयोगी है। "आवृत्तिरसकृदपदेशात्"[१] सूत्र से भी शाब्दज्ञान के पश्चाद्वर्ती ज्ञान को ही मोक्षोपयोगी कहा गया है। तैलधारातुल्य अविच्छिन्नप्रवाह से उत्पन्न तत्त्वविषयक स्मृतिसन्तान को ही तत्त्वोपासना कहते हैं। इस स्मरणप्रवाह को ही 'ध्रुवास्मृति' कही गयी है।[२] 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'[3] आदि उपनिषद्वाक्य में भी उपासनारूप ध्रुवास्मृति को मोक्ष का उपाय कहा गया है।[४]

यह शङ्का हो सकती है कि देहादिविषयक आत्मत्वभ्रम के निर्मूल उच्छेद करने में असमर्थ होने से 'ध्रुवास्मृति' या उपासना को मोक्ष का साक्षात् उपयोगी कहना सम्भव नहीं है। अविद्यासमुच्छेद के विना मोक्ष होना किसी अज्ञ व्यक्ति भी स्वीकार नहीं करता है। देहादि में आत्मबुद्धि प्रात्यक्षिकभ्रम होने के कारण परोक्ष तत्त्वज्ञान से उसका समुन्मूलन कदापि सम्भव नहीं है। उपासना स्मरणात्मक ज्ञान है। स्मरणात्मक होने से वह परोक्ष है प्रत्यक्ष नहीं। अतः उसके द्वारा अविद्या का समुच्छेद सम्भाव्य न होने के कारण वह मोक्ष में साक्षात् उपयोगी है कैसे कहा जा सकेगा?

इसके समाधान में रामानुज ने कहा है कि उपासनारूप तत्त्वस्मृति जब दर्शनरूपता प्राप्त हो अर्थात् प्रात्यक्षिक तत्त्वज्ञान में पर्यवसित हो तभी वह अविद्यासमुच्छेद द्वारा

---

१. ब्रह्मसूत्र, ४।१।१

२. ध्यानञ्च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपा ध्रुवा स्मृतिः। श्रीभाष्य, पृ० ८८

३. छान्दोग्य, ७।२६; किसी किसी पुस्तक में "स्मृत्युपलम्भे" यह पाठ भी प्राप्त है।

४. ......इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्वश्रवणात्। श्रीभाष्य, पृ० ८८

साक्षात्‌रूप से मोक्ष को आनयन करता है[१]। अपरोक्षताप्राप्त तत्त्वज्ञान को ही भक्ति या ध्रुवास्मृति कही जाती है[२]। प्रकृष्टभावना से ध्यान या स्मृति प्रत्यक्षज्ञान में पर्यवसित होता है यह योगिसम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। ध्यान को दर्शन अर्थात् प्रत्यक्षविज्ञान में परिणत करने हेतु आमृत्यु इसका अनुष्ठान तथा आश्रमविहित नित्यनैमित्तिकादि सर्वप्रकार कर्मका अनुष्ठान अपरिहार्य होगा।[३] विहितकर्मों के अनुष्ठान के विना शतशः अनुष्ठित होने पर भी वह ध्यान दर्शन में परिणत न होगा। मुमुक्षु के लिए आमृत्यु विहित-कर्मों के अनुष्ठान के साथ ध्यान का अनुशीलन आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान तथा कर्म समुच्चित रूप से ही मोक्ष जनक है[४]।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के खण्डन के अवसर में किरणावलीकार ने कहा हैं कि ज्ञान के साथ कर्म का समप्रधानरूप से अथवा अङ्गाङ्गीरूप से समुच्चय हो सकता है। यदि मोक्ष में ज्ञान के साथ कर्म भी साक्षात्‌रूप से उपयोगी हो तो समप्रधानरूप से समुच्चय होता है। अर्थात् तत्त्वज्ञान के तुल्य ही कर्म भी यदि मिथ्याज्ञान के नाश में समर्थ हो तब दोनों का समुच्चय समप्रधानरूप से होगा। परन्तु उस प्रकार समुच्चय हो नहीं सकता है। क्योंकि कर्मों के उत्पादक वाक्यों में तत्तत् कर्म के स्वर्गादिरूप निज निज फलों का उल्लेख रहने से कर्म की फलाकाङ्क्षा (उन्हीं फलों से) निवृत्त हो जाती है। इसलिए स्वतन्त्ररूप से मिथ्याज्ञाननिवृत्ति को कर्मों का फल कहा नहीं जा सकता है। मीमांसा शास्त्रानुसार जिन स्थलों में साक्षात्‌रूप से कर्म का फल श्रुतिद्वारा उल्लिखित रहता है वहाँ अनाकाङ्क्षित होने से फलान्तर की कल्पना निषिद्ध है। अतः कर्म का मिथ्याज्ञाननाशरूप फल के अनाकांक्षित होने से समप्रधानरूप से ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय स्वीकार योग्य नहीं है। यद्यपि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' आदि गीतावाक्यानुसार 'संयोगपृथक्त्व' न्यायानुसार स्वर्गादि के तुल्य मिथ्याज्ञाननिवृत्ति भी कर्म का फल कहना सम्भव है। तथापि समप्रधानरूप से ज्ञानकर्मसमुच्चय स्वीकृत होने पर चतुर्थाश्रमी की मिथ्याज्ञाननिवृत्ति असम्भव हो जाएगी। अनधिकारी होने से चतुर्थाश्रमी के लिए कर्मानुष्ठान सम्भव नहीं है। ज्ञान रहने पर भी सम्यगनुष्ठित कर्मरूप कारणान्तर के न रहने

---

१. सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः। एवं प्रत्यक्षतापन्नाम् अपवर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि। श्रीभाष्य, पृ० ९४

२. अतः साक्षात्काररूपा स्मृतिः······एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते। श्रीभाष्य, पृ० ९६

३. एवं रूपाया ध्रुवानुस्मृतेः साधनानि यज्ञादीनि कर्माणीति यज्ञादिश्रुतेरश्ववदित्यभिधास्यते। श्रीभाष्य, पृ० ९८

४. कर्मसमुच्चिताज् ज्ञानादपवर्गश्रुतेः। श्रीभाष्य, पृ० ९५

से कारण सामग्री न रहने के कारण प्रव्रजित पुरुष की मिथ्याज्ञाननिवृत्ति हो नहीं सकेगी। चतुर्थाश्रमी को मिथ्याज्ञाननिवृत्ति श्रुति का अभिमत है। अन्यथा विरक्त मुमुक्षु के लिए चतुर्थाश्रम के श्रौतविधान की अनुपपत्ति होगी। इन कारणों से ही ज्ञान के साथ निष्काम-रूप से अनुष्ठित कर्मों का समप्रधानरूप से समुच्चय भी स्वीकार योग्य नहीं हैं। इस पक्ष में भी चतुर्थाश्रमी की मिथ्याज्ञाननिवृत्ति सम्भव नहीं है। अधिकार न रहने से चतुर्थाश्रमी के लिए निष्कामरूप से भी विहितकर्मों का अनुष्ठान सम्भव नहीं है।

अङ्गाङ्गीरूप से भी ज्ञानकर्मसमुच्चय युक्तिसिद्ध नहीं है। अङ्गकल्पना शास्त्र में दो प्रकार से होती है। एक प्रकार अङ्ग को सन्निपत्योपकारक तथा दूसरे को आरादुप-कारक कहा जाता है। जिस अङ्ग से अङ्गी का स्वरूपनिर्वाह हो उसे सन्निपत्योपकारक कहते हैं। जो अङ्ग अङ्गी के फल में उपकारक हो उसे आरादुपकारक कहा जाता है। दर्शपूर्णमासयाग में व्रीहि के अवघात को सन्निपत्योपकारक तथा प्रयाज आदि को आरा-दुपकारक कहते हैं। व्रीहि के अवघात के बिना दर्शादियागस्वरूप का निर्वाह नहीं होता है। अतः वह सन्निपत्योपकारक है। प्रयाजादि के अनुष्ठान न होने पर भी अन्य कर्मों से दर्शादियाग के स्वरूप का निर्वाह होने में बाधा नहीं है। परन्तु प्रयाजादि के सम्यक् अनुष्ठान न होने से दर्शादियाग के स्वरूपनिर्वाह होने पर भी वह स्वर्गादिफल के उत्पादन में असमर्थ होता है। अतः यागजन्य स्वर्गादिफल के निर्वाहक होने से प्रयाजादि कर्म दर्शादियाग के आरादुपकारक अङ्ग कहा जाता है। अङ्गाङ्गीरूप में ज्ञान से कर्म का समुच्चय होने पर वह कर्म ज्ञान के स्वरूपनिर्वाहक या सन्निपत्योपकारक होगा, अथवा ज्ञानफलभूत मिथ्याज्ञाननिवृत्ति के निर्वाहकरूप से आरादुपकारक होगा। अङ्गाङ्गीभाव का तृतीयप्रकार नहीं है। प्रमाणाधीन ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा न रहने से कर्म सन्निपत्योपकारक अङ्ग न होगा तथा कर्मों के फलान्तर श्रुतियों में कहे जाने के कारण उनके अन्यफल की कल्पना सम्भव नहीं। अतः उन्हे ज्ञान के फलोपकारी अङ्ग या आरादुप-कारक अङ्ग भी कहा नहीं जा सकेगा। फलतः अङ्गाङ्गीभाव से भी ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष शास्त्रानुमोदित हो नहीं सकता है। ज्ञान के स्वरूप अर्थात् उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा स्वीकृत होने पर उसके अभाव के कारण चतुर्थाश्रमी का तत्त्वज्ञान होना सम्भव न होगा। ज्ञानफल अविद्यानिवृत्ति में भी कर्म की अपेक्षा स्वीकृत होने पर चतुर्थाश्रमी की मिथ्याज्ञान-निवृत्ति असम्भव हो जाती है।

किसी किसी मत में ज्ञान के साथ चतुर्थाश्रमविहित कर्मों का समुच्चय स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार भी चतुर्थाश्रमविहित कर्मों में गृहस्थ का अधिकार न रहने से उसकी मिथ्याज्ञाननिवृत्ति या ज्ञानोत्पत्ति असम्भव हो जाएगी। शास्त्र में गृहस्थ की भी मुक्ति समर्थित हुआ है।

कोई कोई तत्त्वज्ञानद्वारा मिथ्याज्ञाननाश होने के लिए ज्ञानजन्य अदृष्ट की कल्पना करते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि 'श्रोतव्यः' इत्यादि श्रुति में 'तव्य' रूप विधिप्रत्यय के

साथ ज्ञान का उल्लेख होने से ज्ञान को श्रुतिद्वारा विहित समझना है। श्रुतिविहित वस्तु साधारणतया अदृष्टद्वारा ही फलोत्पादक होता है। अतः ज्ञान भी स्वजन्यधर्मविशेष द्वारा ही मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करता है। इस मत में ज्ञान की अपेक्षया ज्ञानसाध्यधर्म या अदृष्ट ही मोक्ष या मिथ्याज्ञाननिवृत्ति का मुख्यसहायक हो जाता है। दृष्ट उपाय से ही दिङ्मोहादिनिवृत्तितुल्य आत्मादिविषयक मोह की निवृत्ति होना सम्भव होने से इस मत को स्वीकार करना सम्भव नहीं है। दृष्ट उपाय की सम्भावना रहने पर अदृष्ट उपाय की कल्पना शास्त्रनिषिद्ध है। दृष्ट उपाय की सम्भावना रहने पर भी अदृष्टकल्पना करने से औषधादिविधिस्थल में भी अदृष्टकल्पना द्वारा ही रोगनाश होने का समर्थन करना पड़ेगा। परन्तु वैसा नहीं किया जाता है। विरोधीगुणविशिष्ट औषध अदृष्टनिरपेक्षरूप से रोगनिवृत्ति में समर्थ है यही सिद्धान्त है। इसी प्रकार विरोधी होने के कारण तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान का नाश करता है। तत्त्वज्ञान धर्म के द्वारा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करता है यह सिद्धान्त श्रद्धेय नहीं है।

आचार्य उदयन सत्त्वशुद्धि के लिए कर्म की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। इससे ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय स्वीकृत नहीं हुआ है। उन्होंने कहा है कर्म प्रतिबन्धकनिवृत्ति-द्वारा ज्ञान का सहायक है। प्रतिबन्ध के नाश से निवृत्तिरूप धर्म अर्थात् समाधिजन्यधर्म से अलौकिकप्रत्यक्षप्रमाण के बल पर ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान के स्वरूप अथवा उसके कार्य के लिए नित्यनैमित्तिक कर्मों की सहायता उदयन स्वीकार नहीं करते हैं। ज्ञान के स्वरूप अथवा उसके कार्य में कर्म अपेक्षित न होने से ज्ञानकर्मसमुच्चय नहीं होता है। आचार्य शंकर विविदिषा के लिए कर्म की आवश्यकता मानते हैं। परन्तु ज्ञान के स्वरूप अथवा कार्य में कर्म की सहायता स्वीकार नहीं करते। इस लिए यदि वह ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी नहीं कहलाते हैं तब वैशेषिकाचार्य उदयन भी अवश्य ही ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी नहीं होंगे।

न्यायभाष्य में साक्षात् रूप से ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन या खण्डन नहीं प्राप्त है। तथापि अपवर्गपरीक्षा प्रकरण के भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वात्स्यायन तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति अथवा तत्त्वज्ञान का चरमफल दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्ति में अदृष्टोत्पत्ति द्वारा नित्यनैमित्तिकादि कर्मों के अनुष्ठान का उपयोग अस्वीकार किये हैं। अतः कहा जा सकता है कि समुच्चयवाद में भाष्यकार की सम्मति नहीं है। अपवर्गपरीक्षा प्रकरण के "ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः" [1]सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार कहते हैं कि ऋणानुबन्ध वर्त्तमान रहने से अपवर्ग की सम्भावना नहीं है। उनका अभिप्राय निम्नलिखित है।

---

१. न्यायसूत्र, ४।१।५८

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेय देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इस तैत्तिरीय श्रुति[1] द्वारा जन्ममात्र से ब्राह्मण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण इन तीन ऋणों से ऋणी होता है। तथा ब्रह्मचर्य अर्थात् गुरुकुलवास करते हुए अध्ययनद्वारा ऋषिऋण, यज्ञद्वारा देवऋण तथा पुत्रोत्पादनद्वारा पितृऋण से मुक्त होता है कहा गया है। 'जरामर्यं व एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च' इस श्रुति[2] द्वारा अग्निहोत्र तथा दर्शपौर्णमास याग की जरामर्यता कही गई है। 'जरामराभ्यां निमुच्यते' इस अथ में तद्धितप्रत्यय से 'जरामर्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। इससे स्पष्ट है कि जरा अथवा मृत्यु ही अग्निहोत्र तथा दर्शपौर्णमास याग के अनुष्ठान से ब्राह्मण को मुक्त कर सकता है। अतः मृत्यु अथवा अतिवृद्ध होने के कारण अशक्त होने तक उक्त यागों के अनुष्ठान ब्राह्मण के लिये अवश्य कर्त्तव्य होने से ज्ञान लाभ का अवसर न रहने से अपवर्ग असम्भव है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में भाष्यकार श्रुतिवाक्य तथा नाना प्रामाणिक वचनों के उद्धरण देते हुए मनुष्यों के लिए अपवर्ग का अवसर प्रतिपादन किए हैं। उससे भाष्यकार ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी नहीं थे यह स्वष्ट है। उक्त पूर्वपक्ष सूत्र में 'ऋण' तथा 'जायमान' पद मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं है यही भाष्यकार का सिद्धान्त है। जिन स्थलों में एक व्यक्ति किसी वस्तु भविष्य में ग्रहणीयरूप से दान करता है तथा उस वस्तु को भविष्य में प्रतिदेय जान कर दिये हुए वस्तु को ग्रहण करता है उन्हीं स्थलों में ऋणशब्द मुख्यार्थ में प्रयुक्त होता है। (दाता कालान्तर में पुनः प्राप्त होगा इस शर्त से देता है तथा ग्रहीता कुछ काल के अनन्तर लौटा देगा इस शर्त से ग्रहण करता है)[3]। प्रस्तुत स्थल में मुख्य ऋण की सम्भावना नहीं है। इसलिए श्रुत्युक्त ऋणशब्द गौण अर्थ मे प्रयुक्त हैं। ऋण लेकर न चुकाने पर निन्दा होती है उसी प्रकार जन्म लेकर ब्रह्मचर्यादि का पालन न करने से भी निन्दा होती है इसी लिए श्रुति में जायमान ब्राह्मण को ऋणी कहा गया है।

वहाँ 'जायमान' पद भी मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं है। क्योंकि उपनयनसंस्काररहित जातमात्र शिशु के ब्रह्मचर्य का अधिकार न होने से ऋषिऋण से, तथा गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व यागादि के अनुष्ठान अथवा पुत्रोत्पादन का सामर्थ्य न रहने से जन्मकाल से ही बालक देवऋण अथवा पितृऋण से ऋणी नहीं हो सकता है। अतः 'जायमान'

---

१. तैत्तिरीय संहिता, ६।३।१० (मुद्रित तैत्तिरीय संहिता में पाठ निम्नरूप है—जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते इत्यादि)

२. शावरभाष्य (मी० सू० २।४।४)

३. दाता समय (शर्त) के अनुसार (दिया हुआ वस्तु) पुनः प्राप्त होगा तथा ग्रहीता उसी समयानुसार (प्राप्त वस्तु) पुनः लौटायेगा—इस प्रकार दान तथा ग्रहण को ऋण कहा जाता है।

शब्द भी उस श्रुति में मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं है। मन्त्र तथा ब्राह्मणों में गार्हस्थ्यलिङ्ग (गृहस्थाश्रम के चिह्न पत्नी से सम्बद्ध) कर्मों के ही उपदेश है। अतः जन्म के अनन्तर ही ब्राह्मणादि के लिए विहित यागों की कर्त्तव्यता बालक का नहीं हो सकती परन्तु गृहस्थ की ही होती है। अतः 'जायमानो ह वै' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य से जातमात्र शिशु के किसी ऋण की बात नहीं कही गयी है। प्रत्युत उपनीत के ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ के यागादि का अनुष्ठान तथा पुत्रोत्पादन की आवश्यकता ही कही गयी है।

इसी कारण कोई यदि उपकुर्वाण ब्रह्मचारी होकर अध्ययनसमाप्ति के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट न हो तथा नैष्ठिकब्रह्मचर्य को स्वीकार करे तो वह नैष्ठिक-ब्रह्मचारी देवऋण तथा पितृऋण से ऋणी न होगा। फलतः नैष्ठिकब्रह्मचारी के लिए अपवर्ग का अवकाश है[1]। नैष्ठिकब्रह्मचारी अवश्य ही ज्ञानलाभ की चेष्टा करेगा। ज्ञानलाभ के प्रयत्न में विहित यागादि के अनुष्ठान की सम्भावना (अनधिकार के हेतु) न रहने से उस (नैष्ठिकब्रह्मचारी) में यागादि कर्मों का समुच्चय न होगा। इस स्थल में नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का समुच्चय की सम्भावना रहने पर भी चतुर्थाश्रमी के लिए उन कर्मों का समुच्चय सम्भव नहीं है। एक स्थल में भी कर्मसमुच्चय के व्यभिचार सिद्ध होने पर कर्म को मोक्ष का अथवा मोक्षोपयोगी ज्ञान का सहकारी कहा नहीं जा सकेगा।

नैष्ठिकब्रह्मचारी के तुल्य ही गृहस्थ को भी अपवर्ग का अवसर है। 'जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासञ्चेति' इस श्रुति में जरा शब्द आयु (जीवनकाल) का चतुर्थभाग अर्थ में प्रयुक्त है। आयु के चतुर्थभाग में उपस्थित होने पर ब्राह्मण अग्निहोत्र तथा दर्शपौर्णमासयागानुष्ठान से मुक्त होता है यही श्रुति में कहा गया है। अशक्ति अर्थ में जरा शब्द प्रयुक्त नहीं है। क्योंकि अशक्त के लिए प्रतिनिधि से उक्त अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान विहित है। अतः अशक्ति के कारण कोई भी उक्त यागानुष्ठान से निवृत्त नहीं हो सकता है[2]। आयु के चतुर्थभाग में उन यागादि के अनुष्ठान से निष्कृति की बात ही श्रुति में कही गयी है। उस समय प्रव्रज्या अर्थात् सन्यासग्रहण की सामान्यविधि रहने से

---

१. न्यायसूत्रभाष्य, ४।१।५६

२. 'जरया ह वे' त्यायुषस्तुरीयस्य चतुर्थस्य प्रव्रज्यायुक्तस्य वचनम्।·········अशक्तो विमुच्यत इत्येतदपि नोपपद्यते स्वयमशक्तस्य वाह्यां शक्तिमाह। 'अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः' 'क्षीरहोता वा जुहुयाद् धनेन स परिक्रीतः' इति। न्यायसू० भा० ४।१।५९

उस काल को हम अवश्य ही सर्वकर्मविरति का काल समझ सकते हैं[१]। इस प्रकार अपवृक्त पुरुष ज्ञानलाभ की सामग्रिओं का संग्रह अवश्य ही करेगा। इस काल में नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान की सम्भावना न रहने से ज्ञानसामग्री कर्मसमुच्चयवर्जित है यह अनायास ही कहा जा सकता है। वैराग्य होने से किसी भी आश्रम से कर्मसंन्यास विहित होने के कारण विरक्त व्यक्ति कर्मसमुच्चयरहित ज्ञानसामग्री से ज्ञान या मोक्ष प्राप्त हो सकता है यही भाष्यकार का सिद्धान्त है हम समझ सकते हैं।

जयन्तभट्ट भी न्यायमंजरी ग्रन्थ में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को अस्वीकार किये हैं। उन्होंने तत्त्वज्ञान अथवा उसके कार्य मोक्ष किसी में भी अदृष्टद्वारा कर्म का उपयोग स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि ज्ञान से उत्पन्न मोक्ष में कर्म का उपयोग स्वीकार करने पर कर्मफल होने के कारण मोक्ष स्वर्गादितुल्य अनित्य हो जाएगा।[२] तत्त्वज्ञान में भी अदृष्टद्वारा नित्यादि कर्मों का उपयोग स्वीकार करने पर चतुर्थाश्रम में कर्माधिकार न रहने के कारण कर्मानुष्ठानरूप सहकारी न रहने से तत्त्वज्ञानोत्पत्ति की सम्भावना न रहेगी। तीव्रसंवेग अर्थात् तीव्रवैराग्ययुक्त मुमुक्षु के लिए श्रुति में चतुर्थाश्रम का उपदेश है। इसलिए चतुर्थाश्रम में कर्मों का अधिकार नहीं होने से उस आश्रम के कर्तव्य तत्त्वज्ञान में कर्मानुष्ठान को अन्यतम कारण मानने पर उस दशा में तत्त्वज्ञान ही अनुपपन्न हो जाएगा। इन कारणों से अनेक युक्तियों द्वारा जयन्तभट्ट ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष को अस्वीकार किये हैं[३]।

तत्त्वचिन्तामणि के ईश्वरानुमान प्रकरण में मुक्ति के उपाय की आलोचना करते हुए कहा गया है कि 'आत्मा वारे' आदि श्रुतिवाक्य से मोक्ष के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता कही गयी है। उक्त श्रुति में "निदिध्यासितव्यः" पद को ग्रन्थकार ने 'साक्षात्कर्त्तव्यः' शब्द से व्याख्या की है। इस लिए हम यह समझ सकते हैं कि उनके मतानुसार साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। बन्ध के हेतुभूत मिथ्याज्ञान

१. आयुषस्तुरीयं चतुर्थं प्रव्रज्यायुक्तं जरेत्युच्यते। तत्र हि प्रव्रज्या विधीयते। न्या० सू० भा० ४।१।५९

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥

मनुसंहिता ६।३३

२. यच्चेदमुच्यते ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्ष इति तत्रेदं वक्तव्यं कर्मणां कीदृशो मोक्षं प्रति अङ्गभावः। नहि कर्मसाध्यो मोक्षः स्वर्गादिवदनित्यत्वप्रसङ्गात्। न्यायमञ्जरी, पृ० ५१३

३. न्यायमञ्जरी, पृ० ५१३–५२३

साक्षात्कारात्मक होने से शाब्द या आनुमानिक तत्त्वज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसीलिए संसारहेतु दृढ़भूमि मिथ्याज्ञान के उच्छेद के लिए साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान को उन्होंने आवश्यक समझा है। निदिध्यासनरूप योग के निरन्तर अभ्यास से योगी का विलक्षण प्रकार के शुभादृष्ट उत्पन्न होता है। उस अदृष्ट के कारण ही मुमुक्ष का साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान होता है। वह तत्त्वज्ञान शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि के साथ सम्यगनुष्ठित सन्ध्योपासनादि नित्यनैमित्तिक कर्मों की सहायता से मोक्ष को उत्पन्न करता है। इस कथन के कारण हम तत्त्वचिन्तामणिकार को ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी समझ सकते हैं[1]। समुच्चयवाद के विरोधियों के मत के विस्तार से आलोचना करते हुए उस विरोधपक्ष के खण्डन करने के कारण हम उन्हें समुच्चवाद का समर्थक समझते हैं। विरुद्ध पक्ष की आलोचना के प्रसङ्ग में उन्होंने कहा है कि समप्रधानरूप से अथवा अङ्गाङ्गिरूप से ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय की व्याख्या नहीं हो सकती है। इन दोनों के समप्राधान्य स्वीकार करने से ज्ञान के तुल्य कर्म का भी मोक्षरूप फल कल्पना करनी पड़ेगी। अन्य उपाय से इन दोनों का समप्राधान्य नहीं बनता है। परन्तु विभिन्न कर्मों के विशेष विशेष फल श्रुति में ही कहा हुआ है। अतः कर्म का फल मोक्ष है स्वीकार करना सम्भव नहीं होता है। अतः ज्ञान तथा कर्म समप्रधान रूप से मोक्षजनक हैं कहना भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कर्म को ज्ञान का अङ्ग मानने से यह निश्चय आवश्यक है कि कर्म ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक अङ्ग है, अथवा ज्ञान के फलरूप मोक्ष के उत्पादन में कर्म ज्ञान की सहायता करता है। प्रमाणसाध्य ज्ञान की उत्पत्ति में कहीं भी कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। अतः कर्म ज्ञानोत्पत्तिसहायक नहीं है। इसी प्रकार कर्मों की उत्पत्तिश्रुति में उनके फल निश्चितरूप से कहे जाने के कारण श्रुत्युक्त उन फलों से भिन्नप्रकार फल की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः ज्ञान के फलरूप मोक्ष भी कर्मों का फल है कहना सम्भव नहीं होता है। फलतः समप्राधान्य अथवा अङ्गाङ्गिभाव से ज्ञान तथा कर्म का समुच्चयपक्ष का समर्थन नहीं किया जा सकेगा। मुमुक्षु के लिए कर्मसंन्यास के विधान रहने से ज्ञान के साथ नित्यनैमित्तिक कर्मों का समुच्चय भी सम्भव नहीं है। चतुर्थाश्रम में नित्यादिकर्मों का परित्याग आवश्यक होने से उस आश्रम में ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय कल्पित नहीं हो सकता है। चतुर्थाश्रम में विहित कर्मों का ज्ञान के साथ समुच्चय होकर मोक्ष होता है कहने से गृहस्थ व्यक्ति की मोक्ष की सम्भावना नहीं रह जाती है। परन्तु शास्त्र में गृहस्थ की भी मुक्ति हो सकती है कहा गया है।[2]

---

१. एवञ्च शमदमब्रह्मचर्याद्युपबृंहितयावन्नित्यनैमित्तिकसन्ध्योपासनादिकर्मसहितात् तत्त्वज्ञानान्मुक्तिः। तत्त्व० मणि० ईश्वरानुमान, पृ० १८४

२. तत्त्वचिन्तामणि, पृ० १८४-५

उपर्युक्तरूप से ज्ञानकर्मसमुच्चयविरोधियों की शङ्का के उत्तर में तत्त्वचिन्तामणिकार ने कहा है कि विभिन्नाश्रमियों के लिए तत्तत् आश्रम के लिए विहित कर्मों का समुच्चय ज्ञान के साथ हो सकता है[1]।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥

इस श्रीमद्भगवद्गीता तथा

तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः।
तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामते ॥

इस विष्णुपुराणवाक्य तथा

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥

इस हारीत वाक्य तथा

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण च" इस श्रुति द्वारा भी स्पष्टतया मोक्ष में ज्ञानकर्मसमुच्चय की अपेक्षा है कहा गया है। यह समुच्चय समप्राधान्य अथवा अङ्गाङ्गिभाव यह दोनों प्रकार से ही उपपन्न हो सकता है। यद्यपि कर्मों के उत्पत्तिवाक्यों में उनके अन्य प्रकार फलों का उल्लेख है तथापि उन कर्मों के मोक्षरूप फल भी कल्पित हो सकता है। क्योंकि शब्दप्रमाण से भी दोनों प्रकार फल प्राप्त हो सकता है[2]। कर्मसंन्यास शब्द से काम्यकर्मों का संन्यास ही समझना है, नित्यनैमित्तिक कर्मों का नहीं।

क्यों कि—

काम्यानां कर्मणां न्यासः संन्यासं कवयो विदुः।
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः।

---

१. स्वस्वाश्रमविहितेन कर्मणा ज्ञानस्य समप्राधान्येन समुच्चयाज् ज्ञानकर्मणोस्तुल्यत्वेन मुक्त्यर्थत्वाभिधानात्। तत्त्व० मणि पृ० १८५

२. न च फलान्तरार्थत्वेन श्रुतस्य कर्मणः फलान्तरार्थत्वमनुपपन्नं तथा वाक्यस्वरसाज् ज्ञानतुल्यताप्रतीतेः। तत्तत् फलजनकत्वेऽपि हि कर्मणां शब्द एव मानम्। तत्त्व० मणि पृ० १८६

इत्यादि स्मृतिवाक्यों से काम्यकर्म के परित्याग को हि संन्यास कहा गया है। अतः चतुर्थाश्रमी के लिए ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय असम्भव न होगा। उक्त प्रकार से तत्त्वचिन्तामणिकार ने ज्ञानकर्मसमुच्चय पक्ष का समर्थन किया है।

इसके पश्चात् उन्होंने पुनः 'अत्र वदन्ति' आदि ग्रन्थ[1] से साम्प्रदायिकसिद्धान्त के वर्णन करते हुए ज्ञानकर्म के असमुच्चय पक्ष का भी प्रदर्शन किया है। तत्त्वज्ञान से ही वासना सहित मिथ्याज्ञान की सम्यक् निवृत्ति होती है तथा सूत्रोक्त क्रमानुसार पुरुष अपवर्ग का लाभ करता है। मोक्ष के लिए कर्म की सहायता स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है। क्योंकि दिङ्मोहादिस्थल में कर्मनिरपेक्ष ज्ञान से ही भ्रम की निवृत्ति देखी जाती है। अतः जिनका तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ हो उनके लिए नित्यनैमित्तिक आदि कर्मों का अनुष्ठान भी दोषावह नहीं। अतः कर्मासमुच्चित ज्ञान से मोक्षलाभ सम्भव है यही समझना चाहिए।

यह ज्ञानकर्मासमुच्चयवाद नैयायिकसम्प्रदाय के सिद्धान्त रूप से तत्त्वचिन्तामणि में उल्लिखित है। तत्त्वचिन्तामणिकार स्वयं इस सिद्धान्त के पक्षपाती नहीं हैं। क्योंकि पूर्वोल्लिखित रूप से उन्होंने ज्ञानकर्मसमुच्चय पक्ष का ही समर्थन किया है।

म. म. पं. फणिभूषण तर्कवागीश महोदय ज्ञानकर्मसमुच्चय के विषय में कहते हुए तत्त्व० मणिकार समुच्चयविरोधी थे यही सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। अपने सिद्धान्त के समर्थन में उन्होंने "वस्तुतस्तु... "[2] इत्यादि तत्त्व० मणि ग्रन्थ का उल्लेख किया है। हम उक्त 'वस्तुतस्तु' ग्रन्थ द्वारा उल्लिखित मत को किसी किसी समुच्चयवादी की व्याख्या के खण्डन के लिए हि तत्त्व० मणिकार द्वारा उपन्यस्त है समझे हैं। अतः वह मत हमारी दृष्टि से तत्त्व० मणिकार का निजमत के रूप से स्वीकारयोग्य नहीं हैं। इस विषय में हम पण्डितसमाज की दृष्टि को आकृष्ट करना चाहते हैं।

एतेन "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" "तद्वचनादाम्नायसिद्धेः प्रामाण्यम्" इति त्रिसूत्री (वै० सू० १।१।१-३) व्याख्याता। अन्यथा व्याख्याने हि यतोऽभ्युदयेति प्रत्येकसमुदायाभ्यामुभयत्राप्यव्यापकं स्यात्। यतोऽभ्युदयसिद्धिः स धर्म इत्येतावतैव लक्षणसिद्धेः। पारम्पर्येण निःश्रेयसेऽप्यस्य हेतुत्वं प्रतिपादयितुं निःश्रेयसग्रहणमिति।

---

१. तत्त्व० मणि पृ० १८८

२. न्यायदर्शन तथा वात्स्यायनभाष्य, पञ्चमखण्ड, पृ० ३०

[इस (अर्थात् पूर्वोक्त आलोचना) के द्वारा (फलतः) 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' तथा 'तद्वचनादाम्नायसिद्धेः प्रामाण्यम्' इन (वैशेषिक) सूत्रत्रय भी व्याख्यात हुए हैं। अन्य प्रकार व्याख्या करने (अर्थात् 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इस सूत्र की व्याख्या यदि—जिससे साक्षात् रूप से अभ्युदय (अर्थात् स्वर्गादि) की सिद्धि हो तथा जिससे साक्षात् रूप से निःश्रेयस (अर्थात् मोक्ष) की सिद्धि हो वही धर्म है' इस प्रकार भिन्न भिन्न लक्षण ही वक्तव्य है, अथवा 'जिसके द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस उभय की सिद्धि हो' इस प्रकार एक ही लक्षण वक्तव्य है इस प्रकार व्याख्या करने) से प्रत्येक तथा समुदाय के विकल्प द्वारा उभय प्रकार धर्म में ही (उक्त धर्मलक्षण की) अव्याप्ति होगी। 'यतोऽभ्युदयसिद्धिः स धर्मः' इस सूत्रांश से ही (धर्म के) लक्षण सिद्ध होने पर भी उस धर्म का परम्परया निःश्रेयस में भी उपयोगिता है इसीके प्रतिपादन के लिए ही (सूत्र में) 'निःश्रेयस' पद का ग्रहण किया गया है।]

जिससे अभ्युदय की सिद्धि हो वही धर्म, अथवा जिससे निःश्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म इस प्रकार विभिन्न फलों के अन्तर्भाव से धर्म के भिन्न भिन्न लक्षण करने पर प्रथम लक्षण की निवृत्तिरूप धर्म में तथा द्वितीय लक्षण की प्रवृत्तिरूप धर्म में अव्याप्ति होगी। जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो, इस प्रकार उभय फलों के अन्तर्भाव से धर्म का एक ही लक्षण करने पर भी प्रवृत्तिरूप अथवा निवृत्तिरूप धर्म के किसी में भी उभयफलजनकता न रहने से अव्याप्ति पूर्ववत् रहेगी। अतः परम्परया तत्त्वज्ञान तक धर्म के फल होने पर भी मोक्ष धर्म का फल न होगा। इसलिए अभ्युदयसाधकत्व ही धर्म का लक्षण है।[१] यहाँ अभ्युदय शब्द से तत्त्वज्ञान ही समझना होगा।[२] अतः उक्त सूत्र से तत्त्वज्ञानसाधकत्व ही धर्म का लक्षणरूप से उपस्थापित है समझना होगा। निवृत्तिरूप योगजधर्म तत्त्वज्ञान का साधक है यह पहले प्रतिपादन किया गया है। प्रवृत्तिरूप धर्म भी सत्त्वशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान का साधक होता है यह भी कहा गया हैं। अतः उक्त लक्षण की प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप धर्म में अव्याप्ति की सम्भावना नहीं हैं।

एवं प्रतिपन्नप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धो जिज्ञासुः पृच्छति—अथेति।[३] अथ कानि द्रव्याणि कियन्ति च, किं गुणाः कियन्तश्च, कानि कर्माणि कियन्ति च, किं सामान्यं कतिविधश्च, के विशेषाः, कः समवाय इत्यर्थः।

---

१. सूत्रमप्यभ्युदयमात्रसाधकधर्मपरतयैव व्याख्येयमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० ७९

२. अभ्युदयोऽत्र तत्त्वज्ञानम्। प्रकाश, पृ० ७६

३. अथ के द्रव्यादयः पदार्थाः। प्रशस्तपाद, पृ० २

[इस प्रकार से (शास्त्र का) प्रयोजन, अभिधेय तथा (उनके) सम्बन्ध ज्ञात होकर जिज्ञासु (व्यक्ति) "अथ" आदि ग्रन्थ द्वारा (ज्ञातव्य विषय के सम्बन्ध में) प्रश्न करते हैं, द्रव्य कौन (अर्थात् द्रव्य का सामान्य लक्षण क्या) तथा कितने प्रकार (अर्थात् उसके अवान्तर विभाग कितने); गुण कौन (अर्थात् गुण का सामान्य लक्षण क्या) तथा कितने प्रकार (अर्थात् उसके अवान्तर विभाग कितने); कर्म क्या (अर्थात् कर्म का सामान्य लक्षण क्या) तथा कितने प्रकार (अर्थात् उसके अवान्तर विभाग कितने); सामान्य क्या (सामान्य अर्थात् जाति का सामान्य-लक्षण क्या) तथा कितने (अर्थात् उनके अवान्तर विभाग कितने); विशेष क्या (विशेष का स्वरूप क्या); समवाय कौन (अर्थात् समवाय का स्वरूप क्या); यह ("अथ के द्रव्यादयः पदार्थाः" इस प्रश्नवाक्य का) अर्थ है ।]

किञ्च तेषामिति ।[1] सामान्यतो विशेषतश्च पदार्थानां द्रव्याणां गुणानां कर्मणामित्यादि नेयम् । चकारौ मिथः समुच्चये । साधर्म्यवैधर्म्य-योरेष्वेकान्तर्भूतत्वात् पृथग्लक्षणार्थमपि न प्रश्नः ।

["किञ्च तेषाम्" इस ग्रन्थ का तात्पर्य वर्णन किया जा रहा है । उन पदार्थों के साधर्म्य (ही) क्या तथा वैधर्म्य (ही) क्या यही प्रश्न का आकार है । (उक्त आकार में) द्रव्य, गुण तथा कर्म आदि पदार्थों के सामान्य तथा विशेषरूप से साधर्म्य तथा वैधर्म्य का प्रश्न भी अन्तर्निहित है समझना पड़ेगा । दो 'च' कार परस्पर समुच्चय अर्थ में (प्रयुक्त हैं) । साधर्म्य तथा वैधर्म्य के स्वरूप के विषय में पृथक् प्रश्न नहीं है क्योंकि वे पूर्वोक्त पदार्थों में ही अन्तर्भूत हैं ।]

तत्रेति ।[2] तत्र तेषु द्रव्यादिषु वक्तव्येषु द्रव्याणि पृथिव्यादीनि । यद्यपि विभागस्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदपरत्वादेव नवत्वं लब्धं तथापि स्फुटार्थं नवग्रहणम् । एवकारश्च विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थः ।

['तत्र' इत्यादि ग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है । तत्र अर्थात् वक्तव्य द्रव्य आदि पदार्थों में पृथिवी आदि पदार्थों (अर्थात् पृथिवी, जल, तेजः, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन) को द्रव्य समझना होगा । यद्यपि विभाग वाक्य के

---

१. किञ्च तेषां साधर्म्यं वैधर्म्यञ्चेति । प्रशस्तपाद, पृ० २-३

२. तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्यविशेषसंज्ञयोक्तानि नवैवेति । प्रशस्तपाद, पृ० ३

ही (दिभज्यमान पदार्थों के) न्यून अथवा अधिक संख्या के निषेध में तात्पर्य रहने के कारण (द्रव्यों के) नवत्व संख्या प्राप्त है (अर्थात् द्रव्य नौ प्रकार है यह प्रतीत होता है) तथापि सुस्पष्टरूप से प्रतिपादन के लिए ही (विभागवाक्य में) 'नव' पद का ग्रहण किया गया है। तथा (उसमें) 'एव' पद संशय के निरास के लिए (प्रयुक्त हुआ है)।]

सामान्यसंज्ञा द्रव्यमिति। विशेषसंज्ञा पृथिवीत्यादिका। तयोक्तानि सूत्रकृतेति शेषः। अवगताप्तभावस्य तस्योक्तेरागमत्वात्। अनवगताप्तभावस्यापि लोकप्रसिद्धार्थानुदकत्वात्। लोके च तावतामेव सामान्यतो विशेषतश्च व्यवहारात्।

[(मूल के) "द्रव्य" यह पद (पृथिवी आदि नवविध पदार्थों की) सामान्य संज्ञा होगी। (विभाग वाक्य के) पृथिवी आदि नौ पद द्रव्य की विशेष संज्ञा (होगी)। (मूल के) 'तयोक्तानि' (अर्थात् संज्ञयोक्तानि) इस अंश के 'सूत्रकृता' पद शेष (अर्थात् पूरक) होगा। क्योंकि उन (अर्थात् सूत्रकार) के आप्तत्व के निश्चय रहने से उनकी उक्ति आगम (अर्थात् आगम प्रमाण है)। उनके आप्तत्व के निश्चय न रहने से भी लोकप्रसिद्ध अर्थ के अनुवादक होने के कारण उनकी उक्ति प्रामाणिक ही होगी (अर्थात् तत्कृत द्रव्यादि संज्ञाएँ प्रामाणिक होंगी)। क्योंकि लोकसमाज में उनका ही (अर्थात् द्रव्य आदि पदार्थों का ही) सामान्य तथा विशेषरूप से व्यवहार (प्रयोग) पाया जाता है।]

किं पुनरत्र प्रतिषिध्यते नवैवेति ? नह्यनवगतस्य प्रतिषेधः सम्भवति। उच्यते—द्रव्यस्य सतो नववाह्यत्वं नववाह्यस्य सतो द्रव्यत्वं वा। तथा च प्रतिपन्नस्यैव प्रतिपन्ने प्रतिषेध इति न किञ्चिद् दुष्यति। अतः-परं न शङ्का न चोत्तरम्। तथाहि, इदं द्रव्यमेभ्योऽधिकं स्यादिति वा इदमेभ्योऽधिकं द्रव्यं स्यादिति वा शङ्क्येत। प्रथमे आधिक्यं निराकरिष्यामो यथा सुवर्णस्य। द्वितीये द्रव्यत्वं निराकरिष्यामो यथा तमसः। अतः परं न शङ्का न चोत्तरम्। धर्मिण एव बुद्ध्यनारोहात्। यदि कथञ्चिद् बुद्धिमारोक्ष्यते तदास्माभिरुक्तेष्वेवान्तर्भावयिष्यते। अनन्तर्भावे वा द्रव्यत्वं तस्य निराकरिष्यत इत्यभिप्रायवानाह—तद्व्यतिरेकेण संज्ञान्तरानभिधानादिति। सूत्रकृतेति शेषः। लोकेनेति वा।

[('नवैव' इस वाक्यांश के 'एव' कार से) यहाँ किसका निषेध हुआ है ? क्योंकि जो ज्ञान का विषयीभूत नहीं है उसका प्रतिषेध असम्भव है। उत्तर के रूप से कहा जाता है—प्रमाणसिद्ध द्रव्य (अर्थात् पृथिवी आदि) में नवबहिर्भूतत्व के अथवा नवबहिर्भूतरूप से प्रमाणसिद्ध के द्रव्यत्व का निषेध किया गया है। ऐसा होने से (फलतः) प्रमाणसिद्ध पदार्थ में प्रमाणसिद्ध (अन्य) पदार्थ का प्रतिषेध होने से कोई दोष नहीं है। इसके पश्चात् शङ्का अथवा उत्तर का अवकाश नहीं है। इसका स्पष्टार्थ यह है कि–यह द्रव्य इन द्रव्यों से अधिक (अर्थात् पृथक्) हो, अथवा इन द्रव्यों से पृथग्भूत यह पदार्थ द्रव्य हो ऐसी शङ्का (अर्थात् प्रश्न) हो सकता है। प्रथम (अर्थात् प्रथम प्रश्न) के उत्तर में हम आधिक्य का निषेध करेंगे जैसा सुवर्णरूप द्रव्य में आधिक्य निषिद्ध होगा (अर्थात् द्रव्यरूप से प्रमाणसिद्ध सुवर्ण की अतिरिक्तता की शङ्का के कारण उसे जिस प्रकार तेजः नाम के तृतीय द्रव्य में अन्तर्भुक्त किया जाएगा उसी प्रकार द्रव्यत्वरूप से प्रमाणसिद्ध रहने पर उसे नवविध द्रव्य में ही अन्तर्भुक्त किया जाएगा)। द्वितीय (अर्थात् द्वितीय प्रश्न) में हम द्रव्यत्व का निषेध करेंगे जैसा अन्धकार का द्रव्यत्व निषिद्ध होगा। (अर्थात् पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से अतिरिक्तरूप से प्रमाणसिद्ध पदार्थ के द्रव्यत्व की शङ्का होने पर अन्धकार का द्रव्यत्व जिस प्रकार निषिद्ध होगा उसी प्रकार उस पदार्थ का भी द्रव्यत्व निषिद्ध होगा)। इसके पश्चात् (इस विषय में) किसी शङ्का अथवा कोई उत्तर का अवकाश नहीं है। क्योंकि इस प्रकार कोई धर्मी हमारी बुद्धि के विषय नहीं है जिसके विषय में उक्त प्रकार की शङ्का हो सके। यदि किसी प्रकार से भी कोई धर्मी भविष्य में भी हमारी बुद्धि का विषय होगा तो हम उसे उक्त पदार्थों (अर्थात् द्रव्यादि) में ही अन्तर्भावित करेंगे। यदि उस धर्मी को नवविध द्रव्य में अन्तर्भावित किया न जाता हो तो (हम) उसके द्रव्यत्व का ही निराकरण करेंगे। इसी अभिप्राय से ही "तद्व्यतिरेकेण संज्ञान्तरानभिधानात्"[१] यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है। 'सूत्रकृता' अथवा 'लोकेन' पद उक्तवाक्य का शेष अंश है समझना होगा।]

स्यादेतद्, अन्धकारस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपह्नवः। न च सामान्यविशेषसमवायेष्वन्यतमं तमः। तेषां व्यञ्जकवैचित्र्येऽपि व्यक्तयाश्रयसम्बन्धिनामुपलम्भमन्तरेणानुपलम्भनियमात्। उपलम्भे वा तत्त्वव्याघातात्।

१. प्रशस्तपाद, पृ० ३; किसी किसी मुद्रित पुस्तक में 'तद्व्यतिरेकेणान्यस्य संज्ञानभिधानात्' यह पाठ भी प्राप्त है।

[यदि कहा जाए कि, जब अन्धकार अनुभवसिद्ध (पदार्थ) है अतः उसका अपलाप सम्भव नहीं है। और यह भी (सम्भव) नहीं है कि अन्धकार सामान्य, विशेष तथा समवाय के किसी एक में होगा (अर्थात् उनमें से किसी एक में अन्तर्भुक्त होगा)। क्योंकि अभिव्यञ्जक के वैचित्र्य रहने पर भी (क्रमशः) व्यक्ति, आश्रय तथा सम्बन्धी की उपलब्धि के बिना उन (अर्थात् सामान्य, विशेष तथा समवाय) की नियमतः अनुपलब्धि होती है (अर्थात् कदापि उपलब्धि नहीं होती है)। उपलब्धि होने पर (अर्थात् व्यक्ति, आश्रय तथा सम्बन्धी की अनुपलब्धि रहते हुए उपलब्धि होने पर) (उनकी) स्वरूपहानि होगी (अर्थात् उन पदार्थों को सामान्य, विशेष अथवा समवाय कहना सम्भव न होगा)।]

पूर्वपक्षी कहते हैं कि अन्धकार अनुभवसिद्ध पदार्थ है। अतः उसका अपलाप सम्भव नहीं है। सिद्धान्तवादी जिन पदार्थों को स्वीकार करते हैं उनमें से किसी भी पदार्थ में अन्धकार का अन्तर्भाव हो सकेगा या नहीं इस पर विचार करने से देखा जाता है कि सामान्य, विशेष, अथवा समवाय, इनमें से किसी पदार्थ में भी अन्धकार का अन्तर्भाव हो नहीं सकता है। 'सामान्य' में अन्तर्भाव तभी हो सकता यदि सामान्य तथा अन्धकार के अभिव्यञ्जक एक ही होता। परन्तु सामान्य का अभिव्यञ्जक आलोक है, अन्धकार का अभिव्यञ्जक होता है आलोकाभाव[1]। अतः अन्धकार का सामान्य में अन्तर्भाव न हो सकेगा।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उल्लिखित युक्ति समर्थन योग्य नहीं है। क्योंकि सामान्य का अभिव्यञ्जक नियमतः एकरूप नहीं है। अभिव्यञ्जक के भिन्न होने पर भी सामान्य की अभिव्यक्ति होती है। समस्त गोव्यक्ति में यदि एक गोत्व-सामान्य है तब दो गोव्यक्ति के अन्तराल में अवस्थित घटव्यक्ति में भी उसकी वर्त्तमानता होगी। तुल्ययुक्ति से घटत्वजाति भी घटद्वय के अन्तराल में स्थित गोव्यक्ति में अवश्य ही रहेगी। ऐसा होने पर भी गोव्यक्ति ही गोत्वजाति का अभिव्यञ्जक है घटव्यक्ति नहीं। तथा घटव्यक्ति ही घटत्वजाति का अभिव्यञ्जक है गोव्यक्ति नहीं। व्यञ्जकों के वैचित्र्य रहने पर भी गोत्व तथा घटत्व दोनों को सिद्धान्त में जाति कही जाती है। अतः गोत्व तथा अन्धकार के अभिव्यञ्जकों के विचित्र होने के कारण उनमें से एक 'जाति' है तथा दूसरी 'जाति' नहीं है यह कहना सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षी अन्यप्रकार से अन्धकार का जातित्वखण्डन के लिए कहते हैं कि—
अन्धकार अवश्य ही सामान्य से भिन्न होगा।
यतः व्यक्ति के ज्ञान के विना सामान्य का ज्ञान नहीं होता है।

१. तस्य च आलोकोऽयं व्यञ्जकः। प्रकाश, पृ० ८५

यहां अनुमान का आकार को देखने से स्पष्ट प्रतीति होगी कि अनुमान के हेतु पक्षवृत्ति नहीं है। क्योंकि व्यक्ति की उपलब्धि न होने पर भी अन्धकार की उपलब्धि होती है। इस लिए उक्त अनुमान को निम्नलिखित रूप में पर्यवसित करना होगा।

अन्धकार सामान्य से भिन्न है।

यतः व्यक्ति की उपलब्धि के विना ही उसकी उपलब्धि होती है।

व्यक्ति की उपलब्धि के विना भी जिसकी उपलब्धि हो वह सामान्य नहीं। विशेष तथा समवाय पदार्थों के यथाक्रम आश्रय तथा सम्बन्धी की उपलब्धि के बिना उपलब्धि नहीं होती है। परन्तु आश्रय तथा सम्बन्धी की उपलब्धि के बिना ही अन्धकार की उपलब्धि होती है। अतः अन्धकार विशेष तथा समवाय से भिन्न है।

विशेषतया वैशेषिकमत में विशेष तथा समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता है। परन्तु अन्धकार प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी लिए अन्धकार विशेष तथा समवाय से भिन्न ही है। विशेष का आश्रय अर्थात् परमाणु आदि प्रत्यक्षसिद्ध नहीं होता है। न्यायमत में समवाय प्रत्यक्षसिद्ध होने पर भी वैशेषिक मत में वह प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। वैशेषिकमत में समवाय के अनुयोगी तथा प्रतियोगी प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इसलिए पूर्वोक्त युक्ति से अन्धकार को विशेष तथा समवाय से भिन्न ही समझना चाहिए।

न कर्म, संयोगविभागयोरकारणत्वात्। न ह्यन्धकारेण किञ्चित् कुतश्चिद् विभज्य केनचित् संयोज्यते। अतथाभूतस्य च तल्लक्षणानुपपत्तेरतत्त्वात्।

[(अन्धकार) कर्म नहीं क्योंकि वह संयोग तथा विभाग का कारण (अर्थात् असमवायि कारण) नहीं होता है। यह देखा नहीं गया है कि अन्धकार किसी पदार्थ को (दूसरे) किसी पदार्थ से विभक्त (अर्थात् वियुक्त) कर (अन्य) किसी पदार्थ से युक्त करता हो। ऐसा न होने के कारण उसमें कर्मलक्षण की अनुपपत्ति होती है। फलतः (अन्धकार का) तादृशत्व (अर्थात् कर्मत्व) सिद्ध नहीं होता है।]

कर्म संयोग तथा विभाग के असमवायि कारणरूप से वैशेषिक सिद्धान्त में स्वीकृत है। परन्तु अन्धकार संयोग तथा विभाग के असमवायि कारण नहीं है। अन्धकार किसी वस्तु को किसी स्थान से विभक्त तथा अन्य किसी स्थान से संयुक्त करता है यह अनुभव सिद्ध नहीं है। किसी वस्तु को किसी स्थान से वियुक्त तथा स्थानान्तर मे संयुक्त करना ही कर्म का लक्षण है। संयोग तथा विभाग के जनक न होने से उसको कर्म नहीं कहा जाता है। अतः अन्धकार कर्मपदार्थ में अन्तर्भूत नहीं हो सकता है।

न गुणः, द्रव्यासमवायात् । द्रव्यासमवेतं हि असमवेतमेव स्याद् अद्रव्यसमवेतं वा । उभयथापि गुणत्वव्याघातः । सामान्यवतः स्वतन्त्रस्य द्रव्यत्वापत्तेः । निःसामान्यस्य गुणत्वलक्षणव्याघातात् । गुणकर्मणोर्निर्गुणतया गुणस्य तत्र समवायविरोधात् ।

[(अन्धकार) गुण (भी) नहीं । क्योंकि वह द्रव्य में असमवेत है । 'द्रव्य में असमवेत' कहने से जो (सर्वत्र ही) असमवेत हो (अर्थात् कहीं भी समवाय सम्बन्ध से न रहता हो) अथवा जो द्रव्यभिन्न (अर्थात् गुणादि) में समवेत हो, उसको समझा जाता है । (किन्तु) उभय प्रकार से ही अन्धकार का गुणत्व व्याहत है (अर्थात् सिद्ध नहीं होता है) । क्योंकि जातिविशिष्ट स्वतन्त्र पदार्थ द्रव्य ही होता है । जातिशून्य होने पर गुणत्वलक्षण का व्याघात होगा । (तथा) गुण तथा कर्म निर्गुण होने से उसमें (अर्थात् गुण में) (गुण का) समवाय विरुद्ध होता है ।]

यहां पूर्वपक्षी कहते हैं कि— जो द्रव्य में असमवेत है वह गुण नहीं हो सकता है । अर्थात् गुण होने पर द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहना ही है । अन्धकार द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है । अतः वह गुण नहीं है । परन्तु मीमांसक इस युक्ति से तुष्ट न होंगे । उनके मत में अन्धकार जन्यद्रव्य है । जन्यद्रव्य अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहता है । अतः पूर्वोपन्यस्त हेतु मीमांसक मतानुसार अन्धकाररूप पक्ष में नहीं रहेगा ।[१]

द्रव्यासमवेतत्वरूप हेतु से अन्धकार के गुणत्वनिषेध का अनुमान निम्नलिखित रूप होगा—

अन्धकार गुण नहीं, क्योंकि वह द्रव्य में असमवेत है ।

इस अनुमान में हेतु द्रव्य-रूप व्यर्थविशेषणयुक्त है । केवल 'असमवेतत्व' से ही गुणत्व का निषेध सिद्ध हो सकता है । क्योंकि सभी मत में 'असमवेत' का गुणत्व स्वीकृत नहीं है । अतः जो जो असमवेत है वह गुण नहीं इस प्रकार नियम मीमांसक सम्मत होने से तदनुसार केवल असमवेतत्व से ही गुणत्व का निषेध सिद्ध होगा । तथापि 'द्रव्यासमवेतत्व' को गुणत्वनिषेध के हेतुरूप से उपन्यास करने से वह अनुमान व्यर्थविशेषणदोषदुष्ट हुआ है ।[२] यदि कहा जाए कि अन्धकार के गुणत्वनिषेध ही मीमांसक का अभीष्ट है किसी हेतुविशेष नहीं । अतः द्रव्यासमवेतत्व हेतु में दोष रहा हो तो केवल असमवेतत्व को ही हेतु मानकर मीमांसक अन्धकार का अगुणत्व सिद्ध करेंगे । ऐसा होने पर अनुमान का आकार

---

१. किञ्च तमसः स्वावयवरूपद्रव्यसमवेतत्ववादिनोऽसिद्धिः । प्रकाश, पृ० ८७

२. ननु द्रव्येति विशेषणं व्यर्थम् । असमवायादित्यस्यैव गमकत्वात् । प्रकाश, पृ० ८६

'अन्धकार गुण नहीं, क्योंकि वह असमवेत है, होगा। इस अनुमान से भी अन्धकार का गुणत्व निषिद्ध न होगा। क्योंकि असमवेतत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। मीमांसकमत में अन्धकार अपने अवयवों में समवेत रहता है। अतः द्रव्यासमवेतत्व अथवा असमवेतत्वरूप हेतु से अन्धकार का अगुणत्व सिद्ध नहीं होता है।

इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि व्यभिचारवारक विशेषण के तुल्य ही स्वरूपासिद्धिवारक विशेषण की सार्थकता है[1]। 'जो जो असमवेत हो वह गुण नहीं' इस नियम में व्यभिचार न रहने पर भी सामान्यतः असमवेतत्व अन्धकाररूप पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्धिवारक द्रव्यांशविशेषित द्रव्यासमवेतत्वरूप हेतु व्यर्थविशेषणतादोषदुष्ट नहीं है। पक्षधरमिश्र आदि नैयायिकोंने स्वरूपासिद्धिवारकविशेषण का भी सार्थक्य स्वीकार किया है।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि असमवेतत्वरूप धर्म अगुणत्वरूप साध्य का व्याप्य हुआ है, तथापि द्रव्यासमवेतत्वरूप धर्म व्यर्थविशेषणतादोषदुष्ट नहीं है। क्योंकि असमवेतत्वरूप सामान्याभाव की अपेक्षया द्रव्यासमवेतत्व के विशेषाभाव होते से तथा विशेषाभाव के गर्भ में सामान्याभाव प्रविष्ट न होने के कारण असमवेतत्व द्रव्यासमवेतत्व का घटक नहीं है। अतः द्रव्यासमवेतत्वरूप हेतु अगुणत्व का अनुमापक होने में बाधा नहीं है।[2]

'अन्धकार गुण नहीं क्योंकि वह द्रव्यासमवेत है' इस अनुमान में द्रव्यासमवेत शब्द से पृथिव्यादि नवविध द्रव्य में असमवेतत्वरूप हेतु से अगुणत्व सिद्ध किया जा रहा है अथवा मीमांसक द्रव्यमात्र में असमवेतत्वरूप हेतु से अन्धकार का अगुणत्व सिद्ध करना चाहते हैं। प्रथम कोटि द्वारा यह सम्भव नहीं है। क्योंकि मीमांसकस्वीकृत अन्धकार के नीलरूप में ही हेतु व्यभिचारी होता है। मीमांसकस्वीकृत नीलरूपात्मकगुण अन्धकार में होने से उस नीलरूप में अगुणत्वरूप साध्य नहीं है परन्तु पृथिवी आदि नवविधद्रव्य में समवेतत्वरूप हेतु वहां विद्यमान है। अतः पृथिवी आदि नवविधद्रव्यासमवेतत्वरूप हेतु से अन्धकार का अगुणत्व मीमांसक सिद्ध नहीं कर सकते हैं। द्वितीय कोटि द्रव्यमात्रासमवेतत्व भी अन्धकार के अगुणत्व का साधक नहीं हो सकता है। क्योंकि मीमांसक मत में अन्धकार में द्रव्यमात्रासमवेतत्व स्वीकृत न होने से वह हेतु स्वरूपासिद्ध है। मीमांसक अन्धकार को समवेतद्रव्य ही स्वीकार करते हैं। अतः दोनों में से किसी प्रकार से भी द्रव्यासमवेतत्वरूप हेतु से अन्धकार का अगुणत्व सिद्ध नहीं होता है।[3]

---

१. स्वरूपासिद्धिनिवारकविशेषणवदिदमपि साधनम्। प्रकाश पृ० ८६

२. ततः प्रतियोगिविशेषणत्वात्। द्रव्यसमवेतत्वाभावो विशिष्टव्यतिरेकी हेतुरिति न व्यर्थविशेषणम्। प्रकाश, पृ० ८७

३. तथाहि किं पृथिव्यादिनवकासमवायो हेतुः द्रव्यमात्रासमवायो वा। आद्ये तमोरूपेणानैकान्तिकत्वम्। अन्त्ये स्वरूपासिद्धिः। प्रकाश, पृ० ८६-७

इन शङ्काओं के उत्तर में मीमांसक कह सकते हैं कि उनके मत में अन्धकार समवेत-द्रव्य अवश्य है। यहाँ वे परिशेषानुमान की सहायता से अन्धकार को पृथिव्यादि नवविध द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्य सिद्ध करने में प्रवृत्त हैं। वैशेषिकसम्मत पदार्थों में अन्धकार अन्तर्भूत नहीं यह सिद्ध करते हुए मीमांसक परिशेषवश अन्धकार का दशमद्रव्यत्व सिद्ध करेंगे। इसीलिए वैशेषिकसम्मत पदार्थों में अन्धकार का अनन्तर्भाव सिद्ध करने के लिए वे वैशेषिकमतानुसार ही अनुमान का प्रयोग कर रहे हैं। अतः 'अन्धकार गुण नहीं क्योंकि वह पृथिव्यादि नवविध द्रव्य में असमवेत है' इस अनुमान में वैशेषिक मतानुसार व्यभिचारादि दोष न रहने से वह अवश्य ही परिशेषानुमान में मीमांसक का सहाय होगा।

यहाँ विचार यह करना होगा कि द्रव्य में असमवेत होने के हेतु अन्धकार गुण-पदार्थ नही हो सकता है, इस युक्ति में 'द्रव्य में असमवेत' शब्दों का किस प्रकार अर्थ पूर्वपक्षी का अभिप्रेत है। अर्थात् 'जो समवायसम्बन्ध से रहता ही नहीं' अथवा 'जो द्रव्य-भिन्न गुणादिपदार्थों में समवायसम्बन्ध से रहता है' इन दो अर्थों में किसको 'द्रव्यासमवेत' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि इन दो में से किसी भी अर्थ के ग्रहण से अन्धकार को गुण में अन्तर्भूत किया नही जा सकता है। गुणपदार्थ समवायसम्बन्ध से रहेगा ही। जो समवायसम्बन्ध से नहीं रहता वह गुणपदार्थ हो नहीं सकता है। अतः 'द्रव्यासमवेत' पद का प्रथमोक्त अर्थ स्वीकार करने पर अन्धकार को गुणों में अन्तर्भूत करना सम्भव नहीं। और जो द्रव्यभिन्न गुण, क्रिया आदि पदार्थों में ही समवायसम्बन्ध से रहता हो वह द्रव्या-समवेत होता है। यह द्वितीय अर्थ के ग्रहण करने पर अन्धकार को जाति कहना पड़ेगा। क्योंकि द्रव्यभिन्न गुण या कर्म में समवाय सम्बन्ध से केवल जाति ही रहती है।

और भी कहना है कि 'द्रव्यासमवेत' पद का प्रथमोक्त अर्थ स्वीकार करते हुए जो समवाय सम्बन्ध से रहना ही नहीं उसका ग्रहण करने पर भी 'द्रव्यासमवेतत्व' हेतु से अगुणत्व की सिद्धि होगी। क्योंकि उस प्रकार 'द्रव्यासमवेत' वस्तु जातिविशिष्ट या जाति-शून्य होगा। सर्वथा असमवेत वस्तु जातिविशिष्ट होने से द्रव्य ही होता है गुण नहीं। चार प्रकार परमाणु, आकाश, काल दिक्, आत्मा तथा मन यह पदार्थ जातिविशिष्ट तथा सर्वथा असमवेत अर्थात् स्वतन्त्र हैं। इनका द्रव्यत्व सर्ववादिसम्मत है। अतः इस प्रकार 'असमवेतत्व' से अन्धकार का गुणत्व अवश्य ही निषिद्ध होगा। और सर्वथा असमवेत होकर यदि जातिशून्य हो तब भी वह गुण नहीं। क्योंकि सर्वथा असमवेत तथा जातिशून्य समवाय तथा अभाव ही है। उनका अगुणत्व सिद्ध ही है। अतः इस अर्थ से भी 'द्रव्यासमवेतत्व' से अन्धकार का अगुणत्व सिद्ध होगा। यदि द्वितीय प्रकार अर्थ स्वीकार कर जो केवल द्रव्य में असमवेत हो अर्थात् अन्यत्र समवेत होने पर भी द्रव्य में समवेत नहीं उन्हें द्रव्या-समवेत कहा जाए तथा उस प्रकार द्रव्यासमवेतत्व को अनुमान का हेतु माना जाए तब

भी उस हेतु से अन्धकार का अगुणत्व सिद्ध होता है। क्योंकि यदि ऐसा कोई गुण होता जो गुण में समवायसम्बन्ध से रहे तो उस गुणसमवेत गुण में 'द्रव्यासमवेतत्व' व्यभिचारी होने से अगुणत्व का साधक न होता। परन्तु गुण तथा कर्म के निर्गुणत्व सिद्ध रहने के हेतु 'द्रव्यासमवेतत्व' हेतु व्यभिचाररहित है। अतः उस हेतु से अन्धकार का अगुणत्व अवश्य ही सिद्ध होगा।

द्रव्यासमवाय एवास्य कथमिति चेद् इत्थम्—न दिक्कालमनसामयम्, तेषां विशेषगुणविरहात्। सामान्यगुणस्य च आश्रयसहोपलम्भनियमेन तदप्रत्यक्षतायामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्।

[इस (अर्थात् अन्धकार) का द्रव्य में असमवाय किस प्रकार से (उपपन्न) होता है ? (इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि) इस प्रकार (अर्थात् निम्नलिखितरूप से अन्धकार का द्रव्य में असमवाय प्रमाणित हो सकता है)। दिक् काल तथा मन में यह समवायसम्बन्ध से नहीं रहता है। क्योंकि उनके विशेषगुण नहीं होते हैं। और 'सामान्य गुण आश्रय के साथ उपलब्ध होते हैं' ऐसा नियम रहने के कारण उस (अर्थात् आश्रय) के प्रत्यक्ष न होने पर अन्धकार का अप्रत्यक्षत्व की प्रसक्ति होगी।]

वैशेषिकमतानुसार जन्यद्रव्य, गुण, क्रिया, जाति तथा विशेष यह पदार्थ द्रव्य में समवेत होते हैं। अन्धकार यदि द्रव्यसमवेत हो तो इन्हीं में किसी पदार्थ में अन्तर्भूत होगा। अन्धकार का कर्म आदि पदार्थों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह कहा जा चुका है। यदि वह द्रव्य में समवेत हो तो वह गुण अथवा जन्यद्रव्य होगा यही शेष रहा। मीमांसक उसे द्रव्यपदार्थ मानते हैं। इसीलिए अन्धकार के द्रव्यत्व का निषेध उनको इष्ट नहीं है। अन्धकार के गुणत्वनिषिद्ध होने पर भी फलतः वैशेषिकवादी के लिए वह द्रव्य में असमवेतरूप से सिद्ध हो जाता है। इसीलिए वैशेषिकसम्प्रदाय के सम्मुख अन्धकार के द्रव्यासमवेतत्व सिद्ध करने हेतु मीमांसक अन्धकार के गुणत्व का निषेध करते हैं। इसी अभिप्राय से 'न दिक्कालमनसामयम्' यह पंक्ति कही गई है।

वैशेषिकमतानुसार सामान्य तथा विशेष भेद से गुण दो प्रकार के होते हैं। अन्धकार यदि असमवेत न हो अर्थात् समवेत हो तब वह विशेषगुण अथवा सामान्यगुण होगा। यदि विशेषगुण हो तो वह दिक्, काल अथवा मन का गुण नहीं होगा। क्योंकि इन तीन द्रव्य में विशेषगुण नहीं होते हैं।

यहां 'अन्धकार यदि विशेषगुण हो तो दिक्, काल या मन का गुण न होगा' इस कथन से निम्नलिखित आकार के अनुमान का प्रयोग प्राप्त है। 'अन्धकार दिक् काल अथवा

मन का गुण नहीं क्योंकि वह विशेषगुण है'। इस अनुमान में पक्ष अन्धकार है जिसमें विशेषगुणत्वरूप हेतु नहीं है। अतः यह हेतु स्वरूपासिद्ध है। फलतः इस अनुमान द्वारा अन्धकार यदि विशेषगुण है तो वह दिक् काल तथा मन का गुण नहीं हो सकता यह कहा नहीं जा सकता है।

यदि कहा जाता है कि अन्धकार दिक् काल तथा मन का विशेषगुण नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्षसिद्ध है। प्रत्यक्षसिद्ध होने से दिक् काल तथा मन का विशेषगुण नहीं होता है यह गन्ध आदि विशेषगुणों से सिद्ध है।[१] उक्त अनुमान द्वारा अन्धकार के दिक् काल तथा मन का विशेषगुणत्व निषिद्ध होने से अभिप्रेतसिद्धि हो सकती है। परन्तु इस अनुमान में साध्याप्रसिद्धि दोष के रहने से मीमांसक का अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि दिक् काल तथा मन में कोई विशेषगुण है वादी अथवा प्रतिवादि किसी को यह स्वीकृत नहीं है। अतः यह निषेध अलीकप्रतियोगिक होने से अप्रसिद्ध है।[२]

मीमांसक यदि कहें कि 'अन्धकार दिक्, आदि का गुण होते हुए विशेषगुण नहीं है क्यों कि वह प्रत्यक्षसिद्ध है' अनुमान का आकार यह होगा। इससे अन्धकार का 'विशेषगुणत्व' मत में दिगादिगुणत्व का निषेध सिद्ध होगा। यहां दिगादिगुणत्वविशिष्टविशेषगुणत्वाभाव साध्य नहीं हैं। यदि ऐसा हो तो पूर्ववत् साध्याप्रसिद्धि है। क्योंकि दिगादि के विशेषगुण सिद्ध न रहने के कारण दिगादिगुणत्वविशिष्ट-विशेषगुणत्व की सम्भावना नहीं है। अतः दिगादिगुणत्वरूप व्यधिकरणधर्म के साथ विशेषगुणत्व का निषेध साध्य होगा। जिससे साध्याप्रसिद्धि न होगी। क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव दार्शनिक सम्प्रदाय में अस्वीकृत नहीं है। अथवा यहां दिगादिगुणत्व तथा विशेषगुणत्व एतदुभयत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव साध्य है कहा जा सकता है। संख्या, परिमाण आदि में दिगादिगुणत्व तथा गन्ध आदि में विशेषगुणत्व दोनों सिद्ध हैं। अतः उक्त उभयत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव साध्य होने पर साध्याप्रसिद्धि न रहेगी। किरणावलीग्रन्थ का अभिप्राय इसी प्रकार से समझना होगा।[३]

यदि अन्धकार दिक्, काल तथा मन का सामान्यगुण है कहा जाए तब भी अन्धकार का प्रत्यक्ष न होगा। सामान्यगुण सर्वत्र आश्रय के साथ ही उपलब्ध होता है। आश्रय के

---

१. अथ दिक्कालमनसामयं न गुण इति प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, गन्धवत्। प्रकाश, पृ० ८९

२. नन्वत्रापि साध्याप्रसिद्धिरिति चेत्। प्रकाशविवृति, पृ० ८९

३. अत्र दिगादिगुणत्वसमानाधिकरणविशेषगुणत्वाभावे दिगादिगुणत्वसमानाधिकरणत्वं व्यधिकरणं प्रतियोगितावच्छेदकमिति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्तन्मतेन साध्य इत्येके। दिगादिगुणत्व-विशेषगुणत्वयोः प्रत्येकं प्रसिद्धयोर्व्यासज्यप्रतियोगिकाभावः साध्य इत्यन्ये। प्रकाशविवृति, पृ ८६

बिना सामान्यगुणों की उपलब्धि नहीं होती है। अतः दिक्, काल तथा मनका प्रत्यक्ष-विषयता न रहने से उसके सामान्यगुणों का भी प्रत्यक्षविषयता नहीं रहती है। अतः उक्त स्थिति में अन्धकार का प्रत्यक्ष भी न होगा। मीमांसक अन्धकार का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। अतः वह दिक्, काल तथा मनका सामान्यगुण है कहना भी सङ्गत नहीं है।

नात्मनो बाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् इदन्तास्पदत्वाच्च ।

[(अन्धकार) आत्मा के गुण नहीं क्योंकि वह वहिरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष योग्य तथा इदन्ता का आस्पद (अर्थात् 'यह' इस आकार से ही समानाधिकरण प्रतीति का विषय होता है, 'मैं' इस आकार से समानाधिकरण प्रतीति का विषय नहीं होता) है।]

अन्धकार दिक्, काल तथा मन का गुण नहीं यह प्रमाणित किया गया है। अब वह आत्मा का गुण भी नहीं है कहा जा रहा है। आत्मा तथा आत्मा के गुण वहिरिन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होते हैं। अन्धकार का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है कहा गया है। अतः वहिरिन्द्रिय-ग्राह्य होने से वह आत्मा का भी गुण नहीं है। तथा 'इदन्ता' का आस्पद होने के कारण भी वह आत्मा का गुण नहीं है। अर्थात् आत्मा का गुण कभी 'इदम्' के साथ समानाधि-करण होकर प्रतीत नहीं होता है।

ग्रन्थकार 'इदन्तास्पदत्व' को हेतु मानकर अन्धकार के आत्मगुणत्व का निषेध कर रहे हैं। यहाँ अनुमान का आकार यदि—'अन्धकार आत्मा का गुण नहीं क्योंकि वह इदन्तास्पद है' इस प्रकार अभिप्रेत हो तो यह विचार करना है कि इदन्तास्पदत्व क्या है। यदि 'इदम्' इस रूप से प्रतीयमानत्व को 'इदन्तास्पदत्व' कहा जाए तो आत्मगुणत्वाभाव के व्यभिचारी होने से इस हेतु से आत्मगुणत्वाभाव की सिद्धि न होगी। 'यह मेरा सुख है' इस प्रकार मानसप्रत्यक्ष प्रायः हमारा होता है। सुख आदि में 'इदन्तास्पदत्व' सिद्ध है। परन्तु उनमें आत्मगुणत्व ही है। फलतः इदन्तास्पदत्व आत्मगुणत्वाभाव का व्यभिचारी है। न्याय वैशेषिकादि मत में सुखदुःखादि आत्मा के विशेषगुण हैं। व्यभिचारी होने के कारण उक्त हेतु से आत्मगुणत्व का निषेध सिद्ध न होगा।

यदि 'आत्मासमवेतत्व' को 'इदन्तास्पदत्व' कहा जाए तो उक्त व्यभिचार न होगा। क्योंकि आत्मा में असमवेत वस्तु कभी आत्मा के गुण नहीं होता है। तथापि यह अर्थ यथार्थ न होगा। क्योंकि इस अनुमान से ही अन्धकार के आत्मगुणत्व का निषेध किया जाएगा और आत्मगुणत्वनिषिद्ध होने पर पश्चात् उसमें 'आत्मासमवेतत्व' आक्षिप्त होगा। अतः पश्चात् काल में आक्षिप्त होने वाले आत्मासमवेतत्वरूप धर्म अनुमान से पूर्वकाल में अन्धकार में निश्चित न होने से उस धर्म के बल पर अन्धकार के आत्मगुणत्व का निषेध नहीं हो सकता।

मीमांसक का वक्तव्य है कि प्रस्तुतस्थल में मानसप्रत्यक्षाविषयत्व अथवा अहन्ता-व्यधिकरणत्व को ही 'इदन्तास्पदत्व' कहा गया है। जो मानसप्रत्यक्ष का विषय नहीं वह आत्मा का गुण नहीं है यह हमें घट, पटादि दृष्टान्त से निश्चितरूप से ज्ञात है। तथा जो 'अहन्ता' का व्यधिकरण है वह भी आत्मा का विशेषगुण नहीं होता है यह भी निश्चित है। अतः 'इदन्तास्पदत्व' को हेतु मानकर अवश्य ही अन्धकार के आत्मगुणत्व का निषेध होगा।

नापि नभोनभस्वतोश्चाक्षुषत्वात्। चाक्षुषता हि रूपिद्रव्य-समवायेन व्याप्ता। तच्च रूपित्वं गगनपवनाभ्यां व्यावर्त्तमानं चाक्षुषगुण-सम्बन्धमपि व्यावर्त्तयति।

[(अन्धकार) आकाश अथवा वायु का भी गुण नहीं है क्योंकि वह चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। (गुणों के) चाक्षुषत्व निश्चितरूप से रूपवान् द्रव्य के समवाय द्वारा नियत है (अर्थात् जो गुण चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय हैं वे रूपवान् द्रव्य में ही समवायसम्बन्ध से रहते हैं)। तथा वह रूपवत्त्व (अर्थात् चाक्षुषत्व का व्यापक रूपसम्बन्ध) आकाश तथा वायु से व्यावर्त्तित होकर (उनके) चाक्षुषगुण-सम्बन्ध का भी निषेध करता है।]

अब अन्धकार आकाश अथवा वायु का गुण नहीं है प्रतिपादन किया जाता है। जबकि अन्धकार चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए वह आकाश या वायु का गुण नहीं। कोई गुण चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय होने से वह अवश्य रूपवान् द्रव्य में समवेत होता है। रूप से सम्बन्ध नहीं तथापि चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय हो ऐसा कोई गुण नहीं है। गुण के चाक्षुषत्व के प्रति रूपवत्त्व व्यापक है। वह रूपवत्त्व या रूपसम्बन्ध आकाश अथवा वायु में न होने से किसी चाक्षुषगुण का सम्बन्ध भी आकाश या वायु में रह नहीं सकता है यह सिद्ध होता है। व्यापक के अभाव व्याप्य के अभाव का अनुमापक है यह सब वादी मानते हैं। अतः अन्धकार चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय होने से आकाश या वायु का गुण नहीं।

न तेजसः, प्रतीतौ तद्विरोधित्वाच्छैत्यवत्। गुणिनः स्वगुण-प्रतीतिपरिपन्थित्वे गुणस्य नित्यमनुपलम्भप्रसङ्गात्। सति आश्रये तेनैव प्रतिबन्धाद्, असति गुणस्यासत्त्वात् तत्सहचरितगुणान्तरानुपलब्धेश्च। न तावच्छाया तेजसो रूपमेव तद्रूपस्य शुक्लभास्वरत्वनियमात्। न चेदं नील-प्रभावदाश्रयोपाधेरतथाभूतमिदमाभातीति साम्प्रतम्। शैलभूतलस्फटिक-

पद्मरागाद्याश्रयरूपाननुविधानात् । तस्माद् गुणान्तरमेवेदं तेजस इति वाच्यम् । तथा च तद्ग्रहे तदग्रहणं, तद्विरह एव तद्ग्रहणमिति विपरीत-मिह महत्यनुपपत्तिः ।

[(अन्धकार) तेज का (भी) गुण नहीं । क्योंकि शैत्य के तुल्य ही प्रतीति में उसका विरोध है (अर्थात् तेज की प्रतीति शैत्य की प्रतीति के विरोधी होने से शैत्य जिस प्रकार तेज का गुण नहीं उसी प्रकार तेज की प्रतीति अन्धकार की प्रतीति के विरोधी होने के कारण वह भी तेज का गुण नहीं है) । (कोई) गुणी (अर्थात् द्रव्य निज गुण की प्रतीति के विरोधी होने पर (उस) गुण की सर्वदा (ही) अनुपलब्धि की आपत्ति होगी (अर्थात् किसी भी समय उस गुण की उपलब्धि की सम्भावना न रहेगी) । क्योंकि (उस प्रकार) गुण के आश्रय उपस्थित रहने से उसी से (गुण की प्रतीति) व्याहत होगी (अर्थात् गुण की प्रतीति न हो सकेगी) (तथा उस प्रकार के गुण के आश्रय के) न रहने से (आश्रय के अभाव के कारण) गुण की सत्ता की सम्भावना नहीं रहेगी तथा तत्सहचरित (अर्थात् उस गुण के आश्रय में अवस्थित) अन्य गुणों की (भी) अनुपलब्धि होगी । यह कहना सम्भव) नहीं (कि) अन्धकार तेज का रूप ही (होगा) । क्योंकि तेज का रूप नियम से शुक्लभास्वर (ही) (होता है) । यह भी (कहना) युक्तियुक्त नहीं कि यह (अर्थात् अन्धकार) इन्द्रनीलप्रभाविशिष्ट आश्रयरूप उपाधि के कारण अन्यरूप में प्रतीत होता है । क्योंकि पर्वत, पृथिवी, स्फटिकमणि, पद्मराग-मणि आदि आश्रयों के रूप (उनकी छाया में) अनुवृत्त नहीं होते हैं । अतः यह तेज का अन्य गुण ही कहना पड़ेगा (अर्थात् तेज का रूप न होकर अन्य कोई गुण ही होगा) । इस स्थिति में उसके (तेज के) ज्ञान होने से उसका (अन्धकार का) अग्रहण तथा उसके 'तेज के' अग्रहण होने से उसका (अन्धकार का) ग्रहण ऐसी विपरीत स्थिति आ जाएगी और वह अत्यन्त युक्तिविरुद्ध हो जाएगा ।]

यहाँ अन्धकार तेज का गुण नहीं यह प्रतिपादन किया गया है । अन्धकार तेज का गुण नहीं क्योंकि अन्धकार के प्रत्यक्ष में तेज अर्थात् आलोक प्रतिबन्धक होता है । जिसकी प्रतीति में जो प्रतिबन्धक हो वह उसके गुण नहीं होता है, यह शैत्यगुण के स्थल में प्रमाणित है । शीतलस्पर्श के प्रत्यक्ष में तेज प्रतिबन्धक है तथा वह स्पर्श तेज का गुण नहीं यह सर्वसम्मत है । अतः तेज अन्धकारप्रतीति के विरोधी होने से अन्धकार को तेज का गुण कहा नहीं जा सकता है । किसी गुण के आश्रयभूतद्रव्य यदि अपने उस गुण की प्रतीति में प्रतिबन्धक हो तो उस गुण की कभी भी प्रत्यक्षप्रतीति की सम्भावना नहीं रहती है । क्योंकि उस गुण के आश्रय की उपस्थिति ही प्रतिबन्धक होने के कारण आश्रितगुण की प्रतीति सम्भव नहीं होती है । यदि आश्रय की उपस्थिति नहीं है तब वह आश्रितगुण भी

अनुपस्थित ही रह जाएगा। अनुपस्थित की प्रत्यक्षप्रतीति नहीं होती है। अतः अन्धकार प्रत्यक्षसिद्ध होने के कारण तथा उसके प्रत्यक्ष में तेजकी प्रतिबन्धकता के कारण किसी भी प्रकार से अन्धकार को तेज का गुण कहा नहीं जा सकता है।

अन्धकार यदि तेज का गुण होता तब तेज की भास्वरशुक्लता आदि अन्यगुणों के साथ उमकी उपलब्धि होती। तेज के शुक्लभास्वरत्व आदि अन्य गुणों के साथ अन्धकार की उपलब्धि न होने से अन्धकार तेज का गुण नहीं है।

यदि पूर्वपक्षी कहें कि अन्धकार वस्तुतः शुक्लभास्वर ही है परन्तु उपाधि के वश कृष्णवर्ण प्रतीत होता है। जिस प्रकार स्फटिक शुभ्रवर्ण के होते हुए जवाकुसुम आदि उपाधि के कारण रक्तवर्णविशिष्ट प्रतीत होता है उसी प्रकार अन्धकार भी आश्रयरूप उपाधि के वश शुक्लभास्वररूप से प्रतीत न होकर कृष्णवर्ण प्रतीत होता है। पूर्वपक्षी के इस समाधान पर वक्तव्य है कि उक्त समाधान को स्वीकार करने पर गैरिक पर्वत, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि आदि में आश्रित छाया की कृष्णता प्रतीत न होकर गैरिकत्व आदि की प्रतीति होना उचित होता। परन्तु किसी भी वस्तु की छाया सर्वदा कृष्ण वर्ण ही प्रतीत होता है। सूर्य के किरण गैरिकपर्वत पर पड़ने से वह गैरिकवर्ण, स्फटिक पर पड़ने से स्फटिक के वर्ण, पद्मरागमणि पर पड़ने से रक्तवर्ण ही प्रतीत होता है। छाया तेज के रूप होने से उन स्थलों में छाया उस उस वर्ण की प्रतीत होती। इस कारण से अन्धकार को तेज का रूप कहा नहीं जा सकता है। अन्धकार को तेज के रूपभिन्न किसी अन्य गुण भी कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि उस स्थिति में तेज के अग्रहण होने पर उस गुण का ग्रहण तथा उस गुण के अग्रहणहोने पर तेज का ग्रहणरूप विपरीतस्थिति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि अन्धकार को तेज का रूपभिन्न अन्य कोई गुण कहने से तेज के ग्रहण (प्रत्यक्ष) काल में उस गुण का ग्रहण नहीं होता है तथा तेज के उस गुण के ग्रहणकाल में तेज का ग्रहण नहीं होता है इस प्रकार स्थिति को स्वीकार करना पड़ता है। तेज का इस प्रकार कोई गुण नहीं जिसके अग्रहणकाल में ही तेज का ग्रहण हो अथवा उस गुण के ग्रहणकाल में तेज का ग्रहण न हो। अतः अन्धकार को तेज के रूपभिन्न गुणान्तर स्वीकार करने पर उक्त विपरीतस्थिति भी स्वीकार करनी होगी। युक्तिहीन यह वैपरीत्य स्वीकृत नहीं हो सकता है। अतः अन्धकार को तेज का गुणान्तर भी कहा नहीं जा सकता है।

नापि पाथः पृथिव्योरालोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वात्। पार्थिवमेवेद-मारोपितं रूपमित्यपि न समीचीनं, वाह्यालोकसहकारिविरहे चक्षुषस्त-दारोपेऽप्यसामर्थ्यात्। तदेव हि धर्म्यन्तरे समारोप्येत पित्तपीतिमवत्। तत्रैव वा नियतदेशेऽनियतदेशत्वम्। नेदीयस्यणीयस्यपि महत्त्ववत्। उभय-

थापि तद्ग्रहणमन्तरेणानुपपत्तिः। एकत्रारोप्यत्वाद, अन्यत्रारोपविषयत्वात् तस्यैव । न चालोकमन्तरेण रूपग्रहणे चक्षुषः सामर्थ्यमित्युक्तम् । न चारोप्यारोपविषयाप्रथने भ्रान्तिसम्भवः । न चोभयोरन्यतरस्मिन् अव्यापृतस्यैव चक्षुषो भ्रान्तिजनकत्वम् । न चायमचाक्षुषः प्रत्ययस्तदनुविधानस्यानन्यथासिद्धत्वात् ।

[(अन्धकार) जल तथा पृथिवी का भी (गुण) नहीं है। क्योंकि यह आलोकनिरपेक्षरूप से ही चक्षुद्वारा गृहीत होता है। यह भी युक्तियुक्त नहीं कि यह (अन्धकार) पृथ्वी का ही रूप (किन्तु वह अन्यत्र अर्थात् तेज में) आरोपित (होकर प्रतीत होता है)। क्योंकि बाह्य आलोकरूप सहकारी के अभाववश उस रूप (अर्थात् अन्धकारात्मक पार्थिवरूप) के आरोप करने में भी चक्षु का सामर्थ्य नहीं है। (यह भी कहा नहीं जा सकता है कि) वही (अर्थात् पार्थिव नीलरूपात्मक अन्धकार ही) पित्तजनित पीतवर्ण जैसा अन्य धर्मी में (अर्थात् तेज के अभाव में) समारोपित होता है अथवा चक्षुःसन्निकृष्ट अल्प परिमाण वस्तु में महत् परिणाम के तुल्य नियतदेशस्थित उसी (अर्थात् पार्थिव नीलरूपात्मक अन्धकार) में ही अनियतदेशत्व (अर्थात् निजदेशावृत्तित्व) का समारोप है। क्योंकि (उक्त) दोनों प्रकार से ही उसका ग्रहण न रहने से अनुपपत्ति है। क्योंकि एकत्र (अर्थात् एक प्रकार के आरोप में) (वह) आरोप्य (हुआ है) (तथा) अन्यत्र (अर्थात् अन्य प्रकार आरोप में) (वह) आरोप का विषय (अर्थात् धर्मी) (हुआ है)। (यह पहले) कहा जा चुका है कि आलोक के बिना रूप के ग्रहण में चक्षु का सामर्थ्य नहीं है। तथा आरोप्य (धर्म) और आरोप के विषय (धर्मी) के अवभास न होने पर भ्रान्ति की सम्भावना नहीं होती है। तथा उन दो (अर्थात् आरोप्य तथा आरोपविषय) में किसी एक के साथ सम्बन्ध हुए बिना चक्षु भ्रम का जनक नहीं होता है। यह भी नहीं कि यह (अर्थात् अन्धकार की प्रतीति) अचाक्षुष ज्ञान है। क्योंकि उस (अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय) का अन्वयव्यतिरेक अनन्यथासिद्ध ही है (अर्थात् अन्धकार की प्रतीति अचाक्षुष होने पर चक्षुरिन्द्रिय का अन्वयव्यतिरेक की आवश्यकता न होती)।]

अब अन्धकार जल अथवा पृथिवी का गुण नहीं कहा जा रहा है। यह अनुभवसिद्ध है कि जल तथा पृथिवी के जो जो गुण चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य हैं वे आलोक की सहायता के बिना प्रतीत नहीं होते। परन्तु मीमांसक कहते हैं कि अन्धकार आलोकनिरपेक्ष चक्षुद्वारा गृहीत होता है। उक्त कारण से अन्धकार जल अथवा पृथिवी का गुण नहीं हो सकता है। यह कहना भी उचित नहीं कि अन्धकार पृथिवी का ही गुण है परन्तु पृथिवी में प्रतीत न

होकर तेज के गुणरूप से आरोपित होकर ही प्रतीत होता है। क्योंकि अन्धकार को आरोपित गुण या अनारोपित गुण जैसा भी समझा जाए उसका चाक्षुषप्रत्यक्ष में बाह्य आलोक की अपेक्षा रहती ही है। आलोकरूप सहकारिकारण के विना चक्षुरिन्द्रिय आरोप अथवा अनारोप किसी स्थल में भी वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता है।[१]

'कामला' रोग से पीडित व्यक्ति की चक्षुरश्मि के साथ संयुक्त पित्तद्रव्य की पीतिमा जिस प्रकार अपने आश्रयभूत पित्तद्रव्य में गृहीत न होकर चक्षुरश्मि से सन्निकृष्ट घट, पट आदि अन्य द्रव्यों में प्रतीत होता है, अथवा चक्षुके अत्यन्त निकट स्थित किसी क्षुद्र वस्तु में जिस प्रकार अन्य वस्तु के महत् परिमाण का आरोप होता है उसी प्रकार पार्थिव नीलरूपात्मक अन्धकार भी अपने आश्रयभूत पार्थिवद्रव्य में गृहीत न होकर तेज के अभावरूप अन्य धर्मी में समारोपित होता है।[२] अथवा वह पार्थिवनीलरूपात्मक अन्धकाररूप धर्मी में ही स्वाश्रयावृत्तित्व का आरोप होता है।[३] आरोप की उल्लिखित दो प्रकार में किसी से भी अन्धकार को पृथिवी का गुण सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उल्लिखित किसी भी स्थल में अपने आश्रय पार्थिवद्रव्य में अन्धकार का ग्रहण न होने के कारण उसका अन्यत्र आरोप अथवा उसमें स्वाश्रयावृत्तित्व का आरोप नहीं हो सकता है। जो कभी भी यथार्थज्ञान का विषय न हुआ हो उसका अन्यत्र आरोप अथवा उसमें अन्य किसी का आरोप नहीं होता है। उल्लिखित दो प्रकार के आरोप के प्रथम में पार्थिवनीलरूपात्मक अन्धकार को आरोप्य अर्थात् आरोप का प्रकार अथवा विशेषण तथा द्वितीय में अन्धकार को आरोप का विषय अर्थात् धर्मी कहा गया है। आरोप के प्रकार अथवा आरोप के धर्मी किसी का भी आरोप से पूर्व ज्ञान रहना आवश्यक होता है। प्रकार अथवा धर्मी पूर्वज्ञात न होने से आरोप नहीं होता है। हम कह चुके हैं कि आलोक-निरपेक्ष चक्षुद्वारा रूप का ग्रहण नहीं होता है। अन्धकार के ज्ञान में आलोक की उपस्थिति प्रतिबन्धक होने से उसे पार्थिव रूप में अन्तर्भूत कर चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय कहना सम्भव नहीं है। अतः अन्धकार को पार्थिवनीलरूप स्वीकार करते हुए उसे आरोपित कहना भी सम्भव नहीं है।

और भी वक्तव्य है कि पार्थिवनीलरूपात्मक अन्धकार के आरोप में उसके पूर्वज्ञात होने की आवश्यकता की उपेक्षा करने पर भी अन्धकार को आरोपित कहना सम्भव नहीं होता है। क्योंकि उस आरोप में अन्धकार आरोप्य अथवा आरोपविषय इन दो से अतिरिक्त कुछ हो नहीं सकता। अन्धकार आरोप्य अथवा आरोपविषय जो भी हो वह

---

१. आरोपानारोपसाधारणनीलसाक्षात्कार एव चक्षुषो बाह्यालोकापेक्षणादित्यर्थः। प्रकाश, पृ० ९२

२. धर्म्यन्तरे तेजोऽभाव इत्यर्थः। प्रकाश, पृ० ९२

३. नीलरूप एव स्वाश्रयावृत्तित्वमारोप्यते। प्रकाश, पृ० ९२-३

आरोप अन्धकार का ज्ञानात्मक ही होगा। जिसमें अन्धकार का किसी भी प्रकार प्रकाश न हो उसे अन्धकार का आरोप कहा नहीं जा सकता है। अतः आलोक के अन्धकारविरोधी तथा चाक्षुषप्रत्यक्ष में सहकारी होने से अन्धकार का चाक्षुष आरोप कदापि हो नहीं सकता है। फलतः अन्धकार पृथिवी का ही गुण है परन्तु अन्यत्र आरोपित होकर प्रकाशित होता है कहना कदापि सम्भव नहीं है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अन्धकार चक्षुरिन्द्रियग्राह्य नहीं परन्तु अन्य एक तामस इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। आलोक उस तामस इन्द्रिय के सहकारी न होने से उस इन्द्रिय से अन्धकार का प्रत्यक्ष होने में बाधा नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में अन्धकार की प्रतीति में चक्षुरिन्द्रिय का सर्वसम्मत अन्वयव्यतिरेक अनुपपन्न हो जाता है। जो चाक्षुषज्ञान नहीं उसमें चक्षुरिन्द्रिय का अन्वयव्यतिरेक रह नहीं सकता है।

कहा जा सकता है कि अन्धकार की प्रतीति तामस इन्द्रिय द्वारा ही होता है। उस इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान में आलोक की अपेक्षा न रहने से उसके बिना भी अन्धकार का प्रत्यक्ष हो सकता है। अन्धकार के प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अन्य हेतु है। चक्षुरिन्द्रिय के आश्रयभूत गोलक में ही उक्त तामस इन्द्रिय अधिष्ठित होने से उसके द्वारा अन्धकार प्रतीति चाक्षुष न होने पर भी चक्षुरिन्द्रिय का अन्वयव्यतिरेक रहता है। चक्षु-गोलक में अन्य इन्द्रिय की अवस्थिति सर्प आदि प्राणियों के चक्षुगोलक में ही श्रवणेन्द्रिय की भी स्थिति के प्रसिद्ध होने से सिद्ध होता है। इसीलिए अन्धकार की प्रतीति चाक्षुष न होते हुए भी उसमें चक्षुरिन्द्रिय का अन्वयव्यतिरेक देखा जाता है।[१]

यहां वक्तव्य है कि उल्लिखित युक्ति से अन्धकार का प्रत्यक्ष को अचाक्षुष कहना सम्भव नहीं है। 'नीलं तमः' इस आकार से नीलरूप के आश्रयरूप से ही अन्धकार प्रतीत होता है। वह नीलरूप के चाक्षुष होने के कारण उस रूपप्रकारक प्रतीति को अचाक्षुष कहा नहीं जा सकता है। तथा आलोकबाहुल्य रहने से चक्षुरिन्द्रिय से ही अन्धकाराभाव का प्रत्यक्ष होता है। प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय से ही उसके अभाव का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए अन्धकार प्रतीति को भी चाक्षुष ही कहना पड़ेगा। अन्धकार के चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य न होने पर अन्धकाराभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।[२] अतः अन्धकार

---

१. ननु चाबाधितरूपवत्तया तमो द्रव्यम्, आलोकं विना च चक्षुर्ग्राह्यमतस्तद्ग्राहकं तामस-मिन्द्रियं प्राप्यकारि कल्प्यते। अन्यथा तमःसाक्षात्कारानुपपत्तेः। अधिष्ठानं तस्य गोलकं चक्षुष इव। यथा चक्षुःश्रवसो गोलकं चक्षुःश्रोत्राधिष्ठानम्। अतएव चक्षुर्वत् तदनुविधायि। प्रकाश, पृ० ९४-५

२. मैवम्। रूपसाक्षात्कारत्वेन नीलं तम इति बुद्धेश्चक्षुजन्यत्वात्। धर्मिग्राहकमानेन तथैव चक्षुषः सिद्धेः। तेन विना तदनुत्पत्तेः। भावाभावयोरेकेन्द्रियवेद्यत्वनियमाच्च। प्रकाश, पृ० ९५-६

पृथिवी का गुण है परन्तु अन्यत्र ही आरोपितरूप से गृहीत होता है यह कहना सम्भव नहीं है।

स्वप्नविभ्रमवन्मानस एवायं न चाक्षुष इत्येतदपि नाशङ्कनीयम्। निमीलितनयनस्य गेहेऽस्त्यन्धकारो नवेति सन्देहानुपपत्तेः। तस्मात् क्रियावत्त्वाद् गुणसम्बन्धाच्च द्रव्यमेतत्।

[यह भी आशङ्का नहीं की जा सकती है कि यह (अर्थात् अन्धकार की प्रतीति) स्वप्नदर्शनतुल्य मानस (ज्ञान है), चाक्षुष (प्रतीति) नहीं है। क्योंकि निमीलित चक्षु (किसी) व्यक्ति के 'गृह में अन्धकार है या नहीं' इस प्रकार सन्देह की उपपत्ति नहीं होती है (अर्थात् यदि अन्धकार की प्रतीति मानस होता तब उल्लिखित प्रकार के सन्देह का अवकाश न होता)। अतएव (पूर्वपक्षी कहते हैं कि) क्रियासम्बन्ध (अर्थात् सचलत्व) तथा गुणसम्बन्ध (अर्थात् नीलगुणविशिष्टत्व) वश यह (अर्थात् अन्धकार) द्रव्य (ही) होगा (गुण आदि अन्य पदार्थ न होगा)।

यह कहना उचित नहीं कि अन्धकार की प्रतीति चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं है परन्तु स्वप्नदर्शन जैसा मानसज्ञान है। क्योंकि चक्षु को निमीलित करने के पश्चात् किसी व्यक्ति को 'कमरे में अन्धकार है या नहीं' ऐसा सन्देह होता है। यदि वह मानसज्ञान होता तब उस स्थिति में मन द्वारा गृहस्थित अन्धकार का निश्चय हो सकता था तथा उक्त प्रकार के सन्देह का अवकाश न रहता।

क्रियावत्त्वादेव नाकाशात्मकम्। प्रत्यक्षत्वान्न मनः। रूपवत्त्वादेव न वायुमनसी। स्पर्शविरहितत्वान्न पृथिवी जलं तेजो वेति दशमं द्रव्यं प्राप्तम्। तत् कथं नवैवेति।

[जबकि (अन्धकार) क्रियायुक्त (अर्थात् सचल) अतएव (वह) आकाश-स्वरूप (अर्थात् आकाश, काल, दिक्, आत्मा आदि) नहीं। प्रत्यक्षत्व के कारण (वह) मन नहीं। स्पर्शरहित है इसलिए (वह) पृथिवी, जल अथवा तेज (भी) नहीं। इससे प्रतीति होती है कि अन्धकार दशम द्रव्य है। अतः (द्रव्य) नौ ही है यह कैसे कहा जा सकता है।]

पूर्वपक्षी कहते हैं कि अन्धकार सचल तथा नीलरूपविशिष्ट प्रतीत होने से द्रव्य ही है गुणादि नहीं। द्रव्य होने पर भी वैशेषिकशास्त्रस्वीकृत नौ द्रव्य में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि पृथिवी आदि तीन द्रव्यों में किसी न किसी प्रकार स्पर्श अवश्य होता है। अन्धकार का किसी प्रकार स्पर्श न रहने से पृथिवीत्व जलत्व तथा तेजस्त्व के

व्यापक स्पर्शवत्त्व के अभाव के कारण उसका पृथिवी, जल अथवा तेज में अन्तर्भाव होता नहीं। वैशेषिकशास्त्र में वायु का नीरूपत्वसिद्ध है। परन्तु अन्धकार नीलरूपविशिष्ट होने से वायुत्व के व्यापक रूपाभाव न रहने के कारण वह वायु मे अन्तर्भूत भी नहीं होता। वैशेषिकशास्त्र में मन प्रत्यक्ष का विषयरूप से स्वीकृत नहीं है। अन्धकार का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए वह मनरूप द्रव्य में भी अन्तर्भूत नहीं होता है। इसी प्रकार आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा वैशेषिकशास्त्र में विभु अर्थात् सर्वव्यापी होने से निष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित स्वीकृत है। अन्धकार सचलरूप से प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः सचल अर्थात् क्रियायुक्त होने से आकाशादि में उसका अन्तर्भाव नहीं होता है। इस प्रकार से नीलरूप तथा क्रिया के रहने के कारण वैशेषिकशास्त्रस्वीकृत नौ प्रकार द्रव्य में अन्धकार का अन्तर्भाव नहीं होता। वह दशम प्रकार का द्रव्य ही है। अतः वैशेशिकशास्त्र में द्रव्य का नौ प्रकार विभाग सङ्गत नहीं है।

न। वस्तुतोऽस्य क्रियावत्त्वे रूपवत्त्वे वा चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्। आलोकसहकारिणश्चक्षुषस्तत्र सामर्थ्यावधारणादित्युक्तम्।

[नहीं (अर्थात् पूर्वोक्त आपत्ति युक्तिसिद्ध नहीं)। क्योंकि वस्तुतः इस (अर्थात् अन्धकार) के क्रिया अथवा रूप से सम्बन्ध रहने पर चाक्षुषत्व की प्रसक्ति (अर्थात् शङ्का) होगी। जबकि यह (पहले ही) कहा गया है कि वह (अर्थात् रूपवान् द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष) आलोक की सहायता से ही होता है (उसके विना नहीं)।]

सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि अन्धकार वस्तुतः क्रिया तथा रूपविशिष्ट हो तो वह चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य ही होगा। तथा चक्षुर्ग्राह्यपदार्थ की उपलब्धि में आलोक की सहायता अवश्य ही रहेगी। अन्धकार आलोकनिरपेक्ष होकर ही प्रतीत होता है। अतः उसे क्रियावान् अथवा रूपवान् द्रव्य कहा नहीं जा सकता है।

न चेदमद्रव्यं रूपिद्रव्यम्। रूपवतो मूर्त्तिनान्तरीयकत्वेन निरवयवस्य परमाणुतयातीन्द्रियत्वापत्तेः। नाप्यनेकद्रव्यं द्रव्यं स्पर्शरहितद्रव्यत्वेनानारब्धत्वान् मनोवत्। न च रूपवत्तया स्पर्शोऽनुमास्यते तद्रहितस्यापि पुरुषार्थहेतुत्वादारब्धत्वं वा स्यात्। तस्य चानुभवसिद्धत्वात्। मनसस्त्वनुपलभ्यमानधर्मत्य स्वयमनुपलभ्यमानस्य च वैयर्थ्यादेवारम्भानुपपत्तिरिति साम्प्रतम्।

[यह भी सम्भव नहीं कि यह (अर्थात् अन्धकार) अद्रव्य (अर्थात् निरवयव) रूपविशिष्ट द्रव्य (है)। क्योंकि रूपविशिष्टवस्तु मूर्त्तिनान्तरीयक (अर्थात् अवश्य ही परिच्छिन्नपरिमाणविशिष्ट) होता है इस स्थिति में वह निरवयव होने पर

परमाणु होगा। उसी कारण से ही उस (अर्थात् निरवयव रूपवान् पदार्थ) में अतीन्द्रियत्व की आपत्ति होगी। यह नहीं (कहा जा सकता है) कि, (अन्धकार) अनेक-द्रव्यात्मक (अर्थात् सावयव) द्रव्य (है)। क्योंकि उस स्थिति में स्पर्शरहित द्रव्य होने से वह मन के तुल्य अनारब्ध (अर्थात् नित्य) ही होगा। यह भी सम्भव नहीं कि (अन्धकार में) रूप का सम्बन्ध रहने से (उसमें) स्पर्श भी अनुमित हो। क्योंकि स्पर्शरहित की भी पुरुषार्थसाधनता की सम्भावना रहने के कारण आरब्धत्व (भी) सिद्ध हो सकता है। और वह (अर्थात् अन्धकार की पुरुषार्थसाधनता) अनुभव सिद्ध ही है। जबकि मन का (कोई भी) धर्म उपलब्ध नहीं होता है तथा वह स्वयं भी अतीन्द्रिय है इसीलिए निष्प्रयोजन होने से उसका आरम्भ अनुपपन्न है।]

वैशेषिकशास्त्र में निरवयव द्रव्य की पारिभाषिक संज्ञा 'अद्रव्यम्' होती है। समवायिकारणरूप द्रव्य जिसका न हो उसे अद्रव्य कहा जाता है। फलतः उस प्रकार द्रव्य निरवयव (समवायिकारणरूप द्रव्य रहित) ही होते हैं। पूर्वपक्षी अन्धकार को अद्रव्य (अर्थात् समवायिकारणरहित) निरवयव द्रव्य कह नहीं सकते है। यद्यपि वैशेषिक सिद्धान्त में पृथिवी, जल तथा तेज के परमाणुओं को रूपविशिष्ट तथा अद्रव्य स्वीकार किया गया है तथापि उसी प्रकार अन्धकार को भी अद्रव्य तथा रूपविशिष्ट द्रव्य कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि रूप मूर्त्ति अर्थात् परिच्छिन्नपरिमाण के व्याप्य होने से कोई भी वस्तु रूपवान् होने से परिच्छिन्नपरिमाणविशिष्ट भी होगा। परिच्छिन्नपरिमाणविशिष्ट वस्तु यदि निरवयव होगा तो वह अवश्य परमाणु होगा। परमाणु सर्वदा अतीन्द्रिय होता है। इस स्थिति में यदि अन्धकार को रूपविशिष्ट तथा अद्रव्यद्रव्य स्वीकार किया जाता है तो वह अवश्य ही परमाणु होगा। परमाणु होने से अतीन्द्रिय भी हो जाएगा। किन्तु पूर्वपक्षी अन्धकार का अतीन्द्रियत्व स्वीकार नहीं करते हैं। वे अन्धकार का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करते हुए उसे निरवयव होते हुए रूपविशिष्ट भी कह नहीं सकते हैं।

यह भी कह नहीं सकते कि अन्धकार अनेकद्रव्य अर्थात् सावयव द्रव्य है। क्योंकि स्पर्शरहितद्रव्य मात्र ही अनारब्ध होता है अर्थात् सावयव नहीं। मन आदि स्पर्शरहितद्रव्य सभी अनारब्ध हैं। अतः स्पर्शरहित अन्धकार द्रव्य होने से मन आदि के तुल्य अनारब्ध होगा। अनारब्ध द्रव्य अनेकद्रव्य अर्थात् सावयव नहीं होते। अतः अन्धकार को पूर्वपक्षी अनेकद्रव्य भी कह नहीं सकते।

अन्धकार के अद्रव्यत्व अर्थात् निरवयवत्व अथवा अनेकद्रव्यत्व अर्थात् सावयवत्व अप्रमाणित होने तथा तृतीय कोई प्रकार न रहने से उसका द्रव्यत्व ही सिद्ध नहीं होता है। द्रव्यमात्र ही अद्रव्य अथवा अनेकद्रव्य होते हैं। तृतीय प्रकार द्रव्य नहीं है।

अन्धकार के अनेकद्रव्यत्व का खण्डन जिन युक्तियों से किया गया है उनके विषय में पूर्वपक्षी कहते हैं कि किसी वस्तु का रूप रहने पर उसका स्पर्श भी रहता है। यह नियम हम घट, पट आदि में सिद्ध देखते हैं। अतः अन्धकार के रूपवत्त्व के कारण उसमें

स्पर्श का भी अनुमान हो सकेगा। अतः स्पर्शरहितत्वरूप हेतु से उसमें अनारब्धत्व के अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष होगा। अनारब्धत्व की सिद्धि न होने से अन्धकार में अनेकद्रव्यत्व का निषेध भी किया नहीं जा सकेगा। अतः अन्धकार रूपविशिष्ट अनेकद्रव्य कहने में बाधा नहीं है।

परन्तु इस प्रकार से अन्धकार का अनेकद्रव्यत्व सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि पूर्वपक्षी अन्धकार का जिस स्पर्श को प्रमाणित कर रहे हैं वह निष्प्रयोजन है। अन्धकार के स्पर्शरहित होने पर भी उसकी पुरुषार्थसाधकता में बाधा नहीं है। रूप, रस आदि स्पर्श रहित होने पर भी पुरुषार्थसाधक होते हैं। अन्धकार में स्पर्श के स्वीकृत न होने पर भी उसकी पुरुषार्थसाधकता में बाधा नहीं होती है। अतः उसमें अप्रत्यक्षस्पर्श के अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है। अन्धकार की पुरुषार्थसाधकता से ही उसके अनेकद्रव्यत्व की सिद्धि हो सकेगी। अतः तदर्थ स्पर्शवत्त्व के अनुमान करने का प्रयोजन नहीं है। अन्धकार के अनेकद्रव्यत्व के खण्डन के अवसर में मनको स्पर्शरहित होने से अनारब्ध कहा गया है। उसमें वक्तव्य यह है कि वहाँ स्पर्शरहित होने के कारण ही मन को अनारब्ध नहीं कहा गया है। परन्तु मन की आरब्धता स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है इसीलिए मन को अनारब्ध कहा गया है। मन, तथा उसके किसी भी धर्म की उपलब्धि न रहने के कारण उसको आरब्धद्रव्य स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। फलतः उसे अनारब्ध कहा गया है। अन्धकार के अनेकद्रव्यत्वाभाव के अनुमान में अनारब्धत्व के कारण ही मन को दृष्टान्त कहा गया है स्पर्शराहित्य के कारण नहीं। इसलिए मन के दृष्टान्त से अन्धकार के अनेकद्रव्यत्व का निषेध युक्तिसिद्ध नहीं है। अतः पूर्वपक्षी कहते हैं कि अन्धकार का अनेकद्रव्यत्व का खण्डन में प्रयुक्त युक्तियाँ असङ्गत हैं।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि पूर्वपक्षी अन्धकार में रूप के रहने से उसको द्रव्य कहना चाहते हैं। परन्तु उन्होंने आलोकनिरपेक्ष चक्षु द्वारा अन्धकार का प्रत्यक्ष होता है कहा है। हम पहले ही आलोकनिरपेक्ष चक्षु द्वारा रूपवान् द्रव्य का प्रत्यक्ष हो नहीं सकता है सिद्ध कर चुके है। अतः अन्धकार में रूप का होना स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

पूर्वपक्षी यदि कहें कि स्पर्शरहित वस्तु पुरुषार्थसाधक होता है या नहीं यह विचार इस प्रसङ्ग में अप्रासङ्गिक है। रूपवान् पदार्थमात्र ही स्पर्शवान् भी होता है अतः अन्धकार में रूप होने से स्पर्श भी होगा। अन्धकार के स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः उसका अनुमान करना अनुचित न होगा। इसका उत्तर यह है कि अन्धकार अनुभवसिद्ध होने से उसके रूप के प्रत्यक्ष होना स्वीकृत होने पर उसके स्पर्श का भी प्रत्यक्ष होना ही सङ्गत है। उसे अनुमानलभ्य कहना उचित नहीं है।

उक्त प्रकार से अन्धकार में स्पर्श सिद्ध न होने पर भी पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'अन्धकार अनेकद्रव्य अर्थात् सावयवद्रव्य नहीं क्योंकि वह स्पर्शरहित है' इस अनुमान से भी अनेकद्रव्यत्व का खण्डन नहीं होता है। क्योंकि यह अनुमान के हेतु में उपाधिदोष

है। प्रस्तुत स्थल में अन्धकाररूप पक्ष में स्पर्शरहितत्वरूप हेतु है परन्तु रूपाभाव नहीं हैं। मीमांसक मत में अन्धकार का रूप है। इसलिए हेतु स्पर्शरहितत्वका रूपाभाव अव्यापक है। तथा साध्य सावयवद्रव्यत्वाभाव का व्यापक भी है। आत्मा, आकाश आदि निरवयव द्रव्यों में रूपाभाव है। अतः उक्त अनुमान में रूपाभावरूप उपाधि है। यदि पार्थिवपरमाणु में सावयवद्रव्यत्वाभावरूप साध्य हैं परन्तु रूपाभाव नहीं इस लिए रूपाभाव साध्य का व्यापक नहीं कहा जाए तथापि कहना है कि उक्त रूपाभाव केवल साध्य का व्यापक न होने पर भी साधनावच्छिन्न साध्य का व्यापक अवश्य ही है। क्योंकि उस अनुमान में हेतुभूत स्पर्शरहितत्व द्वारा विशेषित अनेकद्रव्यत्वाभाव ही साधनावच्छिन्नसाध्य हैं। यह साधनावच्छिन्नसाध्य पार्थिवपरमाणु में नहीं है। पार्थिवपरमाणु के स्पर्शविशिष्ट होने के कारण उसमें स्पर्शरहितत्वरूप विशेषणांश का रहना सम्भव नहीं है। स्पर्शरहितत्व-विशिष्ट साध्य का आश्रय आत्मा, आकाश आदि ही होंगे। उनमें रूपाभाव रहता ही है। अतः स्पर्शरहितत्वरूप हेतु का अव्यापक तथा स्पर्शरहितत्वावच्छिन्न अनेकद्रव्यत्वाभाव-रूप साध्य का व्यापक होने से रूपाभाव उक्त अनुमान में उपाधि अवश्य ही होगा।

रूपवत्त्वस्य प्रागेवाप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गेनापास्तत्वात्। प्रत्यक्षत्वस्य चानुभवसिद्धत्वादित्येतत् सर्वमनुसन्धाय भगवान् मुनिराह, द्रव्यगुण-कर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तम इति।

[(अन्धकार के) अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति होती है इसलिए पहले ही (उसका) रूपसम्बन्ध निषिद्ध हुआ है (अर्थात् अन्धकार के रूप रहने पर आलोकनिरपेक्ष चक्षु द्वारा उसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होता है यह आपत्ति के कारण पहले ही अन्धकार में रूपवत्त्व का खण्डन किया गया है)। तथा अन्धकार का प्रत्यक्ष भी अनुभव सिद्ध (ही) है। इन सब (बातों) को दृष्टिगत रखते हुए ही भगवान् मुनि (अर्थात् कणाद ने "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति-वैधर्म्याद् भाभावस्तमः" इस सूत्र[1] की अवतारणा किया है।]

---

१. यहां यह कहना आवश्यक है कि वैशेषिक सूत्र (५।२।१९) में 'अभावस्तमः' यह पाठ प्राप्त है। परन्तु किरणावली के मुद्रित ग्रन्थों में 'भाभावस्तमः' पाठ देखा जाता है।

उक्त वै० सूत्र का अर्थ नीचे दिया जा रहा है। अन्धकार द्रव्य, गुण अथवा कर्म से निष्पन्न नहीं हो सकता है। अतः उसको आलोकाभाव में ही अन्तर्भूत करना पड़ेगा। द्रव्य गुण अथवा कर्म से जिन द्रव्यों की निष्पत्ति होती है वे अवश्य ही स्पर्शयुक्त होते हैं। स्पर्शाभाव उनका वैधर्म्य है। उनका वैधर्म्यरूप स्पर्शाभाव अन्धकार में रहने के कारण अन्धकार को द्रव्य, गुण अथवा कर्म से निष्पण्ण द्रव्य कहा नहीं जा सकता है। इस अन्धकार में नीलरूप रहने के कारण वह किसी नित्यद्रव्य अथवा गुणादि में भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता ह। अतः अन्धकार आलोक का अभाव ही होगा।

सोऽपि कथमालोकमन्तरेण प्रतियोगिस्मरणाधिकरणग्रहणविरहे विधिमुखेन च चाक्षुष इति चेन्न। यद्ग्रहे हि यदपेक्षं चक्षुस्तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षते। तदालोकाभावेऽप्यालोकापेक्षा स्याद्, यदि आलोके तदपेक्षा स्यात्। न त्वेतदस्ति, प्रत्युत विरोध एव। तस्मिन् सति तदभाव एव न स्यात् किं तदपेक्षेण चक्षुषा गृह्येत। एवं हि तदितरसामग्रीसाकल्यं स्यात्[1]।

[(यह शङ्का हो सकती है कि) वह (अर्थात् आलोकाभाव) भी किस प्रकार से आलोक के बिना प्रतियोगि के स्मरण तथा अधिकरण के ज्ञान के विना विधिमुख (अर्थात् अनिषेधात्मक) रूप से चाक्षुष (प्रत्यक्ष का विषय) होगा? (इसके समाधान के लिए कहा जा सकता है कि) जिसके ज्ञान के लिए चक्षु जिसकी अपेक्षा रखता हो उसके अभाव के ज्ञान के लिए भी उसी की अपेक्षा रखता है। इसलिए आलोकाभाव (अर्थात् आलोकाभाव के प्रत्यक्ष) में आलोक की अपेक्षा होती यदि आलोक (अर्थात् आलोकप्रत्यक्ष) में आलोक (आलोकान्तर) की अपेक्षा होती। परन्तु ऐसा नहीं है; प्रत्युत विरोध ही है। वह (आलोक) रहने से उसका अभाव रह नहीं सकता है। इसलिए तदपेक्ष (अर्थात आलोकसापेक्ष) चक्षु द्वारा किसका ज्ञान होगा? ऐसा होने से (अर्थात् आलोक की अपेक्षा के अस्वीकृत होने से) ही (योग्यानुपलब्धि में) तद्भिन्नसामग्री का साकल्य (अर्थात् प्रतियोगी तथा तद्व्याप्य इन्द्रियसन्निकर्ष को छोड़ कर यावत् कारणों का समवधान[2]) सम्भव होगा।]

सिद्धान्त ग्रन्थ में पहले अन्धकार को चाक्षुषप्रतीतिसिद्ध आलोकाभाव कहा गया है। इस सिद्धान्त पर ग्रन्थकार ने चार शङ्का किया है। प्रथम शङ्का यह है कि अन्धकार आलोकाभाव होने से उसकी चाक्षुषप्रतीति की सम्भावना नहीं है। क्योंकि चाक्षुषप्रतीति आलोक-निरपेक्ष होकर होते देखी नहीं जाती है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि घट, पट

१. मुद्रित किरणावली के संस्करण में 'एवं हि तदितरसामग्रीसाकल्यं स्यात्' यह वाक्य 'यद्ग्रहे हि यदपेक्षं चक्षुस्तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षते' इस वाक्य के अनन्तर सन्निविष्ट है। किन्तु हमारे विचार से उस प्रकार पाठ स्वीकार करने पर अर्थ की सङ्गति न होगी। इसीलिए हम उस अंश को 'तस्मिन् सति तदभाव एव न स्यात् किं तदपेक्षेण चक्षुषा गृह्येत' इस वाक्य के बाद संयोजित किए हैं। जिससे अर्थ की असङ्गति न रहेगी। (व्याख्या देखें)

२. तथाच प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावत्प्रतियोग्युपलम्भकसमवधानम्। प्रकाश, पृ० ६६

आदि की चाक्षुषप्रतीति में आलोक की अपेक्षा रहती है इसीलिए चाक्षुषप्रतीति मात्र में आलोक की अपेक्षा होगी यह स्वीकार करने का कारण नहीं। क्योंकि आलोक की चाक्षुषप्रतीति में आलोकसंयोग की उपयोगिता कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। आलोकसंयोग के बिना ही आलोक की चाक्षुषप्रतीति होते देखी जाती है। अतः सामान्यतया चाक्षुषप्रतीति में आलोकसंयोग की प्रयोजकता स्वीकार नहीं किया जा सकता है। आलोक की चाक्षुषप्रतीति यदि आलोकसंयोगनिरपेक्ष हो सकती है तब आलोकाभाव की चाक्षुषप्रतीति भी अनायास आलोकसंयोगनिरपेक्ष हो सकती है इसमें बाधा नहीं है। प्रतियोगी की चाक्षुषप्रतीति में जिन-जिन की अपेक्षा होती हैं उसके अभाव की चाक्षुषप्रतीति में भी उन्हीं की अपेक्षा रहती है। प्रतियोगी के चाक्षुषज्ञान में जिसकी अपेक्षा न हो ऐसे भाव-वस्तु की अपेक्षा उस प्रतियोगी के अभाव के चाक्षुषज्ञान में कभी हो नहीं सकती है। विशेषतया आलोकाभाद से आलोक का विरोध रहने के कारण भी आलोकाभाव की चाक्षुषप्रतीति में आलोकसंयोग की अपेक्षा स्वीकृत हो नहीं सकती है। प्रत्यक्ष में विषय की उपस्थिति अपेक्षित होती है। इसीलिए अतीत अथवा अनागत वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जहाँ आलोकाभाव रहता है वहाँ कभी आलोक नहीं रहता है। जहाँ आलोकाभावरूप विषय नहीं वहाँ आलोकाभाव के प्रत्यक्ष होना कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। आलोकाभाव के प्रत्यक्ष में आलोक की अपेक्षा स्वीकार करने पर फलतः अनुपस्थित आलोकाभाव का ही प्रत्यक्ष स्वीकार करना पड़ेगा। अन्धकार को अतिरिक्त द्रव्य मानने वाले आलोकाभाव अथवा उसकी चाक्षुषप्रतीति को अस्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत में भी आलोकाभाव की चाक्षुषप्रतीति आलोक के बिना ही होती है। आलोकाभाव की चाक्षुषप्रतीति में आलोकसंयोग की आवश्यकता अस्वीकृत होने से ही प्रतियोगी तथा उससे इन्द्रियसन्निकर्ष को छोड़कर अन्य जिन कारणों का समावेश प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में अपेक्षित होता है उन कारणों के साथ उपस्थित अनुपलब्धि के उपयोग अभाव का प्रत्यक्ष में स्वीकृत हो सकता है। आलोकाभाव के प्रत्यक्ष में आलोकसंयोग की अपेक्षा स्वीकृत होने पर पूर्वोक्त अनुपलब्धि का उपयोग सम्भव न होगा।[1]

दिवा च प्रतियोगिनः प्रभामण्डलस्य ग्रहण एव प्रदेशान्तरे तद्ग्रह इति न किञ्चिदनुपपन्नम्। अन्यत्रापि न रात्रिमप्रतिसन्धायान्धकारग्रहः। रात्रिज्ञानञ्च न दिवसमप्रतिसन्धाय। निरस्तैतद्द्वीपवर्त्तिरविरश्मिजालः कालविशेषो ह्यत्र रात्रिरित्युच्यते। गिरिदरीविवरवर्त्तिनस्तु यदि योगिनो न ते तिमिरावलोकिनः। तिमिरदर्शिनश्चेन्नूनं स्मृतालोका इति।

१. सोऽपीत्याशङ्काचतुष्टये प्रथमशङ्कायामाह। प्रकाश, पृ० ९८

[दिवाकाल में भी प्रतियोगी प्रभामण्डल के ज्ञान होने पर ही स्थानान्तर में उस (अर्थात् अवतमस अथवा छायारूप अन्धकार) का ज्ञान होता है। अतः (अन्धकार के ज्ञान में) कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। अन्य काल में भी रात्रि के ज्ञान न होने पर अन्धकार का ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार दिवस ज्ञान के बिना रात्रि का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि द्वीप (स्थान) विशेष से निर्वासित सूर्यकिरणसमूहविशिष्ट कालविशेष को रात्रि कहा गया है। गिरिगुहाके अभ्यन्तरवर्त्ती पुरुष यदि योगप्रभावसम्पन्न हो तब वह अन्धकारदर्शी न होगा। यदि (वह) अन्धकारदर्शी हो तो निश्चितरूप से ही वह आलोक का स्मरण करेगा।]

द्वितीय शङ्का में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि कृष्णपक्ष की रात्रि में, अथवा गिरिगह्वरादि में दिन में मनुष्य अन्धकार का प्रत्यक्ष करता है। उन स्थलों में आलोक के ज्ञान न रहने से अन्धकार के ज्ञान को आलोकाभाव का ज्ञान कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित होता है। आलोकाभाव के ज्ञान में भी आलोकरूप प्रतियोगी का ज्ञान अवश्य ही अपेक्षित होगा। परन्तु उक्त स्थलों में आलोकज्ञान के बिना ही अन्धकार का ज्ञान होता है। इसलिए अन्धकार को कभी भी आलोकाभाव कहा नहीं जा सकता है।

इस आशङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार ने कहा है कि दिन में जहाँ भी मनुष्य अन्धकार का ग्रहण करे उसमें अन्धकारदर्शी का आलोकज्ञान अवश्य ही रहेगा। क्योंकि दिन में पर्वतगह्वरादि में अन्धकार को देखने वाले गह्वर के बाहर अवश्य ही आलोक देखते हैं। अतः उनका अन्धकारज्ञान आलोकज्ञाननिरपेक्ष नहीं है। तथा उन स्थलों में आलोकरूप प्रतियोगी के ज्ञान रहने से अन्धकार के ज्ञान को आलोकाभाव का ज्ञान कहने में बाधा नहीं है।

रात्रि में अन्धकारज्ञान के स्थल में भी पूर्वकाल में आलोकज्ञान रहता है। क्योंकि वहाँ रात्रिरूप कालविशेष के ज्ञान से ही अन्धकार का ज्ञान होता है। द्वीपविशेष के सूर्यकिरणसमूह के अभावविशिष्टकाल को ही उस द्वीप की रात्रि कही जाती है। अतः सूर्यकिरणरूप आलोक के ज्ञान न होने पर रात्रि का ज्ञान सम्भव नहीं है। रात्रिज्ञान के सहयोग से ही रात्रि में अन्धकार का ज्ञान होता है। वहाँ भी अन्धकारज्ञान में सूर्यकिरणरूप आलोकज्ञान रहने से उस अन्धकारज्ञान को आलोकाभावज्ञान कहने में बाधा नहीं है।

यदि पूर्वपक्षी कहते हैं कि गिरिगुहा में अवस्थित योगी उस गुहा के अभ्यन्तर के अन्धकार का प्रत्यक्ष करते हैं तथा वह प्रत्यक्ष दिन में ही होने से उसमें रात्रिज्ञान की अपेक्षा नहीं है। तथा प्रदेशान्तर में उनकी दृष्टि न रहने के कारण प्रदेशान्तर के आलोक-

ज्ञान भी उनके लिए सम्भव नहीं है। उन स्थलों के अन्धकारज्ञान आलोकनिरपेक्ष होने से उसे आलोकाभाव का ज्ञान कभी कहा नहीं जा सकता है। अतः उस स्थल के अन्धकार को अवश्य ही दशमद्रव्य स्वीकार करना होगा।

इसका उत्तर यह है कि गिरिगह्वर के अभ्यन्तर के पुरुष यदि वस्तुतः योगी हैं तब आत्मचिन्तन में लीन रहने के कारण उनके लिए अन्धकार का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है।[१]

यदि मान भी लिया जाए कि उन्हें अन्धकार का प्रत्यक्ष हुआ है तब भी यह कहना सम्भव है कि प्रदेशान्तर के आलोक का स्मरण भी उन्हें है। इस प्रकार सर्वत्र अन्धकारज्ञान में आलोकज्ञान की सम्भावना रहने के कारण अन्धकार को आलोकाभाव में अन्तर्भाव करने में बाधा नहीं है।

अधिकरणमपि दृष्टमनुमितं स्मृतं वा। इहेदानीमन्धकार इति प्रत्ययात्।

[(अन्धकार के प्रत्यक्ष में उसके) अधिकरण के भी प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा स्मरण होगा। 'यहाँ अब अन्धकार (विद्यमान है)' इस आकार से ही (अन्धकार का) प्रत्यक्ष होगा। (अतः अधिकरण के ज्ञान न रहने के कारण अन्धकार का ज्ञान नहीं हो सकता यह आपत्ति ठीक नहीं है।)]

पूर्वपक्षी तृतीय शङ्का करते हैं कि अभाव के चाक्षुषप्रत्यक्ष के समय उस अभाव के अधिकरण का भी प्रत्यक्ष पहले ही होता है। अधिकरण के चाक्षुषप्रत्यक्ष के विना अभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष होते देखा नहीं जाता है। जिस अधिकरण में आलोकाभाव है उसका चाक्षुषप्रत्यक्ष कभी नहीं होता है। द्रव्यादिरूप अधिकरण के चाक्षुषप्रत्यक्ष में आलोक की अपेक्षा है यह सर्ववादिसम्मत है। अतः अधिकरण के चाक्षुषप्रत्यक्ष न होने से आलोकाभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष हो नहीं सकता है। इसका उत्तर है कि—यद्यपि घटाभावादि क चाक्षुषप्रत्यक्ष में भूतलादिरूप अधिकरण का चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रायः अपेक्षित होता है, तथापि सर्वत्र अभाव की चाक्षुषप्रतीति में ही अधिकरण का चाक्षुषज्ञान अपेक्षित नहीं है। क्योंकि वायु में रूपाभाव की चाक्षुषप्रतीति शास्त्र में स्वीकृत है। वहाँ रूपरहित वायु की चाक्षुषप्रतीति अपेक्षित नहीं है। क्योंकि वायु की चाक्षुषप्रतीति की सम्भावना नहीं है। अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की प्रत्यक्षयोग्यता अपेक्षित है अधिकरण की प्रत्यक्षयोग्यता अपेक्षित नहीं है। अतीन्द्रिय अधिकरण में भी तत्तद्इन्द्रिययोग्य वस्तु के

---

१. यदि योगिनो योगासक्ताः कथं तिमिरावलोकिनः। तेषां योग एवासक्ततया बाह्यानासङ्गात्। यदि योगिनो मिथ्याज्ञानशून्याः कथं तिमिरावलोकिनः तिमिरज्ञानस्य भ्रमत्वादित्यपव्याख्यानम्। प्रकाश, पृ० १०४-५

अभाव के तत्तद्इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान स्वीकृत है। अतीन्द्रिय आकाश में शब्दाभाव का श्रावणप्रत्यक्ष होता है। अतः अत्यन्ताभावप्रत्यक्ष में अधिकरण की प्रतीति मात्र ही अपेक्षित है प्रत्यक्ष नहीं। अन्धकार की चाक्षुषप्रतीति में उसके आश्रयीभूत भूतलादि देश के स्मरण के कारण वहाँ अन्धकार की चाक्षुषप्रतीति में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार के अभावों के प्रत्यक्ष में भूतलादि अधिकरण अभाव के विशेषण होकर ही प्रतीत होता है विशेष्यरूप से नहीं। क्योंकि चाक्षुषादि प्रत्यक्ष में जो विषय स्मरणादिरूप ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष द्वारा भासमान होता है वह लौकिकप्रत्यक्ष के विषयीभूत पदार्थ में विशेषणरूप से ही प्रकाशित होता है। चन्दन के चाक्षुषप्रत्यक्ष में स्मृत सौरभ चन्दनांश में विशेषण होकर ही 'चन्दनं सुरभि' इस आकार से प्रकाश प्राप्त होता है। उसी प्रकार 'अब इस देश में अन्धकार है' इसी आकार से ही अन्धकार का ज्ञान होता है समझना पड़ेगा। अवतमस अथवा छायादिरूप अन्धकार के प्रत्यक्ष में अधिकरण की चाक्षुषप्रतीति भी असम्भव नहीं है। अत: अधिकरण के ज्ञान की सम्भावना न रहने के कारण अन्धकार का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है यह कहना युक्ति सिद्ध नहीं है[1]।

विधिमुखप्रत्ययोऽसिद्धः। नहि नञोऽप्रयोग इत्येव विधिः। प्रलय-विनाश-अवसानादिषु व्यभिचारात्। नञर्थान्तर्भावेन वाक्यार्थे पद-प्रयोग इति तु समं समाधानमन्यत्राभिनिवेशात्।

[(यदि कहा जाए कि) अन्धकार विधिमुख से प्रतीत होता है (अत: वह अभावात्मक नहीं है), (उस स्थिति में हम कहेंगे कि) वह असिद्ध (ही) (है) (अर्थात् अन्धकारप्रतीति का विधिमुखत्व किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है)। (यह कहना भी सङ्गत) नहीं कि, जब 'नञ्' पद का प्रयोग नहीं है तब वह विधिमुख होगा। क्योंकि प्रलय, विनाश, अवसान आदि (पदों) में वह ('नञ्' का अप्रयोग) (विधिमुखत्व का) व्यभिचारी है। (यदि कहा जाए कि) (प्रलयादि) पदों के प्रयोगस्थल में वाक्यार्थ में नञ् अर्थ का अन्तर्भाव है (अतः प्रलयादि की प्रतीति विधिमुख न होगी), तथापि (ग्रन्थकार कहेंगे कि) समाधान तुल्य ही होगा (अर्थात् हम अन्धकारपद के प्रयोग में भी वाक्यार्थ में नञर्थ का अन्तर्भाव है कहेंगे)। क्योंकि अन्यत्र अभिनिवेश (अर्थात्

---

१. मूल ग्रन्थ में अन्धकार के प्रत्यक्ष में अधिकरण के ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमिति तथा स्मृत्यात्मक कहा गया है। अवतमस के अधिकरण का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो सकता है। अनुमित्यात्मक अधिकरणज्ञान सहजलभ्य नहीं है। इसी कारण से अनास्था व्यक्त करने के लिए 'वा' शब्द से अन्तिम कल्प में अधिकरणज्ञान को स्मृत्यात्मक कहा गया है।

मीमांसकों द्वारा वैशेषिकमत में मनोनिवेश) करने से ही उनको यह समझ में आ जाएगा।]

चतुर्थ आशङ्का करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'यहाँ अन्धकार है' इसी प्रकार से अन्धकार का प्रत्यक्ष होता है। वह प्रत्यक्षप्रतीति विधिमुख होने के कारण उसके विषयीभूत अन्धकार को अभावपदार्थ में अन्तर्भाव करना उचित न होगा। जो निषेधमुख से प्रतीत न होकर विधिमुख से प्रतीत होता हो उसे कोई अभाव नहीं कहता है। उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि 'यहाँ अन्धकार है' इसी प्रकार से ही अन्धकार की प्रतीति होती है तथापि उसका विधिमुखत्व सिद्ध नहीं होता है। 'विधिमुखत्व' हेतु के अन्धकार में असिद्ध होने के कारण उस हेतु से अन्धकार का अभावभिन्नत्व अर्थात् भाव-रूपता सिद्ध नहीं हो सकता है। यदि कहा जाए कि 'अन्धकारप्रतीति के व्यवहार (शब्द-प्रयोग) में 'नञ्' आदि पद के न रहने से उसे विधिमुखप्रतीति कहना उचित होगा। निषेधमुखप्रतीति के व्यवहार में सर्वत्र अभावबोधक नञादि पदों का प्रयोग होता है। यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि प्रतीति के व्यवहार (शब्दप्रयोग) में नञादि पदों के प्रयोग न रहने से व्यवह्रियमान प्रतीति विधिमुख हो ऐसा नियम न रहने के कारण उस युक्तिवश अन्धकारप्रतीति का विधिमुखत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रलय, विनाश, अवसान आदि पदों द्वारा अभावबोधक प्रतीति का व्यवहार होता है। उन व्यवहारों में 'नञ्' आदि पदों का प्रयोग न रहने पर भी उन प्रतीतियों को सभी निषधमुख कहते हैं। प्रलय, विनाश आदि पद ध्वंसात्मक अभाव को उपस्थापित करते हैं यह सर्ववादिसिद्ध है। अतः नञादिपदों के व्यवहार न रहना विधिमुखत्व के व्यभिचारी होने से उससे अन्धकार-प्रतीति का विधिमुखत्व सिद्ध नहीं होता।

यदि कहा जाए कि प्रलयादि पदों में 'नञ्' पद का प्रवेश न रहने पर भी उन पदों के अर्थ में नञर्थ का अन्तर्भाव है। अतः उन प्रतीतियों के विधिमुख न होने पर भी अन्धकारप्रतीति विधिमुख ही होगी। क्योंकि अन्धकार पद के अर्थ में नञर्थ अन्तर्भावित नहीं है। इसके उत्तर में कहना है कि अन्धकार पद के अर्थ में भी प्रलयादि पदों के तुल्य ही नञर्थ अन्तर्भावित है। अतः इस प्रकार से भी अन्धकारप्रतीति की विधिमुखता सिद्ध नहीं हो सकती है।

अन्धकार के विधिमुखत्वखण्डन के अवसर में प्रकाशकार ने सम्भाव्य तीन प्रकार से विधिमुखत्व का निर्वचन करते हुए उनका निरास किया है। उनका वक्तव्य है कि विधि-मुखत्व को भावत्व, निष्प्रतियोगिकत्व अथवा निषेधाविषयकधीविषयत्व (अर्थात् जिसका निषेध विषय नहीं इस प्रकार ज्ञान के विषयत्व) होगा।[१] अन्य प्रकार निर्वचन सम्भव नहीं है। यदि

१. विधिमुखत्वं भावत्वं वा निष्प्रतियोगित्वं वा निषेधाविषयधीविषयत्वं वा। प्रकाश, पृ० १०६

प्रथम पक्ष को आश्रय करते हुए भावत्व को ही विधिमुखत्व कहा जाए तो वह अन्धकार में सिद्ध न होगा। क्योंकि 'अन्धकारो भावः' इस प्रकार से अन्धकार में भावत्व की प्रतीति स्वीकार करने पर भी इस प्रतीति की यथार्थता या प्रमात्व सिद्धान्त में स्वीकृत न होने से उसके द्वारा अन्धकार का भावत्वरूप विधिमुखत्व सिद्ध न होगा। सिद्धान्त में अन्धकार को आलोकाभाव में अन्तर्भुक्त किया गया है। इस लिए वैशेषिकसम्प्रदाय उस प्रतीति की प्रमात्व स्वीकार नहीं करेंगे।

द्वितीय प्रकार से निष्प्रतियोगिकत्व को विधिमुखत्व कहने पर भी अन्धकार में उसकी सिद्धि न होगी। ऐसी कोई अबाधित प्रतीति नहीं है जिससे अन्धकार को निष्प्रतियोगिक सिद्ध किया जा सके।

तृतीयपक्ष में भी निषेधाविषयकधीविषयत्वरूप विधिमुखत्व की सिद्धि अन्धकार में न होगी। क्योंकि सिद्धान्त में अन्धकार को आलोकाभावस्वरूप ही कहा गया है। अभाव अभावाविषयकप्रतीति का विषय नहीं हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी वैशेषिकों के समक्ष अन्धकार का विधिमुखत्व सिद्ध करते हुए उसको दशमद्रव्यरूप से व्यवस्थापित नहीं कर सकते।

गतेः का गतिरिति चेद्, भ्रान्तिः। स्वाभाविक्यां गतौ आवरकद्रव्यानुविधानानुपपत्तेः। प्रभातुल्यत्वे तेजःप्रभाश्रयेषु रत्नविशेषेषु छाया दिवसे न स्यात्। छायया एव तदभिभवे बहलतमे तमसि तेषामालोको न स्यात्। आलोकान्तरेण च अभिभवे छायाया अप्युद्भवो न स्यात्।

[अन्धकार यदि आलोक का अभाव ही हो तब) गति की क्या गति होगी (अर्थात् अन्धकार की गमनप्रतीति अनुपपन्न हो जाएगी) (उत्तर में कहा जा सकता है कि अगति का कोई आशङ्का नहीं—क्योंकि गति न रहने पर भी अन्धकार में गति का भ्रम होने में कोई बाधा नहीं) (प्रत्युत अन्धकार की गति, स्वाभाविक होने से ही आवरक द्रव्य का[1] अनुविधान अनुपपन्न हो जाएगा। प्रभा से तुलना करने पर तैजसप्रभायुक्त रत्नविशेष में दिन में (दृष्ट) छाया सम्भव न होगी। छाया से रत्नप्रभाओं के अभिभव होने पर घनान्धकार में उनके आलोक दृष्ट न होगा। अन्य आलोक से (छाया के) अभिभव पक्ष में भी छाया का उद्भव सम्भव न होगा।]

अन्धकार यदि वस्तुतः आलोकाभाव ही है तो हम अन्धकार को गतिशीलरूप से जो प्रत्यक्ष करते हैं इसकी व्याख्या सम्भव नहीं होता। मूर्त्तद्रव्य ही सचल होते हैं। वैशेषिकमत में अन्धकार अद्रव्य होने से उसकी गति रहती नहीं है।

---

१. घटादि को प्रदीप (आलोक) का आवरकद्रव्य कहा जाता है।

वस्तुतः भ्रमवश मनुष्य सचल आलोक के स्थलों में अन्धकार को सचल समझता है। चाक्षुषद्रव्य में वस्तुतः गति रहने पर उस द्रव्य में अवश्य ही कोई न कोई स्पर्श रहेगा। घट, पट आदि गतियुक्त चाक्षुषद्रव्यों के प्रत्येक में ही कोई न कोई स्पर्श रहता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। अतः स्पर्श गति का व्यापक होने के कारण अन्धकार में व्यापकीभूत स्पर्श के न रहने से वस्तुतः कोई गति कभी रह नहीं सकती है। इसीलिए अन्धकार की गतिप्रतीति को भ्रान्ति कहना छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।

यह भी है कि वास्तविक गति के लिए आवरक द्रव्य के नियमतः अनुसरण की आवश्यकता नहीं होती है। अन्धकार की गति के लिए आवरक की गति की आवश्यकता होती है। अतः अन्धकार की गति स्वाभाविक नहीं है। यदि वह स्वभाविक होती तो अवश्य ही आवरक घटादि की गति के विना भी अन्धकार की गति प्रतीत होती।

'स्वाभाविक गति के प्रत्यक्ष में दूसरे किसी द्रव्य की गति अपेक्षित नहीं होती' यह पूर्वोक्त सिद्धान्त भी स्वीकार योग्य नहीं है। क्योंकि रत्नों की प्रभाओं की स्वाभाविक गति हम सभी लोग स्वीकार करते हैं। उस गति के प्रत्यक्ष होने में रत्नों की गति की आवश्यकता होती है यह भी हम सभी लोग स्वीकार करते हैं। इसीलिए स्वाभाविक गति के प्रत्यक्ष में द्रव्यान्तर की गति की आवश्यकता नहीं है यह नियम स्वीकार का अयोग्य है। अतः रत्नप्रभा की गति के प्रत्यक्ष होने के लिए जिस प्रकार रत्न की गति आवश्यक होता है उसी प्रकार अन्धकार की गति के प्रत्यक्ष में भी आलोक अथवा आवरक की गति की आवश्यकता होगी। अतः रत्नप्रभा के तुल्य ही छाया की अपनी गति स्वीकृत हो सकती है।[१]

उल्लिखित युक्ति के अनुसार छाया आदि अन्धकार की भी स्वाभाविक गति स्वीकार करना उचित नहीं होगा। क्योंकि उस स्थिति में प्रभा से छाया अभिभूत होगी अथवा छाया से प्रभा अभिभूत होगी। प्रभा द्वारा छाया के अभिभव होने पर दिन में छाया देखी नहीं जा सकेगी। तथा छाया से प्रभा के अभिभव होने पर अन्धकाररात्रि में भी प्रभा की उपलब्धि सम्भव न होगी। वस्तुतः दिन में भी छाया तथा रात्रि में भी प्रभा देखी जाती है। अतः रत्नों की प्रभा तथा छाया को तुल्यरूप से स्वाभाविक गतियुक्त कहना सम्भव नहीं है।

पहले ही कहा जा चुका है कि रत्नप्रभा के तुल्य छाया मूर्त्तद्रव्य होने पर दिन में रत्नविशेष पर जो छाया देखी जाती है वह अनुपपन्न होगी। इस अनुपपत्ति की व्याख्या

---

१. ननु यथा रत्नप्रभा स्वाभाविकगतिशालिनी तेजस्त्वाद, अथच स्वाश्रयगत्यनुविधायिनी तथा छायास्त्वति। प्रकाश, पृ० १०७

में किसी किसी ने कहा है कि रत्नप्रभा के तुल्य छाया की भी यदि स्वाभाविक गति हो तो वह भी मूर्त्तद्रव्य होगा। दो मूर्त्तद्रव्यों की एक ही काल में एक देश में स्थिति देखी नहीं जाती है। अतः प्रभा के रहते उसके आश्रयभूत रत्न में उसी समय छाया देखी नहीं जा सकती है। परन्तु यह व्याख्या समीचीन नहीं है। दो मूर्त्तद्रव्य एक ही काल में एक ही देश में प्रायः न रहने पर भी 'मूर्त्तद्रव्य होने से ही वे समानकाल में समान देश में रहेंगे नहीं' यह सामान्यनियम स्वीकारयोग्य नहीं है। क्योंकि वैशेषिकसिद्धान्त में आलोक तथा चक्षुरिन्द्रिय यह दो मूर्त्तद्रव्य के एक ही काल में एक देश में अवस्थान स्वीकृत है। किसी वस्तु का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने के लिए उस वस्तु में प्रत्यक्षकाल में आलोकसंयोग तथा चक्षुरिन्द्रियसंयोग दोनों समानदेशावच्छेदेन विद्यमान होना आवश्यक है। अन्यदेशावच्छेदेन आलोकसंयोग तथा अपरदेशावच्छेदेन चक्षुःसंयोग रहने पर द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है। अन्धकार में अवस्थित मणिक (जलपात्र-कुण्डा) के अभ्यन्तरदेशावच्छेदेन दीपसंयोग रहने पर भी उसका चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि उसके बहिर्देशावच्छेदेन चक्षुःसंयोग तथा अभ्यन्तरदेशावच्छेदेन आलोकसंयोग हुआ है। एकदेशावच्छेदेन उभयसंयोग ही चाक्षुषप्रत्यक्ष का कारण होगा। उस मणिक के सम्मुखवर्त्ती बहिर्भाग में आलोकसंयोग होने से ही उसका चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। फलतः चक्षुरिन्द्रिय तथा आलोक यह दो मूर्त्तद्रव्यों के समानकाल में समानदेश में स्थिति स्वीकृत है। सिद्धान्त में दो द्रव्य विरलावयव अर्थात् उनके अवयव घन सन्निविष्ट न होने से ही वे एक ही समय में एक देश में अवस्थान कर सकते हैं। अतः विरलावयवत्व के कारण छाया तथा प्रभा की एकत्र अवस्थिति में कोई बाधा नहीं है।[1]

तस्मादावरकद्रव्ये गच्छति यत्र यत्र तेजसोऽसन्निधिस्तत्र तत्र छाया-ग्रहणाद् अन्यदेशतानिबन्धनो गतिभ्रम इति। कथं भावधर्माध्यारोपोऽभाव इति चेन् न किञ्चिदेतत्। सारूप्यतत्त्वाग्रहाविह निबन्धनं नत्वन्यत्। दृष्टश्च दुःखाभावे सुखत्वाध्यारोपः। यथा दुःखापगमे[2] सुखिनः संवृत्ताः स्मः। संयोगाभावे विभागत्वाभिमान इति।

[इसी कारण (आलोक के) आवरकद्रव्य गतिशील होने पर जिस-जिस देश में आलोक का असन्निधान हो उन देशों में छाया दृष्ट होने से उसकी देश भेद होने के कारण ही (अन्धकार में) गति का भ्रम होता है। यदि शङ्का हो कि अभाव में भावधर्म का आरोप किस प्रकार से होगा उसपर वक्तव्य है कि

---

१. प्रकाश, पृ० १०७

२. भारावतारे; भाराधगमे यह पाठान्तर है।

यह आपत्ति अकिञ्चित्कर है (अर्थात् समीचीन नहीं है)। सारूप्य तथा तत्त्व के अज्ञान ही यहाँ कारण है अन्य कुछ नहीं (अर्थात् अन्य स्थलों के तुल्य यहाँ भी अधिष्ठानगत तत्त्व का अज्ञान तथा सादृश्यज्ञान के कारण ही अभावात्मक अन्धकार में आलोकरूप भाव के धर्म गति का आरोप होगा)। और (प्रायशः) दुःखाभाव में सुखत्व का आरोप होते देखा जाता है। (अनेक व्यक्ति ही) जैसा दुःख के अपगत होने पर अपने को 'हम सुखी हुए हैं' समझते हैं। संयोग के अभाव में भी (अनेक स्थल में) विभागत्व का अभिमान होते देखा जाता है। (अतः अभाव में भावधर्म का आरोप होने में कोई बाधा नहीं है)।]

अन्धकार की गति की प्रतीति को भ्रान्ति कही गयी है। उस भ्रम की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है इसके प्रतिपादन के लिए ग्रन्थकार ने 'तस्मादावरक द्रव्य' आदि ग्रन्थ की अवतारणा किया है। इसका तात्पर्य यह है कि रात्रि में जब हम अन्धकार को चलते हुए समझते हैं तब अवश्य ही आवरक की उपस्थिति तथा उसकी गति के हेतु प्रदीप के आलोक आगे या पीछे की दिशा में चलता रहता है। वह आलोक जहाँ से हट जाता है वहाँ हम अन्धकार को अग्रसर होते देखते हैं। आलोक की निश्चलता होने पर अन्धकार को भी गतिरहित स्थिर ही देखा जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि आलोक अथवा आवरकद्रव्य के स्थानान्तरगमनरूप उपाधि अथवा दोषवश गतिरहित अन्धकार में भी गति का भ्रम होता है।

यहां शङ्का हो सकती है कि आलोक भावपदार्थ है तथा सिद्धान्ती अन्धकार को अभावपदार्थ मानते हैं। अतः आलोकरूप भावपदार्थ का धर्म गति अन्धकाररूप अभावपदार्थ में किस प्रकार आरोपित होगी। आरोपों के स्थलों में अधिष्ठान तथा आरोप्य का सादृश्य अपेक्षित रहता है। सर्पसदृश रज्जु में ही सर्पत्व का आरोप होता है। चाकचिक्यादि से रौप्य के सदृश होने से शुक्ति में रजतत्व का आरोप होता है। इस स्थिति में अभावात्मक अन्धकार पदार्थ में भावधर्म गति का आरोप कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि भाव तथा अभाव में सादृश्य के बजाय विरोध ही है। अतः अन्धकार आलोकाभाव है उसमें आलोक की गति आरोपित होती है कहना समर्थन योग्य नहीं है।

इसके उत्तर में कहना है कि यदि यह स्वीकार भी किया जाए कि भ्रममात्र में ही आरोपनीय तथा अधिष्ठान इन दोनों में परस्पर का सादृश्य होना आवश्यक है तब भी आलोकाभावरूप अन्धकार में गतिभ्रम अनुपपन्न न होगा। क्योंकि वहां भी आरोपणीय तथा अधिष्ठान में प्रमेयत्वरूप सादृश्य है। भ्रान्त पुरुषको ज्ञान नहीं है कि अन्धकार आलोकाभाव के अन्तर्गत है। इसी कारण अधिष्ठान का तत्त्व अर्थात् स्वरूप भी वहां अज्ञात ही है। अतः गति के भ्रम होने में कोई बाधा नहीं है।

भ्रमकाल में आरोपणीय वस्तु को हम अनुभूयमान तथा स्मर्यमान यह दो भागों में

विभक्त कर सकते हैं। स्मर्यमाण आरोप्यों के भ्रम में यद्यपि सादृश्य अपेक्षित है
परन्तु अनुभूयमान आरोप्य के भ्रम में सादृश्य की अपेक्षा प्रतीत नहीं होता है।
अन्धकार की गतिप्रतीति अनुभूयमान गतिरूप आरोप्य का ही भ्रम है। इसीलिए
वहां सादृश्य की अपेक्षा स्वीकृत न होने पर भी सिद्धान्त हानि न होगी। अनुभूयमान
आरोप्य के भ्रम में सादृश्य अपेक्षित नहीं है यह थोड़ा विचार करने से ही प्रतीत
होता है। पित्तरोगग्रस्त व्यक्ति को शङ्ख आदि शुभ्र वस्तुओं को पीत तथा गुड़ आदि
मधुर द्रव्य को तिक्त भ्रम होता है। इन भ्रमों में आरोपनीय पीतत्व अथवा तिक्तत्व
अनुभूयमान अर्थात् साक्षात्रूप से इन्द्रिय के साथ सम्बन्धयुक्त है। प्रथम स्थल में रोगवश
चक्षु की स्वभावतः स्वच्छ रश्मियां पीतवर्ण पार्थिव द्रव्य से मिश्रित हो जाता है। चक्षु-
रश्मि से संसृष्ट पीतद्रव्यगत पीतिमा ही शङ्ख में आरोपित होता है। वह पीतिमा
स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से साक्षात्रूप से चक्षु से सम्बद्ध होने के कारण वह अनुभूयमान
आरोप्य का भ्रम है। वहां आरोप्य पीतिमा से अधिष्ठानीभूत शङ्ख का विशेष कोई
सादृश्य नहीं है। तथापि भ्रम वास्तविक है। द्वितीय स्थल में रोगवश ही रसनेन्द्रिय में
तिक्त पार्थिव अंश के मिश्रित होने से उस पार्थिव द्रव्य की तिक्तता ही गुड़ आदि मधुर द्रव्य
में आरोपित होता है। वहां आरोपणीय तिक्तता अनुभूयमान ही है। स्वसंयुक्तसमवाय-
सम्बन्ध से रसनेन्द्रिय से वह साक्षात्रूप से सन्निकृष्ट है। गुड़ तथा तिक्तता में कोई
सादृश्य प्रतीत नहीं होता है। इसी कारण अनुभूयमान आरोप्य के भ्रम में सादृश्य
अपेक्षित नहीं होता है। उसी प्रकार अनुभूयमान आरोप्य के भ्रम होने से अन्धकारगत
गतिभ्रम में भी सादृश्य की अपेक्षा नहीं है। यह भ्रम अनुभूयमान आरोप्य सम्बन्धी है
क्योंकि चक्षुःसन्निकृष्ट आलोक की गति ही अन्धकार में आरोपित होती है। वह गति चक्षु
के साथ स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से सन्निकृष्ट भी है।

स्मर्यमाण आरोप्य के भ्रम में सादृश्य अपेक्षित है। शुक्ति आदि वस्तु में रजत
आदि का भ्रम स्मर्यमाण आरोप्य का भ्रम है। वहां आरोप्य रजत आदि विषय चक्षुरादि
इन्द्रियों से सन्निकृष्ट नहीं है परन्तु स्मृत ही है। प्रथम दूरत्वादि दोषवश शुक्तिरूप
अधिष्ठान के विशेषधर्म शुक्तित्व का ज्ञान नहीं होता है, परन्तु चाकचिक्यादिविशिष्ट
सम्मुखस्थ वस्तुरूप से ही उसका ज्ञान होता है। यह चाकचिक्य ही शुक्ति तथा रजत
में सादृश्य है। इसके ज्ञान के फलस्वरूप हट्टादि अन्य देशस्थ रजत का पूर्वानुभवजन्य
संस्कार उद्बुद्ध होता है। उस उद्बुद्ध संस्कार से ही देशान्तर के रजत का हमें
स्मरण होता है। उस स्मरण में रजतांश में देशान्तरस्थत्व आदि विशेषण प्रतिभात नहीं
होते है, केवल रजतत्वरूप से ही वह प्रतिभात होता है। इस प्रकार रजतस्मरण का
ही ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष कहा जाता है। इसी के कारण सम्मुखवर्त्ती वस्तुरूप से चाक्षुष
प्रत्यक्ष का विषय शुक्तिरूप अधिष्ठान में स्मरण का विषय रजत विशेषणरूप से प्रकाशित
होता है। फलतः हम सम्मुखस्थ शुक्तिको रजत समझते हैं तथा तदनुकूल व्यवहार करते

हैं। इस प्रकार स्मर्यमाण आरोप्य के भ्रम स्थल में आरोप्य तथा अधिष्ठान का सादृश्य-ज्ञान अपेक्षित होता है।

अभाव में भावधर्म का आरोप होते देखा नहीं जाता है यह कहना भी उचित नहीं है। भार के हटने से हम अपने को सुखी मानते हैं। यह भारके हटने अर्थात् निवृत्तिरूप अभाव में ही सुखत्व का भ्रम है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अभाव में भावधर्म का आरोप हम करते हैं। आलोकाभावरूप अन्धकार में रूपाभाव वास्तव है। वह रूपाभाव तथा नीलरूप दोनों तुल्यरूप से आलोक के शुक्लभास्वररूप का विरोधी हैं। इसी सादृश्य के रहने से ही विरोधी होते हुए अन्धकार में नीलरूप का ही भ्रम होता है।[1]

एतेन नीलिमाध्यारोपो व्याख्यातः। शुक्लभास्वरविरोधित्वसारूप्येण तदारोपोपपत्तेः। न चैवं तदन्यारोपप्रसङ्गोऽपि। आरोपे सति निमित्तानुसरणात्, न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः। अदृष्टादिकश्चात्र नियामकमध्यवसेयम्। स्मर्यमानञ्चैतद् रूपमारोप्यते रजतत्ववत्, न तु गृह्यमाणम्। अतो न सहकार्यपेक्षाचाद्यमाशङ्कानीयं धर्मिणि निरपेक्षत्वात्।

[इससे नीलिमा का अध्यारोप (अर्थात् अन्धकार में नीलगुण का आरोप) व्याख्यात हुआ (अर्थात् गति के आरोप की व्याख्या के अनुसार ही उसमें नीलगुण का आरोप की व्याख्या समझना होगा)। शुक्लभास्वरगुण के विरोधात्मक सादृश्यवश (अन्धकार में) उसका (अर्थात् नीलगुण का) आरोप उपपन्न होगा (अर्थात् आलोक के शुक्लभास्वररूपविरोधित्व नीलगुण तथा अन्धकारगत रूपाभाव में रहने से उसके स्मरण के पश्चात् ही अन्धकार में उसका आरोप होगा)। यह कहना भी सङ्गत नहीं कि—इस प्रणाली से अन्य वस्तु का आरोप का भी प्रसङ्ग है (अर्थात् नीलिमा जैसा अन्य वस्तु में भी शुक्लभास्वरत्व का विरोधरूप सादृश्य सम्भावित होने से उन वस्तुओं का भी आरोप अन्धकार में हो यह आपत्ति भी युक्तिसिद्ध नहीं है)। क्योंकि आरोप के होने पर (ही) कारण का अनुसन्धान आवश्यक होता है। किन्तु कोई विशेष हेतु के रहने से ही आरोप हो यह बात नहीं है। इस विषयमें अदृष्ट आदि को ही नियामक स्वीकार करना पड़ेगा (अर्थात् किसका आरोप होगा या न होगा इसका नियामक जीव का भोगादृष्ट ही है)। रजतत्व जैसा यह भी (अर्थात् नील गुण भी) स्मर्यमाण का आरोप है गृह्यमाण का नहीं। अतः सहकारिविशेष की अपेक्षारूप दोष की आशङ्का नहीं है (अर्थात् आलोकरूप सहकारी

---

१. विरोधेऽध्यारोपहेतोरक्षतेरित्यर्थः। प्रकाश पृ० ११०।

के न रहने से नीलगुण का आरोप अन्धकार में हो नहीं सकता ऐसी शङ्का का हेतु नहीं है; क्योंकि उस स्थल में स्मृत नीलगण का ही आरोप होता है अनुभूयमान का नहीं)। धर्मी (अर्थात् अन्धकाररूप धर्मी के ज्ञान, में भी आलोक की अपेक्षा नहीं है (अतः आलोकनिरपेक्ष होकर अन्धकार में नीलगुण का आरोप होने में कोई बाधा न रही)।]

अन्धकार में गति के आरोप की व्याख्या की जा चुकी है। गति के तुल्य ही अन्धकार में नीलरूप भी प्रतीत होता है। गतिप्रतीति के तुल्य ही यह प्रतीति भी आरोपात्मक ही होगी। नीलरूप के आरोप की व्याख्या भी गति के आरोप का व्याख्या के तुल्य ही होगी। अर्थात् पूर्वोक्त आरोप में जैसा स्थानान्तरतारूप सारूप्यवश आलोक की गति का अन्धकार में आरोप होता है वैसा प्रस्तुतस्थल में भी अन्धकार के वास्तव रूपाभाव तथा नीलरूप में आलोकगत शुक्लभास्वररूप के विरोध रहने से स्वविरोधि-विरोधित्वरूप सारूप्य के हेतु पृथिवी में आश्रित नीलरूप का अन्धकार के रूपाभाव के स्थान में आरोप होता है। इसी से हम अन्धकार को नीलरूपविशिष्ट जैसा प्रत्यक्ष करते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि स्वविरोधिविरोधित्वरुप सारुप्य भी आरोप में सहायक हो तो इस प्रकार सारुप्य अन्य अनेक धर्म अथवा वस्तु में रहने के कारण उसका भी अन्धकार में आरोप होना उचित है। उत्तर में कहना है कि वस्तुतः अन्धकार को नीलरुपविशिष्ट रूप से ही देखा जाता है इसीलिए उसकी उपपत्ति के लिए पूर्वोक्त सादृश्य की सहायता ली जाती है। यदि नीलरूप के जैसा अन्य धर्मों का आरोप वस्तुतः होता तब उन आरोपों की उपपत्ति के लिए उक्त प्रकार सारूप्य को सहायता ली जाती। जब उस प्रकार कोई आरोप नहीं है तब उस सादृश्य के कारण उन धर्मों के आरोप की आपत्ति युक्तिसिद्ध नहीं है। इसीलिए ग्रन्थकार ने कहा है "आरोपे सति निमित्तानुसरणं नतु निमित्तमस्तीत्यारोपः"।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि अनेक धर्मों में उक्त प्रकार सारूप्य रहने पर भी उनका आरोप न होकर केवल नीलरूप का ही आरोप क्यों हुआ। उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जीव के भोगादृष्टवश ही उस प्रकार आरोप हुआ है। दृष्ट किसी कारण से उस प्रश्न का समाधान सम्भव नहीं होता है। सादृश्य रहने पर भी अन्य किसी का आरोप न होकर केवल नीलरूप का आरोप हुआ है इसीलिए दृष्ट के अतिरिक्त किसी अदृष्ट कारण को उसका नियामक कहा गया है। यदि कोई दृष्ट कारण से उसकी उपपत्ति हो सके तो उसे हम अवश्य स्वीकार करेंगे।

यदि यह प्रश्न हो कि रूप की चाक्षुषप्रतीति भ्रम हो या प्रमा उसे आलोकरूप सहकारी के बिना होते देखी नहीं जाती है। अतः आलोकाभावरूप अन्धकार में नीलगुण

की प्रतीति की उक्त प्रकार की व्याख्या नहीं हो सकती है। उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वह नीलरूप की प्रतीति चाक्षुष होने पर भी लौकिक नहीं है। ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष के कारण अन्धकार में नीलरूप का आरोप हुआ है। नीलरूप वस्तुतः अनुभूयमान नहीं परन्तु वह स्मर्यमाण है। पूर्वोक्त सादृश्य के कारण संस्कार उद्‌बुद्ध होकर नीलरूप का स्मरण करा देता है। इस स्मरणात्मक ज्ञान के कारण नीलरूप अन्धकार में विशेषणरूप से आरोपित हुआ है। यह पहले ही कहा गया है कि अनुभूयमान के चाक्षुष आरोप में आलोकादि की सहायता अपेक्षित होने पर भी स्मर्यमाण के आरोप में उसकी आवश्यकता नहीं है। अतः अन्धकाररूप धर्मी के चाक्षुषप्रत्यक्ष में अथवा उसमें स्मर्यमाण नीलरूप के आरोप में आलोक की अपेक्षा न रहने से उसके बिना भी अन्धकार में नीलरूप का आरोप होने में कोई बाधा नहीं है।

यद्येवमारोपितं रूपं न तमो भाभावस्तु तदिति विनिगमनायां को हेतुरिति चेद्, उच्यते—एषा तावदनुभवस्थितिः तमो नीलं न तु नीलिमा तम इति। न चारोपे तेन वास्तवेन नीलिम्ना तमोबुद्धिव्यपदेशौ समानार्थौ सहप्रयोगानुपपत्तेः। नीलीद्रव्योपरक्तेषु वस्त्रचर्मादिषु तमोबुद्धिव्यपदेशप्रसङ्गाच्च। अवश्यम्भावी च भाभावानुभवो निरालम्बनस्य भ्रमस्यानुपपत्तेः। न च तमःप्रत्ययो बाध्यते नीलप्रत्ययस्तु बाध्यत इहेति प्रत्ययवत्। तस्माद् यत्र गुणक्रियारोपस्तदन्धकारं नतु नीलिमेति सुष्ठूक्तं नवैवेति।

[यदि ऐसा ही हो तो—आरोपित (नील) रूप अन्धकार नहीं है, किन्तु आलोकाभाव ही अन्धकार है, इस विषय में विनिगमक हेतु क्या है? उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि 'अन्धकार नीलरूपविशिष्ट है, किन्तु नीलिमा स्वयं अन्धकार नहीं है' इस प्रकार के अनुभव की यह स्थिति ही उसका विनिगमक होगा। नीलिमा आरोपित हो हो अथवा वास्तव (अर्थात् अनारोपित) उसके साथ 'तमः' यह बुद्धि अथवा 'तमः' यह संज्ञा समानार्थक (अर्थात् पर्यायात्मक) नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में नील तथा तमः इन दो का सहप्रयोग अर्थात् समानाधिकरण प्रयोग) अनुपपन्न होगा (अर्थात् घट तथा कलसबुद्धि तथा उन दो संज्ञाओं के समानार्थक होने से जिस प्रकार 'घटः कलसः' इस प्रकार समानाधिकरण प्रयोग नहीं होता है उसी प्रकार नील तथा तमः इन दोनों का ज्ञान तथा उनकी संज्ञा यदि एकार्थक होता तो 'नीलं तमः' यह समानाधिकरण प्रयोग न होता। और (ऐसा होने पर) नीलरूपविशिष्ट द्रव्य से उपरञ्जित वस्त्र, चर्म आदि में अन्धकार की (तादात्म्य) प्रतीति तथा 'तमः' संज्ञा का भी प्रयोग की प्रसक्ति होती।

(अन्धकार में नीलरूप की प्रतीति के स्थलों में) आलोकाभाव का अनुभव अवश्यमेव होता है (अर्थात् हम अन्धकार की नीलिमा की प्रतीति के स्थलों में आलोकाभाव का अनुभव करते हैं क्योंकि आलम्बन (विषय) रहित भ्रम अनुपपन्न है। इसलिए आलोकाभाव को ही अन्धकार कहना युक्तियुक्त है)। (आरोपित नीलरूप को भी अन्धकार नहीं कहा जा सकता है) क्योंकि अधिष्ठान के न रहने के कारण नीलरूप का आरोप सम्भव नहीं है। (यह कहना भी सम्भव नहीं कि अनारोपित नील रूप में ही अन्धकार का तादात्म्य प्रतीत होता है।) क्योंकि जिस प्रकार 'इह' प्रतीति में अर्थात् 'इह नीलं रूपम्' इस प्रकार आरोप के स्थल में अधिष्ठानीभूत 'इदम्' अंश की बाधा नहीं होती है, किन्तु नीलिमा की बाधा होती है उसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी नीलिमा अंश ही बाधाप्राप्त होती है तमः अंश नहीं। (अतः नीलरूपात्मक अधिष्ठान में अन्धकार को आरोपित नहीं कहा जा सकता है) अतः जहां (नील) गुण तथा क्रिया (गति) का आरोप हो वही अन्धकार होगा नीलिमा नहीं। इसलिए 'नौ ही द्रव्य हैं' यह कथन (अर्थात् विभाग) समीचीन ही हुआ है।]

अब आचार्य कन्दलीकार के मत को उद्धृत करते हुए उसका खण्डन करते हैं। श्रीधर ने कहा है कि नीलिमा ही अन्धकार है आलोकाभाव नहीं[१]। क्योंकि आलोकाभाव ही अन्धकार है नीलिमा नहीं इस कथन का विनिगमक प्राप्त नहीं है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने कहा है कि इस विषय में अनुभव ही विनिगमक है 'अन्धकार नीलरूपविशिष्ट है' इसी प्रकार का अनुभव होता है, 'नीलिमा अन्धकार है' इस प्रकार अनुभव किसी को नहीं होता है। अतः प्रतीति के अनुसार नीलिमा को अन्धकार नहीं कहा जा सकता है।

यह भी कहना है कि नीलिमा यदि अन्धकार होता तो नीलबुद्धि तथा अन्धकार बुद्धि, और नीलसंज्ञा तथा अन्धकारसंज्ञा एक विषयक तथा पर्यायात्मक होने के कारण 'नीलं तमः' इस प्रकार नील तथा अन्धकार का समानाधिकरण प्रतीति तथा प्रयोग सर्वथा अनुपपन्न होता।

आरोपित हो या वास्तव किसी प्रकार से भी नीलिमा को अन्धकार कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि यदि आरोपित नीलिमा ही अन्धकार होता तो जब नीलवर्ण के वस्तु द्वारा वस्त्रादि का श्वेतवर्ण को अभिभूत कर उसे नीलवर्ण से रञ्जित किया जाता है तब वहां हमें अन्धकार की बुद्धि होनी चाहिए। क्योंकि वह नीलिमा वस्त्रादिरूप देश में

---

१. न्यायकन्दली, पृ० ९-१०।

समारोपित ही है। परन्तु उस नीलिमा को कोई भी व्यक्ति अन्धकार नहीं समझता है। अतः आरोपित नीलिमा अन्धकार नहीं हो सकता है।

अन्धकार की प्रतीति के प्रत्येक स्थल में नियमित रूप से आलोकाभाव की प्रतीति होती है। इस स्थिति में लाघव के कारण आलोकाभाव को अन्धकार कहना समीचीन होगा। तथा नीलिमा को अन्धकार कहने से 'नीलं तमः' इस प्रतीति में नीलिमा में 'तमस्त्व' का आरोप करना होगा। ऐसा करने से उस भ्रम में नीलिमा अधिष्ठान होगा तथा 'तमस्त्व' उसमें आरोपित होगा। भ्रम में अधिष्ठान की बाधा नहीं होती। परन्तु आरोप्य की बाधा होती है। 'इह नीलं रूपम्' इस प्रकार आरोप में 'इदम्' पद द्वारा उपस्थित अधिष्ठान की बाधा नहीं होती है। परन्तु उसमें समवायसम्बन्ध से आरोपित नीलिमा की ही बाधा होते देखी जाती है।[1] नीलिमा का समवाय उसमें नहीं रहता इसी कारण से नीलिमा का समवाय अथवा समवायसम्बन्ध से नीलिमा ही उसमें बाधा प्राप्त होती है। अतः जो व्यक्ति नीलिमा में तमस्त्व का आरोप स्वीकार करेगा उसको आरोप्य होने के कारण 'तमस्त्व' की ही बाधा स्वीकार करनी पड़ेगी। नीलिमा की बाधा वह स्वीकार नहीं कर पाएंगे। वस्तुतः तमस्त्व की बाधा नहीं होती है नीलिमा ही बाधित होती है। अतः उभयवादिसम्मत आलोकाभाव में नीलिमा का आरोप स्वीकार करना पड़ेगा। बाधित होने के कारण नीलिमा अथवा गति जिसमें आरोपित हुई वह आलोकाभाव ही अन्धकार होगा नीलिमा नहीं। इन कारणों से आलोकाभाव को अन्धकार कहना ही युक्तिसिद्ध है। फलतः द्रव्य का नौ प्रकार विभाग समीचीन ही हुआ है।

गुणान् विभजते गुणा इति।[2] रूपादयः सप्तदश कण्ठोक्ताः सूत्रकारेण। अभ्युपगमसिद्धान्तन्यायेनान्येऽपि सप्त सिद्धगुणभावाः। तत्र तत्र तेषां व्युत्पादनात्। अनभ्युपगमे व्युत्पादनविरोधात्। तथा च विभागसूत्रं न्यूनम्। रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणा[3]

---

१. यथेहेति धीः समवायहेतुका तमसि तदभावेऽपि धर्मिस्वरूपे न बाध्यत इत्यर्थः। प्रकाश, पृ० ११२

२. गुणाः रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश। प्रशस्तपाद, पृ० ३

३. वैः सूत्र १।१।६; किसी किसी संस्करण में 'प्रयत्नश्च' इस प्रकार एकवचनान्त पाठ भी प्राप्त है।

इति हि तत्। अत आह 'च' शब्दसमुच्चिताः सप्तेति[1]। अदृष्टशब्देन धर्माधर्मयोः संक्षेपेणाभिधानम्। नत्वदृष्टत्वं नाम सामान्यमस्ति। कार्य-कारणलक्षणानां तद्व्यवस्थापकानामभावात्। तेन गुरुत्वद्रवत्वस्नेह-संस्कारधर्माधर्मशब्दा इत्युक्तं भवति। एवं कण्ठोक्त्या समुच्चयेन च एकतया चतुर्विंशतिर्गुणा व्यवहर्त्तव्याः। तथाविधबुद्धिविषयतया सारूप्येण न तु संख्यायोगेन। यथा चैतत् तथा गुणे वक्ष्यामः।

["गुणाः" इत्यादि वाक्य से (प्रशस्तपाद) गुणों का विभाजन किए हैं। सूत्र-
कार द्वारा रूप आदि सत्रह (गुण) कण्ठ से कहे गये हैं। अभ्युपगमसिद्धान्त के
बल पर अन्य सात का (भी) गुणत्व सिद्ध है। क्योंकि (वैशेषिक सूत्र के) विभिन्न
स्थानों में वे व्युत्पादित (अर्थात् आलोचित) हुए हैं। यदि (वह सात गुणपदार्थ
वैशेषिक के) असम्मत (अर्थात् अनभिप्रेत) होते तो (स्वपक्ष में) उनकी आलोचना
करना विरुद्ध होता (अर्थात् समीचीन न होता)। इस स्थिति में (अर्थात् गुणों की
संख्या वस्तुतः चौबीस होने से) (शेष सात गुणों के उल्लेख न रहने के कारण)
विभागसूत्र न्यूनतादोषदुष्ट होगा। "रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि
पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च"
यही वह सूत्र (अर्थात् गुणविभाजक सूत्र) है। इसी कारण "च शब्दसमुच्चिताः
सप्त" (अर्थात् च शब्द से सात गुणों का समुच्चय हुआ है) यह वाक्य (प्रशस्तपाद
ने) कहा है। "अदृष्ट" शब्द द्वारा संक्षेप में धर्म तथा अधर्म इन दो का अभिधान
किया गया है (अर्थात् प्रशस्तपाद ने धर्म तथा अधर्म यह दो शब्दों का प्रयोग न
करके एक अदृष्ट शब्द का उल्लेख किया है)। कार्य या कारणरूप व्यवस्थापक न
रहने के कारण अदृष्टत्व (धर्माधर्मसाधारण) जाति नहीं हो सकता है। इसलिए
'गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दाः' यही फलतः कहा गया है (अर्थात्
प्रशस्तपाद ने अदृष्टत्वरूप जाति किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता यह कहा है)। धर्म
तथा अधर्म के कारण या कार्य एक प्रकार के न होने से कार्यता या कारणता का
अवच्छेदक रूप से धर्माधर्मसाधारण अदृष्टत्व जाति प्रमाणसिद्ध नहीं होता है।
इसी लिए अदृष्ट पद के द्वारा (अनुगत रूप से) धर्म तथा अधर्म का संक्षेप
में अभिधान ही किया गया है। (इस हेतु गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म,
अधर्म तथा शब्द ही उनका विस्तृत अभिधान होगा)। इस प्रकार साक्षात् कण्ठोक्ति
तथा समुच्चय द्वारा मिलितरूप से चौबीस गुणों का व्यवहार करना होगा। वह

---

१. प्रशस्तपाद, पृ० ३

व्यवहार संख्या के कारण नहीं परन्तु अपेक्षाबुद्धि की विषयता के कारण ही होगा। यह जिस प्रकार से होना सम्भव है उस प्रकार से गुणप्रकरण में उसकी व्याख्या की जाएगी।]

गुणविभाजकसूत्र (वै० सू० १।१।६) में महर्षि ने साक्षात्‌रूप से केवल सत्रह गुणों का ही उल्लेख किया है। सूत्र के अन्त में एक 'च' है। सूत्रकारीय रीति के अनुसार सूत्र में व्यर्थ शब्द का प्रयोग नहीं होता है। अतः प्रशस्तपाद ने अनुक्तसमुच्चायक 'च'कार से अन्य सात गुणों का संग्रह हुआ कहा है। परन्तु केवल सात का ही संग्रह क्यों हो? इस आशङ्का के उत्तर में आचार्य उदयन ने कहा है कि अभ्युपगमसिद्धान्त के नियमानुसार इन्हीं सातों का गुणत्वसिद्ध होने के कारण केवल इन्हीं का समुच्चय सूत्र के अन्तिम 'च' कार से होगा। शास्त्रीय रीति से विचार (उद्देश लक्षणादि) के विना किसी पदार्थ का विशेष विवेचन को अभ्युपगमसिद्धान्त कहा जाता है[१]। आचार्य उदयन के वाक्य की व्याख्या करते हुए प्रकाशकार ने कहा है कि साक्षात् रूप से सूत्र में उल्लिखित न होने पर भी अपने शास्त्र में इन (सातों) का अभिधान रहने से महर्षि का अभ्युपगम अर्थात् स्वीकृति प्रमाण है[२]। अर्थात् महर्षि के सूत्रों में गुणरूप से इन सातों का उल्लेखरूप स्वीकृति के बल पर ही इनका संग्रह 'च' कार से होगा। प्रकाशकार की पंक्ति में 'समानतन्त्र' शब्द के अर्थ के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। कोई इस शब्द से न्याय-शास्त्र को समझना चाहते हैं। परन्तु न्यायसूत्र में इन सातों के गुणरूप से उल्लिखित होने का प्रसङ्ग ही नहीं आता है। द्रव्य गुणादिरूप से वह शास्त्र पदार्थविभाग करता ही नहीं। प्रत्युत न्यायभाष्य में वात्स्यायन ने 'समानतन्त्र' शब्द का अर्थ स्वतन्त्र अर्थात् निजशास्त्र या सम्प्रदाय किया है।[3]

वैशेषिक सूत्रों के अध्ययन से प्रतीत होगा कि गुणों के नामोल्लेख करते समय इन सातों का उल्लेख न करने पर भी आगे चलकर इन्हे गुणरूप से स्वीकार कर इनके विषय में अनेक विचार किया गया है[४]। इसी स्वीकृति (अभ्युपगम) तथा उद्देशसूत्र में अनुल्लेख के कारण ही अनुक्तसमुच्चायक 'च' कार से उन सातों का भी संग्रह हुआ है। फलतः गुण के विभाजक सूत्र (वै० सू० १।१।६) न्यूनतादोषदुष्ट नहीं है।

---

१. अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः। न्या० सू० १।१।३१
२. साक्षादसूत्रितत्वेऽपि समानतन्त्राभिहितत्वेनाभ्युपगमस्य मानत्वादित्यर्थः। प्रकाश, पृ० ११५
३. न्याय० सू० भाष्य १।१।२६
४. गुरुत्व—१।१।२६ आदि; द्रवत्व—२।१।२ आदि; स्नेह २।१।२; संस्कार १।१।२० आदि; धर्म ६।२।१४ आदि; अधर्म—६।२।१४ आदि; शब्द २।१।२५ आदि

यह शङ्का होगी कि गुरुत्वादि छः नामों के उल्लेख करते हुए प्रशस्तपाद ने सात का समुच्चय किस प्रकार से कहा है ? इसके समाधान में प्रशस्तपाद के समस्त टीकाकारों ने एकवाक्य से 'अदृष्ट' शब्द से ही धर्म तथा अधर्म नामक दो गुणों को संक्षेप से कहा गया है कहा है।[1] यहां विचारणीय है कि यह दो भिन्न-भिन्न गुणों का वाचक अदृष्टशब्द तभी हो सकता है यदि उन दोनों में अदृष्टत्वरूप समान धर्म हो। यदि अदृष्टत्व दो गुणों का समान धर्म है तो अगत्या उसे जाति भी कहना पड़ेगा। इस विषय में जगदीश ने सूक्ति टीका में अदृष्टत्व जाति को सिद्ध माना हैं। अन्य टीकाकारों ने अदृष्टत्व को जाति नहीं माना।

अदृष्टत्व को जाति मानने पर प्रशस्तपाद का 'सप्तैव' पद की सङ्गति नहीं रहेगी। क्योंकि अदृष्टत्वजातिविशिष्ट धर्म तथा अधर्म को लेकर यदि सप्त संख्या की पूर्ति की जाएगी तब रूपत्व, रसत्व आदि जातिविशिष्ट शुक्ल, पीत तथा मधुर, कषाय आदि गुण व्यक्तियों की संख्या चतुर्विंशति से अनेक अधिक हो जाएगी। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति को संख्या से गुणों की संख्या का अभिधान हुआ है कहना सम्भव नहीं है। इसीलिए आचार्य उदयन ने निर्णय किया है कि अदृष्ट शब्द से धर्म तथा अधर्म को संक्षेप से कहा गया है। इस विषय में सूक्ति तथा सेतु का विचार कौतूहल जनक है। पाठक स्वयं उन विचार को देखें तथा निर्णय करें। आचार्य उदयन ने कहा है कि कार्यता अथवा कारणतारूप व्यवस्थापक न रहने से अदृष्टत्व जाति नहीं है। तात्पर्य यह है कि जाति के अनुमान में व्यक्तिगत कार्यता अथवा कारणता की एकरूपता ही कारण है। प्रकाशकार ने व्याख्या में कहा है कि धर्म तथा अधर्म के कार्य होते हैं सुख तथा दुःख। उन (धमाधर्म) के कारण भी विहित तथा निषिद्ध क्रियाएं होती है। अतः कार्य अथवा कारणगत एकरूपता नहीं है। जिस एकरूपता के बल पर जाति की कल्पना (अनुमान) होती है।[2] किसी किसी के अभिप्राय से प्रतीत होता है कि कार्य अथवा कारणगत एकरूपता के तुल्य ही समान व्यञ्जकव्यङ्गता भी जाति का व्यवस्थापक है। अतः उन्होंने कार्य या कारणगत एकरूपता न रहने पर भी धर्म तथा अधर्म में तुल्य व्यञ्जकव्यङ्गता सिद्ध करने के लिए धर्माधर्मसाधारण अदृष्टत्व का अनुगम निम्नरूप से किया है।

---

१. अदृष्टशब्देन धर्माधर्मयोरभिधानात् सप्त भवन्तीति। व्योमवती, पृ० ५०
गुरुत्वादिशब्दानुक्त्वा सप्तेति कथयतो भाष्यकारस्य अदृष्टशब्दस्य नानार्थत्वेऽभिप्रायः। एवञ्च सैन्यपदेन घोटकक्रमेलकयोरिव अदृष्टपदेन धर्माधर्मयोरुपस्थितौ सप्त प्राप्यन्ते। सेतु, पृ० ४८;
सूक्ति, पृ० ४७-८; न्यायकन्दली पृ० ११

२. सुखदुःखे धर्माधर्मयोः कार्ये विहितनिषिद्धक्रिये च कारणे इति न कार्यकारणयोरैकरूप्यं यदनुरोधाज् जातिः कल्प्यते। प्रकाश, पृ० ११५-६

उनके मन में "अतीन्द्रियात्मविशेषगुणमात्रवृत्तिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व" ही वह अनुगत रूप है जिससे धर्म तथा अधर्म संगृहीत होते हैं। परन्तु यथास्थित इस अनुगम से हमें 'अदृष्टत्व' की प्राप्ति नहीं होती है। क्यों कि अतीन्द्रियात्मविशेषगुण धर्म, अधर्म तथा भावना है। इनमें भावनात्व गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति नहीं वह 'संस्कार' रूप गुण का ही एक विभाग मात्र है। अतः केवल धर्मत्व तथा अधर्मत्व ही उक्त अनुगम द्वारा संगृहीत हो सकता है। किन्तु धर्मत्व तथा अधर्मत्व के लाभ होने पर भी 'अदृष्टत्व' असंगृहीत ही रहा।[१]

किसी किसी के अनुसार कार्य से अन्वय (सम्बन्ध) हेतुक, कारण से अनुमेय, तथा निर्दिष्टव्यञ्जक से व्यक्त होना यह तीन जाति का व्यवस्थापक है। परन्तु प्रकृतस्थल में कार्य अथवा कारणों की एकरूपता नहीं है कहा गया है। व्यञ्जकरूप लक्षण से जाति तभी सिद्ध हो सकता है यदि वह जाति प्रत्यक्षसिद्ध हो। वस्तुतः अनुगत लक्षण जाति व्यवस्थापक (अनुमापक) नहीं होता है।[२] हम कह चुके हैं धर्मत्व तथा अधर्मत्व यदि तथाकथित गुणत्वसाक्षाद्व्याप्य जाति हो तब 'अदृष्टत्व' का अपलाप ही होगा। यदि अदृष्टत्व को गुणत्वसाक्षाद्व्याप्य जातिरूपसे लेकर लक्षणसमन्वय करना हो तो प्रथमतः अदृष्ट के गुणरूपसे सिद्ध होनेसे उक्त लक्षण की सिद्धि हो सकेगी। पश्चात् अदृष्टत्व को जाति सिद्ध किया जा सकता है।[३] इससे अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।

आचार्य उदयन ने "कार्यकारणलक्षणानां व्यवस्थापकानामभावात्" अदृष्टत्व जाति को अस्वीकार किया है। परन्तु प्रकाशविवृतिकार ने विस्तृत विचार के अन्त में कहा है कि कार्य अथवा कारणों की एकरूपतादि न रहने से यदि अदृष्टत्व जाति सिद्ध नहीं हो सकती हैं तब वेगादिसाधारण संस्कारत्व जाति भी सिद्ध न होगी। क्योंकि वेग भावना तथा स्थितिस्थापक संस्कारों में भी कार्य या कारणगत एकरूपता नहीं है। संस्कारत्व जाति के व्यवस्थापक संस्कार का लक्षण ही है। अदृष्टत्व को उन्होंने 'भोगत्वा-

---

१. तद्धि धर्मत्वादिपुरस्कारेण ग्राह्यमदृष्टत्वपुरस्कारेण वा। नाद्यः। गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वेन गृहीते धर्मत्वादावुपजीव्यविरोधात् तेनैवादृष्टत्वजात्यपवादात्। प्रकाशविवृति, पृ० ११६

२. केचित्तु कार्यान्वयतया कारणानुमेया व्यञ्जकव्यङ्ग्या च जातिरिति त्रयमेव व्यवस्थापकम्। तत् त्रयमपि नास्तीति फक्किकार्थः। लक्षणस्य व्यञ्जकस्य तदा सम्भवो यदि सा जातिः प्रत्यक्षा स्यादिति। वस्तुतस्तु अनुगतं लक्षणं न जातिव्यवस्थापकम्। अतएव न जातावनुगतव्यञ्जकनियम इति तत्त्वम्। प्रकाशविवृति पृ० ११६

३. ....नान्त्योऽन्योन्याश्रयात्। अदृष्टस्य सिद्धौ उक्तलक्षणसिद्धौ च जातिव्यवस्थितिरिति भावः। प्रकाशविवृति, पृ० ११६

वच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता के अवच्छेदकरूप से अनुगत किया जा सकता है कहा है। अतः उनका प्रश्न है कि अदृष्टत्व के जातित्व में बाधक क्या ?[१] प्रशस्तपादभाष्यकी सूक्ति टीका में जगदीश तर्कालङ्कार ने भी अदृष्टत्व जाति को मिथ्याज्ञानवासनादि का जन्यतावच्छेदक रूप से सिद्ध ही माना है।[२] शिवादित्य मिश्र ने सप्तपदार्थी में संस्कारत्व को जाति माना है। संस्कार का लक्षण उनके अनुसार द्रव्य में अपनी उत्पत्ति के समय की अवस्था को उत्पन्न करने वाला गुण है।[३] कहना आवश्यक है कि शिवादित्य मिश्र ने अदृष्ट शब्द से धर्म तथा अधर्म की संक्षेपोक्ति की चर्चा भी नहीं की है।

हमारे विचार से प्रशस्तपाद ने धर्म तथा अधर्म को अदृष्ट शब्द द्वारा उल्लेख कर एक विशेष लाभ की चेष्टा की है। सूत्रकार ने अपने सूत्र में धर्म तथा उसके कार्य तथा कारण, अधर्म के कार्य तथा उसके कारणों का निर्देश करने के साथ ही अदृष्ट के कार्यों का भी उल्लेख किया है। सूत्र में हमें दृष्ट तथा अदृष्ट शब्द का अनेक उल्लेख मिलते हैं। वैशेषिकसूत्र की अत्यन्तप्राचीनता के कारण वह अनेक स्थलों में त्रुटित स्थिति में ही आज हमें उपलब्ध है। उपलब्ध चन्द्रानन्द रचित वृत्ति ग्रन्थ से हम अदृष्ट के कार्यों का उल्लेख कर रहे हैं। मणिगमन, सूची का अभिसर्पण (५।१।१५), भूकम्प (पृथिवी में कम्पनात्मक गति (५।२।२), वृक्ष के मूल में सिञ्चित जल का नाडियों द्वारा अग्रभाग तक गमन (५।२।७), अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन, वायु का तिर्यक् गमन, अणुओं तथा मन का प्रथम गति (५।२।१३) मृत्यु के पश्चात् मन का उस शरीर से निर्गम, अन्य शरीर में प्रवेश, माता के भोज्य तथा पेय से गर्भस्थ शिशु के सम्बन्ध (पुष्टि आदि), कलल, अर्बुदादि गर्भावस्थाओं में एक से दूसरे का सम्बन्ध (५।२।१७) को सूत्रकार ने 'अदृष्टकारित' कहा है। इन कार्यों को धर्म अथवा अधर्म कारित नहीं कहा गया है। सूची का अभिसर्पण वाक्य से अयस्कान्त (चुम्बक लौह) के प्रति सामान्य लौह का गमन को समझाया गया

---

१. अन्यथा वेगादिसाधारणसंस्कारत्वजातिरपि न सिध्येत्। नहि तत्र कार्याद्यनुगमो व्यवस्थापकः किन्तु लक्षणमेव। वस्तुतस्तु भोगत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतयापि तत् सिद्धिः। तस्माददृष्टत्वजातित्वे किं बाधकमिति। प्रकाशविवृति, पृ० ११९

२. तत्रानुगतस्याऽदृष्टत्वस्य मिथ्याज्ञानवासनादिजन्यतावच्छेदकतया सिद्धस्य सत्त्वेऽपि.....। सूक्ति पृ० ४७

३. संस्कारत्वजातिमान् स्वोत्पत्त्यवस्थापादको गुणः संस्कारः। सप्तपदार्थी पृ० ४६

संस्कारो हि......स्वोत्पत्तिसमयावस्थां द्रव्यस्य प्रतिपादयति। तत्र वेगश्चलनावस्थां भावना ज्ञानवत्त्वावस्थां (ज्ञानावस्थामिति वा पाठः) स्थितिस्थापको वेष्टनाद्यवस्थां प्रतिपादयतीत्यर्थः। सप्तपदार्थी टी० मितभाषिणी, पृ० ४९

है। फलतः सूत्रकार के अदृष्ट शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है कि उन्होंने न-दृष्ट (=ज्ञात) इस अर्थ में अज्ञात कारणों को ही अदृष्ट शब्द से समझाने की चेष्टा की है।

सम्भवतः सूत्रकार की इन उक्तियों को 'दुरुक्ति' समझकर प्रशस्तपाद अथवा उनके पूर्वाचार्यों ने 'अभ्युयगम' के बल पर संग्राह्य गुणों की गणना में धर्म तथा अधर्म के जगह अदृष्ट शब्द को ही चुना। इस प्रकार चुनने में उन्हें सूत्रकार के एक प्रयोग[1] (वर्त्तमान उपलब्ध सूत्रों में) का बल भी प्राप्त हुआ है। इस सूत्र में सूत्रकार ने धर्मोत्पत्ति के कारण बताते हुए 'अदृष्ट' शब्द को ही धर्म अर्थ में प्रयोग किया है। कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न वस्तु मात्र ही किसी न किसी प्रकार से जीवों का सुख अथवा दुःखजनक होता है। अतः जिन सूत्रों में ऋषि ने कुछ वस्तुओं को अदृष्टकारित कहा है वे भी फलतः जीवों के सुख अथवा दुःख जनक होने से धर्म अथवा अधर्म जन्य हीं हैं। इसी सिद्धान्त को दृष्टिगत रखकर धर्म तथा अधर्म शब्द के स्थान पर अदृष्टशब्द को रखा गया होगा। यदि हमारा विचार ग्रहण योग्य है तब गुणों का विभाग अदृष्टशब्द से ही करना उचित है। गुणों का 'चतुर्विंशतित्व' के जगह 'त्रयोविंशतित्व' स्वीकार करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। इससे अदृष्टत्व जातिद्वारा धर्म तथा अधर्म का संग्रह होने से सर्वत्र सामञ्जस्य भी हो जाता है। गुणों के चतुर्विंशतित्व केवल प्रशस्तपाद के वाक्य से ही घोषित है। सूत्रकार का कोई निर्देश नहीं है।

[यहाँ प्रसङ्गवश अदृष्टत्व जाति के विषय में कुछ विचार किया जाता है कारणतावच्छेदक अथवा कार्यतावच्छेदक होने के कारण ही जाति सिद्ध होती है यह अस्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है। क्योंकि अन्य प्रकार से भी जाति की सिद्धि हो सकती है। वै० सिद्धान्त में मनस्त्व को जाति स्वीकार किया गया है। परन्तु किसी के कारणतावच्छेदक धर्म के रूप से मनस्त्व जाति सिद्ध नहीं होती है। और सत्ता जाति द्रव्य, गुण, कर्म आदि नानाप्रकार कार्य का उत्पादक होने पर भी उनमें कोई अनुगत कार्यता न रहने से उस कार्यतानिरूपित कारणतावच्छेदक के रूप से सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। तथापि शास्त्र में मनस्त्व तथा सत्ता दोनों को जातिरूप से स्वीकार किया गया है।[2]

समाधान में कहा जा सकता है कि पूर्वपक्षी के दोनों दृष्टान्त समीचीन नहीं है। क्योंकि कार्यतावच्छेदक के रूप से मनस्त्व जाति सिद्ध होती है यह हमारा अभिप्राय नहीं

---

१. अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय। वै० सू० ६।२।२

२. ननु व्यवस्थापकं किं कारणमेकजातीयं तादृशं कार्यं वा। नाद्यः मनःस्वेतदभावात्। नान्त्यः सत्तादौ तदभावात्। प्रकाश, पृ० ११६

है। कारणतावच्छेदक के रूप में मनस्त्व जाति की सिद्धि होती है। अर्थात् जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदक धर्म के रूप से ही मनस्त्वजाति सिद्ध होती है। सत्ताजाति प्रत्यक्षसिद्ध होने से तदर्थ अनुमान की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य, गुण, कर्म 'सत्' रूप से ही गृहीत होते हैं। इसी कारण सत्ताजाति प्रत्यक्षसिद्ध ही है। उसमें अनुमान की आवश्यकता ही नहीं हैं। परन्तु अदृष्टत्व प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध नहीं होता है। इसी कारण धर्माधर्मसाधारण अदृष्टत्वरूप जाति स्वीकृत नहीं हो सकती है।

यह भी शङ्का हो सकती है कि अदृष्टत्व के जाति न होने पर भी धर्माधर्मसाधारण अदृष्टत्व को एक अनुगतधर्म तो कहा जा सकता है। अतीन्द्रियात्मविशेषगुणमात्रवृत्ति गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजतिमत्त्व ही वह धर्माधर्मसाधारण अदृष्टत्व होगा।[1] परन्तु यह निर्वचन निर्दोष नहीं है। अदृष्टत्व का उल्लिखित प्रकार निर्वचन करने वाले साक्षाद्व्याप्य शब्द से तद्व्याप्यव्याप्य न होते हुए जो तद्व्याप्य हो उसीको साक्षाद्व्याप्य कहे जाने के कारण कृष्णत्व, शुक्लत्व, तिक्तत्व, मधुरत्व आदि गुणत्व के व्याप्यव्याप्य जातियों में उक्तलक्षण की अतिव्याप्तिवारण के लिए गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति का ग्रहण किए हैं। तथा गुणत्वसाक्षाद्व्याप्य रूपत्व, रसत्वादि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्तिवारण के लिए अतीन्द्रियात्मविशेषगुणमात्रवृत्तिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व का ग्रहण किए हैं। लक्षण में इस विशेषण के रहने के कारण रूपत्व, रसत्व, आदि में लक्षण अतिव्याप्त न होगा। क्योंकि रूपत्वादि गुणत्वसाक्षाद्व्याप्य होने पर भी अतीन्द्रियात्माविशेषगुणमात्रवृत्ति नहीं हैं। इस प्रकार से लक्षण निर्दोष हुआ। परन्तु अतीन्द्रियात्मविशेषगुणमात्रवृत्तिगणत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति के रूप में हमें धर्मत्व, अधर्मत्व रूप दो जाति प्राप्त होती है। इनमें धर्मत्व धर्म में, अधर्मत्व अधर्म में रहने के कारण धर्म तथा अधर्म का संग्रह हो सकेगा। इसी कारण लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं होगी। संस्कारत्व के वेग, स्थितिस्थापक तथा भावना में रहने के कारण आत्मविशेषगुणमात्रवृत्तिता न रहने से भावनाख्यसंस्कार में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी।

परन्तु उससे भी पूर्वपक्षी का अभिप्राय सिद्ध न होगा। क्योंकि अदृष्टत्व जाति है कि नहीं यही विचार का विषय है। अदृष्टत्व जाति पहले सिद्ध न रहने के कारण उसी को सिद्ध करना होगा। उल्लिखित लक्षण के द्वारा हमें धर्मत्व तथा अधर्मत्व का लाभ होता है परन्तु धर्माधर्मसाधारण अदृष्टत्व का लाभ नहीं हुआ है। इसी कारण ग्रन्थकार का कहना है कि अदृष्टत्व जाति की सिद्धि के लिए उसे कारणतावच्छेदक के रूप में ही सिद्ध करना होगा। पहले ही प्रदर्शन किया गया है कि कारणतावच्छेदक या कार्यतावच्छेदक के रूप में धर्माधर्मसाधारण अदृष्टत्वजाति की सिद्धि सम्भव नहीं है।]

---

१. प्रकाश, पृ० ११६

गुणों के चतुर्विंशतित्व भी संख्या होगा। परन्तु गुणों में गुण नहीं होते हैं। अतः गुणों को चतुर्विंशति प्रकार कहना कैसे सम्भव होगा इस प्रश्न पर कहना है कि यह चतुर्विंशतित्व आदि धर्म दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के धर्म पदार्थ के रूप में संख्या है जो अपेक्षाबुद्धि का कार्य है। दूसरे प्रकार के धर्म पदार्थ के रूप में संख्या नहीं परन्तु अपेक्षाबुद्धिविशेष के विषयत्वरूप है। यह अपेक्षाबुद्धि के कार्य नहीं है। इसलिए नाम एक होने पर भी पदार्थ के रूप में चतुर्विंशतित्व आदि धर्म भिन्न भिन्न होंगे। द्वितीय प्रकार के चतुर्विंशतित्व रूप धर्म अर्थात् अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व गुण में भी हो सकते हैं। क्योंकि गुण भी अपेक्षाबुद्धि का विषय होता है। अतः गुणपदार्थों को चतुर्विंशति प्रकार कहने में बाधा नहीं है।

कर्माणि विभजते उत्क्षेपणेति[1]। तत्रापि पञ्चैवेति स्पष्टार्थं विभागवचनादेव पञ्चत्वसिद्धेः। आधिक्यमाशङ्क्याह गमनग्रहणादिति[2]। कर्मपदार्थे चैतद् व्युत्पादनीयम्।

["उत्क्षेपण" इत्यादि ग्रन्थ से कर्म का विभाग किया गया है। सूत्र में 'पञ्च' पद स्पष्टार्थ है। क्योंकि विभागवाक्य से ही (अर्थतः) पञ्चत्व सिद्ध हो गया है। आधिक्य की आशङ्का से (अर्थात् कर्मों की संख्या पाँच से अधिक होना सम्भव है कि नहीं इस आशङ्का के उत्तर में) "गमन ग्रहणात्" इत्यादि ग्रन्थ की अवतारणा की गई है। (अर्थात् अन्यान्य कर्म गमन में अन्तर्भुक्त होंगे। अतः आधिक्य की शङ्का का कोई हेतु नहीं है)। कर्मपदार्थ की आलोचना के अवसर में इन बातों का उपपादन किया जाएगा (अर्थात् अन्यान्य कर्मों का गमन में अन्तर्भाव प्रतिपादित होगा)।]

ग्रन्थकारने कर्म का सामान्य लक्षण बिना कहे उसका विभाग किया है। साधारणतया सामान्यलक्षण के पश्चात् विभाग किया जाता है। इसलिए सामान्यलक्षण वर्णित न होने से ग्रन्थकार की न्यूनता की आशङ्का हो सकती है। परन्तु उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि पञ्चविध कर्मसाधारण प्रत्यक्षसिद्ध कर्मत्वजाति ही कर्म का सामान्यलक्षण होगा। प्रत्यक्ष-सिद्ध होने से उस जाति का वर्णन अपेक्षित नहीं है तथा वह जाति सर्ववादिसम्मत है। इसी कारण ग्रन्थकार कर्म के सामान्यलक्षण का वर्णन करने की आवश्यकता अनुभव नहीं किये हैं।

---

१. उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चैव कर्माणि। प्रशस्त पा. पृ. ३–४

२. गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्यक्पतननमनोन्नमनादयो गमनविशेषा एव न तु जात्यन्तराणि। प्रशस्त पा. पृ० ४

उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन कर्म का यही पाँच विभाग है। ऊर्ध्वदेशसंयोगानुकूल व्यापार को उत्क्षेपण, अधोदेशसंयोगानुकूल व्यापार को अवक्षेपण, स्वीयशरीर के सन्निकृष्टदेश में संयोग के अनुकूल व्यापार को आकुञ्चन, स्वीयशरीर के विप्रकृष्टदेश के साथ संयोगानुकूल व्यापार को प्रसारण तथा इससे भिन्न अन्य उत्तर देश के साथ संयोग के अनुकूल व्यापार को गमन कहा जाता है। उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व, आकुञ्चनत्व, प्रसारणत्व तथा गमनत्व यह पाँच प्रयक्षसिद्ध कर्मत्व का व्याप्य जाति हैं। यह उत्क्षेपणत्व आदि जाति ही विभक्त कर्मों के लक्षण है। उर्ध्वदेशसंयोगानुकूलव्यापारत्व आदि उनके परिचायक हैं। कर्म ग्रन्थ में इन विषयों की विस्तृत आलोचना होगी।

सामान्यं विभजते सामान्यमिति[1]। समानानां भावः स्वाभाविको नागन्तुको धर्मः सामान्यमित्यर्थः। तथाच धर्मणां बहुत्वे धर्मस्य च अनागन्तुकत्वे विवक्षिते नित्यमेकमनेकवृत्ति सामान्यमिति सामान्यलक्षणं सूचितं भवति।

["सामान्य" इत्यादि ग्रन्थ द्वारा सामान्य अथवा जाति का विभाग किया गया है। जो समान (अर्थात् तुल्य) उनके भाव अर्थात् स्वाभाविक अर्थात् अनागन्तुक धर्म ही सामान्य पद का अर्थ है। अतः धर्मी अनेक होनेपर (अर्थात् 'समानानाम्' इस बहुवचनान्त प्रयोग से आश्रयीभूत धर्मी का बहुत्व विवक्षित होने से) तथा धर्म के एकत्व और अनागन्तुकत्व विवक्षित होने से (फलतः) नित्यत्व, एकत्व तथा अनेकवृत्तित्व ही (अर्थात् नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व ही) सामान्य का लक्षण सूचित हुआ है।]

'समानानां भावः' इस भावपद का अर्थ वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने प्रथम स्वाभाविक धर्म को ही भाव कहा है। स्वाभाविक शब्द की व्युत्पत्ति स्वभावजन्य तथा स्वभाव में आश्रित यह दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम प्रकार व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर जाति में यह अर्थ सिद्ध न होगा। न्यायवैशेषिक मत में सामान्य या जाति नित्य है। अतः जाति को स्वभावजन्यरूप स्वाभाविक कहा नहीं जा सकता है। द्वितीय व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर उपाधियों की व्यावृत्ति नहीं होती है। क्योंकि वे भी किसी न किसी प्रकार से स्वभाव में आश्रित होते हैं। इसी कारण द्वितीय प्रकार से व्याख्या में अनागन्तुक धर्म को भाव कहा गया है। जो साक्षात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध हो उसी को अनागन्तुकधर्म समझा जाए। घटत्व पटत्व आदि जातियाँ समवायसम्बन्ध से साक्षात् घट,

---

१. सामान्यं द्विविधं परमपरञ्चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। प्रशस्त पा. पृ० ४

पट आदि व्यक्तिओं में आश्रित होते हैं। इसीलिए घटत्व पटत्व आदि धर्म सामान्य अर्थात् समानों का भाव होगा।[१]

'नित्यमेकमनेकवृत्ति सामान्यम्' इस पंक्ति से ग्रन्थकार सामान्य का लक्षण कहे हैं। इसके अनुसार "नित्यत्वे सति एकत्वे सति अनेकवृत्तित्व" ही सामान्य अर्थात् जाति का लक्षण है। परन्तु इस लक्षण में "एकत्वे सति" अंश की व्यावृत्ति नहीं प्रतीत होती है। अतः उसको परित्याग कर "नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्व" ही सामान्य का लक्षण हो सकता है। उक्त पंक्ति की 'एक' पद को स्वरूप कथन मात्र कहना पड़ेगा। नित्य तथा अनेक वृत्ति धर्म वस्तुतः एक होते हुए बहु अधिकरणों में आश्रित होता है इसी को प्रदर्शित करने के लिये एक पद का प्रयोग किया गया है। यह पद लक्षण का व्यावर्त्तक अंश नहीं है। किसी किसी ने इस 'एक' पद को पश्चादुक्त 'लक्षणम्' पद से अन्वित करते हैं। जिससे 'नित्यमनेकवृत्ति सामान्यमित्येकं लक्षणम्" इस प्रकार से वाक्य की योजना होगी। इस व्याख्या में पूर्वोक्त "नित्यमनेकवृत्ति सामान्यम्" ही सामान्य का लक्षण होता है। इस व्याख्या से यह भी तात्पर्य प्रकट होता है कि सामान्य का अन्य लक्षण भी हो सकता है। जैसा "असमवायित्वे सति अनेक समवेतत्वम्" भी सामान्य का अपरलक्षण हो सकता है। इस लक्षण से यह प्रतीत होता है कि जिसमें अन्य कोई वस्तु समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता परन्तु जो स्वयं अनेक व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहता है वही जाति है।[२]

लक्षण वाक्य के एक पद की व्याख्या करते हुए किसी किसी ने कहा है कि यहाँ एक पद से सामान्य को असहाय कहा गया है। अर्थात् सामान्य निष्प्रतियोगिक है। अभाव तथा समवाय प्रतियोगी के नित्यसम्बन्धी हैं। जाति उस प्रकार नहीं है। अभाव सर्वत्र प्रतियोगी द्वारा विशेषित होकर ही प्रतीत होता है। समवाय भी घट, पट आदि का समवाय के रूप से ही प्रतीत होता है। जाति इस प्रकार अपने आश्रय की सहायता से प्रतीत नहीं होता है। यही समवाय सम्बन्ध तथा अभाव से जाति का वैलक्षण्य है। इस वैलक्षण्य को भी लक्षण वाक्य के एक पद से व्यक्त किया गया है। अतः इस अंश से समवाय तथा अभाव में सामान्य के लक्षण की अतिव्याप्ति दूर हो गयी है।[३]

---

१. समानानां भाव उपाधीरपीत्यत उक्तं स्वाभाविक इति। सोऽपि यदि स्वभावजन्यस्तर्हि असिद्धिः स्वभावाश्रितश्चोपाधिरपि इत्यत उक्तम् अनागन्तुक इति। साक्षात् समवेत इत्यर्थः। प्रकाश पृ० ११६

२. एकमिति स्वरूपाभिधानमात्रं ननु लक्षणमित्येके। एकं लक्षणमिति योज्यम्। लक्षणान्तरं वा। असमवायित्वे सति अनेकसमवेतत्वमित्यन्ये। प्रकाश पृ० १२०

३. अनेकवृत्तित्वम् अनेकाधारत्वं तच्च अभावसमवाययोरप्यस्तीत्यत उक्तमेकमसहायम्। अभावसमवाययोश्च प्रतियोगिसम्बन्धिनौ सहायावित्यपरे। प्रकाश, पृ० १२०

मूल ग्रन्थ के 'नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्व' रूप सामान्य के लक्षण को यथाश्रुत अर्थ में ग्रहण करने से जो स्वयं नित्य तथा अनेक में आश्रित हो उसी को सामान्य समझना पड़ेगा। इस स्थिति में अत्यन्ताभाव अथवा समवाय भी नित्य तथा अनेकाश्रित होने से सामान्य के लक्षण की अतिव्याप्ति अत्यन्ताभाव तथा समवाय में होगी। इसलिए 'वृत्ति' पद का "समवाय सम्बन्ध से आश्रित" यह अर्थ ही करना पड़ेगा। इससे "नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्व" ही सामान्य का लक्षण होगा। अत्यन्ताभाव अथवा समवाय में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि अभाव अथवा समवाय कहीं भी समवाय सम्बन्ध से आश्रित नहीं होते हैं। वे अपने आश्रय में स्वरूपसम्बन्ध से ही रहते हैं। 'नित्यत्वे सति' यह अंश लक्षण में रहने के कारण 'बहुत्व' आदि संख्याओं में सामान्यलक्षण की अतिव्याप्ति न होगी। वह संख्या बहु आश्रय में समवायसम्बन्ध से रहती है। परन्तु वह नित्य नहीं होते अपेक्षाबुद्धि से वे उत्पन्न होते हैं इससे अतिव्याप्ति नहीं। लक्षण वाक्य में 'अनेक' पद के न रहने से "नित्यत्वे सति समवेतत्व" ही शेष रहता है। इस प्रकार लक्षण होने से विशेष पदार्थ तथा आत्मगत एकत्व संख्याओं में सामान्य का लक्षण अतिव्याप्त होगा। वैशेषिक मत में 'विशेष' पदार्थ को नित्य कहा जाता है तथा वह समवाय सम्बन्ध से अन्त्य तथा नित्य द्रव्यों में रहता है। इससे नित्यत्व तथा समवेतत्व रहने के कारण सामान्य का लक्षण 'विशेष' पदार्थ में अतिव्याप्त होगा। इसी प्रकार आत्मगत एकत्व संख्या भी नित्य तथा आत्मा (प्रत्येक) में समवेत भी है। अतः सामान्य लक्षण उनमें भी अतिव्याप्त होगा। "अनेक समवेतत्व" पद के कारण ही यह अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि विशेष तथा आत्मगत एकत्व संख्या नित्य होने पर भी अनेक में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते हैं। विशेष तथा नित्य एकत्व एक से अधिक आश्रय में समवेत नहीं होते हैं।

किसी किसी ने "अनेक वृत्तित्व" को "स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्य" रूप कहा है।[1] सामान्य व्यक्ति में आश्रित है। व्यक्तियों में परस्पर का भेद या अन्योन्याभाव रहता है। एक घट व्यक्ति का अन्योन्याभाव अन्य घट व्यक्ति में रहता है। अतः उभय घट व्यक्ति में घटत्व के रहने से वह अपने आश्रय के भेद के साथ समानाधिकरण होता है।

तद्द्विविधम्। द्वैविध्यं[2] दर्शयति परमपरञ्च। एकव्यक्तिसमावेशे सतीति चकारार्थः।

[वह (अर्थात् सामान्य) दो प्रकार है। "परमपरञ्च" (प्र० पा० पृ० ४) ग्रन्थ द्वारा वह द्वैविध्य प्रदर्शित हुआ है। ('परमपरञ्च' यहाँ 'च' कारद्वारा यह

१. प्रकाश, पृ० ११०

२. द्विविधे दर्शयति (पाठान्तर)

कहा गया है कि एक व्यक्ति में दो जाति समाविष्ट (अर्थात् समानधिकरण) होने पर एक 'पर' तथा दूसरी 'अपर' होती है।]

जातियों का परत्वापरत्व आपेक्षिक है। अर्थात् जाति होने पर ही वह अन्य जातियों के लिए पर या अपर हो यह स्थिति नहीं है। परन्तु वह जाति किसी जातिविशेष का ही पर अथवा अपर होगा। घटत्व तथा पटत्व दोनों जाति होने पर भी उनमें परापरभाव नहीं है। घटत्वजाति पटत्वजाति का पर या अपर नहीं है। जातिद्वय परस्पर विरुद्ध होने से उनमें परापरभाव नहीं रहता है। जब दो जाति समानाधिकरण हों तब उनमें परापरभाव रहता है। द्रव्यत्व से घटत्व अपर है तथा घटत्व से द्रव्यत्व पर है। इससे स्पष्ट है कि जातिद्वय का एकत्र समावेश अर्थात् सामानाधिकरण्य रहने पर उनमें परापरभाव होता है अन्यथा नहीं।

इस विभाग की व्याख्या में प्रकाशकार कहे हैं कि जाति द्विविध है, समानाधिकरण तथा असमानाधिकरण। जाति का यह प्राथमिक विभाग है। समानाधिकरण जातियाँ पुनः द्विविध हैं—पर तथा अपर। यह विभक्त का विभाग है। समानाधिकरण जातियों को द्विविध कहने के लिए ही मूल ग्रन्थ में 'च' कार का प्रयोग हुआ है।[1]

नैकव्यक्तिकं सामान्यमस्तीत्याकाशादौ वक्ष्यते। नान्यूनानतिरिक्तव्यक्तिकमिति बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमिति पर्यायावस्थितौ[2], न मिथो व्यभिचारीति निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वादौ जातिसङ्करापत्तौ, न सामान्यादिव्यक्तिकमनवस्थानाल्लक्षणव्याघातादसम्बन्धाच्चेति। तस्मात् परस्परपरिहारस्थितिविरुद्धम्। अविरुद्धन्तु परापरभावस्थितीति नियमः। परं व्यापकमपरं व्याप्यमित्यर्थः।

[एकव्यक्तिक अर्थात् एक ही व्यक्ति में आश्रित कोई सामान्य नहीं है, यह आकाशादिनिरूपण में कहा जाएगा। अन्यूनानतिरिक्तव्यक्तिकों (अर्थात् जिनके आश्रयीभूत व्यक्तियों की संख्या न्यून अथवा अतिरिक्त नहीं अर्थात् तुल्य हों) को पृथक् पृथक् सामान्य नहीं कहा जाता है. यह भी बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान आदि शब्दों की पर्यायत्वव्यवस्था के प्रसङ्ग में कहा जाएगा। जो परस्पर व्यभि-

१. यद्वा सामान्यं समाविष्टमसमाविष्टञ्चेत्येको विभागः। समाविष्टमपि परमपरञ्चेति विभक्तविभाग इत्यसमाविष्टजात्यपेक्षया समुच्चयार्थश्चकारः। प्रकाश, पृ० १२०

२. पर्यायस्थितौ; पर्यवस्थितौ (पाठान्तर)

चारी होते हुए समानाधिकरण हों वे भी जाति नहीं, यह निष्कमणत्व, प्रवेशनत्व आदि के जातिसाङ्कर्य के प्रसङ्ग में कहा जाएगा। सामान्यादि व्यक्ति में आश्रित भी सामान्य नहीं (अर्थात् सामान्य का आश्रय सामान्य नहीं होता है), क्योंकि इससे अनवस्थादोष होता है। विशेष में भी सामान्य नहीं रहता है, क्योंकि व्याघात दोष होता है (अर्थात् विशेष का स्वतोव्यावृत्तत्वरूप लक्षण व्याहत हो जाता है)। समवाय अथवा अभाव में भी जाति नहीं रहती है क्योंकि समवाय से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। (यह सब विषय भी आगे विचार किया जाएगा)। अतः परस्पर परिहार तथा परस्पर स्थिति (अर्थात् परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्व विशिष्ट—एकाधिकरणत्व) सामान्य के लिए विरुद्ध होगा। अविरुद्ध (अर्थात् समानाधिकरण) होने पर वे नियमतः परत्वापरत्वविशिष्ट होंगे। जो व्यापक हो उसे पर तथा जो व्याप्य हो उसे अपर कहा जाता है।]

ग्रन्थकार कहें हैं 'नैकव्यक्तिकम्'' अर्थात् एकमात्र व्यक्ति में ही आश्रित धर्म जाति नहीं होता है। घटत्व, पटत्व आदि धर्म, जिनको हम जाति कहते हैं, अपने आश्रय व्यक्तियों के भेद के साथ समानाधिकरण होता है। घटत्व जाति का आश्रय किसी एक घट व्यक्ति का भेद अन्य घट व्यक्तियों में रहता है तथा उन घट व्यक्तियों में घटत्व जाति भी रहती है। इसी प्रकार किसी भी जाति अपने आश्रय के भेद के साथ समानाधिकरण होता है। इससे जातिमात्र में ही स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्य रूप धर्म के रहने से वह जातित्व का व्यापक होता है। एकव्यक्तिमात्रवृत्ति धर्म में जातित्व का व्यापक स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्यरूप धर्म के न रहने के कारण उस धर्म में जातित्व भी न रहेगा। व्यापक के अभाव रहने से व्याप्य का अभाव की सिद्धि सर्ववादिसम्मत है। आकाशत्व एक व्यक्तिमात्र वृत्ति धर्म है। वह अपने आश्रय के भेद के साथ समानाधिकरण नहीं होता है। क्योंकि द्वितीय आकाश व्यक्ति के रहने से ही आकाशत्व अपने आश्रय के भेद के साथ समानाधिकरण हो सकता था। अतः द्वितीय आकाश व्यक्ति के अभाव के कारण आकाशत्व में स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्यरूप जातित्व का व्यापक धर्म के न रहने से उसमें जातित्व भी न रहेगा। अर्थात् "आकाशत्वं यदि जातिः स्यात् स्वाश्रयभेदसमानाधिकरणं स्यात्" यह प्रसङ्गनामके तर्क से ही आकाशत्व का जातित्व निषिद्ध होता है।

दो धर्म यदि अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिक हों अर्थात् समान अधिकरण में रहते हों तो वह दो जाति नहीं होगी यही 'नान्यूनानतिरिक्तव्यक्तिकम्' इस ग्रन्थ का अभिप्राय है। जाति रूप से स्वीकृत धर्मों में किसी भी दो जाति के अधिकरण तुल्य नहीं होते हैं अर्थात् एक का अधिकरण दूसरे का अनधिकरण होता है। घटत्व पटत्व आदि विरुद्ध जातिओं का अधिकरणसाम्य नहीं रहता है कहना अनावश्यक है। समानाधिकरण जातिओं का भी आश्रयों का वैषम्य रहता है। सत्ता तथा द्रव्यत्व समानधिकरण जाति हैं उनके अधिकरणों

का वैषम्य भी है। द्रव्यत्व का अनधिकरण गुण तथा कर्म सत्ता के अधिकरण है। अतः जातियों के अधिकरणों के वैषम्य है यह स्वीकार किया जा सकता है। इस स्थिति में स्वभिन्नजातित्व का व्यापक आश्रयवैषम्य होगा। बुद्धित्व, ज्ञानत्व तथा उपलब्धित्व यह धर्म अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिक हैं अर्थात् इनके आश्रय परस्पर के समान है। यह भिन्न भिन्न जातियां नहीं है। क्योंकि भिन्न जातित्व का व्यापक आश्रयवैषम्य इनके नहीं है। अर्थात् 'बुद्धित्वं यदि ज्ञानत्वातिरिक्ता जातिः स्यात् बुद्धित्वव्याप्यत्वे सति व्यापकं न स्यात्' इस प्रकार प्रसङ्गनामक तर्क द्वारा इनके विभिन्न जातित्व निषिद्ध होगा। यहां ज्ञानगत एक जाति की ही बुद्धित्व आदि भिन्न-भिन्न संज्ञा है समझना चाहिए।

साङ्कर्य भी जातिबाधक है। हम पहले कह चुके हैं कि समानाधिकरण दो जातियों में एक दूसरे का व्याप्य होता है। अतः समानाधिकरण जातित्व का व्यापक व्याप्यव्यापक-भाव होता है। द्रव्यत्व तथा सत्ता दोनों समानाधिकरण है तथा द्रव्यत्व जाति सत्ता जाति का व्याप्य है तथा सत्ता द्रव्यत्व का व्यापक है। साङ्कर्य के स्थल में दो धर्म में सामाना-धिकरण्य रहने पर भी व्याप्यव्यापक भाव नहीं रहता है। व्याप्यव्यापकभावरूप व्यापक-धर्म के न रहने से उन धर्मों में जातित्व नहीं होता है। भूतत्व तथा मूर्त्तत्व दो धर्म पृथिवी, जल, तेज तथा वायु में समानाधिकरण है परन्तु आकाश में भूतत्व है मूर्त्तत्व नहीं है। तथा मूर्त्तत्व मन में है भूतत्व नहीं है। फलतः भूतत्व तथा मूर्तत्व परस्पर समाना-धिकरण होने पर भी इनमें परस्पर व्याप्यव्यापकभाव नहीं है। दोनों समानाधिकरण तथा परस्पर का व्यभिचारी भी हैं। परस्परव्यभिचारित्वे सति सामानाधिकरण्य ही साङ्कर्य है। साङ्कर्य के कारण भूतत्व तथा मूर्त्तत्व कोई भी जाति नहीं है। क्योंकि जातित्व का व्यापक परस्पर व्याप्यव्यापकभाव इनमें नहीं है। ग्रन्थ में साङ्कर्य के उदाहरण रूप से निष्क्रमणत्व तथा प्रवेशनत्व यह दो धर्म को लिया गया है। प्रवेशन रूप क्रिया में निष्क्रमणत्व नहीं तथा निष्क्रमण रूप क्रिया में प्रवेशनत्व नहीं है। परन्तु क्रियाविशेष में किसी स्थान की अपेक्षया निष्क्रमणत्व तथा किसी स्थान की अपेक्षया प्रवेशनत्व दोनों रहता है। एक गृह (कमरा) से दूसरे संलग्न गृह (कमरे) में द्वार पथ से गमन करने वाले एक व्यक्ति के गमन रूप क्रिया को दो कमरों में उपस्थित व्यक्तियों में एक कमरे वाले व्यक्ति निष्क्रमण समझते हैं तथा दूसरे कमरे वाले व्यक्ति प्रवेशन समझते है। इस प्रकार से एक ही क्रिया में प्रवेशनत्व तथा निष्क्रमणत्व एक ही काल में प्रतीत होता है। फलतः यह प्रवेशनत्व तथा निष्क्रमणत्व परस्परव्यभिचारित्वे सति सामानाधिकरण्य' रूप साङ्कर्यग्रस्त होने से इनमें किसी को जाति नहीं कही जाती है।

'अनवस्था' को भी ग्रन्थकार जातिबाधक कहते हैं। घटत्व-पटत्वादि जातियों के जातित्वरूप धर्म को जाति कहने से अनवस्था होती है। इसी कारण जाति में आश्रित कोई जाति नहीं होती है। यद्यपि घटत्व, पटत्व आदि जाति में रहने वाला 'जातित्व'

एकमात्र धर्म होने से उस एकमात्र जातित्व में रहने के कारण 'जातित्वत्व' रूप धर्म जाति नहीं हो सकता है। क्योंकि एकमात्रव्यक्तिवृत्ति धर्म जाति नहीं यह पहले ही कहा जा चुका है। इस स्थिति में 'जाति में जाति स्वीकार करने से अनवस्था दोष है' किस प्रकार कहा जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि अनवस्था दोष का स्वरूप को न समझकर यह शङ्का की गई है। अनवस्था निम्नलिखित रूप से होती हैं। घटत्व, पटत्व आदि जातियों में रहने वाला जातित्व रूप धर्म को यदि जाति कहा जाए तो घटत्व पटत्व जैसा जातित्व भी एक जाति हुई। इन घटत्व पटत्व तथा जातित्व रूप जातियों में पुनः अन्य एक 'जातित्व' रूप जाति भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रक्रिया का अन्त न होगा। यही अनवस्था के कारण 'जातित्व' को जाति नहीं स्वीकार किया जाता है।

व्याघात को भी जातिबाधक कहा जाता है। इसी कारण 'विशेष' पदार्थ में रहने वाला 'विशेषत्व' रूप धर्म को जाति नहीं कहा जाता है। क्योंकि 'विशेषत्व' विशेषगत जाति होने पर 'जातिजातिमद्भिन्नत्वे सति समवेतत्व' रूप विशेष का लक्षण विशेष के जातिमान् होने के कारण व्याहत होगा। इसी हेतु विशेष को निःसामान्य अर्थात् जाति हीन कहा गया है। इस प्रकार लक्षणव्याघात को हेतु रूप से उपस्थित करना युक्तिसिद्ध नहीं है। क्योंकि वस्तु के स्वरूप के अनुसार उसके लक्षण बनाये जाते हैं। लक्षण के अनुसार वस्तु का स्वरूप बनता नहीं है। विशेष में जाति न होने पर उसका अन्य प्रकार लक्षण भी बन सकता है। 'गुणक्रियाभिन्नत्वे सति एकव्यक्तिमात्रसमवेतत्व' ही विशेष का लक्षण कहा जा सकता था। उस प्रकार लक्षण होने से विशेष में 'जाति' स्वीकार करने पर भी लक्षण का व्याघात न होता[1]। इसी कारण ग्रन्थ में 'लक्षणव्याघात' पद का स्वरूपव्याघात अर्थ हमने समझा है। लक्षण शब्द 'स्वरूप' अर्थ में भी बहुस्थल में प्रयुक्त होता है। अतः स्वरूप की हानि रूप लक्षणव्याघात के कारण 'विशेषत्व' को जाति नहीं कहा जाता है। 'स्वतो व्यावृत्तत्व' ही विशेष का स्वरूप है। विशेष में जाति स्वीकार करने पर उस विशेषत्व जाति द्वारा ही वह अन्य पदार्थों से व्यावृत्त होगा। जाति समानजातीय वस्तुओं का अनुगमक तथा विजातीय वस्तुओं का व्यावर्तक होता है यह जातिवादियों द्वारा स्वीकृत है। अतः 'स्वतोव्यावृत्तत्व' स्वरूप के व्याघात होने के कारण विशेष में कोई जाति स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थ में 'लक्षणव्याघातात्' कहा गया है।

असम्बन्ध भी जातिबाधक है। प्रतियोगित्व अथवा अनुयोगित्व सम्बन्ध से समवाय का अभाव ही 'असम्बन्ध' है। इस असम्बन्ध के कारण अभावत्व तथा समवायत्व

---

१. ननु वस्त्वनुरोधेन लक्षणं न तु स्वकृतलक्षणानुरोधेन वस्तुव्यवस्थितिः। तथा च गुणादिभिन्नत्वे सति एकमात्रसमवेतत्वमित्याद्यनेकलक्षणसम्भवात् कुतो लक्षणव्याघात इति। प्रकाशविवृत्ति, पृ० १२२

जाति नहीं है। अभाव कहीं भी समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, अथवा अभाव में भी कोई वस्तु समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता इसलिए अभाव समवाय सम्बन्ध का प्रतियोगी अथवा अनुयोगी नहीं है। अतः प्रतियोगित्व अथवा अनुयोगित्व रूप सम्बन्ध से समवाय का अभाव रूप असम्बन्ध अभाव में रहने से अभावत्व जाति नहीं है। तुल्य युक्ति से समवायत्व भी जाति नहीं तथा अन्य कोई जाति भी समवाय में नहीं रहती है।

प्रमाणं सूचयति अनुवृत्तिप्रत्ययकारणमिति। यदि सामान्यं न स्याद् भिन्नेष्वनुगताकारः प्रत्ययो न स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणामपि सामान्यद्वारेणैवानुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात्।

['अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्' इस ग्रन्थ से (प्रशस्त पाद) सामान्य के विषय में प्रमाण की सूचना किये हैं। यदि सामान्य न होता (अर्थात् अस्वीकृत होता) तो विभिन्न व्यक्तियों के विषय में अनुगताकार प्रत्यय सम्भव न होता। द्रव्य, गुण तथा कर्म यह भी सामान्य द्वारा ही (स्थल विशेष में) अनुगताकार प्रतीति के कारण होते हैं।]

घट के विभिन्न व्यक्तियों के विषय में 'यह घट है' इस प्रकार अनुगत प्रतीति हमारी होती है। इसके द्वारा ही सकलघटसाधारण एक घटत्वजाति सिद्ध होती है। क्योंकि यदि उस प्रकार सकलघटसाधारण एक घटत्वजाति न होती तो उक्त अनुगत प्रतीति न होती। स्थल-विशेष में दण्डादि द्रव्य अथवा रूपादि गुणों द्वारा भी सकल दण्डियों के अथवा नीलपीतादि सकल रूपवत् वस्तुओं के विषय में 'दण्डवान्' अथवा 'रूपवान्' इस प्रकार अनुगत प्रतीति होती है। इसलिए 'जाति के न रहने से अनुगतप्रतीति न होती' यह किस प्रकार कहा जाता है। इसके समाधान में कहा जाता है कि उन स्थलों में भी सकलदण्ड-साधारण दण्डत्वजाति अथवा नीलपीतादि साधारण रूपत्वजाति द्वारा यावत् दण्ड तथा यावत् रूप संगृहीत होने के कारण दण्डादि द्रव्य अथवा रूपादिगुण द्वारा वह अनुगतप्रतीति होती है। यह भी द्रष्टव्य है कि 'घटः' इस प्रतीति के स्थल में सामान्य धर्म अर्थात् घटत्वजाति साक्षात् सम्बन्ध से यावत् घटों में रहकर प्रतीति की अनुगताकारता का निर्वाह करती है। और दण्डी आदि प्रतीति स्थलों में दण्डत्वादि सामान्यधर्म साक्षात् सम्बन्ध से पुरुष में रहकर प्रतीति के अनुगम न करने पर भी विशेषणीभूत दण्ड आदि को एकत्रित कर अनुगतप्रतीति का निर्वाह करता है। इस कारण से जाति ही साक्षात् अथवा परम्परा से अनुगताकार प्रतीति का व्यवस्थापक होती है।[1]

१. तत्रापि परस्परासम्बद्धसामान्येनैवानुगतप्रत्ययात्। प्रकाश पृ० १२३

परमुदाहरति 'तत्र परं सत्ते'ति'। सत्तासामान्यं परमिति व्यवहर्त्तव्यम्। कुतः? महाविषयत्वात्, द्रव्यत्वादितोऽधिकविषयत्वात्। एवमन्यत्रापि। यद् यदपेक्षयाधिकविषयं[2] तत् तदपेक्षया परमिति व्यवहर्त्तव्यं यथा सत्तेत्यर्थः। सा च सत्ता सामान्यमेव, न तु द्रव्यत्वादिवद् विशेषोऽपि। कुतः? 'अनुवृत्तेरेवे'ति।

["तत्र परं सत्ता" इत्यादि ग्रन्थ द्वारा (प्रशस्तपाद) परसामान्य का उदाहरण उपस्थित किये हैं। सत्तारूप सामान्य 'पर' शब्द द्वारा व्यवहृत होगा। क्योंकि वह महाविषय (अर्थात् द्रव्यत्व आदि (सामान्य) से (सत्ता का) आश्रय अधिक) है। अन्य स्थलों में भी इसी प्रकार (परापर भाव) समझना होगा। जो (अर्थात् सामान्य) जिस (सामान्य) की अपेक्षया अधिक विषय (अर्थात् जिसका आश्रय की संख्या अधिक हो उसमें तदपेक्षया परत्व का व्यवहार होगा, जिस प्रकार से सत्ता 'पर' व्यवहार का विषय हुआ है यही भावार्थ है। वह (अर्थात् सत्ता) सामान्य ही है, द्रव्यत्व आदि के तुल्य वह विशेष नहीं होगा। क्योंकि उससे अनुवृत्ति ही होती है (व्यावृत्ति नहीं होती)।]

उदयन ने कहा है कि मूल ग्रन्थ के 'पर' पद, परपद द्वारा व्यवहार करना उचित है इस अर्थ में प्रयुक्त है। क्यों सत्ता पर पद द्वारा व्यवहृत होगी इसके उत्तर में 'महाविषयत्व' अर्थात् अधिकस्थानवृत्तित्व को उसका हेतु कहा गया है। इससे उक्त ग्रन्थ का अर्थ 'सत्ता सामान्य पर पद द्वारा व्यवहृत होगा क्योंकि वह अन्य सामान्यों से अधिक स्थान में व्याप्त है' होगा।

इससे यह शङ्का होगी कि उक्त पद से सरलता से जो अर्थ अर्थात् 'अधिक स्थान वृत्तित्व' प्राप्त हो सकता है उसको परित्याग कर पूर्वोक्त अर्थ का ग्रहण आचार्य ने क्यों किया? इसके उत्तर में आचार्य का वक्तव्य है कि प्रस्तुत मूल के 'पर' पद को 'अधिकदेश वृत्तित्व' रूप अर्थ में ग्रहण करने से आगे कहा गया 'महाविषयत्वात्' यह हेतुवाक्य के साथ एकवाक्यता करने पर निम्नोक्त अर्थ प्राप्त होगा—सत्ता सामान्य पर अर्थात् अधिकदेशवृत्ति है क्योंकि उसमें 'महाविषयत्व' अर्थात् अधिकस्थानवृत्तित्व है। इस स्थिति में हेतु तथा साध्य अभिन्न हो जाता है। अभिन्न स्तुओं में हेतुमाध्यभाव नहीं होता। इसी कारण से ग्रन्थकार मूल ग्रन्थ के 'पर' पद का सरल अर्थको स्वीकार नहीं किए हैं। उनके द्वारा

---

१ तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्। सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। प्रशस्त पा० पृ० ४

२. यदल्पापेक्षयाधिकविषयम् (पाठान्तर)।

स्वीकृत उस वाक्य का निम्नलिखित अर्थ होता है--सत्ता सामान्य 'पर' पद द्वारा व्यवहर्त्तव्य है क्योंकि उसमें अधिकस्थानवृत्तित्व है । इस प्रयोग में पर-पद-व्यवहर्त्तव्यत्व के साध्य तथा अधिकस्थानवृत्तित्व के हेतु होने से पहले के तुल्य हेतु तथा साध्य का अभेद न रहा। अतः आचार्य पर पद का सरल अर्थ को त्याग कर पूर्वोक्त अर्थ किए हैं।

'महाविषयत्व' हेतु द्वारा सत्ता का परत्व प्रतिपादन करने के अनन्तर ही आचार्य 'एवमन्यत्रापि' कहे हैं अर्थात् अन्य स्थलों में भी इसी प्रकार होगा। इसके पश्चात् 'यद् यदपेक्षया' आदि ग्रन्थ से एक सामान्य नियम भी उपस्थित किया गया है जिसमें सत्ता को दृष्टान्त रखा गया है। यहां भी प्रश्न होता है कि 'एवमन्यत्रापि' कहकर अनन्तर ही किस प्रसङ्ग में वह उस विषय का उल्लेख किए हैं। इसके उत्तर में आचार्य का गूढ़ अभिप्राय निम्नलिखित रूप से वर्णन किया जा सकता है।

मूलकारने प्रथमतः सत्ता-सामान्य की पारिभाषिक संज्ञा 'पर' तथा उस परिभाषा के कारण रूप से महाविषयत्व का उल्लेख किया है। परिभाषा के विषय में प्रत्येक ग्रन्थकार की स्वतन्त्रता होती है। अपने इच्छानुसार कारण प्रदर्शन करते हुए वे परिभाषा कर सकते हैं। उसी रीति के अनुसार मूलकार प्रथमतः सत्ता की पारिभाषिक संज्ञा करने के पश्चात् उसका कारण का उल्लेख करने पर भी उसके उपयोगी कोई नियम अथवा दृष्टान्त का उपन्यास नहीं किया है।

परन्तु किसी परिभाषा का अन्यत्र प्रयोग किस हेतु किया जा सकता है यह ज्ञात होने के लिए उस परिभाषा प्रयोग का नियम तथा दृष्टान्त अपेक्षित होता है। तदर्थ आचार्य द्रव्यत्व आदि अन्य सामान्यों में इस परिभाषा के प्रयोग के नियामक व्याप्ति तथा तत्साधक दृष्टान्त का उल्लेख किये हैं—(१) जो जिसकी अपेक्षा अधिकदेशवृत्ति हो वह उसकी अपेक्षा में 'पर' पद द्वारा परिभाषित होगा-यह नियम है, तथा पूर्वोक्त सत्ता जाति इसका दृष्टान्त है। क्योंकि मूलकार पहले महाविषयत्व-हेतु सत्ता को 'पर' पद के द्वारा परिभाषित किए हैं। मूलकार का यह अभिप्राय आचार्य की व्याख्यानुसार प्राप्त होता है।

ननु सामान्यादिभ्यो व्यावर्त्तमाना सत्ता यदि स्वाश्रयं ततो न व्यावर्त्तयेद् द्रव्यत्वादिकमपि न व्यावर्त्तयेद् अविशेषात्। न, सत्ताया व्यक्तिमात्रव्यङ्ग्यतया व्यञ्जकनियमाभावात्। बाधकात्तु सामान्यादौ तत्त्यागः। सामान्यान्तरस्य हि संस्थान-गुण-कार्य-कारणादिव्यङ्ग्यतया तेषाञ्च नियतत्वान्न सर्वत्राभिव्यक्तिः।

[यदि यह शङ्का हो कि, सत्ता सामान्य, विशेष तथा समवाय (यह तीन पदार्थ) में न रहने के कारण अपने आश्रयीभूत पदार्थों (अर्थात् द्रव्य, गुण तथा

कर्म यह त्रिविध पदार्थों) को उन (अर्थात् सामान्यादि तीन) से व्यावर्तित न करे (तब) द्रव्यत्व आदि (सामान्य) भी (अनुवृत्ति स्वभाव ही होगा) व्यावर्त्तक नहीं होगा; क्योंकि (सत्ता तथा द्रव्यत्व आदि में) कोई वैलक्षण्य नहीं है (दोनों अनुवृत्त तथा व्यावृत्त स्वभाव हैं)। उत्तर में कहा जाता है कि, (उक्त शङ्का यथार्थ) नहीं। सत्ता के व्यक्तिमात्र द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण (सत्ता की अभिव्यक्ति में) व्यञ्जक का (कोई नियम नहीं है। (सत्ता प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी) बाधक के रहने से सामान्य आदि (सामान्य विशेष तथा समवाय यह तीन पदार्थ) से वह परित्यक्त हुआ है। अन्य (अर्थात् सत्ता भिन्न) सामान्य संस्थान, गुण, कार्यकारणभाव आदि से अभिव्यक्त होता है तथा अभिव्यञ्जकों (अर्थात संस्थान आदि) के नियम के कारण (द्रव्यत्वादि सामान्य) सर्वत्र (अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति में) अभिव्यक्त नहीं होता है।]

तर्हि वस्तुस्वरूपमेव सत्तास्तु। न च गोत्वाद्यभावेऽपि यदि गौरितिप्रत्ययानुवृत्तिः स्वरूपतः स्यात्, तदा अश्वादावपि स्याद् इत्यनिष्टापत्तिरिति वाच्यम्। तदनुवृत्तेस्तदभावेऽपि इष्टत्वादिति।

[सत्ता यदि व्यक्तिमात्र द्वारा अभिव्यक्त हो) तब सत्ता वस्तुस्वरूप ही
हो (अर्थात् वस्तु से भिन्न तथा वस्तु में आश्रित सत्तारूप जाति अथवा उपाधि
स्वीकार करने को आवश्यकता नहीं है)। गोत्वादि के अभाव में भी यदि 'गौः'
इस प्रकार अनुवृत्तप्रतीति वस्तु के स्वरूप के कारण होता हो तो अश्व आदि में
भी वैसी अनुवृत्तप्रतीति हो सकती थी, तुल्यरूप से यदि सत्ता के अभाव में भी
'सत्' 'सत्' इत्याकार अनुवृत्त प्रतीति वस्तु के स्वरूपवश ही होने लगे तो सर्वत्र
ही वह प्रतीति हो सकती है इस प्रकार अनिष्टजनक आपत्ति हो सकती है, यह
नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जहां सत्ता का अभाव है ऐसे सामान्यादि में भी
'सत्' इत्याकार अनुवृत्तप्रत्यय इष्ट (अर्थात् होता है।]

'तर्हि वस्तु स्वरूपमेव सत्ता' इस ग्रन्थ से यह शङ्का की गई है कि सत्ता कोई अनुगत जाति अथवा उपाधि नहीं है। वस्तु अपने स्वरूप अथवा स्वभाव के कारण समान रूप से 'सत्' रूप से प्रतीत होता है। अतः इस अनुगतप्रतीति के लिए सत्ता नाम का कोई अनुगत धर्म स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

इस शङ्का के समाधान में कोई कोई कहते हैं कि गोत्वादि जातियों को अस्वीकार कर यदि वस्तुस्वरूप को हो यह गौ है' इस प्रकार अनुगतप्रतीति का निर्वाहक कहा जाएगा तो गोत्वजाति जहां नहीं ऐसे अश्व आदि में भी उक्त प्रतीति की अनुवृत्ति हो सकती है। क्योंकि अश्व का भी अपना स्वरूप है। गोत्व के अनाश्रय अश्व आदि में 'यह

गो है' प्रतीति की अनुवृत्ति नहीं देखी जाती है। इसी कारण गोत्वजाति स्वीकार करने की आवश्यकता है। तुल्ययुक्ति से सत्ता जातिको अस्वीकार कर वस्तुओं के स्वभाववश ही सत् प्रतीति की अनुवृत्ति होती है मान लिया जाए तो सर्वत्र वस्तुमात्र में 'सत्' इस प्रकार अनुगतप्रतीति की आपत्ति दुर्निवार होती है। सत् प्रत्ययानुवृत्ति के हेतु अर्थात् वस्तु का स्वभाव अथवा स्वरूप वस्तुमात्र में ही वर्त्तमान है। वस्तुतः वस्तुमात्र में सत् प्रतीति नहीं होती है। अतः उक्त प्रत्ययानुवृत्ति के नियामकरूप से गोत्व के तुल्य सत्ता जाति को स्वीकार करना आवश्यक है। अतः सत्तारूप अनुगत धर्म न रहने पर भी वस्तुओं के स्वभाववश ही 'सत्' इस प्रकार अनुगतप्रतीति होती रहती है यह कहा नहीं जा सकता है।

यह समाधान हम युक्तियुक्त नहीं समझते हैं। क्योंकि उल्लिखित दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में तुल्यता नहीं है। 'गो' यह प्रतीति वस्तुमात्र में अनुवृत्त नहीं होती है; परन्तु 'सत्' यह प्रतीति वस्तुमात्र में ही अनुवृत्त होती है। अतः गोत्व जाति को स्वीकार न कर वस्तु के स्वरूपमात्र के बल पर 'गो' यह प्रतीति का अनुगम स्वीकार कर सर्वत्र 'गो' यह प्रतीति होने की आपत्ति अनभिप्रेत है। सत्ता जाति का अस्वीकार करने से सर्वत्र 'सत्' यह प्रत्यय की अनुवृत्ति पूर्वपक्षी का अनभिप्रेत नहीं है। वह वस्तुमात्र में ही 'सत्' इस प्रकार प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है स्वीकार करते हैं। अतः उत्तर में उत्थापित आपत्ति यथार्थ नहीं है।

न। प्रत्ययानुवृत्तेर्निमित्तमन्तरेणानुपपत्तेः। न च विशेषा एव तन्निमित्तं लक्षणमात्रं वा; सामान्यमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। न हि विशेषान् लक्षणं वा विहाय क्वचित्—सामान्याभिव्यक्तिरस्ति।

[नहीं (अर्थात् पूर्वपक्ष की युक्ति विचारसह नहीं है)। क्योंकि निमित्त के विना प्रत्यय की अनुवृत्ति नहीं हो सकती है। विशेष अथवा लक्षण भी प्रत्ययानुवृत्ति का निमित्त हो नहीं सकता है। क्योंकि उस स्थिति में सामान्यमात्र का ही उच्छेद की आपत्ति होगी। सामान्य की अभिव्यक्ति का इस प्रकार कोई स्थल नहीं जहां कोई विशेष अथवा कोई लक्षण न रहेगा।]

पूर्वपक्षी क वस्तु के स्वरूपवश ही 'सत्' यह अनुगत प्रतीत की उपपत्ति हो सकती है तदर्थ सत्ता जाति स्वीकार अनावश्यक है इस आपत्ति के उत्तर में ग्रन्थकार 'न, प्रत्ययानुवृत्तेर्निमित्तमन्तरेणानुपपत्तेः' आदि कहे हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु के स्वरूप द्वारा किसी प्रतीति का अनुगम सम्भव नहीं होता है। भिन्न भिन्न व्यक्ति का स्वरूप भी भिन्न भिन्न ही है। इस कारण किसी एक वस्तु का स्वरूप अन्यवस्तु में नहीं होता है। इसी कारण प्रतिव्यक्ति के भिन्न भिन्न स्वरूप किस प्रकार से अनुगत प्रतीति का नियामक होगा।

वह नियामक सर्व-व्यक्ति-साधारण होना आवश्यक है। इस स्थिति में 'सत्' इस प्रकार प्रतीति की वस्तुमात्र में अनुगति के नियामकरूप से सत्ता जाति अवश्य ही सिद्ध होता है। वह जाति साक्षात् अथवा परम्परया भावपदार्थमात्र में वर्त्तमान है। अतः वह 'सत्' इस प्रकार प्रतीति के अनुगम का नियामक हो सकेगा। यही ग्रन्थ का तात्पर्य है। ग्रन्थ का आक्षरिक अर्थ स्वीकार करने पर—'प्रत्ययानुवृत्ति कारण के बिना नहीं हो सकती है' यही वक्तव्य होने से पूर्वपक्ष का निरास नहीं सम्भव होगा। क्योंकि पूर्वपक्षी 'सत्' इस प्रकार प्रतीति की अनुवृत्ति बिना कारण का होता है यह नहीं कहते हैं। वह वस्तुस्वरूप को उक्त अनुवृत्त प्रतीति का कारण कहे हैं।

यदि यह शङ्का हो कि—प्रत्यय के अनुगमक धर्म न होने से प्रत्ययानुगम सम्भव नहीं होता है स्वीकृत होने पर भी उसके फलस्वरूप सत्ता जाति सिद्ध नहीं होती है। सत्ता जाति के बिना भी द्रव्यत्व आदि सामान्य-विशेषों अथवा द्रव्यत्व आदि के अभिव्यञ्जक लक्षणों के द्वारा 'सत्' इस प्रतीति का अनुगम यदि हो सके तब उस अनुगतप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति के कारण सत्ता जाति सिद्ध नहीं हो सकती है।

इसके समाधान में कहा जा सकता है कि पूर्वपक्षी के अनुसार प्रत्ययों के अनुगमन स्वीकृत होने पर सामान्यमात्र का ही उच्छेद हो जाएगा। अर्थात् पूर्वपक्षी द्वारा स्वीकृत द्रव्यत्व आदि सामान्यविशेषों का भी खण्डन हो जाएगा। क्योंकि उन्होंने 'यह द्रव्य है' इस प्रकार अनुगतप्रतीति के कारण सर्वद्रव्यसाधारण द्रव्यत्वरूप सामान्य-विशेष स्वीकार किया है। परन्तु उन स्थलों में भी द्रव्य का सामान्यलक्षण—गुणाश्रयत्व अथवा समवायिकारणत्व द्वारा ही 'द्रव्य' इस प्रकार प्रतीति का अनुगम हो सकेगा। अतः उक्तरूप अनुगत प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति के कारण द्रव्यत्वजाति भी सिद्ध न होगी। इसी रीति से घटत्व, पटत्व आदि जातिओं का भी खण्डन हो जाएगा। क्योंकि घटत्वजाति के अभिव्यंजक कम्बुग्रीवादिमत्वरूप लक्षणद्वारा ही अनुगतप्रतीति की उपपत्ति होगी। जहां कोई विशेष अथवा लक्षण नही होते वहां जाति की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः पूर्वपक्षी का कथन उनके सिद्धान्त का विरोधी हैं।

पूर्वपक्षी के खण्डन के लिए जो कुछ कहा गया उससे यह प्रतीत होता है कि पूर्वपक्षी ने जैसा कहा उससे 'सत्' इस प्रतीति का अनुगम सम्भव नहीं है। क्योंकि उनके कथनानुसार सामान्यविशेष अथवा उसके अभिव्यञ्जक लक्षण 'सत्' इस प्रतीति का नियामक होगा। यदि वह सामान्य-विशेष या लक्षण द्रव्यादि-समवायान्त भावपदार्थों के साधारण-धर्म होते तभी उनके द्वारा अनुगत प्रत्ययों का निर्वाह होना सम्भव था। परन्तु वे सर्व-साधारण धर्म ही नहीं हैं। अतः वे 'सत्' प्रतीति का अनुगम कर नहीं सकते। इसलिए पूर्वपक्षी का वक्तव्य युक्तिसिद्ध नहीं है। इस रीति से पूर्वपक्ष का खण्डन करना सम्भव था परन्तु ग्रथकार इस प्रणाली से खण्डन न करके अन्यरीति से खण्ढन क्यों किये हैं। इस

जिज्ञासा के उत्तर में कहना है कि साक्षात् अथवा एकार्थसमवायरूप परम्परासम्बन्ध से वह सामान्य-विशेष अथवा लक्षण सर्वभावसाधारण हो सकते हैं। सिद्धान्त में भी सत्ता को इसी रीति से सर्वसाधारण किया गया है। अन्यथा सत्ता भी सर्वसाधारण नहीं है। अतः ग्रन्थकार को पूर्वलिखित प्रणाली से पूर्वपक्ष का खण्डन करना पड़ा है।

कथं तर्हि सामान्यादौ 'तत् सदिति' प्रत्ययः ? सत्तैकार्थसमवायात्। गुणादिषु संख्यादिप्रत्ययवत्। अभावेऽपि तर्हि स्यादिति चेन्न। तस्य सद्विरुद्धतयैव प्रतीतेरिति।

[इस स्थिति में (अर्थात् सत्ता जाति स्वीकृत होने पर) सामान्यादि में किस प्रकार से 'यह सत् है' यह प्रतीति हो सकेगी। (यह शङ्का ठीक नहीं है) क्योंकि गुणादि में संख्या आदि की प्रतीति के निर्वाहक गुणादि के साथ संख्यादि के एकार्थसमवाय के तुल्य सामान्य आदि में भी सत्ता का एकार्थसमवाय है। (यदि पुनः शङ्का हो कि) इस स्थिति में अभाव में भी 'सत्' इस प्रकार प्रतीति हो। उत्तर में कहना है कि (उस प्रकार होगा) नहीं। (क्योंकि) अभाव सद्विरोधी रूप से ही प्रतीत होता है।]

गुणादि निर्गुण पदार्थ हैं। उनमें संख्या नहीं है। परन्तु उनमें संख्या प्रतीत होती है। एक रूप, चतुर्विंशति गुण इस प्रकार प्रतिनियतरूप से लोक अथवा शास्त्रों में गुणादि में संख्या का प्रयोग होता है। इस कारण उक्त प्रतीति की उपपत्ति निम्नोक्तरूप से करना चाहिए, यद्यपि रूपादि गुणों में साक्षात् सम्बन्ध से संख्या नहीं है तथापि एकार्थसमवाय सम्बन्ध से रूपादि गुण एकत्वादि संख्या के सम्बन्धी होते हैं। स्वाश्रयाश्रितत्वरूप एकार्थ॰ समवाय सम्बन्ध के कारण ही 'एक रूप' अथवा 'चतुर्विंशति गुण' आदि प्रतीति होती है। इसी दृष्टान्त के बल पर ग्रन्थकार सामान्य आदि में 'सत्ता' प्रतीति का उपपादन किए हैं। सामान्य आदि से सत्ता का समवायरूप साक्षात् सम्बन्ध न रहने पर भी उनका एकार्थसमवाय अर्थात् स्वाश्रयाश्रितत्वरूप परम्परासम्बन्ध सत्ता से रहता है। इसी सम्बन्ध के कारण सामान्य आदि में 'सत्' इस प्रकार प्रतीति की अनुवृत्ति होगी। रूपादि गुणों के आश्रय घट, पट आदि द्रव्य में एकत्वादि संख्या तथा नीलपीतादिरूप दोनों समवाय सम्बन्ध से वर्त्तमान हैं इसलिए उन्हें एकार्थसमवेत अर्थात् एक अधिकरण में समवेत कहा जाता है। संख्या के तुल्य सत्ता जाति भी घटत्वादि जाति के साथ एकार्थ में समवेत होती है। क्योंकि सत्ता तथा घटत्व यह दोनों घट में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हैं।

द्रव्यत्वाद्यपरं, सत्तापेक्षया अल्पविषयत्वात्। 'तच्चे'ति चस्त्वर्थः। अपिः समुच्चये। अनुवृत्तेर्हेतुत्वादिति हेतुमनुकर्षति।

सत्तायामन्त्येषु च एकैकनिमित्तवशाद् एकैका संज्ञा। इह तु निमित्तद्वय-समावेशात् संज्ञाद्वयसमावेश इत्यर्थः। तद्व्युत्पादनप्रयोजनं साधर्म्यादौ भविष्यतीति।

[द्रव्यत्व आदि अपर (अर्थात् अपर सामान्य समझना होगा); क्योंकि सत्ता (नाम का पर सामान्य) से यह अल्पस्थान में रहता है। (परममूल में) 'तच्च' यह 'च' कार 'तु' कारके अर्थ में प्रयुक्त है (समुच्चय अर्थ में नहीं)। (तथा व्यावृत्तेरपि' पंक्ति में) 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है। 'अनुवृत्तेर्हेतुत्वात्' इस पंक्ति द्वारा 'अनुवृत्ति' का हेतुत्व कहा गया है। (अभिप्राय यह है कि अपर सामान्य व्यावृत्ति तथा अनुवृत्ति दोनों के हेतु हैं)। सत्ता तथा अन्त्यों में एक एक कारणवश केवल एक ही संज्ञा प्राप्त है (अर्थात् केवल अनुवृत्ति के कारण है इसलिए सत्ता का परसामान्य संज्ञा है तथा केवल व्यावृत्ति के कारण होने से अन्त्यों का विशेष संज्ञा है)। परन्तु प्रस्तुत स्थल में (अर्थात् द्रव्यत्व आदि में) दो कारणों के रहने से दो संज्ञा का समावेश है यह अर्थ है (अर्थात् सामान्य तथा विशेष यह दो संज्ञा ही होगी)। उनके व्युत्पादन की आवश्यकता साधर्म्य आदि के प्रसङ्ग में विवेचित होगी।]

विशेषानाह—नित्येति। बहुवचनेनानन्त्यं लक्षयति। ते के? अन्त्याः। अन्ते अवसाने भवन्ति सन्तीति यावत्। येभ्योऽपरे विशेषा न सन्तीत्यर्थः।

सामान्यरूपेभ्यो विशेषेभ्योऽपरे गुणादयो विशेषाः सन्ति। एभ्यस्तु नापरे किन्तु एष्वेव वैशिष्ट्यं समाप्यते। क्व ते वर्त्तन्ते इत्यत उक्तं 'नित्ये'ति[1]।

अयमर्थः। अनित्यद्रव्येषु तावद् आश्रयादिभिरेव विशिष्टबुद्धि-रुपपन्नेति ततोऽधिकविशेषेषु प्रमाणाभावः। नित्येषु तु द्रव्येषु आश्रय-रहितेषु समानजातीयेषु समानगुणकर्मसु च भवितव्यं व्यावर्त्तकेन केनचिद् धर्मेण व्यावृत्तत्वात्।

---

१. नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषा एव। प्रशस्तपा० पृ० ४

न चैवं गुणादिष्वपि तत्कल्पनावकाशः। आश्रयविशेषेणैव तद्व्यावृत्त्युपपत्तेरिति प्रमाणसूचनम्। तथा च वक्ष्यते।

ननु सामान्यान्येव कानिचित् तथा भविष्यन्ति गुणा वा, किं पदार्थान्तरकल्पनयेत्यत आह---ते चेति। चस्त्वर्थः।

अयमर्थः। ते पुनर्यदि एकैकव्यक्तिवृत्तयः कथं सामान्यरूपाः ? अनेकव्यक्तिवृत्तित्वे च कथम् अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः ?

गुणा अपि भवन्तः यदि सामान्यवन्तः स्युस्तथापि अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वं व्याहन्येत। ततो निःसामान्याः। तथा च गुणत्वव्याघातः।

तस्माद् अन्त्यव्यपदेशाद् व्यावृत्तिबुद्धेरेव हेतुत्वाद् विशेषा एव विशेषा नान्यत्रान्तर्भूता इति।

एतेन एकद्रव्याः स्वरूपसन्त इति लक्षणं सूचितमिति। एवञ्च सति निःसामान्यत्वेऽपि विशेषोऽयं विशेषोऽयम् इत्यनुगतव्यवहार उपाधेर्लक्षणञ्चोपाधिरव्यवसेय इति।

[नित्य आदि ग्रन्थ द्वारा विशेषों का स्वरूप कहा गया है। 'विशेष' इस पद के उत्तर बहुवचन विभक्ति का तात्पर्य यह है कि विशेष अनन्त (अर्थात् ब्रह्माण्ड में जितने नित्यद्रव्य हैं विशेष उतने) हैं। यह विशेष कौन हैं ? (इसके उत्तर में कहते हैं) (वे) अन्त्य। (जो) अन्त में (अर्थात्) शेष में रहते (वह अन्त्य) हैं। जिनसे अन्य विशेष नहीं होते (वह ही अन्त्य) हैं—यही अर्थ है।

जो सामान्यरूप विशेष हैं उनसे अन्य गुणादिरूप विशेष है (अर्थात् वे अन्त्य अर्थात् चरम विशेष नहीं होते)। परन्तु इन (अर्थात् अन्त्यविशेष) से अन्य कोई (गुणादिरूप) विशेष नहीं है; उन्हीं में विशेष विश्रान्त हुआ है। किस अधिकरण में वह (विशेष) आश्रित है ? (इस जिज्ञासा पर) 'नित्य' आदि ग्रन्थ कहे गए हैं।

अनित्य द्रव्य (अर्थात् द्व्यणुकादि) में उनके आश्रयों (अर्थात् परमाणु आदि) द्वारा विशिष्टबुद्धि की उपपत्ति होती है। उन आश्रयादि से अधिकतर कोई विशेष वहां प्रमाणसिद्ध नहीं है। परन्तु आश्रयरहित, समानजातीय तथा समानगुणकर्मविशिष्ट नित्यद्रव्यों के भेदक कोई धर्म अवश्य ही होगा। (क्योंकि वे

भी परस्पर में व्यावृत्त हैं।) गुणादि में भी विशेष कल्पना का अवकाश है कहा नहीं जा सकता है। (अर्थात् नित्य द्रव्यों में जिस प्रकार विशेषों की कल्पना की आवश्यकता है उसी प्रकार गुणादि में भी विशेष कल्पना का अवकाश है यह कहा नहीं जा सकता है)। क्योंकि आश्रयविशेष के द्वारा ही उन (अर्थात् गुणादि) की व्यावृत्ति (अर्थात् व्यक्तिगत भेद) उपपन्न है। इसके द्वारा विशेष के विषय में प्रमाण भी सूचित हुआ (अर्थात् नित्य द्रव्यों के व्यक्तिगत भेद की अनुपपत्ति के कारण ही विशेष की सिद्धि होती है समझना होगा)। यह आगे कहा जाएगा।

(यदि कहा जाए कि) कुछ सामान्य अथवा गुण इस प्रकार के होंगे (अर्थात् नित्य द्रव्यों के व्यक्तिगत भेद का उपपादन करेंगे); इस हेतु (विशेष रूप) पदार्थान्तर कल्पना की आवश्यकता नहीं है। इसी आशङ्का के कारण 'ते च' इत्यादि ग्रन्थ का उपन्यास किया गया है। 'च' कार 'तु' के अर्थ में (अर्थात् 'किन्तु' इस अर्थ में) प्रयुक्त है।

भावार्थ यह है कि यह विशेष यदि प्रत्येकव्यक्तिविश्रान्त हो तब वे किस प्रकार से सामान्यात्मक होंगे। तथा यदि वे अनेक व्यक्ति में वर्तमान हों तब किस प्रकार से अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धि का जनक होंगे।

गुण होते हुए सामान्यविशिष्ट होने पर अत्यन्तव्यावृत्ति के हेतुत्व व्याहत ही होगा। इसलिए वे (अत्यन्तव्यावृत्ति के हेतु) सामान्यरहित होंगे तथा उस प्रकार के होने से उनका गुणत्व व्याहत होगा (क्योंकि सामान्यरहितपदार्थ गुण में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता)। अतः 'अन्त्य' यह व्यपदेश (अर्थात् 'अन्त्य' इस पद द्वारा व्यवहृत होने) के कारण (वे) व्यावृत्तिबुद्धि का ही कारण होंगे। अतः विशेष (अर्थात् विशेषक) ही होंगे तथा विशेष अन्य किसी में अन्तर्भुक्त न होगा।

इससे (विशेष) एकद्रव्य-(मात्र-) वृत्ति तथा स्वरूपतः सत् (अर्थात् सत्ता जाति के आश्रयरूप से सत् नहीं) इस प्रकार (विशेष का) लक्षण सूचित हुआ। इस प्रकार से सामान्यवर्जित होने पर भी विशेषों के विषय में 'यह विशेष है, 'यह विशेष है' इस प्रकार अनुगतव्यवहार उपाधिवश ही होता है; तथा (विशेष के) लक्षण को ही (वह) उपाधि समझना होगा।

मूल में विशेष के लक्षण की सूचना की गई है। अतः प्रकाशकार ने व्याख्या में निम्न-लिखित रूप से लक्षण को उपस्थित किया हैं 'निःसामान्यत्वे सति एकद्रव्यमात्रवृत्तित्वम्' अर्थात् निःसामान्य होते हुए जो एकमात्रद्रव्य में रहता हो वही विशेष पदार्थ है। लक्षण में 'एकद्रव्यमात्रवृत्तित्वम्' का अर्थ एकद्रव्यमात्रसमवेतत्वम् है। इस कारण 'निः-सामान्यत्वे सति एकद्रव्यमात्रसमवेतत्वम्' यह विशेष का निष्कृष्ट लक्षण होगा; अर्थात्

जो सामान्यवर्जित होते हुए केवल एकद्रव्य में समवायसम्बन्ध से वर्त्तमान हो वही विशेष पदार्थ है। अब विशेषलक्षण की सङ्गति किस प्रकार हो देखा जाए।

नित्यद्रव्यों को अर्थात् पार्थिव आदि चार प्रकार के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन इन द्रव्यों को विशेष पदार्थ का आश्रय कहा गया है। अतः अनित्यद्रव्य अथवा गुणादि में विशेष नहीं रहता है यह अर्थतः प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि विशेष पदार्थ प्रत्यक्षसिद्ध नहीं वह अनुमान द्वारा सिद्ध होता है। अन्य प्रकार से अर्थात् विशेष के बिना अन्य पदार्थ द्वारा निश्यद्रव्यों में परस्पर व्यक्तिगत भेद की उपपत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए उस भेद अथवा व्यावृत्ति की अनुपपत्ति के कारण ही प्रत्येक नित्यद्रव्य में आश्रित भिन्न भिन्न विशेष नाम का पदार्थान्तर स्वीकार करना पड़ता है। जाति से व्यक्तिगत भेद का उपपादन नहीं हो सकता है। क्योंकि जाति अवश्य ही एक से अधिक आश्रय में वर्त्तमान होगी। भिन्न भिन्न परमाणुओं के नील पीत आदि रूप अथवा मधुर, तिक्त आदि रस कोई भी एक से अधिक व्यक्ति में नहीं रहता है। अतः एक परमाणु के नीलरूप अन्य परमाणु में न रहने से उस रूप व्यक्ति से उसके आश्रय परमाणु व्यक्ति अवश्य ही शेष पदार्थों से व्यावर्त्तित हो सकता है। इसी प्रकार मधुरादिरस अथवा स्पर्श द्वारा पार्थिवादि परमाणुओं के व्यक्तिगत भेद की उपपत्ति हो सकती है। सिद्धान्त में आकाश को सजातीय-द्वितीयरहित कहा गया है। अतः उसके शब्दगुण पदार्थान्तर में न रहने के कारण वह अवश्य ही आकाश को शेष पदार्थों से व्यावृत्त कर सकता है। यद्यपि काल के तुल्य आकाशादि द्रव्यों में भी परममहत् परिमाण है तथापि वह परिमाण व्यक्तिओं के कोई भी एक से अधिक स्थान में नहीं रहता इस कारण से एक-एक परममहत् परिमाण को ग्रहण करके उससे काल अथवा दिक् को पदार्थान्तरों से व्यावर्त्तित किया जा सकता है। आत्मा शरीरभेद से भिन्न-भिन्न है तथा प्रत्येक आत्मा ही चेतन हैं तथापि एक आत्मा के चैतन्यगुण अन्य किसी आत्मा में न रहने से वह ज्ञान व्यक्तियों के द्वारा एकएक आत्मव्यक्ति को शेष पदार्थों से व्यावृत्त किया जा सकता है। उन नित्य द्रव्यों के परस्परव्यावृत्ति पूर्वोक्त प्रकार से गुणों के द्वारा ही उपपन्न हो सकता है। अतः नित्य द्रव्यों की व्यक्तिगत व्यावृत्ति अन्य प्रकार से उपपन्न नहीं होता इस कारण से विशेष नाम का पदार्थान्तर स्वीकार किया जाता है कैसे कहा जायेगा ?

इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि उक्त रीति से रूप रस आदि गुणों से प्रदर्शित व्यावृत्ति की उपपत्ति नहीं होती है। क्योंकि नीलपीतादि गुणव्यक्ति के प्रत्येक यद्यपि एक से अधिक स्थान में नहीं रहता तथापि नीलत्व आदि जाति द्वारा उनका संग्रह होता है। संगृहीत नीलरूप से एक से अधिक स्थान में नीलरूपवत्ता प्रतीत होती है। अतः रूपादि से परमाणु आदि नित्यद्रव्यों के व्यक्तिगत व्यावृत्ति उपपन्न न होगी। परममहत् परिमाण अथवा ज्ञानादि के विषय में भी यही युक्ति प्रयुक्त होगी। इसलिए वे भी अपने अपने आश्रयों के व्यक्तिगत भेद का उपपादन न कर सकेंगे। अतः नित्यद्रव्यों की व्यक्तिगत

व्यावृत्ति अन्य प्रकार से उपपन्न नहीं होता है। विशेषपदार्थ निःसामान्य होने से किसी सामान्यधर्म से वे अनुगत या संगृहीत न होंगे। तथा वे प्रत्येक ही नित्यद्रव्यों में भिन्न-भिन्न होने के कारण व्यावृत्ति के उपपादन में समर्थ होंगे।

पृथक्त्व एक स्वतन्त्र गुण वैशेषिक सिद्धान्त में स्वीकृत है जो एक पदार्थ को अन्य पदार्थों से पृथक् करता है। यदि किसी को शङ्का हो कि उक्त पृथक्त्व द्वारा ही प्रस्तुत व्यावृत्ति की उपपत्ति हो सकती है तदर्थ विशेष नाम का पदार्थान्तर किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? इसका उत्तर में कहा जा सकता है कि एक परमाणु की अपेक्षया जो पृथक्त्व है वह उस परमाणु के बिना अन्य समुदाय पदार्थों में तुल्यरूप से वर्तमान रहने के कारण अपने आश्रय परमाणु से अपर परमाणुओं के भेद का उपपादन करने में समर्थ होने पर भी उस परमाणु को छोड़कर शेष परमाणुओं के व्यक्तिगत भेद उससे उपपन्न नहीं हो सकता है। विशेषतया 'पृथक्त्व' द्वारा समस्त पृथक्त्वों के अनुगम होने से वह भी पूर्वकथित युक्ति से ही अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धि का नियामक न होगा।

'निःसामान्यत्व' रूप विशेषण न रहने पर 'एकद्रव्यमात्रसमवेतत्व' रूप विशेष का लक्षण रूपरसादिगुण तथा क्रियाओं में अतिव्याप्त होता है। क्योंकि एक घट का रूप रसादि व्यक्ति दूसरे घट व्यक्ति में नहीं रहता है। अन्य घट का रूप रसादि व्यक्ति भी उस घट में नहीं रहता है। फलतः घटादि के व्यक्तिगत रूप रसादि केवल उसी घटव्यक्ति में रहने के कारण वे 'एकद्रव्यमात्रसमवेत' होते हैं। इसी प्रकार क्रिया भी एक व्यक्ति में ही आश्रित होती है। एक ही क्रिया दो व्यक्ति में नहीं होती। अतः क्रिया में एकद्रव्य-समवेतत्व होने के कारण विशेषलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के वारण के लिए निःसामान्यत्व रूप विशेषण की आवश्यकता है। रूपरसादि गुणों तथा क्रियायों में निःसामान्यत्व नहीं है उनमें रूपत्व रसत्व कर्मत्व आदि जाति अर्थात् सामान्य ही है।

यदि केवल निःसामान्यत्व ही विशेष का लक्षण हो तब घटत्व आदि जाति, समवाय तथा अभाव में विशेषलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि सामान्य आदि अभावान्त पदार्थों में सामान्य न रहने से वे निःसामान्य होते हैं। एकद्रव्यमात्रसमवेतत्व विशेषण के रहने के कारण जाति, जो अनेक द्रव्य में ही समवेत होती है, में लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी। कोई भी जाति एक व्यक्ति में समवेत नहीं होती है। समवाय तथा अभाव कहीं भी समवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है। अतः उनमें भी एकद्रव्यमात्रसमवेतत्व न रहने के कारण लक्षण अतिव्याप्त न होगा।

यदि एकद्रव्यमात्रसमवेतत्व के जगह एकद्रव्यमात्रवृत्तित्व लक्षण में हो तो आकाशत्व आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। आकाशत्व के जाति न होने से वह निःसामान्य तथा एकद्रव्यमात्रवृत्ति है। वृत्तित्व के स्थान पर समवेतत्व रहने के कारण

आकाशत्व में अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि आकाशत्व निःसामान्य होने पर भी एकद्रव्यमात्र-समवेत नहीं है। वह आकाश में स्वरूपसम्बन्ध से रहता है समवाय सम्बन्ध से नहीं।

यदि 'मात्र' पद का परित्याग कर एकद्रव्यसमवेतत्व लक्षण में हो तो घटत्व पटत्व आदि जातियों में पुनः लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि घटत्व आदि जाति एक-एक द्रव्य में भी समवाय सम्बन्ध से रहता है। 'मात्र' पद के रहने से घटत्व आदि जाति एक-एक घट में रहने पर भी एक ही घट में नहीं प्रत्युत समस्त घटों में रहने के कारण एकद्रव्य-मात्रसमवेत नहीं अतः अतिव्याप्ति भी न होगी।

यहाँ द्रष्टव्य है कि लक्षण में 'द्रव्य' पद के स्थान में व्यक्ति' पद देने पर किसी प्रकार अनुपपत्ति नहीं होती है। यहां द्रव्यत्वरूप से द्रव्य का प्रवेश नहीं है। अतः 'निःसामान्यत्वे सति एकव्यक्तिमात्रसमवेतत्वम्' यही विशेष का लक्षण है। परन्तु विशेष केवल द्रव्य में ही रहता है इसी कारण द्रव्य पद का प्रयोग स्पष्टतामात्र के लिए ही है समझना चाहिए।

यह कहना आवश्यक है कि प्रकाशकार के पूर्वोक्त लक्षण से भी संक्षिप्त लक्षण 'जाति-जातिमद्भिन्नत्वे सति समवेतत्वम्' है।

यदि यह शङ्का हो कि विशेषों के निःसामान्य होने के कारण उनके अनुगत व्यवहार किस प्रकार से हो सकेगा। प्रत्येक सास्नादियुक्तपदार्थ में 'यह गौ है' यह गौ है' इस प्रकार अनुगतव्यवहार होने के कारण उस अनुगतव्यवहार की उपपत्ति के लिये प्रत्येक सास्नादियुक्त पदार्थ में गोत्व नाम का एक सामान्य स्वीकृत है। उसी युक्ति से यह विशेष है' 'यह विशेष है' इस प्रकार के अनुगत व्यवहार के अनुरोध से सर्व-विशेष-साधारण विशेषत्व नामका एक धर्म स्वीकार करना भी दुर्वार होता है। अतः विशेष के लक्षण में 'निःसामान्यत्वे सति' यह अंश समीचीन नहीं प्रतीत होता है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'यह विशेष है' 'यह विशेष है' इस प्रकार अनुगत व्यवहार स्वीकार करने पर भी उस व्यवहार के अनुरोध से अन्यथानुपपत्ति के कारण विशेषत्व-रूप सामान्य स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। वह व्यवहार विशेषत्व-सामान्य के कारण नहीं होता है। परन्तु विशेष के लक्षणरूप उपाधि के कारण ही वह व्यवहार होता है। वह लक्षण होने के कारण समस्त विशेषों में रहता है। उसी लक्षण के समस्त विशेषों में वर्त्तमान रहने से ही अनुगतव्यवहार होता है। तदर्थ विशेषत्व रूप सामान्य को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त अनुगतव्यवहार के नियामक विशेष के लक्षण अथवा उपाधि स्वीकार करने पर फलतः वह एक सामान्य अथवा साधारण धर्म ही तो हुआ। इस स्थिति में जातिरूप सामान्य न रहने पर भी उक्त उपाधिरूप सामान्य रहने के कारण विशेषों को निःसामान्य कैसे कहा जाएगा? इस शङ्का पर उत्तर यह है कि प्रस्तुत अनुगतव्यवहार की सिद्धि के

लिए लक्षणात्मक एक अनुगतधर्म स्वीकार आवश्यक होने पर भी वह धर्म सामान्य नहीं है। क्योंकि पर तथा अपर यह दो प्रकार सामान्य में किसी में भी उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि परसामान्य व्यक्तिमात्रव्यंग्य होता है। तथा अपरसामान्य आकृति आदि से अभिव्यक्त होता है। आकृति आदि से व्यक्त होने के कारण वह अपने आश्रय को विजातीय वस्तुओं से व्यावृत्त करता है। पदार्थ होने से ही वह सत् होता है। यही व्यक्तिमात्रव्यङ्ग्यता है। परन्तु उसी प्रकार पदार्थ होने से ही वह 'विशेष' रूप से प्रतीत नहीं होता है। अतः विशेष का लक्षण में व्यक्तिमात्रव्यङ्ग्यत्व के न रहने से वह परसामान्य न होगा। इसी प्रकार अपरसामान्य के तुल्य इतरव्यावर्त्तकत्व न होने के कारण विशेष का लक्षण अपरसामान्य भी नहीं होगा। विशेष पदार्थ यदि अपने लक्षण के हेतु अपर पदार्थों से व्यावृत्त हो तो उनका 'स्वतोव्यावर्त्तकत्व' स्वभाव की हानि हो जाएगी। अतः पूर्वोक्त अनुगतव्यवहार के नियामक जो अनुगतधर्म है वह अपरसामान्य भी नहीं है। तृतीय प्रकार का कोई सामान्य नहीं है। इसी कारण धर्मविशेष से अनुगत होने पर भी विशेष निःसामान्य ही हैं।

समवायस्यैकत्वाद् विभागो नास्तीति लक्षणमाह—'अयुतसिद्धानाम्'[1] इति। अयुताः प्राप्ताश्च सिद्धा इति अयुतसिद्धाः। प्राप्ता एव सन्ति नाप्राप्ता इति यावत्। तेषां सम्बन्धः प्राप्तिलक्षणः समवायः। तेन संयोगो व्यवच्छिन्नः, तस्य अप्राप्तिपूर्वकत्वात्। तथाच नित्यप्राप्तिः समवाय इति लक्षणं सूचितम्।

[समवाय के एक होने से उसका विभाग नहीं है—इसी कारण "अयुतसिद्धानाम्" आदि ग्रन्थ से उसका लक्षण कहते हैं—जो अयुत अर्थात् प्राप्त होकर ही सिद्ध है वह अयुतसिद्ध है। (अर्थात्) जो प्राप्त होकर ही रहते हैं। अप्राप्त नहीं रहते वे ही अयुतसिद्ध हैं—यही अर्थ है। इस प्रकार पदार्थों के सम्बन्ध (अर्थात्) प्राप्ति को ही (वैशेषिक दर्शन में) समवाय कहा गया है। इसी हेतु संयोग निषिद्ध हुआ है। क्योंकि संयोग (प्राप्ति-रूप होने पर भी वह) अप्राप्ति-पूर्वक होता है। फलतः नित्य प्राप्ति (ही) समवाय का लक्षण सूचित हुआ।]

धातु पाठ में 'यु' धातु मिश्रण तथा अमिश्रण दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है[2]। अमिश्रणार्थक 'यु' धातु के उत्तर निष्ठाप्रत्यय द्वारा 'युत' पद सिद्ध है। उसका अर्थ 'पृथग्भूत' है। जो पृथग्भूत नहीं है उन्हें वैशेषिक दर्शन में 'अयुत' कहा जाता है। 'अयुतसिद्ध' पद

---

१. अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्यय हेतुः स समवाय। प्र० पाद० भाष्य पृ० ५।

२. यु मिश्रणामिश्रणयोः।

के अर्थ बताते हुए उदयनाचार्य ने कहा है कि जो अयुत अर्थात् प्राप्त होकर ही सिद्ध हैं वे अयुतसिद्ध हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने और भी कहा कि जो प्राप्त होकर ही रहते हैं अर्थात् अप्राप्त होकर नहीं रहते उन्हीं को अयुतसिद्ध कहा जाता है।

प्रकाशकारने 'अयुतसिद्ध' पद का अभिप्राय की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो पृथग् रूप से सिद्ध नहीं उनकी प्राप्ति को समवाय नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि दो धर्मी अथवा वस्तु पृथग् रूप से सिद्ध न रहने पर किन दो धर्मी की प्राप्ति को समवाय कहा गया यह निश्चय करना सम्भव न होगा। सम्बन्ध द्विष्ठ है अर्थात् सम्बन्ध कहते ही दो वस्तु की आकांक्षा होती है। यदि दो वस्तु न हो तो सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता है[1]। यदि जो अयुत (अपृथग्भूत) होकर सिद्ध है उनकी प्राप्ति को समबाय कहा जाए तब जो अपृथग्भूत हैं उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि पृथग्भूत वस्तुद्वय में ही प्राप्ति होती है[2]। यदि 'अपृथक्सिद्ध' पद का 'अभिन्नरूप से सिद्ध' यह अर्थ हो तो उस स्थिति में प्राप्ति अथवा सम्बन्ध कल्पित नहीं होगा। क्योंकि प्रतियोगी तथा अनुयोगी यदि अभिन्न हों तो उनमें सम्बन्ध है यह कोई स्वीकार नहीं करता है। इसी कारण ग्रन्थ के 'अयुतसिद्ध' पद का 'पृथक् रूप से सिद्ध नहीं' अथवा 'अपृथकरूप से सिद्ध' यह अर्थ नहीं किया जा सकेगा। अतः जो पृथक्रूप से सिद्ध हैं परन्तु उनमें से एक के दूसरे को परिहारकर पृथक् आश्रय में स्थिति प्रमाण सिद्ध नहीं है, वे ही प्रस्तुत स्थल में 'अयुतसिद्ध' होंगे[3]। इस प्रकार अर्थ होने से पूर्वोक्त दोषों की सम्भावना न रहेगी। क्योंकि प्रतियोगी और अनुयोगी इन दोनों के पृथक्त्व अर्थात् भेद के अप्रमाणित न रहने के कारण उनमें प्राप्ति की कल्पना हो सकेगी। संयोगरूप प्राप्ति के स्थलों में दोनों वस्तु जिस प्रकार पृथक्रूप से सिद्ध रहते हैं, उसी प्रकार उनमें के एक दूसरे को छोड़कर अन्यत्र भी आश्रित होता है। इस लिए परस्पर के परिहार से पृथक् आश्रय में आश्रितत्व रहने के कारण उन दो वस्तुओं की प्राप्ति या संयोग को अयुतसिद्धों की प्राप्ति कही नहीं जा सकती है। गुण तथा गुणी में एक गुण पदार्थ है तथा अपर द्रव्य पदार्थ है। प्रतियोगी या अनुयोगी रूप से इन दोनों के भेद अथवा पृथक्त्व प्रमाणित है। परन्तु उनमें एक को परिहार पूर्वक दूसरे का पृथगाश्रयाश्रितत्व नहीं है। यह कभी देखा नहीं जाता है कि गुणी को छोड़ कर गुण अन्यत्र विद्यमान है। अतः उक्त स्थल में इनकी प्राप्ति अयुतअिद्धों का है। अवयव तथा अवयवी के भी इसी रीति से अयुतसिद्धि समझना है।

---

१. ननु चायुतसिद्धो यदि युतो न सिद्धो तदा कयोः सम्बन्धो धर्मिणोरेवाभावात्। प्रकाश, पृ० १३३।

२. अथायुतौ सिद्धौ तथापि कयोः सम्बन्धः सम्बन्धिनोरपृथग्भूतत्वात्। पृथग्भूतयोरेव सम्बन्धात्। प्रकाश, पृ० १३३।

३. अन्योन्यपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रिता इत्यर्थः। प्रकाश, पृ० १३३।

संयोग के स्थलों में यह प्राप्ति अप्राप्तिपूर्वक होती है तथा समवाय के स्थलों में वह अप्राप्ति नहीं रहती है—इस स्थिति के कारण समवाय सम्बन्ध फलतः नित्य हो जाता है। यह अप्राप्ति के न रहते हुए प्राप्ति फलतः किस प्रकार से नित्य हो जाता है इसके विचार करने से प्रतीत होगा कि—संयोगरूप प्राप्ति के पूर्व अप्राप्ति रहती है। पूर्व काल में अप्राप्ति के स्थान में उत्तर काल में प्राप्ति ही संयोग होता है। पूर्व में जिसका प्रागभाव था इस प्रकार प्राप्ति का नाम संयोग है। फलतः प्रागभाव के प्रतियोगी प्राप्ति ही संयोग है। अप्राप्ति का अर्थ है प्राप्ति का प्रागभाव[1]। उक्त रूप अप्राप्ति जिसकी नहीं वह प्राप्ति अर्थात् प्रागभाव के अप्रतियोगी प्राप्ति ही समवाय है। इससे समवाय को प्रागभाव के अप्रतियोगी कहा गया है[2]। वह भावपदार्थ होते हुए प्रागभाव के अप्रतियोगी होने से विनाशी नहीं हो सकता है। अतः अप्राप्तिरहित स्थलों में जो प्राप्ति उसकी नित्यता सिद्ध हो जाता है।

अजसंयोगाभावो वक्ष्यते, समवायस्य नित्यत्वञ्च। प्राप्तिपदेनैव वाच्यवाचकादिभावलक्षणसम्बन्धो न प्रसज्यते। एतदेव स्पष्टयति—आधार्याधारभूतानामिति। स्वभावादाधार्याधारणं न तु आगन्तुकेन धर्मेणेत्यर्थः। तत्र प्रमाणमाह—इह प्रत्ययहेतुरिति। इह तन्तुषु पटः, इह पटे शुक्लत्वम्, इह गवि गोत्वम् इत्यादयः (प्रत्ययाः) सम्बन्धमन्तरेण अनुपपद्यमानाः तं व्यवस्थापयन्तीत्यर्थः।

[अज (अर्थात् नित्य अथवा विभु) द्रव्यद्वय का संयोग नहीं होता है यह आगे कहा जाएगा तथा समवाय का नित्यत्व भी (आगे कहा जाएगा)। प्राप्ति पद के कारण वाच्यवाचकभावादि रूप सम्बन्ध में समवाय लक्षण की अतिव्याप्ति निरस्त हुई यही 'आधार्याधारभूतानाम्' आदि ग्रन्थ से स्पष्ट किया गया है। स्वभावतः अर्थात् आगन्तुक-धर्म-निरपेक्ष रूप से आधार्य (अर्थात् आधेय) के आधारण ही समवाय का बीज है। "इह प्रत्ययहेतुः" इत्यादि ग्रन्थ से उक्त आधाराधेयभाव में प्रमाण उपस्थित किया गया है। 'इस तन्तु में पट है' 'इस पट में शुक्ल गुण है' 'इस गौ में गोत्व है' यह प्रतीति सम्बन्ध के बिना उपपन्न नहीं होता है इसी कारण से सम्बन्ध को व्यवस्थापित करती है यही ग्रन्थ का तात्पर्य है।]

---

१. सा च प्राप्तिप्रागभावः। प्रकाश, पृ० १३३।

२. तथा च तदप्रतियोगी सम्बन्धः। प्रकाश, पृ० १३३।

विभुद्रव्यों में परस्पर की अप्राप्ति नहीं होती इस कारण उनकी प्राप्ति अप्राप्तिपूर्वक न होने से उनके संयोगों में समवाय का लक्षण अतिव्याप्त होगा यह शङ्का नहीं होती। क्योंकि विभुद्रव्यों का संयोग स्वीकृत नहीं है। अतः वहां समवाय का लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती है।

पहले नित्यप्राप्ति को समवाय कहा गया है। पद तथा पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है। 'पदविशेष से पदार्थविशेष का प्रतिपादन हो' इस प्रकार ईश्वरेच्छा ही पदपदार्थ का सम्बन्ध है। ईश्वर की इच्छा नित्य है। इस स्थिति में पदपदार्थसम्बन्ध में समवाय का लक्षण की अतिव्याप्ति की शङ्का हो सकती है[1]। इसका उत्तर यह है कि पदपदार्थ का सम्बन्ध प्राप्तिरूप न होने से समवायलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। आधार्याधारभाव के नियामक सम्बन्ध को प्राप्ति कही जाती है। अन्य सम्बन्ध को नहीं। वाच्यवाचकभावादि सम्बन्धों के नित्य होने पर भी वे आधार्याधारभाव के नियामक न होने से वह प्राप्ति नहीं है। यह भी जानना आवश्यक है कि जहां आधाराधेयभाव आगन्तुक कारण से नहीं परन्तु स्वाभाविक है वहां आधाराधेयभाव का नियामकसम्बन्ध समवाय होता है। समवायरूप प्राप्ति के स्थलों में 'यहां यह है' इस प्रकार प्रतीति होती है। यह अनुभव ही आधाराधेयभाव को प्रमाणित करता है। 'इन तन्तुओं में पट है' 'इस पट में शुक्लगुण है' 'इस गौ में गोत्व है' इन प्रतीतियों से तन्तु से पटका, पट से शुक्लगुण का, गो व्यक्ति से गोत्व जाति का आधाराधेयभाव सिद्ध होता है। समवाय के स्थलों में आधाराधेयभाव प्रतीत होता है यह सर्ववादिसम्मत है।

वैशेषिकदर्शन में समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकृत नहीं है। अनुमान से ही समवाय सिद्ध होता है। 'इह प्रत्यय हेतुः' इस ग्रन्थ से समवाय के विषय में अनुमान प्रयोग की सूचना की गई है। तात्पर्य यह है कि 'इन तन्तुओं में पट है' आदि प्रयोग से तन्तु तथा पट के आधाराधेयभाव की प्रतीति होती है। आधाराधेयभाव सम्बन्ध के बिना नहीं होता हैं। अतः उक्त आधाराधेयभाव-प्रतीति के नियामक के रूप से तन्तु तथा पट में सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक है। यह सम्बन्ध ही समवाय है। इस विषय में निम्नलिखित अनुमान का प्रयोग होगा—

'इह तन्तुषु पट इत्यादि प्रत्यया आधाराधेययोः सम्बन्धनिमित्ता यथार्थाधाराधेयभावप्रकाशकत्वात्, इह कुण्डे बदरमित्यादिप्रतीतिवत्' (प्रकाश पृ० १३५)

'कुण्ड बदरम्' प्रतीति कुण्डानुयोगिक बदरप्रतियोगिक प्रत्यक्षसिद्ध संयोग सम्बन्ध के कारण होता है। इस दृष्टान्त के बल पर जो भी यथार्थ आधाराधेयभाव की प्रतीति होगी वे सब भी सम्बन्धसापेक्ष होगी यह नियम हो सकता है। उस नियमाधीन 'इह

---

१. अस्येश्वरेच्छारूपतया नित्यत्वात्। प्रकाश, पृ० ११४।

तन्तुषु पटः' आदि प्रतीति में आधाराधेयभाव का प्रकाश रहने से वह प्रतीति भी सम्बन्धसापेक्ष है स्वीकार करना होगा। क्योंकि पहले कहा गया है कि सम्बन्ध आधाराधेयभाव का नियामक होता है।

पूर्वोक्त अनुमान के पक्षभूत आधाराधेयभाव की प्रतीतियों के परिचायक रूप से 'इह तन्तुषु पटः' यह अंश को दिया गया है। इससे सामान्यतया आधाराधेयभाव के नियामक प्रतीति-मात्र ही पक्ष नहीं है यह स्पष्ट है। ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि 'इह भूतले घटः' आदि आधाराधेयभाव की प्रतीतियों के पक्ष में अन्तर्भाव रहने से वह अनुमान में अंशतः सिद्धसाधन दोष होगा। क्योंकि घट तथा भूतल के आधाराधेयभाव-प्रतीति के नियामक रूप से उपस्थित उन दोनों के संयोगरूप सम्बन्ध के प्रत्यक्षसिद्ध होने से वहां संयोगसम्बन्धसापेक्षता का अनुमान सिद्धसाधन दोषग्रस्त होता है। इस प्रकार सिद्धसाधन दोष के वारणार्थ 'इह तन्तुषु पटः' यह अंश का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार आनुमानिक आधाराधेयभाव की प्रतीतियों को भी पक्ष वहिर्भूत ही समझना है। वहां उक्त अनुमान में बाध दोष होगा। आनुमानिक आधाराधेयभाव के स्थलों में पक्ष से साध्य का सम्बन्ध है इसलिए ही पक्षः साध्यवान्' इत्याकार आधाराधेय-भाव प्रतीत होता नहीं है। क्योंकि अनुमान के पक्ष में पूर्व से ही साध्य ज्ञात नहीं रहता है। व्याप्ति तथा पक्षधर्मविशिष्ट हेतु को पक्ष में ज्ञात होकर 'पक्षः साध्यवान्' अनुमिति होती है। अतः उन आनुमानिक आधाराधेयभाव-प्रतीति में सम्बन्धसापेक्षत्व-रूप साध्य न रहने से अनुमान आंशिक रूप से बाध दोषग्रस्त होगा। एतदर्थ उन प्रतीतियों को पक्ष में अन्तर्भूत नहीं किया गया है।

'इह भूतले घटाभावः' इस प्रतीति में भी घटाभाव तथा भूतल का आधाराधेय-भाव स्पष्ट है। प्रभाकर के मत में अभाव को अपने अधिकरण से अतिरिक्त पदार्थ नहीं स्वीकार किया जाता है। इस लिए वह प्रतीति में सम्बन्धसापेक्षता रह नहीं सकती। परन्तु आधाराधेयभावप्रतीतित्व रूप हेतु रहने के कारण वह हेतु साध्यव्यभिचारी होता है। अतः पूर्वोक्तानुमान द्वारा समवाय प्रमाणित नहीं हो सकेगा। इसके उत्तर में कहना है कि आगे अभाव को अधिकरण से पृथक् पदार्थ सिद्ध किया जाएगा। इससे वह प्रतीति भी सम्बन्धसापेक्ष ही होगी। व्यभिचार का प्रश्न उठेगा ही नहीं।

'इह भूतले घटाभावः' प्रतीति में जो व्यभिचार की आशङ्का प्रकाशकारने की है उसकी व्याख्या में विवृतिकार ने कहा है कि उक्त अनुमान में साध्यभूत 'सम्बन्धसापेक्षत्व' का अर्थ यदि 'सम्बन्धिभिन्न-सम्बन्धसापेक्षत्व' हो तो 'इह भूतले घटाभावः' प्रतीति में उक्त प्रकार सम्बन्धसापेक्षत्व न रहते हुए आधाराधेयभावप्रतीतित्वरूप हेतु के

रहने से वह हेतु साध्यव्यभिचारी है। अतः उक्त अनुमान द्वारा समवाय प्रमाणित न होगा[१]।

परन्तु हमारे विचार से पूर्वोक्त व्यभिचारशङ्का प्रदर्शन के मूल में यह अभिप्राय प्रकाशकार का नहीं था, क्योंकि उन्होंने उक्त व्यभिचार के उद्धार के लिये उस प्रतीति में भी स्वरूप सम्बन्ध की अपेक्षा होती है यह कहा है[२]। अतः स्वरूप-सम्बन्ध-सापेक्षत्व रहते हुए उस हेतु को व्यभिचारी कहना पूर्वपक्षी के लिए कैसे सम्भव होता। अतः यह व्यभिचार शङ्का प्रभाकर मत में ही है समझना होगा।

पूर्वोक्त अनुमान में यह शङ्का पुनः होगी कि 'इह तन्तुषु पटः' प्रतीति में सम्बन्ध-सापेक्षत्व सिद्ध होने पर भी समवाय की सिद्धि नहीं होती है। 'इह भूतले घटाभावः' प्रतीति के तुल्य यह प्रतीति भी अवयव तथा अवयवी के (अर्थात् तन्तु तथा पट के) मध्यस्थलीय स्वरूप-सम्बन्ध-सापेक्ष हो सकती है। अतः उक्त अनुमान को समवाय का साधक कहना सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि लाघवज्ञान-सहकृत वह अनुमान स्वरूपातिरिक्त सम्बन्ध को ही प्रमाणित किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुयोगी तथा प्रतियोगियों के भेद के कारण स्वरूपसम्बन्ध भिन्न-भिन्न है यह सर्ववादिसिद्ध है। उससे एक समवाय की कल्पना लघुतर होती है। वैशेषिक दर्शन में अनुयोगिप्रतियोगिभेद रहते हुए भी एक ही नित्यसम्बन्ध के कारण उनके आधाराधेयभाव स्वीकृत है। अतः वह अनुमान लाघवज्ञान की सहायता से जिस सम्बन्ध को सिद्ध करता है वह स्वरूप हो नहीं सकता है[३]।

उपर्युक्त सिद्धान्त में यह शङ्का होगी कि तन्तुपटादि में यदि लाघववश एक तथा नित्य सम्बन्ध सिद्ध हो तब उसी युक्ति से घटाभाव-भूतलादि में भी नित्य तथा एक सम्बन्ध सिद्ध होना चाहिए। वैशेषिक सम्प्रदाय यह आपत्ति को स्वीकार नहीं कर सकता है। क्योंकि उनके मत में अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति तथा नित्यद्रव्य-विशेष का सम्बन्ध को ही समवाय अर्थात् एक तथा नित्य स्वीकार किया जाता है। इसी कारण अभाव तथा भूतल का सम्बन्ध को वह लोग नित्य तथा एक, अर्थात् समवाय कह नहीं सकते हैं। इसके उत्तर में हमारा वक्तव्य है कि बाधक न रहने पर अवश्य ही घटाभाव तथा भूतलादि का सम्बन्ध भी नित्य तथा एक प्रमाणित हो

---

१. ननु सम्बन्धिभिन्न-सम्बन्धनिमित्तकत्वं साध्यं, सम्बन्धमात्रनिमित्तकत्वं वा। आद्ये दोषमाह इह घटे इति। प्रकाशविवृति, पृ० १३५।

२. तत्रापि स्वरूपसम्बन्धस्य सत्वात्। प्रकाश, पृ० १३५।

३. न च तेनैवार्थान्तरं लाघवादेकस्यैव सम्बन्धस्य सिद्धेः। स्वरूपसम्बन्धस्य च तत्तत्स्वरूपात्मकत्वेनानन्तत्वात्। प्रकाश, पृ० १४५-६।

जाएगा। वैशेषिक सम्प्रदाय स्वीकार नहीं करते इसी कारण प्रमाण अपने प्रमेय को सिद्ध न करेगा यह सम्भव नहीं। अतः हमें विचार करना होगा कि घटाभाव तथा भूतलादि के सम्बन्ध को नित्य तथा एक स्वीकार करने में वस्तुतः बाधक क्या हो सकता है। वहां बाधक यह है कि—घटात्यन्ताभाव नित्य है इस स्थिति में यदि उसके भूतलानुयोगिक सम्बन्ध को नित्य कहा जाए तो घट के आने के कारण पश्चात् काल में भी 'घटाभाववद्-भूतलम्' इत्याकार आधाराधेयभाव की प्रतीति की आपत्ति होगी। क्योंकि घट की उपस्थिति से नित्य अत्यन्ताभाव की अथवा उसका भूतल से नित्य सम्बन्ध की हानि नहीं होती है। अतः घट की उपस्थिति काल में भी भूतल घटाभाव तथा उसके सम्बन्ध के रहने के कारण वहां आधाराधेयभाव-प्रतीति न होने का कारण नहीं है। वास्तव में घट की उपस्थिति के पश्चात् 'भूतलं घटाभाववत्' इस प्रकार आधाराधेय-भाव प्रतीत नहीं होता है। इसलिए भूतलादि के साथ घटाभावादि का आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध अनित्य है। घट की उपस्थिति से नित्य अत्यन्ताभाव अथवा भूतल को किसी प्रकार हानि न होने पर भी उनके सम्बन्ध की हानि होती है। सम्बन्ध न रहने पर उस काल में आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं होती। फलतः शङ्का का कारण नहीं है। इसी कारण से लाघव रहते हुए बाधक की उपस्थिति के कारण घटाभाव-भूतलादि के सम्बन्ध को समवाय कहना सम्भव नहीं है।

वैशेषिक सम्प्रदाय लाघव के कारण समवाय को नित्य तथा अभिन्न (अर्थात् एक) कहता है। इस स्थिति में पट अपने अवयव तन्तु में जिस सम्बन्ध से है उसी सम्बन्ध से (एक जातीय सम्बन्ध से नहीं) घट भी अपने अवयव में रहता है, उसी सम्बन्ध से पटत्व पट में, घटत्व घट में, रूप अपने अधिकरण में, रसादि अपने समवायिदेश में तथा आत्मत्व, द्रव्यत्व आदि जाति आत्मा आदि में रहती है। आत्मा तथा आत्मत्वादि जाति दोनों नित्य हैं। इस हेतु उनके आधाराधेयभाव भी नित्य ही होगा। आधाराधेयभाव जहां नित्य होता है वहां उसके नियामक सम्बन्ध भी नित्य ही होगा। आधाराधेयभाव नित्य होने पर उसके नियामक सम्बन्ध कभी अनित्य नहीं होता है। अतः वैशेषिक सम्प्रदाय का 'समवाय नित्य है' यह सिद्धान्त निश्चित हुआ।

परन्तु उक्त सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत समवाय के एकत्व के विषय में शङ्का होगी कि घट का समवाय कपाल में जिस प्रकार है उसी प्रकार तन्तु में भी होगा। क्योंकि तन्तु में पट का समवाय है। और इस सम्बन्ध को अभिन्न कहा गया है। अतः तन्तु में पट का समवाय रहने से उसमें घट का भी समवाय रहेगा। इसी युक्ति से पट में घटत्व का तथा घट में पटत्व का समवाय भी रहेगा। वायु में स्पर्श का समवाय रहने के कारण उसमें रूप का समवाय भी रहेगा। इस स्थिति में तन्तु तथा पटके तुल्य तन्तु तथा घट का, कपाल तथा घट के तुल्य कपाल तथा पट का आधाराधेयभाव की प्रतीति दुर्वार हो जाएगी। सम्बन्ध ही सम्बन्धिता का नियामक है। घटका सम्बन्ध यदि तन्तु में हो

अथवा पट का सम्बन्ध कपाल में रहने से उनमें आधाराधेयभाव की प्रतीति न होने का कारण नहीं है।

इस शङ्का पर प्रचलित साम्प्रदायिक युक्ति का उल्लेख के पश्चात् हम अपना विचार प्रस्तुत करेंगे। वस्तुतः कपाल के तुल्य ही तन्तु में भी घट का समवाय हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी तन्तु तथा घट के आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि शुद्ध समवायत्व-रूप से समवाय घटाधारता का नियामक नहीं। परन्तु घट प्रतियोगिक-समवायत्व अर्थात् तादृशविशिष्टसमवायत्व रूप से ही वह घटाधारता का नियामक है। घट के तन्तु में न रहने के कारण घट-प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट-समवाय तन्तु में नहीं रहता है। विशिष्टनिरूपित अधिकरणता शुद्धनिरूपित अधिकरणता से विलक्षण होती है। शुद्धसमवायत्वावच्छिन्न-आधेयतानिरूपित-अधिकरणता द्रव्यादिपदार्थत्रय-साधारण होने पर भी घटप्रतियोगिकत्व तथा समवायत्व रूप धर्मद्वयावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणता केवल कपाल में रहती है तन्तु आदि द्रव्यान्तर में नहीं। अतः घटाधारतानियामक विशिष्ट-समवाय तन्तु में न रहने से 'इह तन्तुषु घटः' इस प्रकार तन्तु-घटके आधाराधेयभाव प्रतीत न होगा। इसी प्रकार अन्यत्र समझना होगा।

इस उत्तर को हम पर्याप्त नहीं समझते हैं। क्योंकि पूर्वपक्षी तन्तु में घट का समवाय है इस हेतु वहां घट की विद्यमानता की भी शङ्का किए हैं। अतः वहां घट नहीं है इस उत्तर से पूर्वपक्ष निरस्त नहीं होता है। अतः घटप्रतियोगिकत्वविशिष्ट-समवाय तन्तु में नहीं रहता यह पूर्वपक्षी क्यों स्वीकार करना चाहेंगे। अतः हम प्रकारान्तर से शङ्का का समाधान कर रहे हैं। यद्यपि कपाल के तुल्य ही तन्तु में भी घट का समवाय है तथापि घटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपित अधिकरणता का अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य कपाल का ही है पट का नहीं यह वस्तु का स्वभाव है। इसी कारण 'इह तन्तुषु घटः' इस प्रकार आधाराधेयभाव प्रतीत नहीं होता है। नानादेशस्थ घटों में रहने के कारण घटत्व जाति का सम्बन्ध पटादि में भी स्वीकार करना पड़ता है। उस स्थिति में पटादि का घटत्वाभि-व्यञ्जन का सामर्थ्य न रहने के कारण पटादि में घटत्ववत्ता प्रतीत नहीं होता है। प्रस्तुत स्थल में भी तन्तु में घट का समवाय रहने पर भी घटाधिकरणता की अभि-व्यञ्जकता न रहने के कारण तन्तु-घट का आधाराधेयभाव प्रतीत न होगा।

समवाय में प्रमाण के विषय में भी न्याय तथा वैशेषिक मतों में भेद है। नैयायिक तन्तु-पट तथा कपाल-घट प्रभृति में उनके सम्बन्ध का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। उनके मत से किसी सम्बन्ध के प्रतियोगी तथा अनुयोगीरूप सम्बन्धियों के प्रत्यक्ष होने पर सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष स्वीकार करना है। दो सम्बन्धी के प्रत्यक्ष न होने पर उस स्थल में सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न्याय अथवा वैशेषिक किसी मत में स्वीकृत नहीं है। तन्तु-पट, कपाल-घट आदि स्थलों में दोनों सम्बन्धियों के प्रत्यक्ष होने से उनके अन्तराल में स्थित सम्बन्ध का

भी प्रत्यक्ष होगा। इसी लिए 'इह तन्तुषु पटः' 'इह कपाले घटः' इस प्रकार आधाराधेय-भाव की प्रत्यक्षप्रतीति सम्भव होगी। नैयायिक समवायत्व रूप से अर्थात् नित्यसम्बन्धत्व रूप से समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं समझना ठीक नहीं है। क्योंकि नित्यसम्बन्ध-रूप समवाय का प्रात्यक्षिक ज्ञान सम्भव नहीं है। जो वस्तु प्रागभाव तथा ध्वंस का प्रतियोगी नहीं है उसका प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता है। हम जिस वस्तु को देख रहे हैं वह कभी विनष्ट न होगा यह प्रत्यक्ष से ज्ञात होना सम्भव नहीं है। इसी लिए तन्तु-पटादि के स्थल में सम्बन्धत्व अथवा अयुतसिद्धत्व प्रकार से ही सम्बन्ध की प्रात्यक्षिक प्रतीति स्वीकृत हुई है समवायत्व प्रकार से नहीं। इस हेतु न्यायमत में भी उन स्थलों में सम्बन्ध का समवायत्व रूप से प्रतीति अनुमान से ही सिद्ध होती है। विशेषतया अनन्त सम्बन्धियों के सम्बन्ध को अभिन्न कहा गया है। इसी लिए समवाय का एकत्व अथवा अभिन्नत्व भी प्रत्यक्षरूप से ज्ञात हो नहीं सकता है। इस स्थिति में भी तन्तु-पटादि में सम्बन्ध के युतसिद्धत्व का अभाव प्रत्यक्षरूप से ज्ञात हो सकता है। इस अयुतसिद्धत्व को लेकर ही तन्तु पटादि में सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए नैयायिक उन स्थलों में समवाय का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं।

वैशेषिक शास्त्र में समवाय का प्रत्यक्ष होना स्वीकृत न होने पर भी अवयव में अवयवी के आधाराधेयभाव की प्रत्यक्षप्रतीति द्रव्य में गुण, कर्म तथा जाति के आधारा-धेयभाव की प्रत्यक्षप्रतीति स्वीकृत है। 'इह तन्तुषु पटः' आदि प्रात्यक्षिक आधाराधेय-भाव के बल पर युक्ति द्वारा वैशेषिक मत में समवाय को सिद्ध किया गया है। 'इह तन्तुषु पटः' प्रतीति में समवाय का भान न होने पर भी तन्तुत्वावच्छिन्नाधिकरणता—निरूपित-समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नाधेयता ही पटरूप विशेष्य में विशेषण रूप से प्रतिभासित हुआ है। 'शुक्लो घटः' आदि प्रात्यक्षिकप्रतीति में घट में शुक्ल रूप के समवाय का भान न होने पर भी शुक्लरूपगत प्रकारता वस्तुतः समवायसम्बन्धावच्छिन्न है समझना होगा। व्यव-सायात्मक ज्ञान में प्रकारता विशेष्यता आदि ज्ञानसम्बन्धी धर्मों का भान नहीं होता है। इसी लिए व्यवसाय में समवाय के भान न होने पर भी तद्गत प्रकारता का समवाय सम्बन्धावच्छिन्न होने में कोई बाधा रह नहीं सकती है। प्रकारांश में सम्बन्ध के भान न होने से ही प्रकारता सम्बन्धावच्छिन्न नहीं होगी इसके अनुकूल कोई युक्ति नहीं है। इसी लिए वैशेषिक मत में समवाय के भान न होने पर भी 'इह तन्तुषु पटः' 'अयं घटः शुक्लः' आदि प्रात्यक्षिक प्रतीति की विपरीतबुद्धि के प्रति प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव कल्पना का व्याघात न होगा। प्रकारांश में भान न होने पर भी प्रकारता वस्तुतः समवायसम्बन्धा-वच्छिन्न होने से अनायास ही प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना हो सकती है। विशेष्य-विशेषणभाव अथवा आधाराधेयभावप्रतीति में सम्बन्धज्ञान की आवश्यकता नहीं, स्व-रूपसत् सम्बन्ध की ही आवश्यकता है—इसी अभिप्राय से वैशेषिक सम्प्रदाय समवाय के अप्रत्यक्ष होने पर भी आधाराधेयभाव की प्रात्यक्षिक प्रतीति स्वीकार करते हैं। प्रतिबध्य-

प्रतिबन्धकभाव की कल्पना में भी स्वरूपसत् प्रकारता तथा विशेष्यता की ही आवश्यकता है उनके ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। इसीलिए सम्बन्ध का भान न होने पर भी 'शुक्लो घटः' आदि प्रात्यक्षिक प्रतीति की विपरीतबुद्धिप्रतिबन्धकता अव्याहत रहेगी।

वैशेषिक मत में समवाय का लौकिक प्रत्यक्ष निम्नोक्त कारण से स्वीकृत नहीं है। गुण गुणी आदि के समवायसम्बन्ध स्वीकार करने पर वह समवाय किस सम्बन्ध से रहेगा, पुनः उस समवाय का सम्बन्ध भी किस सम्बन्ध से रहेगा, इस प्रकार समवाय उसका सम्बन्ध, पुनः उस सम्बन्ध का सम्बन्ध निरवधि यह प्रश्न उठता रहेगा। इसी कारण वैशेषिक मत में समवाय को स्वात्मस्थितिक अर्थात् सम्बन्धान्तरनिरपेक्षस्थितिक कहा जाता है। इस स्थिति में समवाय के साथ किसी का भी सम्बन्धान्तर नहीं रहता है। अतः समवाय के साथ इन्द्रियों की किसी प्रकार वृत्ति अर्थात् संयोग, संयुक्त समवाय संयुक्तविशेषणता आदि सम्बन्ध न होगा। इनमें से कोई सम्बन्ध न रहने से लौकिकप्रत्यक्ष नहीं होता है। इसीलिए समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकृत नहीं हुआ है। तथा पूर्वोक्त अनुमान द्वारा समवाय की सिद्धि की गयी है।

'गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डिपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्' इस अनुमान के बल पर 'शुक्लोघटः' आदि प्रात्यक्षिक प्रतीति में समवाय का भान सिद्ध करने का नैयायिकों की चेष्टा सङ्गत नहीं हैं। पूर्वोक्त इन्द्रियवृत्ति के न रहने से उक्त अनुमान द्वारा समवाय का प्रात्यक्षिक भान सिद्ध न होगा। अतः नैयायिकों के विरोधी अनुमान से वैशेषिक सिद्धान्त की किसी प्रकार हानि न होगी।

अथ अन्येऽपि शक्तिसंख्यासादृश्यादयः किं नोद्दिष्टा इत्यत्र आह—"एवम्"[1] इति। एवमुक्तेन क्रमेण धर्मिणामुद्देशः कृतो धर्मैर्विना, धर्मा एव परं नोद्दिष्टाः। शक्त्यादीनाम् एष्वेवान्तर्भावात्। तथा च वक्ष्यामः। यद्यपि च सामान्यविशेषसमवायानां लक्षणमप्युक्तं तथापि तस्येह अव्युत्पादनात् अनुक्तकल्पतया "उद्देशः कृतः" इत्याह।

[शक्ति, संख्या, सादृश्य आदि अन्य पदार्थ भी हैं, उनका उद्देश क्यों नहीं है, इस जिज्ञासा के उत्तर में "एवम्" अर्थात् उल्लिखित क्रम से धर्मों को छोड़कर धर्मियों का उद्देश किया गया। जो केवल धर्म ही हैं वे उद्दिष्ट नहीं हुए। क्योंकि (उस प्रकार) शक्ति आदि (धर्म) इनमें ही (अर्थात् धर्मियों में ही) अन्तर्भक्त होंगे। वह (अर्थात् अन्तर्भाव) आगे कहा जाएगा। यद्यपि सामान्य विशेष तथा

---

१. एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः। प्रशस्तपाद पृ० ५।

समवाय का लक्षण भी कहा गया है, तथापि वह यहां प्रतिपादित न होने से अनुक्त सदृश ही हुआ है। इसीलिए ही 'उद्देशः कृतः' कहा गया।]

'एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः' इस प्रशस्तपाद के ग्रन्थ का यथाश्रुत अर्थ स्वी-
कार करने पर प्रस्तुत ग्रन्थ वृत्तानुकीर्त्तनमात्र हो जाता है। अर्थात् पहले ग्रन्थकार जो कुछ
कहे हैं उसी की पुनरावृत्ति होती है। इससे पूर्व की पंक्तियों द्वारा ग्रन्थकारने धर्मों का
उद्देश नहीं किया है। पुनः इसे कहने की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए यह ग्रन्थ किसी
आशङ्का के उत्तर में कहा गया है उदयनने इसी की पुष्टि के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ के अवतरण
में कहा है कि प्रभाकर मत में शक्ति, संख्या तथा सादृश्य को पदार्थान्तर के रूप से स्वीकार
किया गया है। परन्तु वैशेषिक मत के अनुसार पदार्थों के उद्देश करते हुए प्रशस्तपाद के उन
पदार्थों के उद्देश न करने से अर्थात् उन पदार्थों के विषय में मौन धारण करने के कारण यह
शङ्का होती है कि शक्ति, संख्या तथा सादृश्य का खण्डन अथवा उद्देश न रहने के कारण यह
पदार्थ विभाग या उद्देश न्यूनतादोषयुक्त है। इस आशङ्का के उत्तर में प्रशस्तपाद के ग्रन्थ
का अवतरण समझना होगा। यह विचारणीय है कि उक्त शङ्का का प्रस्तुत ग्रन्थ से समा-
धान किस प्रकार से हो सकता है। प्रशस्तपाद ने कहा है कि पूर्व पंक्तियों द्वारा धर्मों को छोड़
कर केवल धर्मियों का उद्देश किया गया है। पदार्थों के धर्म के विषय में उद्देशग्रन्थ में कुछ
भी नहीं कहा गया है। वहां धर्मों की आलोचना अप्रासङ्गिक भी होता। इसके आगे
साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरण में आलोचित धर्म वस्तुतः पूर्वोक्त धर्मियों के अन्तर्गत है। उद्देश-
ग्रन्थ में उन्होंने गुणों का उल्लेख किया तथा साधर्म्यवैधर्म्य प्रकरण में उन्हीं गुणरूप धर्मियों
को द्रव्य के धर्मरूप से कहा गया है। साधर्म्यवैधर्म्य प्रकरण में जिस धर्मी के जो धर्म कहे गये
हैं वह पूर्वोक्त धर्मियों के अन्तर्गत ही हैं। शक्ति, संख्या, सादृश्य आदि धर्म उद्दिष्ट द्रव्यादि
धर्मी के अन्तर्गत होने से, अर्थात् उक्त धर्मियों से पृथक् पदार्थ न होने से उद्देश ग्रन्थ में
उनका उल्लेख आवश्यक नहीं था। अतः शक्ति, संख्या तथा सादृश्य षड्विध पदार्थों में
अन्तर्भुक्त होने के कारण उद्देश ग्रन्थ मे उनके पृथक्रूप से अनुल्लेख न्यूनता का परिचायक
नहीं है। उद्देश ग्रन्थ में उनका उल्लेख करना ही अन्याय्य होता। यही उदयनाचार्य की
व्याख्या का अभिप्राय है।

कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ में शक्ति को पदार्थान्तर अर्थात् वैशेषिकसम्मत
द्रव्यादि षट्पदार्थों के अतिरिक्त ही कहा गया है। क्योंकि द्रव्य, गुण, कर्म आदि सब
पदार्थों में ही शक्ति है प्रतीत होता है[1]। इस प्रकार सकलपदार्थसाधारण धर्म वैशेषिक
स्वीकृत षट्पदार्थ में अन्तर्भूत नहीं हो सकता है। वैशेषिक मत में अभाव षट्पदार्थ-
साधारण-धर्म हो सकता है परन्तु शक्ति का अभाव में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

---

१. शक्तयः सर्वभावानां नानुयोज्याः स्वभावतः। तन्त्रवार्तिक, पृ० ३७८।

क्योंकि शक्ति भावपदार्थ है। शक्ति का द्रव्य में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि वह गुण में भी रहती है। द्रव्य कभी गुण में आश्रित नहीं होता। शक्ति गुण, क्रिया, जाति आदि पदार्थों में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकेगी क्योंकि वह सामान्य में भी रहती है। समवाय भट्टमत में स्वीकृत नहीं है। इस लिए शक्ति का अन्तर्भाव समवाय में भी नहीं हो सकेगा। फलतः वैशेषिक स्वीकृत षट्पदार्थ के किसी में शक्ति का अन्तर्भाव नहीं होगा। वह पदार्थान्तर ही होगा।

मानमेयोदयकार भट्टमतानुसार प्रमेयों के वर्णन करते हुए शक्ति को गुण में अन्तर्भुक्त किए हैं[1]। वे सम्भवतः गुणादि का निर्गुणत्व स्वीकार नहीं करते हैं। क्योंकि पृथक्त्व, संख्या, आदि गुण गुणों के धर्मरूप से प्रतीत होते हैं। 'रूप रस से पृथक् है' (रूपं रसात् पृथक्' 'एक रूप है' (एकं रूपम्) आदि बाधरहित प्रतीति के कारण कोई-कोई गुण गुण में आश्रित है यह प्रतीत होता है। अतः उन्होंने शक्ति का भी गुण में अन्तर्भाव किया जा सकता है समझते है। परन्तु गुण में विशेष कोई गुण रहता है यह बात कुमारिल भट्ट की किसी पंक्ति द्वारा समर्थन नहीं कर पाए हैं। हमें कुमारिल भट्ट की इस प्रकार कोई भी पंक्ति प्राप्त नहीं हुई जिससे उक्त मत का समर्थन हो। अतः मानमेयोदयकार के मत को हम भट्टमत के रूप से स्वीकार नहीं कर सकते हैं। गुणादि के निर्गुणत्व अत्यन्त प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस विषय में मतभेद रहने पर भट्टपाद अवश्य ही किसी न किसी अवसर पर उसका उल्लेख किए होते। शास्त्रदीपिकाकार शक्ति को पदार्थान्तर ही कहे हैं[2]। अतः हम शक्ति का पदार्थान्तरत्व ही कुमारिलसम्मत है समझ रहें है।

शक्ति क्यों स्वीकार करते हैं इसका कारण मीमांसक सम्प्रदाय निम्नलिखित रूप प्रदर्शन करते हैं। बीज से अङ्कुरोत्पत्ति तथा वह्नि से दाह होता है। बीज न रहने पर अङ्कुरोत्पत्ति नहीं तथा बह्नि के अभाव में दाह नहीं होता है। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक के कारण ही बीज तथा वह्नि को अङ्कुर तथा दाह का कारण कहा जाता है। परन्तु बीज यदि बीजत्व अथवा अन्य किसी धर्म के कारण अङ्कुर का कारण हो अथवा वह्नि भी यदि उक्त प्रकार से कारण हो तो भर्जित अथवा मुषिकाघ्रात बीज में बीजत्व रहने के कारण अङ्कुरोत्पत्ति क्यों नहीं होती? इसी प्रकार मणि, मन्त्र अथवा औषधी के प्रयोग से प्रज्वलित वह्नि रहते हुए दाह क्यों नहीं होता है? अतः यह स्वीकार करना होगा कि बीज अथवा वह्नि में बीजत्व अथवा वह्नित्व से अतिरिक्त कोई धर्म होता है जिसके कारण बीज से अङ्कुर तथा बह्नि से दाह होता है। उस धर्म को, जिसकी उपस्थिति रहने पर बीज तथा वह्नि अङ्कुर तथा दाह उत्पन्न करता है, उसे मीमांसक शक्ति

---

१. मानमेयोदय, पृ० १००।
२. शास्त्रदीपिका, पृ० ८०।

कहते हैं। बीज या वह्नि में इसकी उपस्थिति के बिना बीज या वह्नि अङ्कुर अथवा दाह उत्पन्न कर नहीं सकता है। बीज या वह्नि में अङ्कुर अथवा दाहकारणत्व अन्य प्रकार से उपपन्न नहीं होता है। इसी लिए शक्तिरूप पदार्थान्तर की सिद्धि होती है। अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने के कारण जो कल्पना की जाती है उसे ही अर्थापत्ति कहते हैं[१]। यद्यपि तन्त्रवार्त्तिक में कुमारिलने किसी-किसी स्थान में शक्ति को अनुमान का विषय कहा है परन्तु वहां अनुमानशब्द से अन्यथानुपपत्तिमूलक अर्थापत्तिरूप अर्थ ही ग्रहण करना उचित है। क्योंकि भट्टपाद ने श्लोकवार्त्तिक के अर्थापत्ति प्रकरण में ही शक्ति की आलोचना की है। पार्थसारथि मिश्र ने भी शास्त्रदीपिका में अर्थापत्ति को ही शक्ति के विषय में प्रमाण कहा है[२]। प्रस्तुत शङ्का के उत्तर में कहा जा सकता है कि बीजत्व पुरस्कृत बीज अथवा वह्नित्व पुरस्कृत वह्नि यथाक्रम अङ्कुर तथा दाह के प्रति कारण होने में बाधा नहीं। क्योंकि भर्जन अथवा मुषिकाघ्राण अङ्कुरोत्पत्ति के, तथा मणि, मन्त्र तथा ओषधि दाहोत्पत्ति के प्रतिबन्धक होने से तत्तत् स्थलों में अङ्कुरोत्पत्ति अथवा दाहोत्पत्ति नहीं होती हैं। कारण के रहते हुए प्रतिबन्धक की उपस्थिति में कार्योत्पत्ति नहीं होती यह अनुभवसिद्ध है। अतः उल्लिखित प्रकार से अन्यथानुपपत्ति के कारण शक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है। परन्तु मीमांसक मत में आघ्राण अथवा भर्जन क्रिया के नाश के पश्चात् काल में भी भर्जित या आघ्रातबीज से अङ्कुरोत्पत्ति देखी नहीं जाती है। इसलिए अंकुरोत्पत्ति में भर्जन या आघ्राण को प्रतिबन्धक स्वीकार करना उचित नहीं है। अतः आघ्राण या भर्जन क्रिया से बीज की अंकुरोत्पादिका शक्ति विनष्ट होने के कारण शक्तिहीन बीज से अंकुरोत्पत्ति न होगी। इसी प्रकार मणि, मन्त्रादि प्रयुक्त होने पर दाहानुकूल शक्ति नष्ट होने के कारण वह्नि शक्तिहीन होने से दाह को उत्पन्न नहीं कर सकता है। सर्वत्र कार्यानुकूल शक्ति ही कारणतावच्छेदक होगी बीजत्व या वह्नित्व नहीं। अलौकिक यागादि में यागादिनिष्ठ स्वर्गानुकूलशक्ति तथा क्षणस्थायी याग के विनाश के पश्चात् वह शक्ति आत्मनिष्ठ होती है। मीमांसकों की कल्पनानुसार हम सहजशक्ति, आधेयशक्ति तथा शब्दशक्ति भेद से शक्ति को तीन प्रकार कह सकते हैं। बीजादि की

---

१. तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणे।
कार्यादर्शनतः शक्तेरस्तित्वं सम्प्रतीयते॥
कार्यस्य ननु लिङ्गत्वं न सम्बन्धानपेक्षणात्।
दृष्टा सम्बन्धिताऽञ्चैषा शक्तिर्गम्येत नान्यथा॥
श्लोकवार्त्तिक, अर्थापत्तिपरिच्छेद, ४७-४८।

२. शक्तिः कार्यानुमेयत्वाद् यद्गतैवोपयुज्यते।
तद्गतैवाभ्युपेतव्या स्वाश्रयान्याश्रयापि वा॥
तन्त्रवार्त्तिक पृ० ३९८, शास्त्रदीपिका, पृ० ८०

अंकुरजननशक्ति आदि को सहजशक्ति, प्रोक्षण तथा अभ्युक्षणादिजन्य यज्ञीय धान्यादिगत-शक्ति को आधेयशक्ति तथा पदों में अर्थबोधानुकूल अनादिशक्ति को शब्दशक्ति समझना चाहिए। बीज अपने उत्पादक सामग्री से अंकुरोत्पादनशक्ति प्राप्त होता है। इसी कारण वह सहजशक्ति है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि श्रुति के अनुसार प्रोक्षण करने पर व्रीही आदि यागोपयोगी होते हैं अन्य व्रीही नहीं। व्रीही की उत्पत्तिकाल में वह शक्ति नहीं थी। प्रोक्षण के पश्चात् वह शक्ति उत्पन्न हुई। इसीलिए उसे आधेयशक्ति कहते हैं। मीमांसक मत में शब्द नित्य होने से उनकी अर्थप्रतिपादन शक्ति को सहज या आधेय नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शब्द के उत्पादक सामग्री न होने से, अथवा श्रुतिविहित किसी क्रिया से वह शक्ति नहीं आती है।

प्रभाकर मत में भी शक्ति पदार्थान्तर है।[१] सर्वपदार्थ-साधारण होने के कारण शक्ति का अन्तर्भाव द्रव्यादि षड्विध पदार्थ में नहीं हो सकता है। तथा पूर्वोक्त युक्ति से ही प्राभाकर मत में भी शक्ति सिद्ध होता है। भाट्ट मत से प्राभाकर मत का विशेष यह है कि प्राभाकर मत में अनुमान भी शक्ति में प्रमाण है केवल अर्थापत्ति नहीं। क्योंकि शालिकनाथ ने अनुमान प्रकरण में अदृष्टस्वरूप शक्ति अनुमान द्वारा भी सिद्ध होती है कहा है।[२] प्राभाकर मत में अर्थापत्ति शक्ति का प्रमापक नहीं समझना ठीक नहीं। अनुमान के तुल्य ही अर्थापत्ति से भी शक्ति सिद्ध हो सकती है। प्रमाणों की आलोचना में इसकी विस्तृत आलोचना की जाएगी।

मीमांसक लोग बीजादि में अंकुरादिकारणता अन्य प्रकार से उपपन्न नहीं होती अतः बीजादि में अंकुरजननशक्ति स्वीकृत हुआ समझते है। वैशेषिक मत में यह अन्यथानुपपत्ति स्वीकृत नहीं है। क्योंकि अन्य प्रकार से भी शक्ति की कल्पना किए बिना ही बीजादि की अंकुरादिकारणता की उपपत्ति हो सकती है। उनका अभिप्राय यह है कि बीजत्व पुरष्कृत बीज अथवा वह्नित्वपुरस्कृत वह्नि ही अंकुर अथवा दाह का कारण होगा। जिस स्थल में मुषिकाघ्राण आदि के कारण बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है वहां किसी प्रतिबन्धक विरोधी गुण की उपस्थिति के कारण ही वैसा होता है। कारण के रहते हुए प्रतिबन्ध के उपस्थित रहने पर कार्योत्पत्ति नहीं होती यह सर्ववादिसिद्ध है। प्रस्तुत स्थल में भर्जन अथवा मुषिकाघ्राण को अंकुरोत्पत्ति का प्रतिबन्धक इस कारण से स्वीकार नहीं करना सम्भव है कि भर्जन अथवा आघ्राण क्रिया के नाश हो जाने पर भी बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए भर्जन अथवा मुषिकाघ्राण से बीज में

---

१. अतः पदार्थान्तरमेवेदं शक्तिवत् संख्यावच्चेति प्रमेयपारायण एवोक्तम्। प्रकरणपञ्चिका, पृ० ११०-११।

२. सर्वभावानाञ्च शक्तिरदृष्टस्वलक्षणापि कार्येणानुमीयते। प्रकरणपञ्चिका, पृ० ८१

अंकुरविरोधी किसी गुण की उत्पत्ति होती है जिस हेतु उस बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है। भर्जन अथवा आघ्राण क्रिया के नष्ट होने पर भी वह विरोधी गुण के रहने के कारण उस बीज से पुनः अंकुरोत्पत्ति नहीं होती। इस रीति से बीजत्व-पुरस्कृत बीज से अङ्कुरोत्पत्ति की उपपत्ति होने से अन्यथानुपपत्ति के कारण शक्तिरूप पदार्थान्तर कल्पित नहीं हो सकता है। यद्यपि इस रीति में भर्जनादि से बीज में अङ्कुरोत्पत्ति विरोधीगुण-विशेष की कल्पना की गयी है तथापि यह कल्पना सर्वसम्मत गुणपदार्थ की ही कल्पना है। तथा शक्तिरूप पदार्थान्तर की कल्पना से लघुतर होने से सिद्धान्तानुसारी है। क्लृप्त पदार्थों से उपपत्ति होने पर आचार्यगण कल्पित का आश्रय नहीं लेते हैं। मन्त्रप्रयोग के स्थल में प्रयोगकर्त्ता में दाहविरोधी अदृष्ट की उत्पत्ति होती है।[1] उसी के कारण दाह प्रतिरुद्ध होता है। यह अदृष्ट अभिमन्त्रित अग्नि से दाह का प्रतिबन्धक होने से अन्य अग्नि-जन्य दाह की अनुपपत्ति न होगी। औषधिप्रयोग के स्थल में भी लीलावतीकार ने प्रयोग-कारी पुरुष का अदृष्टविशेष द्वारा ही दाह्यवस्तु में अग्निसंयोग के रहने पर भी दाहाभाव होता है कहा है[2]। परन्तु इस प्रकार की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। हमारे विचार से प्रलिप्त औषधि के रहने के कारण दाहाभाव होता है। अतः उक्त औषधि को ही दाह का प्रतिबन्धक कहा जा सकता है।

प्राभाकर मत में संख्या भी षट्पदार्थातिरिक्त पदार्थ हैं। तन्त्ररहस्य में इसका उल्लेख है।[3] लीलावती में संख्या के अतिरिक्तपदार्थत्व का खण्डन से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भी प्रभाकर मत में संख्या अतिरिक्त पदार्थ के रूप से ही स्वीकृत थी[4]। आचार्य उदयन भी उस मत का खण्डन किए हैं। प्रभाकरमत वाले कहते हैं कि वैशेषिकशास्त्रसम्मत षट्पदार्थ में इस प्रकार कोई पदार्थ नहीं है जो षट्पदार्थ-साधारण हो। संख्या समस्तपदार्थसाधारण धर्म होने से वह षट्पदार्थातिरिक्त ही होगा। एक अश्व, एक पुस्तक आदि अबाधित प्रतीति द्वारा एकत्वादि संख्याओं का द्रव्याश्रितत्व सिद्ध है। एक रस, एक क्रिया, एक जाति आदि अबाधित प्रतीति द्वारा गुण क्रिया, जाति आदि पदार्थों में भी संख्या का आश्रयत्व सिद्ध होता है। अतः संख्या सकल पदार्थ का ही साधारणधर्म है स्वीकार करना आवश्यक है। इस रीति से संख्या का अतिरिक्त पदार्थत्व की सिद्धि की जाती है।

---

१. लीलावती, पृ० ५६।

२. औषधिलिप्तकाष्ठादिषु कथमदाह इति चेन्न। तत्रापि औषधिलेपकारिपुरुषसमवेता-दृष्टस्य दाहप्रतिपक्षभूतस्योत्पादनात्। लीलावती, पृ० ५६–७।

३. द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्तिसंख्यासादृश्यान्यष्टौ पदार्थाः। तन्त्ररहस्य, पृ० २०।

४. लीलावती पृ० ३४३।

परन्तु वैशेषिकवादी का कहना है कि एक गुण, एक क्रिया आदि प्रतीति द्वारा संख्या को सर्वपदार्थसाधारण धर्म सिद्ध नहीं किया जा सकता है। भिन्नप्रकार सम्बन्ध के कारण भी उक्त प्रतीतियों की उपपत्ति हो सकती है। रूपरसादि गुणों में, उत्क्षेपणादि क्रियायों में, घटत्वादि सामान्यों में संख्या समवायसम्बन्ध से आश्रित न होने पर भी संख्या के समवायी द्रव्य में गुण, क्रिया तथा जाति के समवेत होने के कारण समवाय घटित सामानाधिकरण्य सम्बन्ध अर्थात् स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से गुणादि से संख्या का सम्बन्ध होता है। इसीलिए गुणादि पदार्थों में समवायसम्बन्ध से संख्या न रहने पर भी उन पदार्थों में संख्याश्रयत्व की प्रतीति हो सकती है। अतः पूर्वोक्त युक्ति से संख्या का पृथक् पदार्थत्व सिद्ध नहीं होता है।

सादृश्य भी प्राभाकर मत में षट्पदार्थ से अतिरिक्त पदार्थ है। 'गोसदृशो गवयः' प्रतीति से एक द्रव्य में अन्य द्रव्य का सादृश्य, 'रूपवत् रसोऽपि इन्द्रियग्राह्यः' आदि प्रतीति से एक गुण में गुणान्तर का सादृश्य, 'गोत्वमिव अश्वत्वमपि नित्यम्' आदि प्रतीति से एक जाति में जात्यन्तर का सादृश्य सिद्ध होता है। इन अबाधित प्रतीतियों से सादृश्य का सर्व-पदार्थसाधारणत्व सिद्ध है। सर्वपदार्थसाधारण धर्म होने के कारण सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ होगा। वैशेषिक मत में उक्त युक्तियों से अतिरिक्त पदार्थत्व की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि प्रथम दृष्टान्त में शृङ्ग, लाङ्गुल आदि द्रव्य ही गवय में गोसादृश्य है द्वितीय उदाहरण में इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्व ही रस में रूप का सादृश्य है, तृतीय स्थल में ध्वंसाप्रतियोगित्व ही अश्वत्व में गोत्व का सादृश्य है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी सादृश्य का स्वरूप समझना होगा। स्थल भेद से सादृश्य भिन्न भिन्न तथा द्रव्यादि षट्पदार्थ में ही अन्तर्भूत होने के कारण उस को अतिरिक्त पदार्थ कहना कदापि उचित नहीं है। प्राभाकर मतवादी सादृश्य को सर्वत्र एक प्रकार होते हुए सब पदार्थों में वर्त्तमान है यह समझकर ही उसको सर्वपदार्थसाधारण एक धर्म होने से अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करते हैं। परन्तु भिन्न भिन्न स्थल में सादृश्य का स्वरूप भिन्न है। सब पदार्थों में रहने पर भी सादृश्य षट्पदार्थ के अन्तर्गत ही है यह प्रदर्शित हो चुका है। भाट्ट मत में सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार नहीं किया गया है[1]। उस मत में बहुलावयवसंयोग आदि को ही अर्थात् प्रतियोगि-गत गुण-क्रियादि-समान-जातीय गुण, क्रिया आदि को ही अनुयोगिगत सादृश्य रूप से स्वीकार किया जाता है। अतः भाट्टमत में सादृश्य पदार्थान्तर नहीं है।

किरणावली पदार्थोद्देश प्रकरण समाप्त।

---

१. श्लोकवार्त्तिक् उपमान परिच्छेदश्लोक पृ० १८-२०।

यदि च धर्मा अपि षड्भ्यो नातिरिच्यन्ते तथापि त एव परस्परमङ्गतापन्नाः परस्परविवेकायोपयोक्ष्यन्त इति पृथगुच्यन्त इत्यभिप्रायवानाह षण्णामपीति[1]। अपिरभिव्याप्तौ।

[यद्यपि धर्मसमूह (द्रव्यादि) भी षड्विध (पदार्थ) से पृथक् नहीं है (यह सत्य है) तथापि (धर्म तथा धर्मी के) परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रहने के कारण धर्मियों के परस्पर विवेक के लिए (अर्थात् एक धर्मी से अपर धर्मी को व्यावृत्तरूप से समझने के लिए) धर्मियों के उद्देश के पश्चात् भी धर्मों के पृथक् रूप से (उद्देश का) उपयोग है। इसीलिए ही धर्मों का पृथक् रूप से निर्वचन आवश्यक है–इस अभिप्राय से ही (आचार्य प्रशस्तपादने) षन्नामपि' आदि ग्रन्थ की अवतारणा किया है। यहां 'अपि' यह पद अभिव्याप्तिरूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (अर्थात् 'षन्नामपि' इस परममूल के 'अपि' पद का अर्थ अभिव्याप्ति है।]

द्रव्यादि षड्विधपदार्थों के उद्देश (नामसंकीर्त्तन) के पश्चात् प्रशस्तपादाचार्य 'षण्णामपि' आदि ग्रन्थ द्वारा उनके साधर्म्यवैधर्म्यों का निरूपण कर रहे हैं। 'समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः, तेषां भावः साधर्म्यम्' तथा 'विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः तेषां भावो वैधर्म्यम्' इस प्रकार की व्युत्पत्ति के बल पर समान धर्म तथा विरुद्ध धर्म को क्रमशः साधर्म्य तथा वैधर्म्य पदों का अर्थ समझना पड़ेगा। इस प्रकरण में समान धर्म अथवा विरुद्ध धर्मके रूप से जिन धर्मों का निरूपण होगा वे पूर्वोक्त द्रव्यादि षड्विधपदार्थों में ही अन्तर्भूत है। शङ्का हो सकती है कि इन्हीं (साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूपी) पदार्थों का 'उद्देश ग्रन्थ' में द्रव्य गुण आदि संज्ञाओं से उद्देशात्मक निरूपण हो चुका है। अब पुनः इनके निरूपण की आवश्यकता नहीं है। इसलिए पदार्थों के उद्देश के पश्चात् भी साधर्म्य तथा वैधर्म्यों के निरूपण का अवकाश है इसी के प्रतिपादन के लिए आचार्य उदयन ने 'यदि च धर्माः⋯ ⋯' आदि पंक्तियों की अवतारणा की है। उनका अभिप्राय है कि यद्यपि यह साधर्म्य तथा वैधर्म्य वस्तुतः पूर्वोद्दिष्ट द्रव्य गुण आदि षडविध पदार्थों से अतिरिक्त नहीं है तथापि उद्देशप्रकरण की सहायता से द्रव्यादि पदार्थों के सामान्यज्ञान प्राप्त होने पर भी केवल उस प्रकरण के बल पर कौन पदार्थ किस पदार्थ की अपेक्षा में अङ्गी (प्रधान अर्थात् आधार) है तथा कौन पदार्थ किस पदार्थ की अपेक्षा में अङ्ग (अप्रधान

१. षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि। प्रशस्तपाद, पृ० १७।

अर्थात् आधेय) है यह जानना सम्भव न होगा। फलतः एक पदार्थ से अपर पदार्थ की समानता अथवा विषमता का ज्ञान न हो पाने से उन पदार्थों के तत्त्व (स्वरूप) का ज्ञान असम्पूर्ण ही रह जाएगा। साधर्म्य तथा वैधर्म्यों के निरूपण होने से पदार्थों के परस्पर समानता तथा वैषम्य का ज्ञान होने से उनका तत्त्वज्ञान की न्यूनता दूर हो जाएगी। इसीलिए प्रशस्तपादाचार्यने पदार्थों के उद्देश के पश्चात् उनके साधर्म्य तथा वैधर्म्यों के निरूपण का प्रयास किया है।

'षण्णामपि' यह परममूल के 'अपि' पद अभिव्याप्तिरूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि अस्तित्व, अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्वरूप धर्म द्रव्यादि छहों पदार्थों में अभिव्याप्त (प्रत्येक पदार्थ में सर्वत्र तुल्यरूप से व्याप्त) है। अर्थात् द्रव्यादि पदार्थ, उनके आन्तर्गणिक भेद तथा उनके किसी भी व्यक्ति विशेष में अस्तित्व, अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्व समान रूप से वर्त्तमान है। पदार्थों के अन्तर्गत किसी व्यक्ति विशेष में अस्तित्वादि धर्म है तथा किसी व्यक्ति विशेष में वह धर्म नहीं है इस प्रकार की आशङ्का का अवसर नहीं है।

'षण्णामपि' इस पंक्ति के अपि पद का उल्लिखित प्रकार की व्याख्या समीचीन है या नहीं इसका विचार आवश्यक है। क्योंकि यदि आचार्य प्रशस्तपादने 'षण्णां पदार्थानाम्' यह प्रयोग किया होता तब भी षड्विध पदार्थ ही असङ्कुचित रूप से ही उल्लिखित होते। फलतः अभिव्याप्ति रूप अर्थ अपि पद के बिना ही प्राप्त होने में बाधा नहीं थी। सामान्यबोधक पद के प्रयोगस्थल में यदि बाधा न हो तो (सामान्य) अर्थ का संकोच बुद्धिस्थ नहीं होता है यही सिद्धान्त शब्दशास्त्र के आचार्यो का है। अतः 'षण्णां पदार्थानाम्' प्रयोग से भी अस्तित्व आदि पूर्वोक्त धर्म किसी एक भी पदार्थव्यक्तिविशेष को परित्याग न करते हुए निखिल द्रव्यादि षट् पदार्थो का साधारण धर्म है यह स्पष्ट हो जाता। और यह भी विचारणीय है कि आगे चलकर आचार्य प्रशस्तपाद ने अन्य साधर्म्यों के प्रदर्शन के अवसर में अभिव्याप्तिबोधक पदान्तर (अपि आदि) के प्रयोग के बिना ही सामान्यरूप से पदार्थों का उल्लेख किया है। यदि सामान्यबोधक पदों के प्रयोगस्थल में अर्थ के सङ्कोच के कारण उपस्थित न रहने पर भी संकुचित अर्थ में ही उन सामान्यवाचक पदों को ग्रहण करना रीतिसम्मत होता तो आगे की पंक्तियों में भी उक्त प्रकार की आशङ्का के निरास के लिए (अपि आदि) पदान्तर अवश्य प्रयुक्त होते। हम देखते हैं कि 'पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामनेकत्वापरजातिमत्त्वे'[1] इस वाक्य से आचार्य प्रशस्तपादने 'अनेकत्व' तथा 'अपरजातिमत्त्व' रूप साधर्म्यों को उक्त पृथिव्यादि में अभिव्याप्त रूप से ही प्रतिपादन करने के अवसर में अभिव्याप्तिबोधक पदान्तर (अपि आदि) का प्रयोग नहीं किया है।

---

१. प्रशस्तपाद, पृ० ३४।

अतः यह समझा जा सकता है कि आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार भी सामान्यार्थ वाचक पदों के प्रयोग स्थल में अर्थसंकोच के कारण न रहने पर अशेष (असंकुचित) अर्थ की ही प्रतीति होती है। फलतः विधेयांश में उद्देश्यतावच्छेदक की अभिव्याप्ति अर्थात् व्यापकता बुद्धिस्थ होती है। अतः 'अपि' शब्द की प्रयोजनीयता की व्याख्या करते हुए किरणावली-कार ने जो कहा है वह सुसङ्गत प्रतीत नहीं होता है।[1]

प्रशस्तपादभाष्य की टीका 'सेतु' में पूर्वोक्त रूप अपि शब्द की व्याख्या की समा-लोचना करते हुए समाधान में कहा गया है कि समस्त द्रव्यों में अथवा समस्त गुणादि में अस्तित्वादि साधर्म्य नहीं है इस शङ्का के कारण अव्याप्ति की सम्भावना के परिहार के लिए ही अभिव्याप्तिबोधक अपि शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] परन्तु इस समाधान में भी पूर्वोलिलखित दोष है। 'षण्णां पदार्थानाम्' इस वाक्यांश से असंकुचितरूप से ही षट् पदार्थों का ग्रहण होने के कारण अव्याप्ति की सम्भावना ही नहीं रहती है। आश्चर्यजनक रूप से पद्मनाभ मिश्र ने प्रशस्तपादभाष्य की सेतु टीका में पूर्वोक्त रीति से किरणावली ग्रन्थ की समालोचना करने पर भी किरणावली की स्वलिखित भास्कर टीका में किरणा-वलीकार की व्याख्या का ही समर्थन भी किया है।[3] अतः पद्मनाभ मि[illegible] की व्याख्या को हम ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

प्रशस्तपादभाष्य की सूक्तिटीका में जगदीश ने अपि पद को समुच्चयार्थक कहा है। उनके कथनानुसार प्रशस्तपादने अपि शब्द से अभाव का समुच्चय किया है। इस प्रकार व्याख्या का किरणावली से सामञ्जस्य न रहने पर भी उसे मूल की स्वतन्त्र व्याख्या कहने में बाधा नहीं है।[4]

---

१. ननु च मन्दमेतत् षण्णामित्यसङ्कुचित पदादेव सर्वेषां द्रव्यादीनां प्राप्तेः सङ्कोचाभावे विनिगमकाभावेन सामान्यशब्दस्य सर्वप्रत्यायकत्वात्, अन्यथा पृथिव्युदकज्वलन-पवनात्ममनसामनेकत्वापरजातिमत्त्वमित्यत्रापि सकलपृथिव्यादिप्राप्त्यर्थं किञ्चिदुपा-देयम्। सेतु, पृ० ११४।

२. अत्र ब्रूमः—अपिरभिव्याप्तावित्यस्यापिना लक्षणस्य लक्ष्येऽभिव्याप्तिर्बोध्यतेऽव्याप्ति-शङ्कानिराकरणायेत्यत्र तात्पर्यम्। न च सर्वत्र तथा करणापत्तिरतिव्याप्तिनिरा-करणार्थमपि च क्वचित् करणापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतन्त्रेच्छत्वात् स्थितेरगतगतेश्चि-न्त्यमानत्वाच्चेति। सेतु, पृ० ११४-५।

३. सर्वस्य द्रव्यस्येत्याद्यभिव्याप्तिबोधकत्वान्नापि वैयर्थ्यमित्याह—अपिरिति। भास्कर, पृ० ४६।

४. अपि शब्देनाभावस्याप्युपसंग्रहः। सूक्ति, पृ० ११४।

इन व्याख्याओं के रहते हुए हमें प्रतीत होता है कि 'तावत्' आदि पद के तुल्य ही यहां अपि पद भी वाक्यालङ्कार के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए एक स्थान में वाक्य को अलंकृत करने पर भी प्रत्येक स्थल में ही उस प्रकार अलंकार का प्रयोग की वाध्यता ग्रन्थकार को नहीं है। फलतः 'पृथिव्युदक... ....' आदि साधर्म्य वर्णन के प्रसङ्ग में अपि शब्द का प्रयोग न रहने पर भी किसी प्रकार की न्यूनता ग्रन्थ में नहीं है। व्योमशिवाचार्य ने भी अपि पद की व्याख्या नहीं किया है। यदि इस अपि पद का कोई विशेष अर्थ उनके मन में होता तो अवश्य ही उस अर्थ का उल्लेख उन्होंने अवश्य किया होता। एतावता यदि व्योमशिवाचार्य के मन में भी अपि पद वाक्यालङ्कार के रूप में ही प्रयुक्त है यह समझा जाए तो अयौक्तिक न होगा।

अस्तित्वं विधिमुखप्रत्ययविषयत्वम्। प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्वमिति यावत्। अभिधेयत्वमभिधानयोग्यत्वमिति। शब्देन सङ्गतिलक्षणः सम्बन्धः। ज्ञेयत्वं ज्ञानयोग्यता। ज्ञाप्यज्ञापकभावलक्षणः सम्बन्धः।

[प्रकृत स्थल में) विधिमुखज्ञानविषयत्व ही अस्तित्व होगा। प्रतियोगिनिरपेक्षरूप से निरूपणयोग्यता ही उसका (अर्थात् अस्तित्व का) निष्कर्ष होगा। अभिधानयोग्यता ही अभिधेयत्व होगा। शब्द से (अर्थ का) सङ्गतिरूप सम्बन्ध को ही अभिधानयोग्यता समझना होगा। ज्ञानयोग्यता ही ज्ञेयत्व होगा। ज्ञाप्यज्ञापकभावरूप सम्बन्ध को ही ज्ञानयोग्यत्व समझना होगा।]

साधर्म्यनिरूपण के प्रसङ्ग में प्रशस्तपादने 'षण्णामपि' ... आदि ग्रन्थपंक्ति द्वारा द्रव्यादि षड्विध पदार्थों के समानधर्म के रूप में अस्तित्व, अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्व का उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि अस्तित्व आदि तीनों धर्म द्रव्यादि षड्विधभावपदार्थों में समान रूप से ही वर्त्तमान है।

किरणावलीकारने 'विधिमुखप्रत्ययविषयता' को ही अस्तित्व कहा है। विधिमुखप्रत्यय शब्द के अर्थ का अनुसन्धान करने पर स्थूलदृष्टि से भावत्वप्रकारकज्ञान ही प्राप्त होता है। द्रव्यादि समवायान्त प्रत्येक पदार्थ ही भावत्वप्रकारकज्ञान का विषय होता है। अतः इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है। तथा अभाव का भावत्वप्रकारकज्ञान न होने से अतिव्याप्ति भी नहीं है।

परन्तु भावत्व ही यदि अस्तित्व का स्वरूप हो तब भावत्व का स्वरूपनिर्वचन करना कठिन हो जाएगा। क्योंकि किसी पदार्थ का अस्तित्व यदि उसका भावस्वरूप होगा तब घटाभाव के अस्तित्व (जिसका बोध हमें घटाभावोऽस्ति वाक्य से होता है) घटाभाव

का भावत्व भी उपस्थित कर देगा।[१] प्रशस्तपादने अस्तित्व को द्रव्यादि षट्पदार्थमात्र का ही साधर्म्य कहा है। फलतः अभाव में भी जो धर्म हो उसे 'अस्तित्व' कहना सम्भव न होगा। हम कह चुके हैं कि 'घटाभावोऽस्ति' आदि प्रयोग सर्वदा हो रहा है। अतः 'विधिमुखप्रत्ययविषयत्व' रूप लक्षण से अस्तित्व का निरूपण करना सम्भव नहीं है। इसी आपत्ति को मनोगत रखकर उदयनाचार्य ने 'प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्व' ही विधिमुखप्रत्ययविषयत्व तथा अस्तित्व का स्वरूप है कहा है।[२]

प्राथमिक दृष्टि से विचार करने पर यह निर्वचन में कोई दोष प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि द्रव्य से समवाय तक समस्त पदार्थ ही किसी प्रतियोगी की अपेक्षा न रखते हुए ज्ञान का विषय होते हैं। तथा कोई भी अभाव पदार्थ अपने प्रतियोगी द्वारा विशेषित होकर ही ज्ञान का विषय होता है। हम घटाभाव, पटाभाव आदि रूप से ही अभाव को ज्ञात होते हैं। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर 'प्रमेयम्' इस ज्ञान में द्रव्यादि समवायान्त समस्त भावपदार्थ के तुल्य ही अभाव भी विषय होता है। फलतः प्रतियोगिनिरपेक्षज्ञानविषयता अभाव में भी प्राप्त है। अतः 'विधिमुखप्रत्ययविषयता' अथवा 'प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणविषयता' को प्रशस्तपाद द्वारा निर्दिष्ट अस्तित्व' का स्वरूप कहना सम्भव न होगा। क्योंकि उक्त प्रकार अस्तित्व अभाव पदार्थ में रहने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति बनी रहेगी।[३] यह भी चिन्तनीय है कि यदि विधिमुखप्रत्ययविषयत्व का निर्वचन (व्याख्या) "प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्व" रूप किया जाए तो उस निर्वचन का विधिमुखत्व बना रहेगा कि नहीं ?

इन आपत्तिओं के लिए ही प्रकाशकारने स्वतन्त्ररूप से अस्तित्व का निर्वचन किया है। उन्होंने समवायभिन्नत्व, गुणत्वशून्यत्व तथा निर्विकल्पकाविषयत्व रूप तीन विशेषण से युक्त सविकल्पकज्ञानविषयत्व का अभाव को ही अस्तित्व कहा है।[४] इस निर्वचनानुसार समवायभिन्नत्व, गुणत्वशून्यत्व, निर्विकल्पकज्ञानाविषयत्वविशिष्ट सविकल्पकज्ञानविषयत्वाभाव-रूप ही अस्तित्व कहा गया है। यह एक विशिष्टाभाव है। विशिष्टाभाव के लिए किसी विशेषण का अभाव अथवा स्वयं विशेष्य की अनुपस्थिति ही पर्याप्त होता है। अर्थात् इस स्थल में समवाय, गुणत्व अथवा निर्विकल्पकज्ञानविषयता

---

१. नन्वस्तित्वमस्तीति वेद्यत्वं, तदभावेऽप्यस्तीत्यत आह। प्रकाश, पृ० १३७।

२. विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वस्वरूपमभावेऽप्यस्तीत्यत आह। प्रकाश, पृ० १३७।

३. यद्यपि प्रमेयत्वेनाभावो ज्ञायमानः प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपण एवेत्यतिव्याप्तिः। प्रकाश, पृ० १३७।

४. तथाप्यसमवायित्वे गुणत्वशून्यत्वे च सति सविकल्पकमात्राविषयत्वं भावत्वम्। प्रकाश, पृ० १३७–८।

में कोई भी एक के रहने से ही सविकल्पकज्ञानविषयत्वाभाव रहते हुए उक्त विशिष्टाभाव बन जाएगा। इसी प्रकार समवायभेद, गुणत्वाभाव, निर्विकल्पकज्ञानविषयत्वाभावों के रहते हुए भी यदि केवल सविकल्पकज्ञानविषयत्व रहता है तब भी उक्त प्रकार का विशिष्टाभाव बनता है।

द्रव्य कर्म तथा जाति (सामान्य) में निर्विकल्पकज्ञानविषयत्व रहने से वहां विशिष्टाभावरूप अस्तित्व बना। गुणों में गुणत्व रहने से ही विशिष्टाभावसम्पत्ति हुई। समवाय में समवायभिन्नत्व न रहने से विशिष्टाभाव रहा। अतः इस प्रकार 'अस्तित्व' षट्पदार्थ में ही प्राप्त हो जाता है।

अब प्रत्येक विशेषण की उपयोगिता का विचार करने से देखा जाता है कि प्रथम विशेषण समवायभिन्नत्व के न रहने से समवाय पदार्थ में गुणत्वशून्यत्व तथा निर्विकल्पकज्ञानाविषयत्व के साथ ही सविकल्पकज्ञानविषयता के रहने के कारण सविकल्पकज्ञानविषयत्वाभावरूप विशिष्टाभाव सम्पत्ति नहीं हुई। वहां समवाय गुणत्वरहित तथा अतीन्द्रिय होने से निर्विकल्पकज्ञान का विषय नहीं। परन्तु अनुमानगम्य होने से सविकल्पकज्ञान का विषय ही है। अतः उक्त दो विशेषणविशिष्ट सविकल्पकज्ञानविषयत्व-रूप विशेष्य का अभाव नहीं बना। फलतः समवाय में विशिष्ट का अभावरूप अस्तित्व नहीं रहेगा। इस अव्याप्ति के वारण के लिए समवायभिन्नत्व विशेषण दिया गया। समवाय समवायभिन्न नहीं है। अतः गुणत्वशून्य तथा निर्विकल्पकज्ञानाविषय होते हुए सविकल्पकज्ञानविषयत्व के रहने पर भी समवायभिन्नत्व रूप विशेषण के अभाव में तादृश तीन विशेषणयुक्त सविकल्पकज्ञानविषयत्व उसमें न रहने से तादृशविशेषणविशिष्ट विशेष्य का अभावरूप अस्तित्व बना। अव्याप्ति नहीं रही।

द्वितीय विशेषण गुणत्वशून्यत्व के न रहने से—ज्ञान, इच्छा, कृति आदि सविषयक गुणों का विषयाविशेषितज्ञान नहीं होता है। अर्थात् विषयसम्बन्धरहित होकर उन गुणों का ज्ञान नहीं होता। इसलिए उनका निर्विकल्पकज्ञानाविषयत्व सिद्ध है। उनमें समवायभिन्नत्व भी है। इस स्थिति में दोनों विशेषणों से युक्त सविकल्पकज्ञानविषयत्वरूप विशेष्य ही उन गुणों में रहने से उक्त विशेषणविशिष्ट विशेष्य का अभावरूप विशिष्टाभावरूपी अस्तित्व उन गुणों में नहीं रहेगा। अव्याप्ति होगी। परन्तु गुणत्वशून्यत्व विशेषण के देने से शेष दो विशेषणविशिष्ट सविकल्पकज्ञानविषयत्व रहने पर भी गुणत्वाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावरूप अस्तित्व बन जाने से अव्याप्ति न होगी।

तृतीय विशेषण निर्विकल्पकज्ञानाविषयत्व के न रहने से द्रव्यमात्र में अस्तित्व का लक्षण अव्याप्त होगा। सभी द्रव्य समवायभिन्न, गुणत्व-शून्य तथा सविकल्पकज्ञानविषय ही हैं। तृतीय विशेषण के देने पर अन्य विशेषणों के रहने पर भी निर्विकल्पकज्ञाना-

विषयत्वरूप विशेषण के अभाव में विशिष्टसविकल्पकज्ञानविषयता न रहने से विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभावरूप अस्तित्व भी बन जाएगा।

प्रकाशकारने अस्तित्व का जो निर्वचन किया है उसके अनुसार विशेष पदार्थ में 'अस्तित्व' नहीं बनेगा। वैशेषिकसिद्धान्तानुसार विशेष अतीन्द्रिय पदार्थ होने से निर्विकल्पक-विषयत्व उसमें होना सम्भव नहीं। तथा समवायभिन्न और गुणत्वशून्य होते हुए सविकल्पक-ज्ञान का विषय ही है। अतः तीनों विशेषणों से युक्त सविकल्पज्ञानविषयत्व का अभावरूप अस्तित्व उस (विशेष पदार्थ) में बन नहीं सकेगा। फलतः प्रशस्तपाद का 'षण्णामपि' कहना व्यर्थ हो जाएगा। इस लिए प्रकाशकार का निर्वचन समीचीन है कहना ठीक न होगा।

प्रकाश के मुद्रित पुस्तकों में 'समवायभिन्नत्व' विशेषण के स्थान पर 'असमवायित्व' ही विशेषणरूप से प्राप्त है[१]। यदि 'असमवायित्व' को ही विशिष्टाभाव के लिए आवश्यक विशेषण माना जाए तो विशेष के 'असमवायि' (अर्थात् समवाय सम्बन्ध के सम्बन्धी न होना) न होने से इसी विशेषण के अभाव के कारण उस (विशेष) पदार्थ में उक्त विशिष्टा-भाव की सम्पत्ति हो जाने से अस्तित्वलक्षण की अव्याप्ति न होगी। परन्तु तब 'असमवायि' अर्थात् समवायसम्बन्ध के सम्बन्धी न होने के कारण समवाय में अस्तित्व के लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि समवाय किसी पदार्थ में समवायसम्बन्ध से न रहने से वह (समवाय) 'असमवायि' पदार्थ है यह वैशेषिकमत में स्वीकृत है। समवाय में गुणत्वशून्यत्व, निर्विकल्पकज्ञानाविषयत्व तथा सविकल्पकज्ञानविषयता रहते हुए 'असम-वायित्व' के रहने से लक्षण के चारो अंश वर्त्तमान होने के कारण विशिष्टाभावरूप अस्तित्व किसी उपाय से नहीं बनेगा।

यह भी विचारणीय है कि मुद्रितपाठ को यथार्थ मानने पर केवल 'असमवायित्व' विशेषण से ही ज्ञानादि सविषयकगुणों के समवायसम्बन्ध के सम्बन्धी होने के कारण उनमें असमवायित्वरूप विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावसम्पत्ति हो जाती है। अतः उनमें अव्याप्तिवारण के लिए गुणत्वशून्यत्वरूप विशेषण की आवश्यकता भी नहीं रहती है। इसी प्रकार द्रव्यपदार्थ में अव्याप्तिवारण के लिए 'निर्विकल्पकविषयत्व' विशेषण की भी आव-श्यकता न रहेगी। क्यों कि द्रव्यमात्र ही समवायसम्बन्ध का सम्बन्धी होने से द्रव्यपदार्थ में 'असमवायित्व' विशेषण के अभाव रहने से ही विशिष्टाभावसम्पत्ति हो जाती हैं। अतः गुणत्वशून्यत्व तथा निर्विकल्पकविषयत्वरूप दोनों विशेषण 'असमवायित्व' विशेषण से ही गतार्थ हो जाता है। इस स्थिति में प्रकाश के मुद्रितपाठ 'असमवायित्व' के स्थानपर यदि 'असमवाय' (अर्थात् समवायभिन्नत्व) किया जाए तब तत्काल प्रकाशकार के अस्तित्व का

---

१. असमवायित्वे। प्रकाश, पृ० १३७।

निर्वचन व्यर्थविशेषणतादोषदुष्ट न होगा। रूचिदत्तने भी यहां की व्याख्या में 'प्रतीक' के रूप में 'असमबाय इति' को ग्रहण कर 'असमवायित्व' पाठ को अस्वीकार भी किया है।[१] 'समवायभिन्नत्व' विशेषण यदि स्वीकार किया भी जाए तथापि विशेष पदार्थ में अस्तित्व लक्षण की अव्याप्ति होगी कहा जा चुका है। यदि उस अव्याप्ति के वारण के लिए 'विशेषभिन्नत्व' भी विशेषण देना आवश्यक हो तो इस प्रकार का आवश्यकतानुसार भेद के निवेशयुक्त निर्वचन पण्डितसमाज में आदृत न होगा।

इसी प्रकार से शब्दसमवायिकरणतया सिद्ध आकाश अथवा गुरुत्वत्व आदि अतीन्द्रिय जातिओं में भी पूर्वोक्त अस्तित्व के लक्षण का समन्वय न होगा। क्योंकि आकाश का स्वरूप शब्दसमवायिकारणता होने से उसकी विशिष्टरूपता के कारण निर्विकल्पकज्ञान होना सम्भव नहीं है।[२] अतः आकाश में समवायभिन्नत्व आदि चारो विशेषण के उपस्थित रहने से विशिष्टाभावरूप अस्तित्व आकाश में सिद्ध न होगा। यदि हम आकाश का निर्विकल्पकज्ञान स्वीकार करें तब यह अव्याप्ति दूर हो सकती है। परन्तु प्रत्यक्षातिरिक्त-ज्ञानमात्र के विषयभुत वस्तुओं का निर्विकल्पकज्ञान अनायास सिद्ध नहीं होगा। यदि उन वस्तुओं का निर्विकल्पकज्ञान स्वीकृत होता भी है तथापि प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानमात्र के विषयभूत अतीन्द्रियवस्तुगत जातिओं में पूर्वोक्त चारो विशेषणों की उपस्थिति रहने से विशिष्टाभावरूप अस्तित्व का लक्षण अव्याप्त ही होगा। मकरन्दकार रूचिदत्तने योगिओं के योगजज्ञान में भी निर्विकल्पकज्ञानपूर्वकता स्वीकार करते हुए अतीन्द्रिय पदार्थों में प्रकाशकार के अस्तित्व के लक्षण की अव्याप्ति को दूर किया है।[३] परन्तु यह भी चिन्तनीय है कि योगिओं के ध्यानज ज्ञान में अशेष विशेषों का प्रकाश होने से उन ज्ञानों को निर्विकल्पक अथवा निर्विकल्पकपूर्वक कहने की युक्ति नहीं है। यदि परमाणु, आकाश अथवा गुरुत्वत्व आदि अतीन्द्रिय वस्तुओं में अस्तित्व के लक्षण की अव्याप्ति वारण के लिए हम सविकल्पक-ज्ञानविषयत्व के स्थान पर सविकल्पकप्रत्यक्षविषयत्वका निवेश करते हैं तब उन अतीन्द्रिय वस्तुओं में सविकल्पकप्रत्यक्षविषयत्व का अभाव रहने के कारण विशिष्टाभाव की सम्पत्ति होती है। इससे अव्याप्ति का परिहार होने पर भी उन्हीं अतीन्द्रियवस्तुओं के अभाव में भी तीनों विशेषणों से युक्त सविकल्पकप्रत्यक्षविषयत्व का अभाव रूप अस्तित्व के बन जाने से अतिव्याप्ति परिहार का कोई उपाय न रहेगा।[४]

इन्हीं कारणों से रुचिदत्तने प्रकाश की व्याख्या में अस्तित्व के उक्त निर्वचन का

---

१. मकरन्द, पृ० १३७।

२. नन्वाकाशादावव्याप्तिस्तस्य सविकल्पमात्रविषयत्वात्। मकरन्द पृ० १३८

३. अथ योगिनिर्विकल्पकमादाय नोक्तदोषः। मकरन्द, पृ० १३८

४. अतीन्द्रियाभावेऽतिव्याप्तेश्च। मकरन्द, पृ० १३८

तात्पर्य "अतीन्द्रियभिन्न, गुणत्वाभावसमानाधिकरण, सविकल्पकमात्र का विषयभूत (इससे निर्विकल्पकाविषयत्व भी व्यञ्जित हुआ) पदार्थविभाजकोपाधिशून्यत्व है कहा है।[१] द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व तथा अभावत्व ही पदार्थविभाजक उपाधियां हैं। द्रव्यत्वादि समवायत्व तक छ पदार्थविभाजक उपाधि द्रव्यादि छ पदार्थों में होते हैं। अतः 'पदार्थविभाजकोपाधिशून्यत्व' को अस्तित्व का लक्षण कहने से उक्त किसी भी पदार्थ में अस्तित्व का लक्षण समन्वित न होने से इनमें अस्तित्व भी सिद्ध न होगा। इस लिए पदार्थविभाजकोपाधि के तीन विशेषण दिये गये हैं। वह तीन विशेषणों से युक्त कोई भी पदार्थविभाजकोपाधि द्रव्यादि में नहीं मिलेगा। केवल अभावत्व ही एक पदार्थ-विभाजकोपाधि है जिसमें उक्त तीनों विशेषण प्राप्त है। अभावत्वरूप पदार्थवि-भाजकोपाधि अतीन्द्रियभिन्न, गुणत्वाभावसमानाधिकरण तथा सविकल्पकमात्रवेद्य होने से उसमें विशिष्टाभाव नहीं बनेगा। अतः अभाव उक्त तीनों विशेषणयुक्त पदार्थ-विभाजकोपाधिशून्य न होने से अभाव में अस्तित्व का लक्षण नहीं घटेगा। फलतः अतिव्याप्ति न होगी। समवायत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधि में गुणत्वाभावसामानाधिकरण्य, सविकल्पकज्ञानमात्रविषयता रहने पर भी अतीन्द्रियभिन्नत्वरूप विशेषण के न रहने से विशेषणाभावप्रयुक्त उक्त विशिष्टाभाव की सम्पत्ति हो जाती है। अतः समवायत्व के रहने पर भी अतीन्द्रियभिन्नत्वादि विशेषणविशिष्ट पदार्थविभाजकोपाधि के न रहने से समवाय में अस्तित्व का लक्षण समन्वित होता है। विशेषत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधि भी अतीन्द्रिय होने से अतीन्द्रियभिन्नत्वरूप विशेषण के अभाव के कारण उक्त प्रकार विशिष्टपदार्थविभाजकोपाधि नहीं है। अतः विशेष पदार्थ में भी अस्तित्व सिद्ध होता है।

गुणत्व में गुणत्वाभावसामानाधिकरण्य न रहने से विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव सम्पत्ति होगी। कर्मत्व में सविकल्पकमात्रवेद्यत्व विशेषण के अभाव (अर्थात् निर्विकल्पक-ज्ञानविषयत्व) के कारण विशिष्टाभावसम्पत्ति होगी। प्रत्यक्षसिद्ध (घटत्व, गोत्व आदि) सामान्यों के सामान्यत्व-रूप पदार्थविभाजकोपाधि में भी सविकल्पकमात्रवेद्यत्व के अभाव (निर्विकल्पकज्ञानबिषयत्व) के कारण अस्तित्व लक्षण की सङ्गति होगी। अतीन्द्रिय सामान्यों के सामान्यत्व में अतीन्द्रियभिन्नत्व के अभाव के रहने से विशिष्टाभावसम्पत्ति होगी। प्रत्यक्षविषयीभूत घटादि के घटत्व मे सबिकल्पकमात्रवेद्यत्व के अभाव (निर्विकल्पक-ज्ञानविषयत्व) के रहने से तथा अतीन्द्रिय आकाशादिद्रव्यगत आकाशत्व में अतीन्द्रिय-भिन्नत्व के न रहने से विशिष्टाभावसम्पत्ति होगी। अतः अव्याप्ति न रहेगी। कहना

---

१. अत्र वदन्ति अतीन्द्रियभिन्नगुणत्वाभावसमानाधिकरण-सविकल्पकमात्रवेद्यपदार्थविभा-जकोपाधिशून्यत्वे तात्पर्यम्। मकरन्द, पृ० १३८

आवश्यक है कि रुचिदत्तने पदार्थविभाजकोपाधि शब्द से विभाजकधर्ममात्र का ग्रहण किया है। अतः घटत्व आकाशत्वादि धर्मों से भी लक्षण समन्वय हो सकेगा।[1]

उपर्युक्त निर्वचन को भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तु के अभाव में अवस्थित अभावत्व में अतीन्द्रियभिन्नत्व नहीं रहेगा। अतः उस अभावत्व में विशिष्टाभावसम्पत्ति होने से अतिव्याप्ति का वारण न होगा।

यदि इस विशेषण को केवल परिचायकमात्र कहा जाए तब इस अतिव्याप्ति का वारण हो सकेगा। क्योंकि इस प्रकार परिचायक से अभावत्व तथा क्रियात्व यह दो उपाधि ही लिए जा सकेंगे। अभावत्वरूप उपाधि में अतीन्द्रियत्व रहने के कारण अतीन्द्रिय-भिन्नत्व उसमें न रहने से अतिव्याप्ति न होगी। कहना न होगा कि अभावत्व में जिस प्रकार से अतीन्द्रियत्व रहने से अतीन्द्रियभिन्नत्व उसमें नहीं रहेगा उसी प्रकार क्रियात्व में भी अतीन्द्रियत्व के रहने से इन्द्रियग्राह्य क्रियागत क्रियात्व में भी अतीन्द्रियभिन्नत्व नहीं रहेगा।

परन्तु इस प्रकार मानने से अन्य विशेषणों को भी परिचायक कहना असङ्गत न होगा। क्योंकि उन विशेषणों की सार्थकता न रहेगी। केवल अतीन्द्रियभिन्न क्रियात्वभिन्न पदार्थविभाजकोपाधिशून्यता को ही अस्तित्व के लक्षण मानने पर अभीष्टसिद्धि हो जाएगी। यतः क्रियात्व तथा अभावत्व को छोड़कर अन्य कोई पदार्थविभाजकोपाधि ही अतीन्द्रियभिन्न नहीं है। द्रव्यत्वादि का अनुमान से ही सिद्धि होती है।[2] फलतः द्रव्यादि भावपदार्थों में अतीन्द्रियभिन्न क्रियात्वभिन्न पदार्थविभाजकोपाधि के रहने से (क्योंकि द्रव्यत्वादि उपाधि अतीन्द्रिय ही हैं) षड्विध भावपदार्थ में ही लक्षण समन्वय होगा। परन्तु घट, पट आदि को यदि अभावाभाव स्वरूप होने के कारण पुनः अव्याप्तिवारण के लिए पुनः उन चार विशेषणों को (परिचायक न मानकर) विशेषण ही कहा जाए तो पूर्व प्रदर्शित अतीन्द्रिय वस्तुओं के अभाव में अतिव्याप्ति बनी रहेगी। अतः इस निर्वचन को हम सर्वथा समीचीन नहीं कह सकते हैं।

सम्भवतः इसीलिए प्रकाशकार ने भावत्व को ही अस्तित्व कहा है।[3] भावत्व अभाव छोड़कर शेष सभी पदार्थों में होता है। अतः वह षड्विध पदार्थों का साधर्म्य हो

---

१. विभाजकोपाधिश्च न पदार्थविभाजक एव। किन्तु विभाजकमात्रमतो गुणविभाजक ज्ञानत्वादिमत्यतिव्याप्तिवारणाय गुणत्वाभावसमानाधिकरणत्वं प्रतियोगिविशेषणम्। मकरन्द, पृ० १३८

२. द्रव्यत्वमेव नास्ति गोत्वादिवदनुपलब्धेरिति केचित्। किरणावली, पृ० १५८

३. ......भावत्वं वा विवक्षितम्। प्रकाश, पृ० १३८; तथा च तदपेक्षया भावत्वमेव लघ्विति तदेवाह। मकरन्द, पृ० १३८-३९

सकता है। परन्तु भावत्व को अस्तित्व कहने से पुनः भावत्व का स्वरूप क्या है यह प्रश्न आता है। अभावभिन्नत्व ही यदि भावत्व हो तब घटाभावाभावरूप घट में अभावभिन्नत्व अव्याप्त होगा। यदि द्रव्यादिषट्कान्यतमत्व को[1] भावत्व का स्वरूप कहा जाए तो घटाभावाभावरूप घट में द्रव्यादि षट्पदार्थों का भेद न रहने से (क्योंकि घट में द्रव्यभिन्नत्व न रहेगा) वहां द्रव्यादिभिन्नभिन्नत्वरूप 'द्रव्यादिषट्कान्यतमत्व' बन जाएगा। अव्याप्ति न रहेगी।

परन्तु इस निर्वचन से अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति न होने पर भी द्रव्यादिषट्-कान्यतमत्व का ज्ञान द्रव्यत्वादि षट्पदार्थविभाजकोपाधिओं के ज्ञानसापेक्ष होने से उस प्रकार भावत्व का ज्ञान द्रव्यादि षट्पदार्थों के ज्ञान के विना न ही हो सकेगा। अतः दुर्ज्ञेय भावत्व की सहायता से साधर्म्यनिरूपण तत्त्वज्ञान के उपयोगी होगा यह हम नहीं समझते हैं। भावत्व को एक अखण्डोपाधि तभी माना जा सकता है यदि वह प्रत्यक्षप्रमाण-सिद्ध हो अथवा अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि हो सके। परन्तु वैसा कोई प्रत्यक्षप्रमाण अथवा कोई अनुमापक हेतु न होने से उस अखण्डोपाधि की सिद्धि न होगी। अतः भावत्वरूप साधर्म्य पदार्थतत्त्वज्ञान का उपयोगी है कहना कठिन है। इसी प्रकार काल-सम्बन्धित्व को भी अस्तित्व कहना सम्भव नहीं होता है। क्योंकि काल से सम्बन्ध अभाव के भी रहने के कारण उस प्रकार अस्तित्व अभाव में अतिव्याप्त होगा[2]। प्रशस्तपादने केवल षट्पदार्थ का ही साधर्म्य अस्तित्व को कहा है।

सूक्ति टीका में जगदीशने भावत्वविशिष्ट स्वरूपसत्त्व को अस्तित्व कहा है। उभया-वृत्ति अर्थात् जो द्वितीय किसी अधिकरण में आश्रित न हो उस धर्म को ही स्वरूपसत्त्व कहा गया है[3]। इस निर्वचन के अनुसार तादात्म्य अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्व को ही स्वरूप-सत्त्व समझना है। यह स्वरूपसत्त्व अभावात्मक व्यक्तियों में भी है। अतः अभाव में अति-व्याप्ति होगी। इसलिए जगदीशने भावत्व को स्वरूपसत्त्व में विशेषण दिया है। फलतः भावत्वविशिष्टस्वरूपसत्त्वरूप अस्तित्व की अतिव्याप्ति अभाव में न होगी। परन्तु भावत्व का निरूपण दुष्कर होने से हम इस निर्वचन को भी अभिनन्दित नहीं कर सकते हैं। भावत्व के स्वरूप का निर्वचन करना सम्भव होने पर वही अस्तित्व का भी स्वरूप हो सकता है। अतः विशेष्यांश अर्थात् स्वरूपसत्त्व की आवश्यकता नहीं होती है।

---

१. यद्वा द्रव्यादिषट्कान्यतमत्वमित्यर्थः। मकरन्द, पृ० १३६
२. नन्वस्तित्वं कालसम्बन्धित्वं तच्चाभावेऽतिव्याप्तम्। रहस्य, पृ० १६१
३. अस्तित्वं स्वरूपसत्त्वं तच्चोभयावृत्तिधर्मवत्त्वम्। अभावस्यालक्ष्यत्वे तु तादृशभावत्वं वाच्यम्। सूक्तिः पृ० ११४

सेतुटीकाकार पद्मनाभमिश्र अभावाविशेष्यकज्ञानविशेष्यत्व को भावत्व या अस्तित्व कहा है[१]। अभाव अभावाविशेष्यकज्ञान का विशेष्य हो नहीं सकता है। अतः अभाव में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी। परन्तु घट को घटाभावाभावात्मक स्वीकार किया जाता है। घटज्ञान अभावाविशेष्यक नहीं होने से घट में अस्तित्व का लक्षण अव्याप्त होगा। यदि इस अव्याप्ति के कारण अभावत्वाप्रकारकज्ञानविशेष्यत्व को भावत्व का लक्षण कहा जाए तो भी 'प्रमेयम्' इस प्रकार के ज्ञान में प्रमेयत्व प्रकार तथा अभावत्व अप्रकार भी है। उस ज्ञान की विशेष्यता सकलप्रमेयान्तर्गत अभाव में भी होने से अभाव में अस्तित्व लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

न्यायकन्दलीकार ने भी अस्तित्व को स्वरूपवत्त्व कहा है।[२] उनके मत में द्रव्यादि पदार्थ के अपना रूप ही स्वरूप है वही अस्तित्व भी है। सम्भवतः कन्दलीकार 'अपना रूप' शब्द से उभयावृत्ति धर्म को ही समझा है। हम इस निर्वचन में दोष को कह चुके हैं।

न्यायलीलावतीकारने अनेक मत मतान्तरों का विचार कर अन्त में अस्तित्व को 'सत्तासम्बन्धबुद्धि' कहा है। घट पट आदि पदार्थ में 'यह सत्' है इस प्रकार बुद्धि होती है। वह बुद्धि ही सत्तासम्बन्ध विषयक है।[३] यहां सम्बन्ध शब्द से समवाय अथवा स्वसमवायिसमवेतत्व को समझना है। यद्यपि समवाय या स्वसमवायिसमवेतत्व इन दो में किसी भी सम्बन्ध से सत्ताजाति समवाय मे नहीं रहती है तथापि उन सम्बन्धों के भ्रमात्मकज्ञान समवाय में सम्भव होता है।[४] उस भ्रमात्मक सत्तासम्बन्धज्ञान को लेकर समवाय में सत्तासम्बन्ध-बुद्धि हो सकती है। लीलावतीकारने आरोप तथा अनारोप उभयसाधारणरूप से ही सत्तासम्बन्धबुद्धि को अस्तित्व कहा है। अभाव स्वरूपतः (अर्थात् अभावत्व के रहने से) सत्तासम्बन्ध के विरोधी होने से अर्थात् 'सत्' इस प्रकार बोध के प्रतिकूल होने से भ्रम से भी अभाव के विषय में उस प्रकार ज्ञान होना सम्भव नहीं है।[५] इसीलिए अभाव में पूर्वोक्त उपाय से भी अस्तित्व की अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है। यदि अभाव को स्वरूपतः सत्तासम्बन्धबुद्धि के बिरोधी न मानकर ज्ञायमान अर्थात् किसी ज्ञान के विषयरूप से उपस्थित (ज्ञात) अभाव को ही सत्तासम्बन्धबुद्धिविरोधी माना जाए तब अभाव में पूर्वोक्त अस्तित्वलक्षण की अतिव्याप्ति दुष्परिहर हो जाएगी। क्योंकि 'प्रमेयं

१. अभावाविशेष्यकधीविशेष्यत्वस्य लक्षणत्वात्। सेतु, पृ० ११५
२. अस्तित्वं स्वरूपवत्त्वं षण्णामपि साधर्म्यम्। यस्य वस्तुनो यत् स्वरूपं तदेव तस्यास्तित्वम्। न्यायकन्दली, पृ० १६
३. नैवम्। सत्तासम्बन्धबुद्धिस्तावन्नाभाव इत्यध्यक्षसिद्धम्। लीलावती, पृ० ७६४
४. न चेयमनारोपिता, समवाये तदभावात्। लीलावती, पृ० ७६४
५. तथा चैवंविधारोपस्याभावो विरोध्येव। लीलावती, पृ० ७६४–५

सत्' इस प्रकार के सत्ता के ज्ञान में अभाव का भान (प्रमेयरूप से उपस्थिति) में कोई बाधा नहीं है। और यदि अभाव स्वरूपतः सत्तासम्बन्धबुद्धिविरोधी हो तो 'प्रमेयं 'सत्' इस प्रतीति में केवल उन्हीं प्रमेयों की उपस्थिति होगी जिनमें अभावत्व प्रकाररूप से भासमान न हो। इसीलिए हम ज्ञायमान अभाव को सत्तासम्बन्धबुद्धिविरोधी न कहकर स्वरूपतः अभाव को विरोधी कहते हैं। परन्तु भावाभाव-साधारण अभावत्व पक्ष में अर्थात् घट तथा घटाभावाभाव यदि अभिन्न माना जाए तो घट में अस्तित्व सिद्ध होने पर घटाभावाभाव में भी वह सिद्ध होगा। घट में भावत्व के साथ 'घटाभावाभावत्व' रूप अस्तित्व-विरोधी धर्म रहने से वहां अस्तित्व की सिद्धि होना सम्भव न होगा। यदि अभावाभाव को प्रतियोगीरूप न मानकर अतिरिक्त अभावरूप माना जाए तो पूर्वोक्त निर्वचन निर्दोष कहने में बाधा न रहेगी।

लीलावतीकार के अस्तित्वनिर्वचन की रीति से प्रतीत होता है कि उन्होंने इस निर्वचन में परम्परा को नहीं छोड़ा है। क्योंकि आचार्य व्योमशिवने भी अपने ग्रन्थ में अस्तित्व के स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'अस्ति' अथवा 'सत्' इस प्रकार के ज्ञान ही अस्तित्व है।[१] फलतः उन्होंने भी अस्तित्व को ज्ञानरूप गुणपदार्थ में अन्तर्भूत किया है। हम इस निर्वचन को लीलावतीकार के सत्तासम्बन्धज्ञानरूप अस्तित्व के निर्वचन में मूलभूत समझ सकते हैं।

इसी प्रकार से और भी निर्वचन हो सकता है। हम भावत्व को ही अस्तित्व कह सकते हैं। यद्यपि प्रारम्भ में हम भावत्व को अस्तित्व के स्वरूप कहने में दोषों को प्रदर्शित कर चुके हैं, भावत्व का निर्वचन ही दुष्कर है कहा जा चुका है। तथापि अभावत्वाभाव को भावत्व कहा जा सकता है। यह शङ्का हो सकती है कि पूर्ववत् घटाभावाभावत्वरूप अभावत्व घट में रहने से सामान्यतया अभावत्वाभावरूप भावत्व घट पटादि में न रहेगा अतः अव्याप्ति होगी। परन्तु अभावत्वरूप प्रतियोगी में समवायभिन्नत्वे सति असमवायित्व' विशेषण दिये जाने से वह अव्याप्ति न होगी। क्योंकि अभावाभावात्मक घट पटादि में सामान्यतया 'अभावाभावत्व' रहने पर भी उस अभावत्व में असमवायित्व (समवायासम्बन्धित्व) रूप विशेषण न रहने से (समवायभिन्न होने पर भी वह असमवायि न होने से) घट में विलक्षण अभावत्व न रहा। फलतः घट में अभावत्वाभावरूप भावत्व बन जाएगा। अव्याप्ति न होगी। इसी प्रकार समवाय में भी अभावत्व का अभावरूप भावत्व समावायभिन्नत्व विशेषण के न रहने से बन जाएगा। परन्तु अभाव में समवायभिन्न, असमवायि तथा अभावत्वरूप विशेष्य के रहने से अतिव्याप्ति भी न होगी। फलतः समवायभिन्न समवायासम्बन्धी अभावत्व अस्तित्व के विरोधी होने से उसके अभाव को

१. शब्दव्यवहारस्य विवक्षितत्वादस्तेः शब्दरूपस्य भावोऽस्तित्वं ज्ञानमेव। येन सत्तास्तीत्यभिधानं प्रवर्त्तत इति। व्योमवती, पृ० ११८

अस्तित्व का स्वरूप कहना अनुचित न होगा। यहां समवायसम्बन्धित्व का अर्थ अनुयोगित्व अथवा प्रतियोगित्व सम्बन्ध से समवायवत्ता है।

इसी प्रसङ्ग में समवायसम्बन्धित्व तथा समवायत्व एतदन्यतररूपवत्त्वको भी अस्तित्व कहा जा सकता है। इस निर्वचन में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्तिदोष की सम्भावना नहीं है। क्योंकि द्रव्यादि पाँचो पदार्थ समवायसम्बन्ध का प्रतियोगी अथवा अनुयोगी होते हैं। समवाय यद्यपि समवायसम्बन्ध का अनुयोगी या प्रतियोगी कदापि नहीं होता किन्तु वह समवायत्वविशिष्ट होने से अन्यतररूपवत्त्व बनेगा। अव्याप्ति न होगी। अभाव में समवायसम्बन्धिता नहीं न तो वह समवायत्वविशिष्ट ही है। अतः अतिव्याप्ति भी न होगी। परन्तु इस प्रकार निर्वचन उत्कट कल्पना ही है। क्योंकि अस्तित्व से इस प्रकार रूपवत्त्व का कोई सामञ्जस्य नहीं है।

भाषापरिच्छेद (कारिकावली) में पदार्थों के साधर्म्यप्रकरण में षट्पदार्थों के (अभाव को छोड़कर) कोई साधर्म्य का उल्लेख नहीं है। ग्रन्थ में सातों पदार्थ का ज्ञेयत्वादि साधर्म्य वर्णन के पश्चात् द्रव्यादि पांच पदार्थों का ही साधर्म्य कहा गया है। सम्भवतः षट्पदार्थों का साधर्म्यवर्णन में कठिनाई को देखते हुए ग्रन्थकार ने उस प्रकरण को त्याग ही दिया है। यदि इसी कारण षट्पदार्थों के साधर्म्य (अस्तित्वादि) का अनुल्लेख है तो हम इस कार्य का समर्थन नहीं करते हैं। क्योंकि यह साक्षात् रूप से आचार्यों के मत का परित्याग है। ग्रन्थकार के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि उन्होने स्वोपज्ञटीका मुक्तावली में पदार्थों को भाव तथा अभाव यह दो भाग में बांट कर भावपदार्थों को छ विभाग किया है। फलतः 'भावत्व' षट्पदार्थों का साधर्म्य है यह समझने में कोई कठिनाई नहीं है। परन्तु षट्पदार्थों के साधर्म्य भावत्व या अस्तित्व का कण्ठतः अनुल्लेख समर्थन योग्य नहीं है। यदि पूर्वोक्त युक्ति से घटादि को घटाभावाभावरूप मानने से भावपदार्थ में भी अभावत्व के रहने से अभावत्वको पदार्थविभाजकोपाधि न माना गया तथापि पूर्वोक्त विलक्षण अभावत्व का अभाव षट्पदार्थों के साधर्म्य होने में बाधा नहीं है। इस स्थिति में साधर्म्यवर्णन के समय उस अंश का परित्याग युक्तिसिद्ध नहीं है। विशेषतया जो ग्रन्थ पदार्थों के स्वरूप का आलोचन में उद्यत है उसमें 'अस्तित्व' जैसे महत्त्वपूर्ण पदार्थ का वर्णन न होना सङ्गत नहीं है। किसी किसी के विचार में 'सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते'[१] इस कारिकांश में 'आदि' पद के रहने से उसे 'अस्तित्व' का भी उल्लेख समझना चाहिए।[२] उन लोगों के अनुसार अस्तित्व सातों पदार्थ का साधर्म्य है। परन्तु आचार्य की उक्ति के विरोधी होने के कारण हम इस प्रकार व्याख्या का समर्थन नहीं

१. कारिकावली, कारिका १३

२. प्रमेयत्वादिकमित्यादिनास्तित्वपरिग्रहः। दिनकरी, पृ० १६८

करते। आचार्य ने अस्तित्व को षट्पदार्थ का साधर्म्य कहा है। अभावत्व को अस्तित्व-विरोधीरूप से जिन्होंने नहीं जाना उन्हें हम वैशेषिकसिद्धान्तनिष्णात नहीं समझते हैं। सूक्ति टीका में अस्तित्व को अभावसाधारण कहा गया है।[1] यह प्रगल्भताद्योतक हो सकता है परन्तु वैशेषिकसिद्धान्तानुमत न होगा।

परममूल में अस्तित्व के तुल्य ही अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्व को भी षट् पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है। अभिधेयत्व शब्द का अर्थ किरणावली में 'अभिधानयोग्यता' किया गया है। अभिधानयोग्यता की व्याख्या करते हुए आचार्य उदयनने शब्द से अर्थ की सङ्गतिरूप सम्बन्धको अभिधानयोग्यता कहा है।

यहां विचारणीय यह है कि व्याकरणशास्त्र के अनुसार अभिधान क्रिया के कर्म ही अभिधेय कहलाता है। उस अर्थ को त्यागकर अभिधानयोग्य को अभिधेय क्यों कहा गया? उत्तर यह है कि यदि अभिधानक्रिया के कर्म (क्रियाजन्यफलशाली) को हम अभिधेय कहते हैं तब अभिधानक्रिया की अनुपस्थिति (अभाव) काल में कोई भी पदार्थ अभिधेय न होगा। फलतः अभिधेयत्व को उन पदार्थों का साधर्म्य कहना अनुचित ही होगा। इसलिए आचार्य ने अभिधानयोग्यता को ही अभिधेयत्व का स्वरूप बतलाया है। इससे वास्तविक अभिधानक्रिया के न रहने पर भी पदार्थों के अभिधानयोग्य होने में बाधा नहीं रही। अब अभिधान का स्वरूप क्या इस प्रश्न पर उत्तर यह है कि अर्थोपस्थापनानुकूल-पदोच्चारण ही अभिधान है। जिस प्रकार पदोच्चारण से श्रोता में अर्थ की उपस्थिति (ज्ञान) हो सके तादृश पदोच्चारण ही अभिधान है। शब्द-शास्त्रानुसार उच्चरित-पदजन्य-उपस्थिति-विषयीभूत-अर्थ ही कृदन्त अभिधेय पद का अर्थ है। जब पद का उच्चारण ही नहीं है तब तज्जन्य उपस्थितिविषयता किसी अर्थ में हो नहीं सकती है। इसीलिए उस प्रकार अर्थ को त्याग किया गया है। अभिधान-योग्यता यदि अभिधेयत्व का अर्थ हुआ तब पूर्वोक्त दोष न रहा। क्योंकि तब अभिधान-क्रिया के अभाव रहने पर भी अर्थ की अभिधानयोग्यता रहने में बाधा नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी एक पद के उच्चारण से समस्त पदार्थ ही उपस्थित हो सकते हैं। अथवा घट पद के उच्चारण से पट रूप अर्थ उपस्थित हो सकता है अथवा उपस्थित होने के योग्य ही होता है? हमें वस्तुस्थिति को देखने से प्रतीत होता है कि एक पद के उच्चारण से एक निर्दिष्ट पदार्थ ही उपस्थित होता है। किसी एक पद के उच्चारण से समस्त पदार्थ अथवा कोई एक अनिर्दिष्ट पदार्थ की उपस्थिति नहीं होती। अतः अर्थों की पदोच्चारणजनित-उपस्थिति का आधार क्या? इसीलिए आचार्य उदयनने अर्थ की अभिधानयोग्यता को ही आधार कहा है। शब्द से अर्थ का सम्बन्ध है। इसी

१. अपि-शब्देनाभावस्याप्युपसंग्रहः। सूक्ति, पृ० ११४

सम्बन्ध को 'शक्ति' 'संकेत' अथवा 'अभिधा' कहा जाता है। प्राचीनमत में "घट पद से घटरूप अर्थ का बोध हो" इस प्रकार ईश्वरेच्छा की विषयतारूप ही वह सम्बन्ध है। (नव्यलोग ईश्वरेच्छा के स्थान में इच्छा पद का प्रयोग करते हैं।) जिस किसी प्रकार से भी हो किसी पद से सम्बन्ध रहे बिना किसी अर्थ की उस पद के उच्चारणजनित उपस्थिति नहीं होती है। फलतः शब्दविशेष के साथ अर्थविशेष के सम्बन्ध को ही उस अर्थ की अभिधानयोग्यता का अवच्छेदक कहा गया है। प्रकृत स्थल में उच्चारणजन्य-ज्ञानयोग्यता का अवच्छेदकीभूत अर्थगत पदसम्बन्ध को ही अभिधेयत्व समझना है। प्रकारान्तर से भी कहा जा सकता है कि पदसापेक्ष अर्थोपस्थिति ही अभिधान है। अर्थविशेष से पदविशेष का कोई सम्बन्ध रहने पर ही उस अर्थ की उपस्थिति हो सकती है। वह सम्बन्ध है इसलिए यदि अर्थ पदसापेक्ष-उपस्थिति का योग्य होता है तो वह सम्बन्ध ही पदसापेक्ष अर्थोपस्थितिरूप अभिधान का योग्यतावच्छेदक होगा।

पदसापेक्ष उपस्थितिविषयत्व को अभिधेयत्व न कह कर पदसापेक्ष उपस्थिति-योग्यतावच्छेदकीभूतधर्मवत्त्व को अभिधेयत्व कहने से प्रथम पक्ष में पदों के अनभिधानकाल में घटपटादि पदार्थ में अभिधेयत्व की हानि होगी। क्योंकि विषयता ज्ञान का समान-कालीन ही होती है। ज्ञान के अभावकाल में विषयता भी नहीं रहती है। द्वितीय पक्ष में उस दोष की आशङ्का नहीं है। क्योंकि विषयता न रहने पर भी अर्थ से पद का सम्बन्ध बना रहता है। 'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य' यह ईश्वरेच्छाविषयता अर्थगत पदसम्बन्ध होने तथा ईश्वरेच्छा के नित्य होने से उसकी हानि कभी न होगी।

मथुरानाथने इन ग्रन्थपंक्तियों की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द या उसका उच्चारण (कण्ठताल्वाद्यभिघात) किसी को भी अभिधान कहने से अभिधानविषयत्व को अभिधेयत्व कहना सम्भव न होगा। क्योंकि वाचकशब्द या उसका उच्चारण कोई भी सविषयक पदार्थ नहीं है। अर्थात् उनका कोई विषय नहीं होता है। यद्यपि शाब्द अनुभव अर्थात् शाब्दबोध ज्ञानात्मक होने से उसका विषयत्व सम्भव है तथापि यहां अभिधान शब्द का शाब्दबोधरूप अर्थ लेकर तद्विषयत्व को अभिधेयत्व कहना सम्भव न होगा। क्योंकि यह वैशेषिकशास्त्र है। शुद्धवैशेषिकसम्प्रदाय में शाब्दबोध नाम का कोई पृथक् ज्ञान स्वीकृत नहीं है। अतः वैशेषिकशास्त्र की मर्यादा में रहकर यह स्वीकृत नहीं हो सकता है। शब्दजन्य अर्थोपस्थिति को अभिधान तथा तद्विषयत्व को अभिधेयत्व कहा जा सकता है। परन्तु वैसा कहने पर षट्पदार्थों के साधर्म्यरूप से कथित अभिधेयत्व अर्थात् शब्द या तदुच्चारणजन्यतारूप विशेषणांश अव्यावर्त्तक हो जाएगा। उपस्थितिविषयत्व ही अभिधेयत्व हो सकेगा। यदि इस प्रकार निर्वचन स्वीकार किया गया तो ज्ञेयत्व (आगे कहा गया) रूप साधर्म्य से अभिधेयत्व का कोई भेद न रहेगा। प्रशस्तपाद ने अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्व को पृथक् पृथक् रूप से षट्पदार्थ का साधर्म्य कहा

है।[1] मथुरानाथ के अनुसार ऊपर कहे गये कारण से अभिधानविषयत्व के स्थान में किरणावली में अभिधानयोग्यत्व को ही अभिधेयत्व कहा गया है। शब्द तथा अर्थ की सङ्गति अर्थात् सङ्केतरूप सम्बन्ध को ही अभिधानयोग्यता तथा अभिधान अर्थात् वाचक जो शब्द सङ्केत (शक्ति अभिधा) रूप सम्बन्ध से वह वाचकशब्दवत्त्व ही आचार्याभिप्रेत अभिधेयत्व है।

किरणावलीकारने ज्ञेयत्व को ज्ञानयोग्यता कहा है। यह ज्ञानयोग्यता ज्ञाप्य-ज्ञापकभावरूप सम्बन्ध है। अर्थात् स्वजनकत्वसम्बन्ध से ज्ञानवत्त्व ही ज्ञेयत्व है। वैशेषिक मत में ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति का करण स्वीकार किया गया है। अतः प्रत्येक पदार्थ से ही अनुमित्यात्मक ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार कोई पदार्थ नहीं जिसको हेतु मान कर कोई न कोई अनुमिति न हो। अतः ज्ञायमान लिङ्ग की करणता मानने से स्वजनकत्वसम्बन्ध से ज्ञानवत्त्व पदार्थमात्र में ही रहेगा।[2] तथा ईश्वरीय ज्ञान नित्य तथा सर्वविषयक होने से प्रत्येक पदार्थ में सर्वदा ज्ञेयत्व बना हुआ है।[3] जन्यज्ञान-विषयत्व को भी षट्पदार्थ का साधर्म्य कहा जा सकता है। यद्यपि ज्ञानाभावकाल में उस ज्ञान की विषयता कहीं भी नहीं रहती तथापि किसी समय ज्ञानविषयत्व रहने से उसको साधर्म्य कहने में आपत्ति नहीं है। साधर्म्य सर्वदा ही पदार्थ में उपस्थित रहेगा ऐसा नियम नहीं है। कदाचित् रहने वाला धर्म भी साधर्म्य कहलाने में बाधा नहीं है। अतः जन्य-ज्ञानविषयत्व को ज्ञेयत्व कहना अनुचित न होगा।[4]

---

१. नन्वभिधानं शब्दतदनुकूलकण्ठाद्यभिघातो वा, तद्विषयत्वञ्चाभिधेयत्वं, तच्चाप्रसिद्धं शब्दादेर्निर्विषयकत्वात्। न चाभिधानं शाब्दानुभवस्तद्विषयत्वमिति वाच्यम्, प्राचीनवैशेषिकैः शाब्दत्वजातेरनभ्युपगमात्। न चाभिधानं शब्दजन्यज्ञानं तद्विषय-त्वमभिधेयत्वमिति वाच्यं 'शब्दजन्य' इत्यस्य वैयर्थ्यात् तत्त्यागे च द्वितीयेन पौनरुक्त्य-त्वात्। रहस्य, पृ० १६१–६२

२. सङ्गतिः शक्तितः शक्तिसम्बन्धेन शब्दवत्त्वमित्यर्थः। विषयतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वमिव जनकतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वमपि षण्णां साधर्म्यं, वैशेषिकनये ज्ञायमानलिङ्गस्यानुमिति-करणतया पदार्थमात्रस्यैवानुमितिकरणत्वात्। रहस्य, पृ० १६२

३. एतच्चास्मदादिज्ञानविषयतामभिप्रेत्योक्तम्। अन्यथा ईश्वरज्ञानविषयतायाः सर्वदा सत्त्वाद् अज्ञायमानताऽशानुपपत्तेरिति। मकरन्द, पृ० १३९

४. प्रकाशकृतस्तु अत्राभिधानं शाब्दानुभवस्तद्विषयत्वमभिधेयत्वं तच्च अनभिधानदशायाम व्याप्तं विषयताया ज्ञानसमानकालीनत्वनियमादित्यतो व्याचष्टे अभिधेयत्वमिति। अर्थस्तु पूर्ववत्। ननु ज्ञेयत्वं तच्चाज्ञानदशायामव्याप्तं विषयताज्ञानसमानकालीनत्व नियमादित्यतो व्याचष्टे ज्ञेयत्वमिति। ज्ञाप्यज्ञापकभावेति। ज्ञानजनकत्वेत्यर्थः।

न्यायलीलावती में परम्परासम्बन्ध से ज्ञानत्व को ही ज्ञेयत्व कहा गया है[1]। ज्ञानविषयत्व को ज्ञेयत्व कहने से ज्ञानव्यक्तियों के भेद से विषयता भिन्न होने से वह द्रव्यादि षट्पदार्थों का साधर्म्य नहीं हो सकता। स्वाश्रयविषयत्वरूप परम्परासम्बन्ध से ज्ञानत्व को ज्ञेयत्व कहने से वह दोष न होगा। ज्ञानत्व का आश्रय ज्ञानमात्र ही है तथा उन ज्ञानों में किसी न किसी का विषयत्व पदार्थमात्र में ही विद्यमान होने से उस प्रकार (ज्ञानत्व रूप) ज्ञेयत्व षट्पदार्थं का साधर्म्य होने में बाधा नहीं है। लीलावतीप्रकाश में वर्धमानने पूर्वोक्त ज्ञानत्वरूप ज्ञेयत्व स्वीकृत होने से अभाव में अतिव्याप्ति के परिहार के लिए अभावत्वासमानाधिकरणत्व-विशिष्ट-ज्ञानत्व को ज्ञेयत्व कहा है[2]। फलतः ज्ञेयत्व भी षट्पदार्थों का ही साधर्म्यरूप से इन ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है। तथा ज्ञेयत्वादि को तदतिरिक्त (अभाव) पदार्थ का वैधर्म्य भी माना है[3]। परन्तु किरणावलीकारने वाच्यत्व तथा ज्ञेयत्व को षट्पदार्थों का साधर्म्यरूप से स्वीकार करने पर भी तदतिरिक्त (अभाव) पदार्थ का वैधर्म्यरूप से ज्ञेयत्वादि का ग्रहण नहीं किया है। व्याख्याओं की समीचीनता पण्डितवर्ग ही विचार कर सकेंगे।

आश्रितत्वमाधेयता स्वाभाविकी। सा च नित्यद्रव्येषु नास्तीत्यत आह अन्यत्रेति। नित्यद्रव्याणि विहायेदं साधर्म्यमित्यर्थः। ननु समवायेऽप्येतन्नास्तीति चेन्न। समवायस्य समवायान्तराभावेऽपि स्वभावत एव आधारसन्निकृष्टत्वात्। तथा च वक्ष्यामः। चकारान्मूर्त्तं विहाय-निष्क्रियत्वम्।

[("आश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" इस परममूलस्थ) आश्रितत्व को स्वाभाविक आधेयता समझना चाहिए। परन्तु वह (स्वाभागिक आधेयता) नित्यद्रव्य में नहीं है। इसलिए परममूलकार ने 'अन्यत्र' पद का प्रयोग किया है। नित्यद्रव्यों को छोड़कर यह (अर्थात् स्वाभाविक आश्रितत्व) (शेष पदार्थों का) साधर्म्य है यही अर्थ है। (यदि शङ्का हो कि) समवाय (पदार्थ)

तच्च सर्वदैव वर्त्तते स्वरूपयोग्यतायाः कदाप्यनपायादिति भाव इति व्याचख्युः। तदसत् यदा कदाचित् सत्त्वादेव साधर्म्यत्वसम्भवाद् भगवज्ज्ञानविषयत्वस्य सर्वदैव सत्त्वाच्चेति ध्येयम्। रहस्य, पृ० १६२-३

१. ज्ञेयत्वमपि परम्परासम्बद्धं ज्ञानत्वमेवानुगतम्। लीलावतीकण्ठाभरण, पृ० ७६७

२. भावत्वाभावासमानाधिकरणज्ञानविषयत्वं ज्ञेयत्वम्। लीलावतीकण्ठाभरण, पृ० ७६७

३. ज्ञेयत्वमभावव्यावृत्तम्। लीलावतीप्रकाश, पृ० ७६७

में भी यह नहीं है (अतः यह किस प्रकार अन्य (नित्य द्रव्य को छोड़कर) समस्त पदार्थों का साधर्म्य होगा) ? (इसका समाधान यह है कि) वैसा नहीं है। क्योंकि समवाय का समवायान्तर न रहने पर भी स्वभावतः वह अपने आधार से सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) रहता है। इस विषय में हम आगे विचार करेंगे। (परममूलस्थ) 'च' कार से मूर्त्त द्रव्यों को छोड़कर अपर सकल पदार्थों (अर्थात् अमूर्त्त पदार्थों) की क्रियाशून्यता को साधर्म्य रूप से समुच्चित किया गया है।]

"आश्रितत्त्वञ्चान्यत्र" आदि ग्रन्थ से परममूलकारने 'आश्रितत्व' को नित्यद्रव्य अर्थात् पार्थिवादि चार प्रकार परमाणु, आकाश, काल, दिक् मन तथा आत्मा इन पदार्थों को छोड़कर अन्य समस्त (भाव) पदार्थों का साधर्म्य कहा है। यह आश्रितत्व यदि किसी भी सम्बन्ध से वृत्तिता अर्थात् आधेयता हो तब वह नित्य पृथिव्यादिपरमाणुओं में भी अतिव्याप्त होगी। क्योंकि पृथिव्यादि के परमाणु भी संयोगसम्बन्ध से अन्य द्रव्य में तथा कालिकसम्बन्ध से काल अथवा कालोपाधिक जन्यवस्तुओं में आश्रित होते हैं। इसीलिए किरणावली में आश्रितत्व को स्वाभाविक आधेयता कही गयी है[1]। संयोग अथवा कालिकसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता को स्वाभाविक आधेयता कही नहीं जा सकती है। क्योंकि किसी दो द्रव्य मे संयोगसम्बन्ध क्रिया से ही उत्पन्न होता है तथा कालिकसम्बन्ध कालसापेक्ष होता है इसलिए यह दोनों सम्बन्ध स्वभावतः नहीं होते हैं। परन्तु समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न आधेयता ही स्वाभाविक है। क्योंकि स्वकारणाधीन उत्पन्न द्रव्य स्वभाव से ही निज अवयवों में समवेत होकर ही उत्पन्न होता है तथा वह सम्बन्ध को कभी त्याग नहीं सकता है। इसी प्रकार गुण, क्रिया, जाति तथा विशेष पदार्थ भी अपने अपने आश्रय में समवेत रहते है तथा उस सम्बन्ध को छोड़ नहीं सकते। इसीलिए समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता को ही स्वाभाविक आधेयता कही जाती है। प्रकाशकारने भी 'स्वाभाविकी' पद की व्याख्या समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता ही किया है[2]।

समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता को नित्यद्रव्यों को छोड़कर समस्त पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है। फलतः वह समवाय का भी साधर्म्य होगा। परन्तु समवाय एक है तथा सम्बन्ध और सम्बन्धी में भेद भी अनुभवसिद्ध है। इसलिए समवाय किस प्रकार से समवायसम्बन्ध से ही अपने आश्रय से सम्बन्धित हो सकता है ? उत्तर में

---

१. ननु संयोगवृत्त्या नित्यद्रव्याण्यपि आश्रितानि इति तद्व्यावृत्तिरयुक्तेत्यत आह स्वाभाविकीति। प्रकाश पृ० १३६

२. समवायेनेत्यर्थः। प्रकाशः पृ० १३६

कहा जा सकता है कि यह सत्य है कि जो सम्बन्ध अपने अनुयोगी में आश्रित नहीं उससे कभी भी आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं हो सकती है। इस स्थिति में समवायसम्बन्ध का अपने आश्रय से सम्बन्ध क्या होगा ? यदि समवाय से अतिरिक्त किसी सम्बन्ध से समवाय अपने आश्रय से सम्बन्धित होता है कहा जाएगा तब उस सम्बन्ध का सम्बन्ध उसके आश्रय से किसी अन्य सम्बन्ध से ही होना पड़ेगा। इस स्थिति में अनवस्था दोष उपस्थित होगा। फलतः गुण गुणी. क्रिया क्रियावान् आदि का परस्पर कोई सम्बन्ध बन नहीं पावेगा। परन्तु यह आधाराधेयभाव अनुभवसिद्ध होने से गुण गुणी आदि के सम्बन्ध अस्वीकृत हो नहीं सकता है। अतः आचार्यों ने स्वाभाविक (किसी अन्य वस्तुसापेक्ष नहीं) आधाराधेयभाव की उपपत्ति के लिए समवाय को 'स्वानतिरिक्त-विशेषणता' सम्बन्ध से अपने आश्रय में आश्रित कहा है। यह स्वात्मकविशेषणता-सम्बन्धावच्छिन्न आधेयता रहने के कारण समवाय में उक्त साधर्म्य की अव्याप्ति न होगी[1]।

विशेषरूप से विचारणीय यह है कि समवाय का स्वानतिरिक्तविशेषणता सम्बन्ध से आश्रितत्व प्राचीन न्यायवैशेषिकाचार्यों के सिद्धान्त है इसको ध्यान में न रखकर पश्चात् काल के अनेक नव्य ग्रन्थकारने आश्रितत्व का अन्य प्रकार से व्याख्या की है। सूक्ति टीका में जगदीशने स्वाभाविक तथा औपाधिक अर्थात् समवाय तथा तदतिरिक्त किसी भी सम्बन्ध से आश्रितत्व को नित्यद्रव्यों को छोड़कर सभी पदार्थ का साधर्म्य बतलाया है। इससे परमाणुओं के, जो नित्य द्रव्य हैं, संयोग अथवा कालिकसम्बन्ध से जन्य द्रव्य में आश्रित होने के कारण अतिव्याप्ति की शङ्का को दूर करने के लिए उन्होंने परमसूल के 'नित्यद्रव्य' शब्द का अर्थ विभुद्रव्य किया है[2]। इस प्रकार व्याख्या के कारण आश्रितत्व केवल विभुद्रव्यों को छोड़कर अन्य पदार्थों का साधर्म्य होता है। इनके व्याख्या-नुसार परमाणु विभुद्रव्य न होने से वह आश्रितत्वरूप साधर्म्य का लक्ष्य ही है। स्पष्टतया जगदीश की व्याख्या आचार्यमत का विरोधी है। अतः समर्थनयोग्य नहीं है। विशेषतया

---

१. स्वाभाविकी समवायसम्बन्धावच्छिन्ना। स्वभावत इति। स्वात्मकविशेषणता-सम्बन्धेनेत्यर्थः। तथा चेति। यथा हि समवायः स्वात्मकविशेषणतासम्बन्धेनैव वर्त्तते न त्वतिरिक्तविशेषणतया तथा वक्ष्यामः। रहस्य पृ० १६३
समवायेऽपि तेनैवाधेयता किन्तु स्वाभिन्नेनैव। विशेषणतायाः स्वरूपसम्बन्धानति-कादिति नाव्याप्तिरित्यर्थः। प्रकाश पृ० १३६

२. तथा च षण्णामपि पदार्थानां नित्यद्रव्येभ्यो—विभुद्रव्येभ्योऽन्यत्रैवाश्रितत्वमाधेयत्वं साधर्म्यमिति पूर्वेणान्वयः। तेन नित्यानां परमाणूनामाश्रितत्वं न क्षतिकरं तेषामपि लक्ष्यत्वात्। सूक्ति पृ० ११६

अनेक आचार्योंने आकाशादि विभुद्रव्यों को कालिकसम्बन्ध से महाकाल में आश्रित माना है। फलतः उनमें अतिव्याप्ति दूर न होगी।

व्योमशिवाचार्यने समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता को ही आश्रितत्व कहा है। वह आश्रितत्व मुख्य अथवा गौणरूप से नित्यद्रव्यों में नहीं रहता है। द्रव्याश्रित गुणादि का सम्बन्ध समवाय यदि द्रव्य में आश्रित न हो तो गुण-गुणिभाव की प्रतीति न होगी। क्योंकि सम्बन्ध अपने अनुयोगी में आश्रित होकर ही आश्रयाश्रयिभाव को सम्पादन करता है। अतः गुणों का सम्बन्ध 'समवाय' भी गुणी (द्रव्य) में ही आश्रित होता है। यदि वह किसी अन्य सम्बन्ध से आश्रित हो तो पूर्वोक्त रीति से अनवस्था होगी। यद्यपि अन्य (संयोग) सम्बन्ध स्वातिरिक्त सम्बन्ध से अनुयोगी में आश्रित होता है तथा स्वात्मक-सम्बन्ध से अनुयोगी में आश्रित होने का दृष्टान्त भी नहीं है तथापि गुणवत्ता प्रतीति की उपपत्ति तथा अनवस्थादोष के वारण के लिए उपायान्तर के न रहने से व्योमवतीकारने स्वात्मक (स्वरूपानतिरिक्त) सम्बन्ध से समवाय का आश्रितत्व को औपचारिक (गौण) कहा है। हमने पीछे जैसी विवृति दी है उससे व्योमवतीकार की व्याख्या में एक औपचारिक आश्रितत्व को छोड़कर और कोई भेद नहीं है[1]।

प्रकाशकारने 'आश्रितत्व' की व्याख्या करते हुए अन्त में जिन लोगों के विचार से कोई भी आश्रित वस्तु स्वातिरिक्त किसी सम्बन्ध से ही अपने आधार में आश्रित होता है स्वात्मक अर्थात् स्वरूपसम्बन्ध से नहीं उन लोगों के अनुसार 'आश्रितत्व' रूप साधर्म्य का एक अन्य व्याख्या भी प्रस्तुत किया है। उन लोगों के मत में नित्यद्रव्यातिरिक्त समस्त पदार्थों का साधर्म्य वस्तुतः संयोगान्यवृत्त्याऽसमवायभिन्नभावत्व' है[2]। 'संयोगान्यवृत्त्या' इस पद में तृतीया विभक्ति उपलक्षण अर्थ में प्रयुक्त है[3]। संयोगान्यवृत्ति' इस अंश का अर्थ संयोगभिन्नसम्बन्ध अर्थात् समवाय है। यहां 'असमवाय' पद असमवेत अर्थ में प्रयुक्त है समझना चाहिए। फलतः 'संयोगान्यवृत्त्याऽसमवायः' इस अंश का समवायविशिष्ट होते हुए असमवेत यह अर्थ होगा। आकाशादि नित्यद्रव्य ही समवायविशिष्ट होते हुए असमवेत हाते हैं। स्वयं समवाय असमवेत होने पर भी समवायविशिष्ट होते हुए असमवेत नहीं होता है। अतः केवल नित्यद्रव्य ही समवायविशिष्ट होते हुए असमवेत होने से

---

१. समवायस्य वृत्तिरूपतया वृत्तिमदाश्रितत्वोपलब्धेः। वृत्त्यन्तरकल्पनायामनवस्था स्यादित्युपचरिता वृत्तिरिष्यते। सा च अन्यनिमित्तासम्भवादाश्रितत्वज्ञानहेतुः समवाये वृत्ति विशेष एव। आत्मवृत्तित्वे तु समवायस्य स्वयं वृत्तिरूपत्वाद् वृत्त्यन्तरं नापेक्षितमित्यभ्युपगमेनाश्रितत्वमेव। व्योमवती, पृ० ११९

२. प्रकाश, पृ० १३९

३. वयन्तु ब्रूमः। संयोगान्यवृत्त्या समवायेन लक्षितः समवायीत्यर्थः। मकरन्द पृ० १४०

'तद्भिन्नभावत्व' रूप साधर्म्य नित्यद्रव्यभिन्न समस्त भावपदार्थों का साधर्म्य होने में बाधा नहीं है[१]। इस साधर्म्य को अतिव्याप्ति अभाव में न हो इसलिए 'भावत्व' अंश का निवेश है।

उपर्युक्त व्याख्या अर्थ की दृष्टि से निर्दोष होने पर भी व्याकरण की दृष्टि से अभिनन्दनीय नहीं है। क्योंकि 'असमवाय' पद के एकदेशभूत समवाय पद का 'समवेत' रूप अर्थ के साथ उस समास के बहिर्भूत 'संयोगान्यवृत्त्या' पद के अर्थ का अन्वय होना सुलभ नहीं है। उपलब्ध 'प्रकाश' ग्रन्थ में इसी प्रकार पाठ रहने के कारण हमें भी बाध्य होकर तदनुसार व्याख्या करनी पड़ी।

इसी प्रकरण में न्यायकन्दलीकारने 'आश्रितत्व' को 'समवायसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तित्व' नहीं कहा है। परतन्त्ररूप से उपलब्धि की विषयता ही उनके मत में आश्रितत्व है।[२] सामान्यतया विशेषणरूप से उपलब्धि को ही परतन्त्ररूप से उपलब्धि समझी जाती है। अतः नित्यद्रव्यों में इस निर्वचन की अतिव्याप्ति दुष्परिहार्य हो जाएगी। क्योंकि 'परमाणौ पारिमाण्डल्यम्' 'आकाशे शब्दः' आदि रूप से नित्यद्रव्यों की विशेषण-रूप से प्रतीति होते देखी जाती है। यदि अन्य प्रतीति के अधीन प्रतीति को परतन्त्र प्रतीति कहा जाए तो भी नित्यद्रव्यों की प्रतीति अन्य प्रतीति के अधीन ही होती है। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य सब प्रतीति ही अन्य प्रतीति के अधीन हुआ करती है। नित्यद्रव्यों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः 'परतन्त्र-तयोपलब्धि' रूप आश्रितत्व का निर्वचन सुसङ्गत नहीं है। कोई कोई 'समवेत-समवायान्यतरत्व' को आश्रितत्व कहे हैं। यद्यपि इस निर्वचन से नित्यद्रव्य अथवा अभाव में अतिव्याप्ति नहीं होगी तथापि आश्रितत्व का इस प्रकार अर्थ अभिनव ही है। कोई भी आश्रितत्व शब्द से इस प्रकार अर्थ नहीं समझता है।

सिद्धान्तमुक्तावली में समवायादिसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व को आश्रितत्व कहा गया है।[३] यहाँ केवल समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वको आश्रितत्व कहने से उस प्रकार वृत्तित्व समवाय में न रहने के कारण अव्याप्ति होगी इसलिए 'समवायादि' इस आदि पद को ग्रन्थकार ने दिया है। परन्तु 'आदि' पद के रहने से 'संयोग' सम्बन्धका भी ग्रहण हो सकेगा। फलतः परमाणु के संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता को लेकर परमाणु में

---

१. अकारप्रश्लेषेण बहुव्रीहिणा असमवायोऽसमवेत इत्यर्थः। तथा च समवायित्वे सति असमवेतं यन्नित्यद्रव्यं तद्भिन्नभावत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः इति। मकरन्द, पृ० १४०

२. आश्रितत्वञ्च परतन्त्रतयोपलब्धिः, न समवायलक्षणावृत्तिः, समवाये तदभावात्। न्यायकन्दली पृ० १६

३. आश्रितत्वन्तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्। सिद्धान्तमुक्तावली पृ० २३४

आश्रितत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसलिए दिनकर भट्टने परमाणु का संयोगको वृत्यनियामक कहा है[1]। क्योंकि पतनप्रतिबन्धकसंयोग ही वृत्तिनियामक है। शङ्का हो सकती है कि पार्थिव तथा जलीय परमाणु में गुरुत्व रहने से उनका घटादि से संयोग को पतनप्रतिबन्धक कहना आवश्यक है। इसका उत्तर में रामरुद्र ने कहा है कि जन्यगुरुत्व ही पतन का कारण होने से परमाणुओं मे जन्यगुरुत्व के अभाव के कारण पतन नहीं होता है। अतः परमाणुओं के संयोग वृत्तिनियामक न होने से 'समवायादि' शब्द से उसका ग्रहण न होगा।[2] 'समवायादि' शब्द की व्याख्या दिनकरभट्टने 'सर्वाधारता-नियामककालिकसम्बन्धातिरिक्त' किया है। यहाँ 'कालिक' शब्द से दैशिकविशेषणता को भी समझना है। वह भी सर्वाधारतानियामक है।[3] फलतः संयोग, कालिक-विशेषणता तथा दैशिकविशेषणता को छोड़कर समवाय तथा स्वरूपसम्बन्ध से आधेयता ही आश्रितत्व है। 'स्वरूप' शब्द के अर्थ के विषय में कुछ लोगों में विप्रतिपत्ति है। किसी किसीने स्वात्मकस्वरूप तथा अतिरिक्तस्वरूप यह दो प्रकार स्वरूपसम्बन्ध है समझा है। परन्तु वस्तु का स्वरूप दो प्रकार नहीं होता है। अतः वस्तु के स्वरूप ही (जो एक तथा अभिन्न है) सम्बन्ध है। यहाँ कहना आवश्यक है कि कारिकावली अथवा सिद्धान्तमुक्तावली में सप्तमपदार्थ के रूप से 'अभाव' का ग्रहण किया गया है। अतः 'आश्रितत्व' रूप साधर्म्य के निर्वचन में 'भावत्वे सति' विशेषण की आवश्यकता नहीं है। कुछ लोग 'समवायादिसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता' निर्वचन से जन्यद्रव्यों की संयोग-सम्बन्धवच्छिन्नवृत्तिता, अथवा समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता, गुण क्रिया, जाति तथा विशेष की समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता तथा समवाय की स्वातिरिक्त-स्वरूप सम्बन्धा-वच्छिन्नवृत्तिता ही उनका 'आश्रितत्व' रूप साधर्म्य का अर्थ है समझते हैं। परन्तु पहले कहा जा चुका है कि वस्तु का दो स्वरूप नहीं होता है। उपस्थिति के अनुसार स्वरूप एक ही होता है। अतः समवाय का स्वातिरिक्तस्वरूपसम्बन्ध की कल्पना निर्मूल है। इसी प्रकार संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता को लक्षणघटक समझना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कहा जा चुका है कि परमाणुओं के संयोग वृत्तिनियामक नहीं है। विशेषतया स्वाभाविक तथा कृत्रिम दोनों प्रकार के 'आश्रितत्व' को साधर्म्य नही कहा गया है यह उदयन ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है। अतः संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता

---

१. न च संयोगेन परमाणोरपि वृत्तेः परमाणावतिव्याप्तिः, तत्संयोगस्य वृत्त्यनियामकत्वात्। दिनकरी, पृः १२२

२. जन्यगुरुत्वस्यैव पतनकारणतया तदभावादेव परमाणोः पतनासम्भवेन तत्संयोगस्य पतनप्रतिबन्धकत्वे मानाभावात्। रामरुद्री, पृ० १२५

३. ··कालिकपदं दिग्विशेषणताया अप्युपलक्षणं तस्यापि सर्वाधारताप्रयोजकत्वादिति बोध्यम्। रामरुद्री, पृ० १२१

क्रियासाक्षेप होने से स्वाभाविक नहीं होती है। अतः अन्यद्रव्यों की संयोगसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता 'आश्रितत्व' शब्द का तात्पर्य नहीं है।

"आश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" इस परममूलस्थित 'च' कार का तात्पर्य वर्णन करते हुए उदयनने समुच्चययोग्य पदार्थ के अभाव के कारण अनुक्तसमुच्चयार्थक चकार से अमूर्त्तपदार्थों का निष्क्रियत्व रूप एक पृथक् साधर्म्य भी भाष्यकारका मनोगत था कहा है।[१] आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा गुणादिसमवायान्त-पदार्थों को अमूर्त्त समझा जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन को मूर्त्त कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि अमूर्त्तपदार्थमात्र ही निष्क्रिय होते हैं। परन्तु यह निष्क्रियत्व उत्पन्न-विनष्ट घट में अतिव्याप्त होगा। जो घट अपनी उत्पत्तिक्षण के पश्चात् ही विनष्ट हुआ उसमें मूर्त्तत्व रहते हुए क्रियोत्पत्ति का सुयोग ही न होने से वह निष्क्रियदशा में ही विनष्ट होने से वहाँ निष्क्रियत्व की अतिव्याप्ति है। इसके वारण के लिए "कर्मवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति-शून्यत्व" ही यहाँ निष्क्रियत्व का तात्पर्य है कहा गया है।[२] कर्मवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्-व्याप्यजाति पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व तथा मनस्त्व ही हैं। उत्पत्ति के द्वितीय-क्षण में विनष्ट घट से उत्पत्तिक्षण में ही कर्मवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य पृथिवीत्वजाति का सम्बन्ध हो जाने से उस घट में तादृशद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिशून्यता न रहेगी। वह घट पृथिवीत्वविशिष्ट होकर विनष्ट होता है। अतः अतिव्याप्ति न होगी। इस निर्वचन में 'कर्मवद्वृत्ति' अंश यदि विशेषण न हो तो केवल द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिशून्यत्वरूप निष्क्रियत्व की अव्याप्ति आत्मा, काल, तथा दिक् में होगी। क्योंकि वे आत्मत्वादि द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिशून्य न होने से यथोक्त निष्क्रियत्व वहाँ न रहेगा। 'कर्मवद्वृत्ति' विशेषण के रहने से आत्मत्वादि जाति के कर्मवद्वृत्ति न होने से तथा कर्मवद्वृत्ति-द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य कोई भी जाति आत्मा आदि में न रहने से अव्याप्ति न होगी। लक्षण समन्वय होगा। यदि 'द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य' अंश विशेषण न हो तो केवल कर्मवद्वृति जातिशून्यत्वरूप निष्क्रियत्व का लक्षण सामान्यादि पदार्थों में घटने पर भी सत्ता जाति को लेकर अमूर्त्त द्रव्य, गुण तथा कर्म किसी में न घटेगा।

अथ समवायाद् वैधर्म्यमितरेषां साधर्म्यमाह द्रव्यादीनामिति[३]। समवायित्वं समवायलक्षणः सम्बन्धः। अनेकत्वं स्वरूपभेदः। चकारात् समवायादन्यत्वम्।

---

१. समुच्चेयान्तराभावादनुक्तसमुच्चयार्थश्चकार इत्यर्थः। प्रकाश, पृ १४०

२. न च निष्क्रियविनष्टे मूर्त्ते कियात्यन्ताभाववत्त्वमित्यतिव्यापकम्। कर्मवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिशून्यभावत्वस्य विवक्षितत्वात्। प्रकाश, पृ० १४०

३. द्रव्यादीनां पञ्चानामपि समवायित्वमनेकत्वञ्च। प्रशस्तपाद, पृ० २७

[अनन्तर (ग्रन्थकार) 'द्रव्यादीनाम्' आदि ग्रन्थद्वारा समवाय से (जो) वैधर्म्य (अर्थात् समवाय का जो विरूद्धधर्म) (तथा) अन्य (भावपदार्थों) का (जो) साधर्म्य (है) (को) कहते हैं। (यहाँ) समवायित्व समवायरूप-सम्बन्ध (है) अनेकत्व स्वरूपभेद है। (परममूल के अनेकत्वं च, यह) च-कार से (द्रव्यादि पाँच पदार्थों के साधर्म्य रूप से) समवायभिन्नत्व को समुच्चित किया गया है।]

'द्रव्यादीनां पञ्चानामपि' आदि ग्रन्थ से प्रशस्तपादने समवायित्व तथा अनेकत्वको द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष इन पाँचो पदार्थ का साधर्म्य कहा है। समवायित्व शब्द से साधारणतया समवायाश्रयत्व अथवा समवेतत्व को समझा जाता है।[1] परन्तु उक्त किसी एक अर्थ को प्रस्तुत प्रकरण में समवायित्व शब्द से लिया नहीं जा सकता है। क्योंकि समवायाश्रयत्व का अर्थ यदि समवायसम्बन्ध का अनुयोगित्व हो तब जाति (सामान्य) तथा विशेष समवायसम्बन्धका अनुयोगी कदापि नहीं होने से उक्त अर्थ जाति तथा विशेष में अव्याप्त होगा। यदि समवेतत्व ही समवायित्वका अर्थ हो तब नित्यद्रव्य अर्थात् परमाणु, आकाशादि में कदापि समवेतत्व अर्थात् समवायसम्बन्ध का प्रतियोगित्व न होने से नित्यद्रव्यों में उक्त साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। इसलिए उदयन ने प्रस्तुत-प्रकरण में समवायसम्बन्ध को ही समवायित्व कहा है। अनुयोगी अथवा प्रतियोगीरूप से समवायसम्बन्ध का सम्बन्धी होना ही 'समवायित्व' का अर्थ है। परमाणु आदि नित्य-द्रव्यों में उनके गुण समवायसम्बन्ध से रहते हैं। अतः नित्यद्रव्यमात्र ही समवायसम्बन्ध का अनुयोगी होता है। इसी प्रकार जाति तथा विशेष पदार्थ स्वयं समवायसम्बन्ध से क्रमशः द्रव्य, गुण, कर्म तथा नित्यद्रव्यों में रहने से जाति तथा विशेष समवायसम्बन्ध का प्रतियोगी होता हैं। गुण तथा कर्म स्वयं समवायसम्बन्ध से रहते हैं इसलिए वे समवाय-सम्बन्ध का प्रतियोगी हैं। तथा गुण तथा कर्म में सामान्य (गुणत्व, रूपत्व, कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व) समवायसम्बन्ध से रहने के कारण वे समवायसम्बन्ध का अनुयोगी भी हैं। घट पट आदि जन्यद्रव्य अपने अवयवों में समवायसम्बन्ध से रहते हैं तथा उनके गुण, कर्म तथा जाति उनमें समवायसम्बन्ध से रहता है। एतावता जन्यद्रव्य भी समवाय-सम्बन्ध का अनुयोगी तथा प्रतियोगी होता है। फलतः समवायित्व का अर्थ 'प्रतियोगि-त्वानुयोगित्वान्यतरसम्बन्धेन समवायवत्त्व' होता है। व्योमवती में ग्रन्थकारने इसी

---

१. यद्यपि समवायित्वं यदि समवेतत्वं तदा नित्यद्रव्याव्याप्तिः। समवायाश्रयत्वञ्च सामान्याद्यव्यापकं तयोः समवेतधर्माभावात्। प्रकाश, पृ० १४०-४१

रीति को अपनाकर समवायित्व का अर्थ स्पष्ट किया है[1]। न्यायकन्दली में श्रीधरने भी समवायित्व को समवायरूप वृत्ति ही कहा है।[2]

किरणावली की टीका प्रकाश में उदयन की पंक्ति (समवायलक्षणः सम्बन्धः) को अनुसरण बिना किये स्वतन्त्र रूप से समवायित्व का निर्वचन किया गया है। समवायित्व का अर्थ समवायाश्रयत्व अथवा समवेतत्व करने पर जाति, विशेष तथा नित्यद्रव्यों में अव्याप्ति दुष्परिहर होगा। अतः प्रकाशकारने 'समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व' ही समवायित्व का अर्थ स्वीकार किया है[3]। इस निर्वचन से उक्त अव्याप्ति की सम्भावना न रहेगी। क्योंकि समवेत शब्द से जन्यद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष प्राप्त है। इनमें द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व सामान्यत्व तथा विशेषत्व ही पदार्थविभाजकोपाधियां होगी। समवायत्व पदार्थविभाजकोपाधि होने पर भी वह समवेतवृत्ति नहीं है। क्योंकि समवाय समवायसम्बन्ध से कहीं रहता नहीं कहा जा चुका है। अतः जन्यद्रव्य या गुणकर्मादि में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि (जन्य तथा नित्य) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष में रहने से कोई अव्याप्ति नहीं होगी। समवाय में अतिव्याप्ति भी न होगी। क्योंकि वह समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधि नहीं है। किसी किसी की शङ्का है कि समवेत शब्द से यदि समवायसम्बन्ध से वृत्तिता है तब समवाय समवायस्वरूप (अर्थात् समवायात्मक = समवाय से अभिन्नरूप) सम्बन्ध से रहता है। अतः समवाय भी समवेत शब्द से ग्रहण योग्य क्यों न होगा? इस आपत्ति के वारण के लिए रूचिदत्त ने समवेत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'स्वातिरिक्तसमवायेन वृत्तिमत्त्वम्' ही समवेतत्व है[4]। अतः समवाय स्वातिरिक्तसमवायसम्बन्ध से कहीं भी न रहने के कारण समवाय को समवेत शब्द से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। फलतः अतिव्याप्ति न होगी।

'अनेकत्व' भी द्रव्यादि पांच पदार्थ का साधर्म्य है। साधारणतया संख्याविशेष अथवा बुद्धिविशेषविषयत्व को अनेकत्व समझा जाता है। परन्तु किसी भी एक घट या पट व्यक्ति में 'अनेकत्व' न रहने से अव्याप्ति है। 'बुद्धिविशेषविषयत्व' रूप अनेकत्व समवाय में भी रहने से अतिव्याप्ति भी होगी। इसीलिए किरणावली में अनेकत्व की व्याख्या स्वरूपभेद किया गया है। द्रव्यादि पांच पदार्थ स्वरूपतः भिन्न, तथा समवाय स्वरूपतः अभिन्न होने से पूर्वकथित अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नहीं है।

---

१. समवायो विद्यते येषां ते समवायिनस्तेषां समवायलक्षणावृत्तिरिति। व्योमवती पृ० १२०

२. समवायित्वं समवायालक्षणा वृत्तिः। न्यायकन्दली पृ० १६

३. तथापि समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्वं विवक्षितम्। प्रकाश, पृ० १४१

४. प्रकाशविवृत्ति, पृ० १४१

यह शङ्का होगी कि घट पट आदि के स्वरूपभेद अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेद अथवा द्रव्य में गुण का भेद, गुण में द्रव्य का भेद आदि भेद द्रव्यादि पांच पदार्थों के तुल्य ही समवाय में भी रहता है। फलतः समवाय में भी स्वरूपभेद रूप अनेकत्व रहेगा। इसके समाधान में कहा जा सकता है कि द्रव्यादि पांच पदार्थों में स्वसजातीयव्यक्तिभेद वर्त्तमान रहता है परन्तु समवाय में स्वसजातीय कोई समवायान्तर न रहने से अनेकत्व को साधर्म्य कहने में बाधा नहीं है।

अनेकत्व का निर्वचन हम निम्नलिखित रूप से भी कर सकते हैं। 'स्ववृत्तिपदार्थ-विभाजकोपाधिमत्त्वे सति तादृशपदार्थविभाजकोपाधिसमानाधिकरणोभयावृत्तिधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्' ही अनेकत्व या स्वरूपभेद हो सकेगा।

यहां लक्षण समन्वय के लिए द्रव्यादि पांच पदार्थ के एक-एक व्यक्ति को लिया जा सकता है। स्वपद से यदि एक द्रव्य व्यक्ति को लिया गया तब उस द्रव्य व्यक्ति में जो द्रव्यत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधि है तद्वत्ता समस्त द्रव्य (पृथिवी जल आदि नौ) में रहता है। वह पदार्थविभाजकोपाधि के अधिकरणों में स्वपद से लिए गए द्रव्य व्यक्ति में जो तद्व्यक्तित्वरूप उभयावृत्ति धर्म है तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद उस द्रव्यव्यक्ति को छोड़कर शेष पदार्थों में रहेगा। वह पदार्थविभाजकोपाधि केवल द्रव्य में होने से द्रव्य अनेकलक्षणाक्रान्त हुआ। इसी प्रकार गुण आदि में भी समझना है। इसी अभिप्राय से व्योमवती में 'समानलक्षणयोगित्वे सति व्यक्तिभेदः' को अनेकत्व कहा गया है[१]। पूर्वोक्त निर्वचन में 'स्ववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वे सति' इस अंश को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता है। इस अंश के न रहने से समवाय में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि तब लक्षण का स्वरूप होगा 'स्ववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिसमानाधिकरणोभयावृत्तिधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्'। हम स्वपद से किसी द्रव्यव्यक्ति को लेते हैं। उस द्रव्यव्यक्ति में जो पदार्थविभाजकोपाधिरूप द्रव्यत्व है उसके अधिकरण समस्त द्रव्य ही होंगे। उन अधिकरणों में स्वपद से जिस द्रव्यव्यक्ति को लिया गया उस व्यक्ति का भेद उस व्यक्ति को छोड़कर शेष द्रव्य में तथा गुणादि सब पदार्थ में भी होगा। वह भेद समवाय में भी होगा। अतः तादृशभेदवत्त्व समवाय में अतिव्याप्त होगा। यदि पूर्वोक्त विशेषणांश लक्षण में दिया गया तब समवाय में वह भेद के रहने पर भी समवाय उस स्वपद से लिया गया द्रव्यव्यक्ति में जो पदार्थविभाजकोपाधि है तद्विशिष्ट न होने से विशेषणांश के न रहने के कारण अतिव्याप्ति न होगी। यह विशेषणांश ही व्योमवती के 'समान-लक्षणयोगित्वे सति' अंश के तात्पर्य का बाहक है।

---

१. व्योमवती, पृ० १२०

प्रकाशटीका में अनेकत्व का परिष्कार 'स्वाश्रयभेदसमानाधिकरणपदार्थ-विभाजकोपाधिमत्त्व' किया गया है[१]। यहां लक्षणसमन्वय के लिए कोई पदार्थ-विभाजकोपाधि को लिया जाए। यथा द्रव्यत्व में लक्षण घटाने के लिए आवश्यक है कि द्रव्यत्व के आश्रय यदि पृथिवी हो तो उसका भेद जल आदि द्रव्य तथा शेष पदार्थों में रहेगा। उस भेद के अधिकरण जल आदि आठ द्रव्य होने से द्रव्यत्व उस भेद का समानाधिकरण होगा अतः लक्षण द्रव्य में समन्वित हो ।। इसी प्रकार गुणत्व को लेने पर भी लक्षण का समन्वय गुण में भी होगा। यदि हम स्वपद से समवायत्व को लेते हैं तो उसके आश्रय समवाय का भेद, समवाय में नहीं रहेगा। क्योंकि समवायव्यक्ति एक है। समवाय का भेद शेष पदार्थों में होगा। तत्र समवायत्व समवायभेद के अधिकरण द्रव्यादि पदार्थ में न रहने से समवायभेद का समानाधिकरण पदार्थविभाजकोपाधि समवायत्व न होगा। अतिव्याप्ति न होगी। फलतः द्रव्यत्वादि पांच पदार्थविभाजकोपाधियां ही अपने आश्रय के भेद के अधिकरण में रहने से उस भेद का समानाधिकरण होकर द्रव्यादि पांच पदार्थ का साधर्म्य होगा।

यह निर्वचन दोषरहित होने पर भी आचार्य उदयन का अभिमत नहीं है। उन्होंने स्वरूपभेद (व्यक्तिभेद) को अनेकत्व कहा है। प्रकाशकारने विशिष्टपदार्थ-विभाजकोपाधिको अनेकत्व कहा है। यह निर्वचन स्वतन्त्र तथा दोषरहित होने पर भी स्वरूपभेद की व्याख्या ग्रन्थकार को अनुसरण कर किया गया है कहा नहीं जा सकता है। पद्मनाभ आदि ने भी इसी रीति से अनेकत्व का परिष्कार किया है[२]। द्विरुक्ति होगा अतः उनका उल्लेख अनावश्यक है।

स्वरूपभेद की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ ने "स्ववृत्तिभावविभाजकोपाधिमत्-प्रतियोगिक-प्रतियोग्यवृत्तिभेद" को अनेकत्व कहा है[३]। तादृशभेदवत्त्व ही पांच द्रव्यादि पदार्थों का साधर्म्य है। लक्षणसमन्वय के लिए द्रव्यादि पांच में से एक द्रव्यव्यक्ति (पृथिवी) को लिया जाय। उस द्रव्यव्यक्ति में जो भावविभाजकोपाधि (अर्थात् द्रव्यत्व) है वही उपाधियुक्त जल तेज आदि प्रतियोगिक तथा प्रतियोगी में न रहने वाला भेद (जलं न, तेजो न आदि भेद) का अधिकरण स्वपद से लिया गया पृथिवीरूप द्रव्य भी होता है। अर्थात् द्रव्य के अन्तर्गत पृथिवी में जल आदि के भेद रहने के कारण

---

१. तथापि स्वाश्रयान्योन्याभावसमानाधिकरणपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वे तात्पर्यम्। प्रकाश, पृ० १४१

२. स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभावसमानाधिकरणभावविभाजकोपाधिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। सेतु, पृ० १२०

३. रहस्यटीका, पृ० १६४

द्रव्य अनेकत्व का आश्रय हुआ। यहां पृथिवीरूप द्रव्य में जलरूप द्रव्य का ही भेद रहने के कारण द्रव्य का अनेकत्व सिद्ध होता है। द्रव्य में द्रव्य का भेद द्रव्य के अनेकत्व से ही हो सकता है। इस लक्षण में भेद में 'प्रतियोग्यवृत्तित्व' विशेषण 'समवाय' में अनेकत्वलक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए दिया गया है। अन्यथा स्वपद से समवाय लेने पर समवाय में रहने वाला भावविभाजकोपाधि समवायत्व है। उस समवायत्वविशिष्टसमवाय-प्रतियोगिकभेद 'समवायद्रव्योभयं न' यह भेद भी है। वह भेद समवाय में भी रहेगा। क्योंकि समवाय समवाय तथा द्रव्य उभय नहीं है। 'समवाय-द्रव्योभयं न' यह भेद द्रव्य से समवाय तक सभी पदार्थ में रहता है। वह भेद प्रतियोगि-वृत्ति भेद है। अतः लक्षण की समवाय में अतिव्याप्ति वारण के लिए भेद मे 'प्रतियोग्य-वृत्तित्व' विशेषण दिया गया है। प्रस्तुतस्थल में समवायत्वविशिष्ट समवाय एक होने से समवायप्रतियोगिक तथा प्रतियोग्यवृत्तिभेद 'समवायद्रव्योभयं न' यह भेद न होगा। क्योंकि यह भेद अपने प्रतियोगी समवाय तथा द्रव्य दोनों में रहता है। अतः समवायत्व-विशिष्टप्रतियोगिक-प्रतियोग्यवृत्तिभेद केवल 'समवायो न' यह भेद होगा। वह भेद समवाय, जिसे स्वपद से लिया गया, में नहीं रहता है। अतः तादृशभेदवत्त्व स्व' (समवाय) में नहीं आया अतिव्याप्ति न हुई।

कुछ लोग 'स्ववृत्ति-भावविभाजकोपाधिमत्-प्रतियोगिक-प्रतियोग्यवृत्तिभेदवत्त्व' इस समस्त पद में समास यदि बहुव्रीहि नहीं है तब पुनः इस लक्षण की अतिव्याप्ति समवाय में है यह शङ्का करते हैं। क्योंकि स्वपद से पृथिवी को लेने पर तद्वृत्तिभाव-विभाजकोपाधि द्रव्यत्व हुआ। वह द्रव्यत्वविशिष्ट जलप्रतियोगिक 'जलं न' भेद प्रतियोग्य-वृत्ति भी हुआ। इस भेद के अधिकरण जल छोड़कर समस्त पदार्थ ही हुए। अतः समवाय भी उस भेद का अधिकरण होने से अतिव्याप्ति हुई। इस शङ्का के समाधान के लिए यहां समास की बहुव्रीहिता स्पष्ट करने के लिए 'स्ववृत्तिभावविभाजकोपाधिमत्-प्रतियोगिक-प्रतियोग्य-वृत्तिभेदवत्कत्व' कहने से समस्तपद बहुब्रीहि है कि नहीं यह शङ्का न होगी। अर्थात् स्वपद से जिसको लिया जाय प्रतियोग्यवृत्तिभेद का अधिकरण भी वही होना आवश्यक होने से समवाय की भेदाधिकरणता रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। वस्तुतः 'क' प्रत्यय के बिना भी बहुव्रीहिसमास होता है।

द्रव्यं विहाय पञ्चानामाह गुणादीनामिति। निर्गुणत्वं गुणाभाव-विशिष्टत्वं निष्क्रियत्वं क्रियाया असमवायः।

[('गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्व निष्क्रियत्वे'[१] यह परममूल ग्रन्थ द्वारा) द्रव्य को छोड़कर (शेष) पांच (पदार्थ) का साधर्म्य कहा गया है।

१. प्रशस्तपाद, पृ० २७

(परममूलस्थ) निर्गुणत्व (पद का अर्थ) गुणाभावविशिष्टत्व तथा निष्क्रियत्व (पद का अर्थ) क्रिया का असमवाय (है) ।]

परममूलकारने 'गुणादीनाम्' इत्यादि ग्रन्थ से निर्गुणत्व को गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय यह पांच पदार्थ का साधर्म्य कहा है। रूपादि गुण केवल द्रव्य में ही आश्रित होते हैं। गुणों में यदि गुण स्वीकार किया जाए तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि गुण में जो गुण होगा वह भी गुण होने से गुणान्तर का आश्रय होगा। इसी प्रकार से धारावाहिकता आ जाने से अनवस्था दोष होता है। परन्तु उस प्रकार कोई गुण प्रमाणसिद्ध नहीं है। अतः गुणों में गुण नहीं स्वीकार किया गया है। यद्यपि किसी फल या पुष्प का रस अथवा गन्ध किस प्रकार का है यह प्रश्न होता है। तथापि वह प्रश्न रस अथवा गन्ध के गुणों के विषय में नहीं परन्तु रस या गन्ध के वैजात्य के विषय में ही होता है। शास्त्र में द्रव्य के तुल्य ही गुण तथा क्रिया में भी वैजात्य (भिन्नता) अर्थात् विशेष विशेष जाति स्वीकृत है। अतः गुणादि में वैजात्य रहने पर भी उनमें गुणादि की विद्यमानता प्रमाणित न होने से गुणादि पदार्थ निर्गुण ही प्रमाजित होता है।

निर्गुणत्व अर्थात् गुणाभाव को गुणादि पांच पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है। परन्तु शङ्का यह है कि साधर्म्य अर्थात् समानधर्म गुण, क्रिया, सामान्य आदि भाव पदार्थ ही होते देखे जाते हैं। अभाव, जो भावपदार्थ ही नहीं है वह, किसी का धर्म कैसे हो सकता है ? इस शङ्का के उत्तर में पूर्वपक्षी को ही प्रश्न करना है कि गुण क्रिया, जाति आदि को वह किस अभिप्राय से धर्म कहते हैं ? यदि गुण, क्रिया अथवा जाति आदि पदार्थ द्वारा अबाधित-विशिष्टव्यवहार (शब्द प्रयोग, जैसा गुणी, क्रियावान् आदि) ही गुण, क्रिया आदि को धर्म रूप से स्वीकार करने में हेतु है अर्थात् पूर्वोक्त विशिष्ट-व्यवहार ही यदि किसी वस्तु के धर्मत्व के नियामक है तब अभाव का भी धर्म होने में बाधा नहीं हैं। अभाव भी उसी कारण से धर्म हो सकता है। 'अघटं भूतलम्' इस प्रकार घटाभावविशिष्ट भूतल यह शब्दव्यवहार सर्वजनस्वीकृत तथा अबाधित है। इसलिए भावपदार्थ के तुल्य ही अभाव का भी धर्मत्व प्रमाणसिद्ध है। अतः निर्गुणत्व अर्थात् गुणाभाव भी गुणादि पांच पदार्थ का साधर्म्य होने में कोई दोष की आशङ्का नहीं है[१]।

---

१. निर्गता गुणा येभ्यस्ते निर्गुणाः, तेषां भावो निर्गुणत्वं गुणाभावः। अथ अभावस्याभावतया धर्मत्वाभाव इति चेन्न। विशेषणत्वेन तदुपपत्तेः। तथाहि गुणाभावेन सत्तागुणादिषु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निर्गुणा इति व्यवहारदर्शनात् ज्ञायते गुणाभावस्य विशेषणत्वेन धर्मत्वमिति। स च पञ्चसु समानत्वात् साधर्म्यमिति। व्योमवती, पृ० १२१

निर्गुणत्वं गुणाभावविशिष्टत्वं, निष्क्रियत्वं क्रियाभावविशिष्टत्वम्। यथा

निर्गुणत्व का अर्थ गुणाभाव होने पर भी शङ्का होगी कि गुणाभाव यदि गुण का किसी प्रकार का अभाव ही है तब पुनः उसे गुणादि पांच पदार्थ का साधर्म्य कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि गुण का भेदरूप अभाव अर्थात् 'गुणो न' यह भेद गुण को छोड़कर अन्य सब पदार्थ में रहता है। फलतः द्रव्य में भी रहेगा। अतः द्रव्यभिन्न भावपदार्थों का साधर्म्य गुणाभाव नहीं हो सकता है। इस लिए प्रकाशका ने गुणाभाव को गुणात्यन्ताभाव कहा है[1]। यह गुणात्यन्ताभाव भी गुणसामान्याभाव[2] अर्थात् गुणत्वावच्छिन्न-समवायसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव कहना है। अन्यथा रूपादि का अभाव, जो गुणविशेष का अत्यन्ताभाव ही है, वायु आकाश आदि में रहने से पुनः गुणसामान्याभावरूप साधर्म्य द्रव्य में भी अतिव्याप्त होगा। तथा 'संयोगेन गुणो नास्ति' यह गुणसामान्याभाव भी द्रव्य में रहने से वह साधर्म्य द्रव्य में अतिव्याप्त होगा। इसीलिए गुणसामान्याभाव की प्रतियोगिता को गुणत्वावच्छिन्न तथा समवायसम्बन्धावच्छिन्न कहा गया है।

परन्तु उत्पत्तिक्षण में द्रव्यमात्र ही निर्गुण रहता है। तथा उत्पत्ति के अव्यवहित दूसरे क्षण में जो द्रव्य विनष्ट हुआ उसमें भी गुणोत्पत्ति न हुई। फलतः उक्त दोनों स्थलों में गुणसामान्याभाव, जिस प्रकार का कहा गया वह, पुनः द्रव्य में अतिव्याप्त होगा। इस अतिव्याप्तिसम्भावनाको दृष्टिगत रखते हुए सूक्तिटीका में जगदीश तथा कारिकावली की टीका में विश्वनाथने निर्गुणत्व को गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्व कहा है।[3] उत्पत्तिक्षण

भावोऽभावस्य विशेषणं स्वविशिष्टप्रत्ययजननाद् एवमभावोऽपि। तथाचोपनिबद्धमघटं भूतलमिति। भावाभावयोरसम्बन्धात् कथमभावो विशेषणमिति चेत्, अस्ति तावदयं विशिष्टप्रत्ययः, तद्दर्शनात् सम्बन्धमपि कल्पयिष्यामः यदि सम्बद्धमेव विशेषणं मन्यसे। न्यायकन्दली, पृ० १६–७

१. गुणाभावो गुणात्यन्ताभावः। प्रकाश, पृ० १४१

२. सामान्याभावस्यावश्यवाच्यत्वात्। मकरन्द, पृ० १४१
निर्गुणत्वं यदि गुणाभाववत्त्वं तदान्योन्याभावमादाय द्रव्ये गतमत आह गुणाभावेति। गुणात्यन्ताभावेत्यर्थः। स च सामान्याभावो विवक्षितः, नातो विशेषाभावेन प्रसक्तिः। भास्कर, पृ० ५१

३. निर्गुणत्वं गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वम्, तेन आद्यक्षणे द्रव्यस्य गुणवदन्यत्वेऽपि न तत्रातिव्याप्तिः। सूक्ति, पृ० १२०
यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तं क्रियाशून्यत्वञ्च गगनादावतिव्याप्तं तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वञ्च तदर्थः। सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० १७४–७५

अथवा उत्पत्ति के अव्यवहित दूसरे क्षण में विनष्ट घट में गुण के न रहने पर भी वह घट उत्पत्ति के साथ ही द्रव्यत्व आदि धर्म से सम्बद्ध हो जाता है। इसलिए गुणवत् जो अन्य घटादि द्रव्य उसमें अवृत्ति धर्म गुण न होगा। क्योंकि अन्यघटों में गुण अवश्य ही रहता है। उत्पत्ति के द्वितीयक्षण में ही गुण भी उत्पन्न होता है। अतः गुणवदवृत्तिधर्म अर्थात् गुणों के अधिकरणों में न रहनेवाला धर्म गुणत्व आदि ही होंगे द्रव्यत्व नहीं। उत्पत्तिक्षण में या उत्पन्नमात्रविनाश के क्षण में भी घट में गुणवदवृत्तिधर्मवत्ता नहीं रहती है। उत्पन्नविनष्ट घट के तद्व्यक्तित्व गुणवदवृत्तिधर्म होने से यद्यपि अतिव्याप्ति रह जाती है इसलिए गुणवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व ही गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्व का तात्पर्यार्थ है। अतः गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वरूप निर्गुणत्व की अतिव्याप्ति उक्त स्थलों में न हुई।

द्रव्यभिन्न भावपदार्थों का दूसरा साधर्म्य निष्क्रियत्व कहा गया है। निष्क्रियत्व की व्याख्या में उदयनने "क्रियाया असमवायः" कहा है। मुद्रित किरणावली के ग्रन्थ में "असमवायः" यह पुँलिङ्गपाठ ही मिलता है। परन्तु शब्दशास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार पद की साधुता बनती नहीं। क्योंकि 'समवायस्य अभावः' इस प्रकार विग्रहवाक्य से अव्ययीभावसमास होकर समस्तपद नपुंसकलिङ्ग होगा। फलतः समास के पश्चात् 'असमवायम्' रूप होना चाहिए। इसलिए यदि नञ् समास से पद की साधुता की कल्पना करें तब वह भी सम्भव नहीं। क्योंकि तब विग्रहवाक्य होगा 'न समवायः'। इस प्रकार से 'असमवायः' यह पुलिङ्गपद सिद्ध होने पर भी 'क्रियायाः' यह षष्ठ्यन्त पद का क्रियाप्रतियोगिकत्वरूप अर्थ का अन्वय नञ् पद के व्यवधान के कारण 'समवायः' पद से नहीं हो सकता है। क्योंकि तब समासान्तर्गत समवायपद क्रियायाः पद के सापेक्षपद हो जाने से 'न सापेक्षे कृत्तद्धितसमासाः' इस नियमानुसार समास ही सम्भव न होगा। इस स्थिति में 'क्रियायाः' इस षष्ठ्यन्त पद का अर्थ क्रियासम्बन्धित्व मात्र करके 'समवायः' पद की सापेक्षता दूर की जा सकती है। परन्तु उस स्थिति में 'न समवायः' इस नञ् का अर्थ अन्योन्याभाव ही होगा। जिस प्रकार 'न ब्राह्मणः' स्थल में नञ् का भेद ही अर्थ होता है अत्यन्ताभाव नहीं। उसी प्रकार प्रकृतस्थल में भी 'न समवायः' पद का अर्थ समवाय का भेद ही होगा। फलतः क्रियाया असमवायः पद का क्रियासम्बन्धित्वविशिष्ट समवायभेद ही अर्थ होगा। वह विशिष्टभेद द्रव्यादि में (समवाय को छोड़कर) रहने से निष्क्रियत्व द्रव्य में अतिव्याप्त होगा। यदि 'असमवायम्' यह पाठ मानकर समवाय का अत्यन्ताभाव यह अर्थ उस अव्ययीभावसमास का किया जाए तब भी 'क्रियायाः' इस पद का क्रियाप्रतियोगिकत्वरूप अर्थ का अन्वय अव्ययीभावसमासान्तर्गत समवाय पद से नहीं हो सकेगा। क्योंकि शाब्दिकों के अनुसार अव्ययीभावसमास के अन्तर्गत पद के अर्थ से उस समास में अनिविष्टपद के अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता है। अतः इस प्रकार समास में भी 'क्रियायाः' इस षष्ठ्यन्त पद का अर्थ क्रियासम्बन्धित्व मानकर उसका

अन्वय साक्षात् रूप से अभाव में ही करना होगा। फलतः क्रियासम्बन्धित्वविशिष्ट समवायाभाव ही 'क्रियाया असमवायम्' पद का अर्थ होगा। इससे गुण में क्रिया-सम्बन्धित्वविशिष्ट समवाय का अभाव न रहने से अव्याप्ति होगी। अतः किरणावली की "क्रियाया असमवायः" इस पंक्ति की कोई युक्तियुक्त व्याख्या नहीं हो सकती है। यह भी उल्लेखनीय है कि निर्गुणत्व को गुणाभाव कहकर निष्क्रियत्व की व्याख्या में क्रियाभाव नहीं परन्तु क्रिया का असमवाय कहा गया है। किरणावली के टीकाकारोंने अव्यवहित दो पदों की भिन्न-भिन्न व्याख्या का कोई अभिप्राय व्यक्त नहीं किया है। सब टीकाकारों ने पृथक् रूप से निष्क्रियत्व की व्याख्या में स्पन्द का अत्यन्ताभाव कहा है।

समस्त टीकाकारों ने इस पंक्ति की उपेक्षा करते हुए क्रिया का अर्थ स्पन्द तथा उसका अभाव यही निष्क्रियत्व का अर्थ किया है।[१] ऐसा होने से इस 'क्रियाया असमवायः' ग्रन्थ को हम लिपिकरप्रमाद समझ सकते हैं। यथार्थपाठ 'क्रियाया अभावः' होना सङ्गत होगा। इससे क्रिया अर्थात् स्पन्द का अत्यन्ताभाव ही निष्क्रियत्व का अर्थ सरलता से हो सकेगा।

स्पन्दात्यन्ताभावरूप निष्क्रियत्व गुणादि पांचो पदार्थ में रहने से इस लक्षण की अव्याप्ति न होगी। परन्तु विभुद्रव्यों के निष्क्रियत्व इससे पूर्व किरणावली में कहे जाने से उन विभुद्रव्यों में लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा। निष्क्रियत्व को अमूर्तद्रव्यों का साधर्म्य किरणावली में कहे जाने से प्रस्तुत गुणादि पांच पदार्थ का साधर्म्यरूप निष्क्रियत्व को कर्मवद्वृत्तिसत्ताव्याप्यजातिशून्यत्वरूप कहना पड़ेगा।[२] मूर्तद्रव्य, अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन, कर्मवत् होते हैं। उनमें रहने वाली सत्ताव्याप्यजाति द्रव्यत्व पृथिवीत्व आदि होंगे। द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि कर्मवद्वृत्तिजातिशून्यवस्तु केवल गुण आदि पाँच पदार्थ ही होंगे। तथा द्रव्यत्वरूप कर्मवद्वृत्तिसत्ताव्याप्यजातिशून्य न होने से आकाशादि विभुद्रव्यों में भी अतिव्याप्ति न होगी। इस लक्षण में 'सत्ताव्याप्यत्व' विशेषण न रहने से गुण तथा कर्म में अव्याप्ति होती। क्योंकि कर्मवद्वृत्तिजातिशून्यत्व यदि निष्क्रियत्व हो तो कर्मवत् पृथिवी आदि में रहनेवाली जाति सत्ता भी है। वही सत्ताजाति गुण तथा कर्म में रहती है। अतः गुण तथा कर्म कर्मवद्वृत्तिजातिशून्य न होगा।

किसी व्याख्याकारने कर्मवदवृत्तिभावविभाजकोपाधिमत्त्व ही निष्क्रियत्व कहा है।[३] पृथिवी आदि कर्मवत् वस्तु में न रहने वाली भावविभाजकोपाधि गुणत्व

---

१. क्रिया स्पन्दः तदत्यन्ताभावश्च। प्रकाश पृ० १४१

..... इत्यत आह स्पन्द इति। मकरन्द, पृ० १४१

२. तथापि कर्मवद्वृत्तिसत्ताव्याप्यजातिशून्यभावत्वं विवक्षितम्। प्रकाश, पृ० १४१

३. निष्क्रियत्वं क्रियावदवृत्तिभावविभाजकधर्मवत्त्वम्। सूक्ति, पृ० १२०

आदि है। गुणादि में कर्मवत् पृथिव्यादि में न रहने वाली गुणत्वादि भावविभाजकोपाधि रहने से लक्षण में अव्याप्ति न होगी। तथा आकाशादि में द्रव्यत्वरूप पृथिव्यादि कर्मवद् वस्तु में रहने वाली भावविभाजकोपाधि के रहने से प्रस्तुत निष्क्रियत्व लक्षण की अतिव्याप्ति भी न होगी। इस निर्वचन द्वारा निष्क्रियत्व को भावविभाजकोपाधि-गुणत्वादि रूप कहा गया जब कि निष्क्रियत्व अभाव स्वरूप है।[1] पूर्वोक्तनिर्वचन में यह अभाव-रूपता स्पष्ट होने से हमें पूर्वोक्त निर्वचन ही समीचीनतर प्रतीत होता है।

द्रव्यादीनां त्रयाणामिति[2]। सत्तासम्बन्धः समवायलक्षणः। सामान्यविशेषा द्रव्यत्वादयस्तद्वत्त्वम्। निरुपपदेनार्थशब्देन द्रव्यादयस्त्रय एवाभिधीयन्ते, नापरे। एष एव स्वसमयो वैशेषिकाणां स्वशास्त्रे व्यवहारलाघवाय। यथा[3] धारणाध्यान[4] समाधित्रयमेकत्र संयम इति योगानुशासने। द्रव्यादित्रयन्तु प्रत्येकसमुदायाभ्यामिति विशेषः। तदिदमुक्तं स्वसमयेति। धर्माधर्मकर्तृत्वञ्चेति। साधर्म्य-द्वयसूचनाय चकारः। धर्मकर्तृत्वमधर्मं विहाय अधर्मकर्तृत्वञ्च धर्मं विहाय।

["द्रव्यादीनां त्रयाणाम्" आदि ग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है। (परममूल के) सत्तासम्बन्ध पद से सत्ता का समवायरूप सम्बन्ध समझना है। (परममूल के सामान्यविशेषवत्त्वम् पद के) सामान्यविशेष द्रव्यत्व आदि (है) तद्वत्ता (भी द्रव्यादि तीन पदार्थ के एक अन्य साधर्म्य होगा)। उपपदरहित (अर्थात् केवल) अर्थ शब्द से द्रव्यादि तीन पदार्थ ही बोधित होता है अन्य कोई (अर्थात् सामान्यादि पदार्थ) नहीं। यह ही वैशेषिक लोगों ने अपना सङ्केत अपने शास्त्र में व्यवहार (शब्दप्रयोग) की लघुता सम्पादन के लिए कर रखा है। जैसा धारणा, ध्यान तथा समाधि यह तीनों एक साथ

१. निष्क्रियत्वं कर्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाववत्त्वं यद्यपि आकाशादावतिव्याप्तं तथापि क्रियावद्वृत्तिभावविभाजकोपाधिशून्यत्वं तथेति भावः। सेतु, पृ० १२०-२१

२. द्रव्यादीनां त्रयाणां सत्तासम्बन्धः सामान्यविशेषवत्त्वं स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्वं धर्माधर्मकर्तृत्वञ्च। प्रशस्तपाद, पृ० १८

३. चकारोऽधिकः पठ्यते सोसाइटी पुस्तके।

४. ध्यानधारणेति पाठान्तरम्। तन्न साधु, पातञ्जलसूत्रोक्तकमलङ्घनात्।

संयम (शब्द का अभिधेय) योगशास्त्र में (होता है)।[१] परन्तु द्रव्यादि तीन प्रत्येक (पृथक् पृथक् रूप से) तथा समुदाय यह उभय प्रकार से (अर्थ शब्द वाच्य है) यही विलक्षणता (है)। इसलिए 'स्वसमय' यह कहा गया है। 'धर्माधर्मकर्त्तृत्वञ्च' यह (परममूल के) 'च' कार दो साधर्म्य को सूचित करने के लिए (दिया गया है)। (इससे द्रव्यादि तीन का) अधर्म को छोड़ कर (केवल) धर्मकर्त्तृत्व (धर्मकारणत्व) तथा धर्म को छोड़ कर (केवल) अधर्मकर्त्तृत्व (अधर्मकारणत्व) (दो पृथक्) (साधर्म्य है समझना है)।]

प्रशस्तपादने सत्तासम्बन्ध को द्रव्य, गुण तथा कर्म यह तीन पदार्थों का साधर्म्य कहा है। साक्षात् तथा परम्परा यह दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। इस स्थिति में सामान्य आदि पदार्थों का स्वसमवायिसमवेतत्वरूप परम्परासम्बन्ध सत्ता से रहने के कारण सत्तासम्बन्धरूप साधर्म्य सामान्य आदि पदार्थों में अतिव्याप्त होता है। इसलिए किरणावलीकारने 'सत्तासम्बन्ध' पद में सम्बन्ध शब्द को समवायसम्बन्ध का बोधक कहा है। सत्ता का समवायसम्बन्ध केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में होता है। अतः सत्ता का परम्परासम्बन्ध सामान्य आदि में रहने पर भी अतिव्याप्ति न होगी। द्रव्यादि तीन पदार्थों का सामान्यविशेषवत्त्व तथा स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्व यह दो साधर्म्य भी प्रशस्तपादने कहा है। सामान्यविशेषवत्त्व की व्याख्या में किरणावली मे द्रव्यत्वादि को सामान्यविशेष कहा गया है। क्योंकि द्रव्यत्व सब द्रव्यों में रहने से द्रव्यम्' 'द्रव्यम्' इस प्रकार समानाकारबुद्धि पृथिवी आदि नौ द्रव्य में उत्पन्न करता है अतः वह सामान्य है। इसी प्रकार गुण आदि पदार्थों से पृथिवी आदि द्रव्यों को विलक्षण बतला कर वह वैलक्षण्य का साधक होकर विशेष भी है। 'द्रव्यत्वादयः' शब्द से गुणत्व कर्मत्व तथा पृथिवीत्व, जलत्व रूपत्व, रसत्व तथा उत्क्षेपणत्व आदि को समझना है। यह जातियां सभी सामान्यविशेष हैं। पृथिवीत्व समस्त पृथिवी में रहते हुए पृथिवीभिन्न वस्तुओं से पृथिवी को व्यावृत्त करता है। इसी प्रकार गुणत्व, रूपत्व, कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व आदि

---

१. त्रयमेकत्र संयमः। (पातञ्जल योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र ४) तदेतद् धारणाध्यान-समाधित्रयमेकत्र संयमः। एक विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति। व्यासभाष्य, पृ० १२०
मं० मं० पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में व्यास भाष्य की उद्धृति, पातञ्जल योगसूत्र के साधनपाद में योगाङ्गों के निर्देश जिस क्रम से किया गया है, उसके विपरीत है। वहां धारण के पश्चात् ध्यान कहा गया है। व्यास भाष्य में भी सूत्र वर्णित क्रम, जिसका अनुसरण यहां हमने किया है, का ही उल्लेख है।

जातियां भी अपने अपने आश्रय की अनुवृत्तबुद्धि उत्पादन करते हुए तद्भिन्न वस्तुओं से अपने आश्रय को व्यावृत्त भी करता है। अतः अनुवृत्तबुद्धि तथा व्यावृत्तबुद्धि के उत्पादक होने से ये सब ही सामान्यविशेष हैं।

'स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्व' की व्याख्या में उदयनने कहा है कि वैशेषिकसम्प्रदाय में अपने शास्त्रग्रन्थों में व्यवहारलाघव के लिए निरुपपद अर्थात् अन्य कोई उपपद से रहित अर्थ पद को द्रव्य गुण तथा कर्म यह तीन पदार्थों के बाचक मान लिया है। इस लिए द्रव्य, गुण तथा कर्म यह तीनों 'अर्थ' शब्द का अभिधेय होंगे। व्यवहारलाघव के लिए शास्त्रों में इस प्रकार विशेषसङ्केत प्राप्त है। इसी का दृष्टान्त रूप से किरणावली में योगशास्त्र में स्वीकृत 'संयम' शब्द का उल्लेख किया गया है। 'संयम' शब्द का प्रचलित (प्रसिद्ध) अर्थ में योगशास्त्र में उस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। परन्तु धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीन वस्तुओं को एक साथ समझाने के लिए ही उस शास्त्र में संयम शब्द का प्रयोग होता है। उसी प्रकार अर्थ शब्द का प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग वैशेषिक शास्त्र में नहीं होता है। परन्तु व्यवहारलाघव के लिए द्रव्य, गुण तथा कर्म को समझाने के लिए ही अर्थ शब्द प्रयुक्त होता है। यद्यपि योगशास्त्र में 'संयम' शब्द एक साथ धारणा, ध्यान तथा समाधि यह तीनों का बोधक होता है तथापि वैशेषिक शास्त्र में अर्थ शब्द से द्रव्य, गुण तथा कर्म मिलित तथा पृथक् पृथक् रूप से समझा जाता है।

"द्रव्यादीनां त्रयाणां सत्तासम्बन्धः" इस परममूल की व्याख्या करते हुए व्योमशिवाचार्यने कहा है कि सत्तासम्बन्ध शब्द से सत्ता से उपलक्षित समवाय को समझना चाहिए[1]। सत्ता से उपलक्षित समवाय का अर्थ सत्ताप्रतियोगिकत्वविशिष्ट-समवाय है। उस प्रकार समवाय द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहने से वह समवाय द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य हो सकता है। सामान्यादि पदार्थ में सत्ताप्रतियोगिकत्वविशिष्ट-समवाय के न रहने से प्रस्तुत साधर्म्य की अतिव्याप्ति सामान्य आदि में न होगी।

यहां शङ्का हो सकती है कि द्रव्यादि तीन पदार्थ में सत्तासम्बन्ध अर्थात् सत्ता-प्रतियोगिकत्वविशिष्ट-समवाय है इस विषय में 'द्रव्यं सत्' 'गुणः सन्' 'क्रिया सती' आदि अनुगत प्रतीति ही यदि प्रमाणभूत हैं तब 'सामान्यं सत्' 'समवायः सन्' आदि प्रतीति के बल पर सामान्य आदि में भी द्रव्यादि के तुल्य ही सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना होगा। क्योंकि उक्त प्रतीतियां विशिष्टप्रतीति होने के कारण विशेषण के सम्बन्ध के बिना उत्पन्न हो नहीं सकती हैं। जिस प्रकार 'द्रव्यं सत्' प्रतीति में द्रव्य से

१. सत्तायाः सम्बन्धः सत्तोपलक्षितः समवाय इति। व्योमवती, पृ० १२४

सत्ता का समवायसम्बन्ध स्वीकृत है उसी प्रकार 'सामान्यं सत्' इस प्रतीति में भी सत्ता का समवायसम्बन्ध ही स्वीकार करना आवश्यक है। फलतः द्रव्यादि तीन पदार्थ का ही सत्तासम्बन्ध साधर्म्य है कैसे कहा जा सकता है ? यदि 'द्रव्यं सत्' इस विशिष्ट प्रतीति में विशेषणीभूत सत्ता का द्रव्य से समवाय के बिना वह विशिष्टप्रतीति हो नहीं सकती तुल्य रूप से 'सामान्यं सत्' यह विशिष्टप्रतीति में भी विशेषणीभूत सत्ता का सम्बन्ध के बिना वह प्रतीति हो नहीं सकती है। यदि द्रव्य मे वह विशिष्टप्रतीति में विशेष्य से विशेषण का सम्बन्ध समवाय है तो 'सामान्यं सत्' इस विशिष्टप्रतीति में भी वही समवायसम्बन्ध होने में बाधा क्या है ? अतः सत्तासम्बन्ध द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य है कहना समर्थनयोग्य नहीं[1]।

इस शङ्का के समाधान मे व्योमशिवने कहा है कि सामान्य आदि में 'सत्' यह प्रतीति औपचारिक अर्थात् गौण है। इस प्रतीति के गौण अर्थात् औपचारिक होने के कारण 'सामान्यं सत्' इत्यादि प्रतीति के बल पर सामान्य आदि में सत्तासम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है। 'द्रव्यं सत्' इस प्रतीति की मुख्यता उस प्रतीति में बाधक न होने के कारण स्वीकृत है। तुल्य रूप से 'सामान्यं सत्' इस प्रतीति को भी मुख्यप्रतीति स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इस प्रतीति में सामान्य में किसी जाति का होना अनवस्था दोष के कारण स्वीकृत नहीं है। सत्ता जातिरूप से ही प्रमाणित है। अतः सामान्य में सत्ताजाति का होना बाधित है। अतः 'सामान्यं सत्' यह प्रतीति बाधित होने से मुख्य नहीं है। किसी गौण अर्थात् औपचारिक प्रतीति के कारण सामान्य आदि में सत्ताजाति का सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है[2]। फलतः द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही सत्ता का

---

१. ननु द्रव्यादिषु सत्तायाः सद्भावे किं प्रमाणम् ? सद् द्रव्यं सद्गुणः सत्कर्मेति प्रत्यय एव। तथाहि सदितिज्ञानं विशिष्टज्ञानत्वात्सर्तं विशेषणाद् भवतीति सत्तासद्भावः। नन्वेवं तर्हि त्रयाणामित्ययुक्तम् सामान्यादिष्वपि सत् सदिति ज्ञानोत्पत्तेः। तथाहि सत्सामान्यं सन्तोविशेषाः सन् समवाय इत्यपि विशिष्टज्ञानदर्शनात् वाच्यः सत्तासम्बन्ध इति। व्योमवती, पृ० १२४

२. तथाहि सामान्यादिषु सत्तासमवाये बाधकोपपत्तेः सत्सदितिज्ञानमुपचरितम्। उपचारश्च प्रवर्त्तमानो निमित्तमपेक्षत इति। स्वात्मना साधारणधर्मेणोपचारनिमित्तेन सत्तावत्त्वं सत्सदितिप्रत्ययजनकम्। यत्र हि सत्तासाधारणधर्मो दृष्ट इति तदुपलम्भात् सत्ताध्यारोपः प्रवर्त्तत एवेति सामान्यादिषु सत्तासमवाये बाधकोपपत्तेः। सत् सदिति ज्ञानादितिज्ञानस्य अन्यथापि भावाद् अन्यथासिद्धेरहेतुरिति। न च द्रव्यादिषु सत् सदितिज्ञानस्य असाधारणधर्मादेवोत्पत्तिरिति वाच्यम्। मुख्ये बाधकासम्भवात्। न च मुख्यं विना क्वचिदुपचारो दृष्ट इति द्रव्यादिषु सत्तासमवायादेव सत्सदितिज्ञानं दृष्टमिति सिद्धम्। व्योमवती, पृ० १२५

साक्षात्सम्बन्ध समवाय सिद्ध होता है। सामान्य आदि में 'सामान्यं सत्' इत्यादि प्रतीति के बल पर सामान्य आदि में उक्त प्रतीतियों के उत्पादक परम्परासम्बन्ध ही होगा। इसीलिए प्रशस्तपादने सत्तासम्बन्ध को द्रव्यादि तीन पदार्थ मात्र का साधर्म्य कहा है।

इसी प्रसङ्ग में एक एकदेशी ने कहा है कि किसी भी पदार्थ में यदि 'सत्' इस प्रकार प्रतीति होती है तो वह प्रतीति साक्षात्सम्बन्ध से ही सत्तारूप विशेषणसापेक्ष होती है। विशिष्टप्रतीति मात्र में ही विशेषण का विशेष्य से साक्षात्सम्बन्ध अवश्य रहता है। जिस प्रकार 'द्रव्यं सत्' इस विशिष्टप्रतीति के लिए सत्ता का साक्षात्सम्बन्ध आवश्यक है उसी प्रकार 'सामान्यं सत्' इस विशिष्टप्रतीति में भी सामान्य से सत्ता का साक्षात्सम्बन्ध की आवश्यकता है। विशेष्य तथा विशेषण का साक्षात्सम्बन्ध के अधीन उक्त दोनों प्रतीति मुख्य ही हैं। परन्तु प्रतीति मुख्य होने पर भी 'सामान्यं सत्' प्रतीति के कारण द्रव्यादि तीन पदार्थ का सत्तासम्बन्धरूप साधर्म्य की अतिव्याप्ति सामान्य आदि में न होगी। क्योंकि उक्त ग्रन्थ में सम्बन्ध पद से समवायसम्बन्ध ही अभिप्रेत है।[१] यदि वह सम्बन्धपद जिस किसी सम्बन्ध को समझाने के लिए प्रयुक्त होता तो उस सम्बन्ध पद से संयोगसम्बन्ध भी लिया जा सकता था। परन्तु सत्ता कभी संयोग सम्बन्ध का सम्बन्धी नहीं होती है। यदि सम्बन्ध शब्द से विशेष्यविशेषणभावसम्बन्ध लिया जाए तथापि उस सम्बन्ध से सत्ता केवल सामान्य आदि में ही रहती है। अतः यदि द्रव्यादि तीन पदार्थ का सत्तासम्बन्ध को साधर्म्य कहा गया तो वह सम्बन्ध भी अगत्या-समवाय ही होगा। सामान्य आदि में सत्ता का समवायसम्बन्ध न रहने के कारण सत्ता सम्बन्ध अर्थात् सत्ता का समवाय सम्बन्ध द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य होगा। तथा उस साधर्म्य की अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति भी न होगी। 'द्रव्यं सत्' तथा 'सामान्यं सत्' यह दो विशिष्टप्रतीति दो भिन्न-भिन्न सम्बन्ध से होने के कारण इन दोनों की मुख्यता स्वीकार[२] करने पर भी साक्षात् समवायसम्बन्ध से विशेषण होकर 'द्रव्यं सत्' आदि प्रतीति के कारण द्रव्यादि तीन पदार्थ का सत्तासम्बन्ध अर्थात् सत्तासमवाय साधर्म्य भी हो सकेगा।

---

१. सत्तायाः सम्बन्धः सत्तोपलक्षितः समवाय इति। व्योमवती, पृ० १२४
द्रव्यगुणकर्मणां सत्तासम्बन्धः सत्तासमवायः। सूक्ति, पृ० १२१
यद्यप्येकार्थसमवायादयः सामान्यादावपि तथापि तन्निरूपितसमवायो नान्यत्रेतिभावः। सेतु, पृ० १२२

२. अन्ये तु सत्सदिति ज्ञानस्य सत्ताविशेषणजनितत्वादेकत्र समवेतत्वेन विशेषणमन्यत्र विशेषणविशेष्यभावेन इत्युभयत्रापि मुख्यतां ब्रुवते। व्योमवती, पृ० १२५

परन्तु ऊपरवर्णित एकदेशीमत स्वीकारयोग्य नहीं है। क्योंकि केवल विशेष्य-विशेषणभाव के रहने पर ही यदि विशेष्य तथा विशेषण का साक्षात्सम्बन्ध स्वीकार किया जाए तो सर्वत्र गौण अर्थात् औपचारिक प्रतीति का उच्छेद हो जाएगा। इसी प्रकार से मिथ्याज्ञान का भी उच्छेद होगा। क्योंकि 'सिंहोमाणवकः' इस प्रतीति में माणवकरूप विशेष्य में सिंहत्वरूप विशेषण की प्रतीति है। फलतः माणवक में विशेष्य-विशेषणभावसम्बन्ध से सिंहत्व की प्रतीति को साक्षात्सम्बन्धाधीन विशिष्टप्रतीति मानना पड़ेगा। अतः माणवक में सिंहत्व की मुख्यप्रतीति हो रही है यह भी स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु माणवक सिंहत्वविशिष्ट नहीं होता है। माणवक में सिंहत्व के साथ समानाधिकरण शौर्य आदि गुणों को समझाने के लिए 'सिंहोमाणवकः' यह प्रयोग होता है। यदि उस प्रतीति की मुख्यता मानना पड़े तो गौणप्रतीति का स्थल ही नहीं रहेगा। प्रकृत 'सामान्यं सत्' प्रतीति भी सामान्य में सत्ता की मुख्यप्रतीति नहीं है। वह प्रतीति गौण ही है कहना ही उचित है।[1]

यह भी विचारणीय है कि गुण, कर्म तथा सामान्यों की उभयवादिसिद्ध विशेषणता समवायसम्बन्ध से ही स्वीकृत है। फलतः समवायसम्बन्ध सत्ता से व्यापक सम्बन्ध है। व्यापक सम्बन्ध के अभाव के कारण सामान्य आदि में व्याप्य सत्ता का अभाव भी सिद्ध हो जाता है। फलतः सामान्य आदि में सत्ता के अभाव के रहने से 'सामान्यं सत्' यह प्रतीति को उसके साथ सहचरित (साथ चलने वाले) प्रमेयत्वादि धर्म के कारण गौण अर्थात् औपचारिक कहना पड़ेगा। अर्थात् द्रव्यादि में सत्ता के साथ उपलब्ध प्रमेयत्वादि को सामान्यादि पदार्थों में ज्ञात होकर ही उनमें सत्ता का अध्यारोप होता है। आरोपित सत्ता की प्रतीति गौण ही होगी।[2] तुल्य युक्ति से विशेष्यविशेषण-भावरूप सम्बन्ध को गुण, कर्म, सामान्य आदि की विशेषणता का नियामक सम्बन्ध कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि गुण, कर्म अथवा सामान्य की विशेषणता उभयवादिसिद्ध स्थलों में विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्ध से नियन्त्रित नहीं है। अतः जिस प्रकार हमें उभयवादिसिद्ध सत्ता के आश्रयों में 'यत्र यत्र सत्ता तत्र तत्र समवायः' यह नियम प्राप्त है

---

१. यत्र हि विशिष्टज्ञानं तत्र विशेषणविशेष्यभावः। ततो हि सामान्यादिष्वपि सत्-सदितिविशिष्टज्ञानोत्पत्तेर्विशेषणविशेष्यभाव एव सम्बन्ध इत्युभयत्रापि मुख्यं सत्-सदितिज्ञानम्। एतच्चासत्। व्योमवती, पृ० १२५

२. यत्र हि गुणकर्मसामान्यानां विशेषणत्वमुभयत्राभिमतं तत्र तत्र समवायेनेति दृष्टम्। सामान्यादिषु सत्तायाः समवायस्य व्यापकस्य व्यावृत्तेर्विशेषणस्य व्याप्यस्य व्यावृत्ति-रिति, केवलं तत्सहचरितधर्मोपलब्धेः सत्ताध्यारोप इति युक्तम्। अन्यथा हि सर्वत्र गौणप्रत्ययोच्छेदो मिथ्याज्ञानस्य चेति। व्योमवती, पृ० १२५

उसी प्रकार से 'यत्र यत्र सत्ता तत्र तत्र विशेष्यविशेषणभाव:' यह नियम प्राप्त नहीं होता है। अत: 'सत्' इस प्रकार मुख्य प्रतीति का नियामकसम्बन्ध विशेष्यविशेषणभाव को कहा नहीं जा सकता है। इसलिए द्रव्यादि तीन पदार्थ में सत्ता का अभाव विपरीत युक्ति से सिद्ध करना भी एकदेशिमतवादियों के लिए सम्भव नहीं है। अतः 'द्रव्यं सत्' यह प्रतीति मुख्यप्रतीति होगी। 'सामान्यं सत्' आदि प्रतीति औपचारिक ही होगी।

सामान्यविशेषवत्ता भी द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य है। यह 'सामान्य विशेष' शब्द की व्युत्पत्ति में 'सामान्यरूपो यो विशेषः' कहा गया है।[1] 'विशेष' शब्द से व्यावर्त्तक धर्म समझा जाता है। व्यावृत्ति शब्द इतरभेद का बोधक है। इतरभेदजनक को व्यावर्त्तक तथा इतरभेदाधिकरण को व्यावृत्त कहा जाता है। द्रव्यत्व आदि जाति अनुवृत्तप्रत्यय का जनक होने से अनुवर्त्तक है। नौ द्रव्य में 'द्रव्यम्' द्रव्यम्' इत्याकार प्रतीति द्रव्यत्वरूप अनुवृत्तप्रत्ययजनक अर्थात् अनुवर्त्तक के कारण ही होता है। साथ ही साथ 'द्रव्यम्' शब्द से गुणादि से भिन्न यह बोध भी होता है। यह गुणादि से भेद ही द्रव्य की गुणादि से व्यावृत्ति है। उस व्यावृत्तत्व बुद्धि का जनक द्रव्यत्व है। व्यावृत्तत्वबुद्धि के जनक को विशेष कहा जाता है। अत: द्रव्यत्व जिस प्रकार से अनुवृत्तप्रत्ययजनक है ठीक उसी प्रकार व्यावृत्तबुद्धि का भी जनक होने से सामान्य तथा विशेष दोनों संज्ञा का अधिकारी है। सामान्योद्देश प्रकरण में यह कहा भी जा चुका है। अतः द्रव्यत्व आदि समस्त सत्ताव्याप्यजाति ही सामान्यविशेष होने से उन जातियों के आश्रयभूत द्रव्य, गुण तथा कर्म के प्रत्येक व्यक्ति ही सामान्यविशेषवान् होगा। उक्त सामान्यविशेषवत्ता इसीलिए द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है।

'सामान्यविशेषवत्त्व' रूप साधर्म्य की व्याख्या के प्रसङ्ग में प्रकाशकार तथा किरणावलीभास्करकारने 'सामान्यवत्त्व' को ही द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहना पर्याप्त था समझा है। यदि सामान्यविशेष शब्द को 'सामान्यरूपोविशेष' इस विग्रह वाक्य का समस्तरूप माना जाए तब जातिमत्त्व ही साधर्म्य यहां प्रशस्तपाद का तात्पर्य है कहा है।[2] प्रकाशकारने इस प्रकार व्याख्या के कारण बताते हुए कहा है कि सामान्यवत्त्व भी इतरभेदजनक होने से सामान्यविशेषवत्त्व तक कहने की आवश्यकता

१. सामान्यरूपो विशेष इति विग्रहेण जातिमत्त्वमात्रमत्रोक्तम्। प्रकाश, पृ० १४२

२. यद्यपि सामान्यवत्त्वमेवेतरभेदगमकं तथापि सामान्यरूपोविशेष इति विग्रहेण जातिमत्त्वमत्रोक्तम्। प्रकाश, पृ० १४२
लक्षणन्तु जातिमत्त्वमात्रं शेषवैयर्थ्यात्। भास्कर, पृ० ५१

नहीं थी। यदि विग्रह वाक्य के कारण ही शब्द का यह रूप है तथापि जातिमत्त्व ही इस शब्द से कहा गया है समझना चाहिए। हम इस व्याख्या का समर्थन निम्नोक्त कारणों से नहीं कर सकते हैं। प्रथम—'सत्तासम्बन्धः' इस साधर्म्य को कहने के ठीक बाद ही 'सामान्यविशेषवत्त्वम्' को भी साधर्म्य कहा गया है। यह स्पष्टतः द्विरुक्ति हो जाएगी। क्योंकि जिस रीति से सामान्यविशेषवत्त्व का पर्यवसित अर्थ जातिमत्त्व 'प्रकाश' में किया गया तुल्य रीति से सत्तासम्बन्ध का पर्यवसान सत्तावत्त्व या सामान्यवत्त्व में हो सकता है।

द्वितीय—आचार्य प्रशस्तपादने सत्ता को साधर्म्य न बताकर सत्तासम्बन्ध को क्यों साधर्म्य बताया है ? प्रथमोपस्थित सत्ता को त्याग कर उसी सत्ता का सम्बन्ध को साधर्म्य बतलाने में "सोऽयमश्वारूढस्य विस्मृतोऽश्वः" कहावत की चरितार्थता हो जाती है। जब अनन्तर ही अपरसामान्यों को साधर्म्य बतलाना था तब परसामान्य सत्ताको ही साधर्म्य कहना उचित था। परन्तु प्रशस्तपाद का वैसा न करने का कोई तात्पर्य अवश्य था। हमारे विचार से जो साधर्म्य जिसका कहा गया है तद्भिन्नों का वह वैधर्म्य भी है। अर्थात् साधर्म्य स्वयं अपने आश्रय में इतरभेद का अनुमापक हेतु भी है। फलतः साधर्म्यमात्र ही एक साथ अनुवृत्तप्रत्ययजनक होते हुए व्यावृत्तप्रत्ययजनक भी होता है। इसी सिद्धान्त को स्मरण करते हुए प्रकाशकारने प्रस्तुत स्थल की व्याख्या में "सामान्यवत्त्व को ही इतरभेदज्ञापक" कहा है। यदि प्रशस्तपाद सत्तासम्बन्ध को साधर्म्य बतलाते तो 'वदतो व्याघात' दोष उनमें होता। क्योंकि सामान्यनिरूपण में उन्होंने सामान्य को 'अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्' कहा है। तथा उसकी व्याख्या में उदयनाचार्य ने 'अनुवृत्तेरेवेति' कहकर अन्य कुछ अर्थात् व्यावृत्तिप्रत्ययकारणता का निषेध भी किया है। फलतः प्रत्ययानुवृत्ति ही सामान्य का साधक है। इस स्थिति में यदि सत्ता, जो सामान्यत्वेन प्रत्ययानुवृत्ति का कारण स्वीकृत है वह, द्रव्यादि तीन पदार्थ से भिन्न वस्तुओं का भेद द्रव्यादि में अनुमान करने में भी सहायक, साधर्म्य होने के कारण, हो तो उसका साधक-प्रमाण ही बाधित हो जाएगा। क्योंकि सामान्यरूप से स्वीकृत सत्ता प्रत्ययानुवृत्ति की ही नहीं अपितु व्यावृत्तिप्रत्यय की भी जननी होगी। इसीलिए सामान्य के साधकप्रमाण के अनुरोध से ही सत्ता को साक्षात् रूप से साधर्म्य न बताकर प्रशस्तपाद ने सत्तासम्बन्ध अर्थात् सत्तोपलक्षित समवाय को ही साधर्म्य कहा है। ठीक इसी के अनन्तर ही प्रशस्त-पादने सामान्यविशेषवत्त्व को उन्हीं द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य कहने में सङ्कोच का अनुभव नहीं किया। क्योंकि 'सामान्यविशेष' यह दो संज्ञा द्रव्यत्व आदि सामान्यों का है। द्रव्यत्व आदि अपरसामान्य प्रत्ययानुवृत्ति के कारण होते हुए व्यावृत्तप्रत्यय का भी कारण है यह कहा जा चुका है। अतः अपरसामान्यों को उनके 'विशेषत्व' के कारण ही साधर्म्य कहने में बाधा नहीं है। द्रव्यत्वरूप अपरसामान्य 'द्रव्यम्' द्रव्यम्' इत्याकार अनुवृत्तिप्रत्यय नौ द्रव्यों में उत्पन्न करने के साथ ही उन्हीं में 'गुणो न' 'कर्म न' इत्यादि

गुणादि का भेद भी उन द्रव्यों में अनुमान कराने में समर्थ होने से वह द्रव्यत्वरूप अपर-सामान्य अथवा सामान्यविशेष द्रव्यमात्र का साधर्म्य भी है। परन्तु पूर्वोक्त कारण से सत्तावत्त्व अथवा सामान्यवत्त्व साधकप्रमाण बाधित होने से द्रव्यादि तीन का साधर्म्य कहा नहीं जा सकता है। अतः प्रकाशकार की 'सामान्यवत्त्वमेवेतरभेदगमकं' यह पंक्ति यथार्थ नहीं है। यह भी विचारणीय है कि सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से द्रव्यत्व आदि को सामान्य तथा विशेष दोनों कहा है (वै. सू. १।२।५) फलतः 'सामान्यञ्च तद्विशेषः' इस प्रकार समाहार द्वन्द्व समास से ही 'सामान्यविशेषः' पद बनेगा। 'सामान्यरूपो विशेषः' यह समास सूत्रकारानुमत नहीं है। प्रकाशकारने जिस प्रकार का स्वातन्त्र्य को अपनाकर 'सामान्यविशेषवत्त्वम्' को 'जातिमत्त्व' मात्र में पर्यवसित किया तुल्य रीति से सत्ता-सम्बन्ध को भी 'समवायानुयोगित्व' में पर्यवसित करना सम्भव है। अतः यह व्याख्या ग्रन्थानुगामी नहीं है।

परममूल में 'धर्माधर्मकर्तृत्वञ्च' शब्द से धर्माधर्मकर्तृत्व को द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है। परन्तु गुण के अन्तर्गत 'धर्म' अथवा अधर्म' स्वयं धर्म अथवा अधर्मजनक नहीं होते हैं। धर्म तथा अधर्मजनकता श्रुतिमात्रगम्य है। श्रुति जिस द्रव्य, गुण तथा कर्म को धर्म अथवा अधर्मजनक कहती है वे द्रव्य, गुण तथा कर्म ही धर्म अथवा अधर्मजनक होते हैं। धर्म अथवा अधर्म का जनक कोई धर्म अथवा अधर्म का श्रुतिने विधान नहीं किया है। अतः धर्माधर्मकर्तृत्वरूप साधर्म्य गुणान्तर्गत धर्म अथवा अधर्म में अव्याप्त होगा। श्रुतिने जिन द्रव्य, गुण तथा कर्मों को धर्मजनक कहा है उनमें अधर्म-जनकता नहीं तथा जिन द्रव्यादि को अधर्मजनक कहा उनमें धर्मजनकता नहीं। अतः धर्मजनकों में अधर्मजनकता तथा अधर्मजनकों में धर्मजनकता पुनः अव्याप्त होता है। इन्हीं कारणों से आचार्य उदयनने धर्मकर्तृत्वको अधर्म को छोड़कर शेष द्रव्यादि तीन पदार्थ का तथा अधर्मकर्तृत्वको धर्म छोड़कर शेष द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा है। फलतः धर्मकर्त्तृत्व तथा अधर्मकर्त्तृत्व यह दो साधर्म्य हैं। पूर्वोक्त धर्म तथा अधर्म में अव्याप्तिवारण के लिए धर्मजनकत्व को "अधर्मान्यत्वे सति धर्मजनकवृत्तिपदार्थविभाजको-पाधिमत्त्व" कहा गया। तथा अधर्मजनकत्व को धर्मान्यत्वे सति अधर्मजनकवृत्तिपदार्थ-विभाजकोपाधिमत्त्व कहा गया है।[१] अतः धर्म अथवा अधर्म में अव्याप्ति न होगी। धर्म में अधर्मभेद के रहते हुए धर्मजनक गुण में रहने वाला गुणत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधि के रहने से धर्म में धर्मजनकता बनी। इसी प्रकार अधर्म में धर्मभेद के साथ अधर्मजनक

१. न च धर्ममधर्मं वा गुणान्तरं यत्र जनयति तदव्यापकत्वम्, अधर्मान्यत्वे सति धर्म-जनकवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति विवक्षितत्वात्। धर्मान्यत्वे सति अधर्मजनकवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति विवक्षितत्वात्। प्रकाश, पृ० १४१

गुणों में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि गुणत्व है। अतः अव्याप्ति न होगी। वस्तुतः भूमि आदि द्रव्य दान तथा अपहरण का विषय होकर क्रमशः धर्म तथा अधर्म का कारण बनता है। गङ्गाजलसंयोग अथवा चण्डालसंयोग आदि गुण भी क्रमशः धर्म तथा अधर्म-जनक होते हैं। इसी प्रकार तीर्थगमन तथा म्लेच्छदेशगमनरूप कर्म भी क्रमशः धर्म तथा अधर्मजनक हैं। हम कह चुके हैं कि कौन द्रव्य, गुण तथा कर्म धर्म अथवा अधर्मजनक होगा इस विषय में श्रुति ही प्रमाण है।

यह शङ्का है कि कर्तृत्व का अर्थ उपादानविषयक अपरोक्षज्ञान-चिकीर्षा तथा कृति है। फलतः ज्ञान, इच्छा तथा कृति आत्मा के गुण होने से आत्मभिन्न द्रव्य, गुण तथा कर्म में कर्तृत्व नहीं रह सकता। अतः उन अनात्म द्रव्यादि का कर्तृत्वगर्भित साधर्म्य कैसे होगा इस शङ्का के उत्तर में कहा गया है कि यह कर्तृत्व' ऊपर कहे गये कर्तृत्व नहीं परन्तु निमित्तकारणतामात्र है।[1]

ननु जात्यादीनां कथं नैतत्? उच्यते। द्रव्यादीनां विहित-निषिद्धभावनाविष्टानां हि तद्धेतुत्वं, न तु स्वरूपतः। न च भावना-वेशो जात्यादिषु स्वरूपतो द्रव्यादिकमनन्तर्भाव्य सम्भवति, नित्यत्वेना-व्यापारत्वात्। अनित्यधर्मायोगेनाव्यापारित्वात्। न च ज्ञानमात्रेण तेषामुपयोगोऽभियोगवदनिषेधात्। तस्मात् स्वाश्रयावच्छेद[2] मात्रेणै-वोपयुज्यन्त[3] इति।

[(पूर्वोक्त धर्माधर्मकारणत्व को द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है उस विषय में) प्रश्न हो सकता है कि जाति आदि पदार्थों का यह (अर्थात् धर्माधर्मकारणत्वरूप साधर्म्य) क्यों नहीं है? (इसके उत्तर में) कहा जा सकता है कि विहित तथा निषिद्ध भावनाओं (अर्थात् विहित तथा निषिद्ध कर्मजन्य अपूर्व अथवा संस्कारों) से व्याप्त पदार्थों में ही तद्धेतुत्व (अर्थात्

---

१. कर्तृपदं निमित्तपरम्। प्रकाश, १४३

२. अवच्छेदकमात्रेणेति सोसाइटिपुस्तकपाठः। स च प्रामादिकः। तत्र अवच्छेदमात्रेण व्यावर्तकतयेति भास्करव्याख्यानं प्रमाणम्। भास्कर, पृ ५३

३. उपयुज्यत इति सोसाइटिपुस्तकधृतपाठः। सोऽपि प्रामादिकः। तत्रापि उपयुज्यन्ते प्रयोजकीभवन्तीति भास्करपंक्तिः प्रमाणम्। द्रष्टव्यं तत्रैव।

धर्माधर्महेतुत्व) की सम्भावना होती है, स्वरूपतः (अर्थात् जिन पदार्थों में पूर्वोक्त संस्कार न हो उनमें) नहीं होती है । द्रव्यादि पदार्थों के साथ रहने से ही जाति आदि पदार्थों में भावना (संस्कार) का आवेश होता है । केवल स्वरूप के कारण नहीं होता । क्योंकि नित्य होने से वह पदार्थ व्यापार (अर्थात् क्रिया) साध्य नहीं होते हैं । (किसी) अनित्य धर्म के सम्बन्ध न होने से वह पदार्थ (जाति आदि) व्यापार (क्रिया आदि) का जनक नहीं हो सकता है । यह भी नहीं कि केवल (उनके) ज्ञान द्वारा ही उन (जाति आदि) का (धर्माधर्म में) उपयोग है । क्योंकि उनके विषय में कोई अभियोग (अर्थात् विधि)[1] अथवा निषेध नहीं है । इसलिए (जाति आदि पदार्थ) अपने (द्रव्यादि) आश्रयों के अवच्छेदमात्र द्वारा उपयोगी हैं ।]

अव्यवहितपूर्वग्रन्थ द्वारा जातिविशिष्टद्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य अदृष्टजनकत्व है कहा गया है । इसका उदाहरण के रूप में भूमित्वजातिविशिष्ट द्रव्य (अर्थात् भूमिरूपद्रव्य) दानक्रिया के कर्म के रूप में पुण्य का जनक होता है । संयोगत्वजातिविशिष्ट गङ्गाजल-प्रतियोगिक संयोगरूप गुण पुण्य का तथा संयोगत्वजातिविशिष्ट चण्डालप्रतियोगिक-संयोगरूप गुण पाप का जनक होता है । इसी प्रकार गमनत्वजातिविशिष्ट तीर्थकर्मक-यात्रारूप क्रिया धर्मजनक है । तथा गमनत्वजातिविशिष्ट म्लेच्छदेशगमनरूप क्रिया अधर्म का कारण होता है ।[2] इससे स्पष्ट है कि जातिविशेषविशिष्टद्रव्य, गुण तथा क्रिया धर्म तथा अधर्म का जनक होता है । इस स्थिति में शङ्का होती है कि उक्त द्रव्यादि के पुच्छलग्न जातियां भी क्यों धर्म तथा अधर्म के सहायक न होंगे । द्रव्यादि-तीन पदार्थों के तुल्य ही उनके विशेषण होने के कारण पुच्छलग्नजातियां यदि धर्माधर्म-जनक हों तब धर्माधर्मजनकत्व को केवल द्रव्यादि तीन पदार्थ का समानधर्म कहा नहीं जा सकता है । "ननु जात्यादीनां कथं नैतत्" इस प्रस्तुत ग्रन्थसे आचार्य इसी शङ्का का उत्थापन किये हैं ।[3]

---

१. यहां किरणावलीप्रकाश तथा किरणावलीरहस्य यह दोनों टीकाओं में 'नियोगवत्' इस प्रकार और एक पाठ स्वीकार किया गया है । दोनों में नियोग-पद का विधिरूव अर्थ किया है । 'नियोगवदिति पाठे नियोगोऽपि विधिरित्यर्थः । प्रकाश, पृ० १४५; नियोगवदिति क्वचित् पाठः, तत्रापि नियोगोऽदृष्टजनकतासाधकः । रहस्य, पृ० १६९

२. द्रव्यमदृष्टसाधनम् भूमिर्दीयमानाद्रियमाना च । गुणो गङ्गाजलचाण्डाल संयोगः । कर्म तीर्थयात्राम्लेच्छदेशगमनञ्च । प्रकाश, पृ. १४३

३. ननु जातिविशिष्टस्यैव द्रव्यादेरदृष्टजनकत्वे विशेषणस्यापि जातेस्तज्जनकत्वमित्याह नन्विति । प्रकाश, पृ. १४३

इस शङ्का के समाधान में कहा जा सकता है कि धर्म तथा अधर्म श्रुतिप्रमाण-
मात्रगम्य होने से उनकी कारणता भी श्रुति से ही ज्ञात हो सकता है। अन्य किसी प्रमाण से
पदार्थविशेष में धर्माधर्मजनकता को ज्ञात होना सम्भव नहीं हैं। श्रुति में जहां पूर्वसिद्धवस्तु
की धर्मकारणता कही गयी है वहां विहितक्रियाजन्य व्यापार से ही उस वस्तुकी धर्म-
जनकता प्रतिपादित हुआ है। यथा दानक्रिया के कर्मभूत भूमिको जहां पुण्यजनक कहा
गया है वहां दानक्रियाजनित संस्कार अथवा भावना के आश्रय होने के कारण वह
(भूमि) धर्मजनक कहा गया है। श्रुति में व्यापार का अनाश्रय भूमित्वजातिविशिष्ट
को अर्थात् केवल भूमि को धर्मजनक कहा नहीं गया है। इसका तात्पर्य यह है कि दान-
क्रियाजन्यफलभागित्व रहने के कारण ही भूमि को पुण्यजनक कहा गया है। किसी
किसी स्थल में पूर्व से असिद्धवस्तु अर्थात् क्रियाविशेष का धर्मजनकत्व भी श्रुति में
प्रतिपादित हुआ है। उन स्थलों में वह पूर्व से असिद्धवस्तु (क्रिया) प्रयत्न का विषय
होने पर धर्मजनक होता है। यथा अश्वमेधादि यागक्रिया पूर्वसिद्ध नहीं है। प्रयत्न-
विशेष द्वारा उत्पन्न होने पर वह यागरूपी क्रिया धर्मजनक होता है। परन्तु उस याग-
क्रिया में कियात्वजाति के रहने के कारण ही वह धर्मजनक नहीं होता है। श्रुति में
किसी किसी स्थल में प्रसक्त की निवृत्ति द्वारा भी धर्मजनकता कही गयी है। इसका
तात्पर्य यह है कि उल्लिखित तीन प्रकार की धर्मजनकता में कोई एक भी जाति में
सम्भव नहीं होती है। अतः श्रुतिमात्रसिद्ध धर्मजनकता जात्यादिपदार्थों में हो नहीं
सकती है। जाति नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं। इसीलिए क्रियमानताप्रयुक्त धर्मजन-
कता उसमें हो नहीं सकती है। क्रियाजन्यव्यापार का आश्रय न होने से सिद्धवस्तु-
सम्बन्धी धर्मजनकता भी जात्यादि में नहीं रह सकती है। तथा नित्य होने के कारण
प्रसक्त की निवृत्तिरूप धर्मजनकता भी जात्यादि में हो नहीं सकती है।[1]

द्रव्यादि में रहने के कारण जाति में परम्परया भावना का सम्बन्ध रहने पर भी
स्वरूपतः (साक्षात्) जाति में भावना का सम्बन्ध हो नहीं सकता है। दानादि क्रिया-
जन्य भावना का आश्रय भूमि है। उसमें भूमित्वजाति रहने से वह भूमित्वजाति सामाना-
धिकरण्य सम्बन्ध से अवश्य ही भावना से सम्बन्धित है। परन्तु स्वरूपतः भूमित्वजाति से
भावना का साक्षात्सम्बन्ध न रहने से सिद्धवस्तुसम्बन्धी धर्माधर्मजनकता भूमित्व में आ
नहीं सकती है। नित्य होने से जाति स्वयं व्यापारात्मक नहीं है। क्योंकि व्यापार का
लक्षण जन्यतागर्भित होने से नित्यवस्तु कभी स्वरूपतः व्यापार हो नहीं सकता है। न
तो किसी प्रक्रिया की सहायता से नित्यवस्तु को व्यापारित किया जा सकता है। क्योंकि

१. अदृष्टजनकत्वं श्रुत्यैकगम्यम्। सा चासिद्धस्य क्रियमाणस्येष्टसाधनत्वं, सिद्धस्य तु व्यापारभागित्वेन तथात्वम्। क्वचित् प्रसक्तस्य निवृत्तिस्तथात्वेन बोधयति। प्रकाश पृ० १४३–४४

जाति कभी भी अनित्यधर्म का आश्रय नहीं होती है।[१] जाति के विषय में साक्षात् विधि अथवा निषेध के न रहने से उसको धर्म अथवा अधर्म का जनक कहा नहीं जा सकता है। यह शङ्का हो सकती है कि धर्म या अधर्मजनक इष्टसाधनताज्ञान में जाति भी विषय होती है। अतः उस ज्ञान में विशेषणरूप से प्रविष्ट जाति भी उस ज्ञान के तुल्य ही धर्म या अधर्म में उपयोगी होगी। इस शङ्का के समाधान में कहना है कि वस्तुतः इष्टसाधनताज्ञान के विषयतावच्छेदकीभूत जाति उस ज्ञान की सहायता कर कार्यान्तर करने से निवृत्त होती हैं। अतः धर्मजनक इष्टसाधनताज्ञान के विषय होने के कारण ही जाति धर्मजनक भी होगी यह कहना सम्भव नहीं है। इष्टसाधनताज्ञान धर्म का जनक है। क्योंकि 'दीयमाना भूमिर्मदिष्टसाधना' अथवा 'भूमिदानं मदिष्टसाधनम्' इस प्रकार ज्ञान के बिना भूमिदानरूप क्रिया सम्पन्न हो नहीं सकती है। वह क्रिया के सम्पादन के बिना पुण्यात्मक धर्म भी उत्पन्न नहीं होता है। प्रत्युत उस इष्टसाधनताज्ञान के रहने से दानरूप क्रिया की उत्पत्ति देखी जाती है। अतः अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा इष्टसाधनताज्ञान की धर्मजनकता सिद्ध है। उस इष्टसाधनताज्ञान में विषयीभूत भूमि में भूमित्वजाति अवच्छेदक रूप से निविष्ट है। अतः धर्मजनक इष्टसाधनताज्ञान में विषयता का अवच्छेदक है यह भी स्पष्ट है। परन्तु वैसा होने पर भी जाति वहाँ ज्ञानांश में ही उपयोगी है धर्मांश में नहीं। अतः जाति का धर्माधर्मजनकत्व सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार विशेष तथा समवाय भी धर्माधर्मजनक है इस प्रकार कोई श्रुति अभी तक प्राप्त नहीं है। अतः श्रुतिमात्रगम्य धर्माधर्मजनकत्व विशेष तथा समवाय में सम्भव न होगा।[२] अतः यह भी निश्चित हुआ कि धर्माधर्मजनकत्व द्रव्यादि पदार्थत्रय का साधर्म्य है तथा उसमें कोई अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

कार्यत्वमभूत्वा भावित्वम्। अनित्यत्वञ्च भूत्वा अभावित्वं विवक्षितम्[३]। अन्यथा कारणवतामेवेति नियमो न स्यात्। तदनपेक्षान् विहायेत्येवकारार्थः।

['कार्यत्वानित्यत्वे कारणवतामेव इस प्रशस्तपाद की पंक्तियों द्वारा सकारण वस्तुओं के साधर्म्य कार्यत्व तथा अनित्यत्व है यह कहा गया है जिसमें) 'कार्यत्व' शब्द से 'अभूत्वा भावित्व' (अर्थात् प्रागभावप्रतियोगित्वविशिष्ट-

---

१. जातिश्च न स्वरूपतः कार्या, नित्यत्वात्; नापि व्यापारभागितया, जन्यधर्मानाश्रयत्वात्। प्रकाश, पृ० १४४

२ विशेषसमवाययोश्च अदृष्टजनकत्वे मानाभाव इत्यर्थः।

३. कार्यत्वमभूत्वा भावित्वम्, अनित्यत्वं भूत्वा अभावित्वमिति सोसाइटिपुस्तकपाठः। प्रकाश, पृ० १४४–४५

सत्तावत्त्व) तथा अनित्यत्व शब्द से 'भूत्वा अभावित्व' (अर्थात् सत्तावत्त्व-विशिष्ट-ध्वंसप्रतियोगित्व) विवक्षित है। अन्यथा (अर्थात् कार्यत्व तथा अनित्यत्व का अर्थ उक्त प्रकार न करने पर) 'कारणवतामेव' यह (परममूलस्थ) नियम में बाधा होगी। 'जो (वस्तु) तदनपेक्ष (अर्थात् कारण की अपेक्षा न रखता हो) उनको छोड़कर' यह एवकार का अर्थ है।]

आचार्य प्रशस्तपादने 'कार्यत्वानित्यत्वे कारणवतामेव'[1] इस ग्रन्थ से कारणवान् अर्थात् सकारण वस्तुओं के सम्बन्ध में कार्यत्व तथा अनित्यत्व को पृथक् पृथक् रूप से समानधर्म्म कहा है। कारणवान् या सकारण उन्हीं वस्तुओं को कहा जाता है जो कारण सापेक्ष अर्थात् कारणों की सहायता से आत्मलाभ करते हों। प्रशस्तपादने षड्विध पदार्थों में सामान्य, विशेष तथा समवाय को नित्य कहा है। अतः वे सकारण नहीं हैं। शेष द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों में आत्मा, आकाश, काल, दिक् तथा पृथिव्यादि चार के परमाणुओं को छोड़कर पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय द्व्यणुकादि; ईश्वरीय ज्ञान, कृति आदि नित्यरूप से स्वीकृत गुणों को छोड़कर शेष गुण अर्थात् जन्यगुण तथा समस्त कर्म सकारण हैं। क्योंकि उक्त प्रकार के द्रव्य, गुण तथा कर्म ही आत्मलाभ के लिए कारणों की अपेक्षा रखते हैं। यद्यपि ध्वंस सकारण है किन्तु प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में अभाव का उल्लेख न रहने से प्रस्तुतप्रकरण में अभाव को सकारण नहीं स्वीकार किया जा सकता है। अतः पार्थिवादि चार प्रकार के द्व्यणुकादि द्रव्य, जन्यगुण तथा कर्म इन्हीं का साधर्म्य कार्यत्व तथा अनित्यत्व है कहा गया है।

किरणावलीकारने प्रागभावप्रतियोगित्व को कार्यत्व का स्वरूप नहीं कहा हैं। परन्तु 'अभूत्वा भावित्व' को अर्थात् प्रागभावप्रतियोगित्वविशिष्ट-सत्तावत्त्व को ही कार्यत्व का स्वरूप कहा है। क्योंकि 'सकारण' शब्द से अभाव को नहीं लिया गया यह हम कह चुके हैं। इस स्थिति में प्रागभावप्रतियोगित्वमात्र ही कार्यत्व है कहने से उस प्रकार का कार्यत्व ध्वंसाभाव में रहने के कारण ध्वंसाभाव में कार्यत्वरूप साधर्म्य अतिव्याप्त होगा। इसी अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'अभूत्वा भावित्व' को अर्थात् प्रागभावप्रतियोगित्व-विशिष्टसत्तावत्त्व को ही सकारण वस्तुओं का साधर्म्य उदयनने कहा है। फलतः ध्वंसाभाव में प्रागभावप्रतियोगित्व के रहने पर भी सत्तावत्त्व के न रहने से अतिव्याप्ति न होगी।

किरणावलीकारने अनित्यत्व को 'भूत्वा अभावित्व' अर्थात् सत्तावत्त्वविशिष्टध्वंस-प्रतियोगित्वरूप कहा है। यद्यपि सामान्यतया ध्वंसप्रतियोगित्व को ही अनित्यत्व कहा जाता है परन्तु प्रस्तुतग्रन्थ में अभाव की गणना न रहने से केवल ध्वंसप्रतियोगित्वरूप अनित्यत्व प्रागभाव में भी रहने के कारण अतिव्याप्ति होगी। इसीलिए 'सत्तावत्त्व'

---

१. प्रशस्तपाद पृ० २६

विशेषण अनित्यत्व के स्वरूप में दिया गया है। प्रागभाव ध्वंसप्रतियोगी होने पर भी सत्तावत्त्वविशिष्ट न होने से अतिव्याप्ति न होगी। फलतः कार्यत्व तथा अनित्यत्व के स्वरूप को उल्लिखित रूप से व्याख्या करते हुए उदयनाचार्यने सकारण वस्तुओं के उक्त दो साधर्म्य की ध्वंस तथा प्रागभाव में अतिव्याप्ति का निवारण किया है।[१]

कार्यत्व के स्वरूपवर्णन करते हुए व्योमशिवाचार्य ने कहा है[२] कि अपने कारण तथा सत्ता से सम्बन्ध ही प्रस्तुतस्थल में कार्यत्व है। परमाणु, आकाश आदि नित्यद्रव्यों में तथा प्रागभाव में स्वकारणसम्बन्ध न रहने से कार्यत्वलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं। ध्वंसाभाव में स्वकारणसम्बन्ध रहने पर भी सत्तासम्बन्ध न रहने के कारण अतिव्याप्ति नहीं। उन्होंने इसी प्रसङ्ग में, किसी-किसी ने 'अभूत्वा भवन' को कार्यत्व कहा है यह कहा है।[३] इससे प्रतीत होता है कि किरणावलीकारने किसी प्राचीन आचार्य के कार्यत्वलक्षण को ही 'अभूत्वा भाबित्व' शब्द से अनुवाद किया है।[४] व्योमशिवने अपने कारण तथा सत्ता से सम्बन्ध को ही 'भवन' कहा है। वस्तुतः 'अभूत्वा' यह अंश लक्षण में अनावश्यक है। केवल 'भवन' से ही अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं रहती है यह प्रदर्शित किया जा चुका है।

अनित्यत्व के स्वरूप के विषय में भी व्योमशिवने प्रागभाव तथा ध्वंसाभावोपलक्षित वस्तुसत्ता को ही अनित्यत्व कहा है।[५] किसी ने इस लक्षण पर आपत्ति किया है कि वस्तु जब विद्यमान रहता है तब उसका सत्तासम्बन्ध रहता है। परन्तु उस समय वस्तु का प्रागभाव अथवा ध्वंसाभाव नहीं रहता है। अतः वस्तुसत्ता प्रागभाव अथवा ध्वसाभाव द्वारा उपलक्षित किस प्रकार से हो सकता है।[६] विशेषतया किसी वस्तुका

---

१. कार्यत्वं यदि प्रागभावप्रतियोगित्वम् अनित्यत्वञ्च ध्वंसप्रतियोगित्वं विवक्ष्येत तदा ध्वंसप्रागभावातिव्याप्तिरिति व्याचष्टे अभूत्वेति। उभयत्रापि सत्तावत्त्वेन विशेषणान्नोक्तदोषः। प्रकाश, पृ० १४५

२. अथ किमिदं कार्यत्वं नामेति ? स्वकारणसत्तासम्बन्धस्तेन सत्ता कार्यमिति व्यवहारात्। व्योमवती, पृ० १२९

३. अभूत्वा भवनमित्येके। व्योम, पृ० १२९

४. अनित्यत्व की व्याख्या के प्रसङ्ग में हम इस विषय पर विशेष विचार करेंगे। न्यायदर्शनभाष्य तथा न्यायवार्त्तिक में इस प्रकार की उक्ति अनेक स्थलों में प्राप्त होती है।

५. अनित्यत्वन्तु प्रागभावप्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता। व्योम, पृ० १२९

६. अथ वस्तुसत्ताकाले प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरभावात् कथमुपलक्षितत्वम्। व्योम, पृ० १२९

'सत् है' इस प्रकार व्यवहार में ही सत्ता की उपयोगिता है। वस्तु का 'अनित्य' है इस प्रकार व्यवहार में सत्ता का उपयोग नहीं है। अतः अनित्यत्व के स्वरूप में सत्ता किस प्रकार से प्रविष्ट होगी।[1] इस स्थिति में भूत्वा अभवनम्' ही अनित्यत्व है अर्थात् सत्ता-विशिष्ट विनाशित्व ही अनित्यत्व है[2] किरणावलीकार का यह निर्णय व्योमशिव-प्रदर्शित विपक्षीय युक्ति से ही खण्डित हो जाता है। क्योंकि वस्तुसत्ता से उसके विनाश का सम्बन्ध न रहने के कारण सत्तोपलक्षित विनाश को अनित्यत्व कहना युक्तिसिद्ध नहीं है।[3] परन्तु व्योमशिवने कहा है कि यद्यपि ध्वंस अथवा प्रागभाव के साथ सत्ता का समानकालीन सामानाधिकरण्य रहता नहीं तथापि स्मर्यमाण प्रागभाव तथा अनुमीयमान ध्वंसाभाव के साथ सत्ता का उपलक्षणोपलक्षितत्व रहने में बाधा नहीं है। किसी एक घट को हम उत्पन्न तथा विनाशी कहते हैं। परन्तु उत्पत्ति तथा विनाश का समान-कालीन सामानाधिकरण्य नहीं इसलिए जिस प्रकार स्मर्यमाण उत्पत्ति का विनाश तथा अनुमीयमान ध्वंस को उत्पत्ति से उपलक्षित होकर व्यवहार के उपयोगी होता है उसी प्रकार प्रस्तुतस्थल में भी स्मर्यमाण तथा अनुमीयमान प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव सत्ता में उपलक्षण होने में बाधा नहीं है। यद्यपि प्रस्तुतस्थल में अनुमीयमान ध्वंसाभाव से उपलक्षित सत्ता अथवा सत्तोपलक्षित-ध्वंसाभाव को अनित्यत्व का स्वरूप कहा जा सकता है तथापि उद्द्योतकरने प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव से उपलक्षित वस्तुसत्ता को ही अनित्यत्व कहा है। परन्तु (न्याय) भाष्यकार ने प्रध्वंसाभावमात्र को हो अनित्यत्व कहा है। भाष्यकार द्वारा स्वीकृत अनित्यत्व को सकारण वस्तुओं के साधर्म्य हम इसलिए नहीं स्वीकार कर सकते हैं कि वह अनित्यत्व प्रागभाव में अतिव्याप्त है। प्रागभाव का ध्वंस होता है।

हम यहां भाष्यकार वात्स्यायन तथा वार्तिककार उद्द्योतकर के अनित्यत्व सम्बन्धी विचार को संक्षिप्तरूप से उपस्थित कर रहे हैं। 'आदिमत्त्वाद् ऐन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च' (२।२।१४) इस न्यायसूत्र की व्याख्या में भाष्यकारने 'संयोग-विभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति।....कारणवत्त्वाद् उत्पत्तिधर्मकत्वाद् अनित्यः शब्द इति, भूत्वा न भवति, विनाशधर्मकः' कहा है। उक्त न्यायसूत्र के साथ 'कार्यत्वा-नित्यत्वे कारणवताम्' इस प्रशस्तपादवाक्य का अत्यन्त सामञ्जस्य है। पूर्वोक्त सूत्र के

---

१. नच अनित्यव्यवहारे सत्ता विशेषणं विलक्षणत्वात्। तथाहि सत्ताविशेषणं सत्सदिति ज्ञानमेव, ज्ञानान्तरे तु सत्ताया विशेषणत्वे सर्वत्र सत्तैव विशेषणं स्यादित्यतिप्रसङ्गः। व्योम, पृ० १२६

२. तस्माद् यद् भूत्वा न भवति आत्मान जहाति तदनित्यमिति केचित्। व्योम, पृ० १२९

३. तदप्यसत्। विनाशस्य वस्तुकालेऽसम्भवित्वेन विशेषणत्वायोगात् : व्योम, पृ० १२६

'आदिमत्त्वात्' शब्द का ही भावार्थ कारणवत्त्वात् है। अर्थात् कारणवत्त्व के साथ अनित्यत्व का व्याप्यव्यापकभावरूप सम्बन्ध है। वस्तु कारणवत् होने से ही अनित्य भी होता है। इसलिए जो वस्तु कारणवत् है अर्थात् जन्यद्रव्य, जन्यगुण तथा कर्म, इनका साधर्म्य अनित्यत्व होगा।

शब्द के अनित्यत्व के 'शब्दः अनित्यः कारणवत्त्वात्, इस अनुमान में 'कारणवत्त्वात्' यह हेतुवाक्य का अर्थ 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' है। कोई (भाव) वस्तु यदि उत्पन्न हुआ तो विनाश के कारणों के समावेश (जो अवश्य होगा) होने पर उस वस्तु का विनाश अवश्यम्भावी है। अतः उत्पन्नवस्तु (अर्थात् भाव पदार्थ) मात्र ही अनित्य होता है। इसलिए भाष्यकार ने अनित्यः शब्द इति—विनाशधर्मक इति' कहा है। इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि भाष्यकार वस्तु के ध्वंस को ही अनित्यत्व समझते थे। यहां 'भूत्वा न भवति' वाक्य से उत्पन्नवस्तु का ध्वंसरूप अर्थ किस प्रकार से प्रतीत होता है यह विशद रूप से विचारणीय है। 'भू सत्तायाम्' यह भ्वादिगणीय धातु का अर्थ सत्ता अर्थात् अस्तित्व है। हम इदानीं अभावरूप अर्थ को व्यक्त करने के लिये जिस प्रकार 'नास्ति' यह वाक्य का प्रयोग करते हैं प्राचीनलोग उसी अर्थ को 'न भवति' वाक्य द्वारा प्रकट करते थे। अतः 'भूत्वा न भवति' वाक्य का अर्थ होगा 'जो उत्पन्न होकर विद्यमान न रहता है'। वस्तु का यह अभाव ध्वंसाभाव ही है। इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार के मत में वस्तु का ध्वंस ही अनित्यत्व है यही 'भूत्वा न भवति' वाक्य से समझाया गया है। क्योंकि शब्द उत्पन्न होकर ध्वस्त होता है। उत्पन्नवस्तु विनाशी है यही भाष्यपंक्ति का वास्तव उपक्रम है। 'भूत्वा' शब्द का, उत्पत्ति के अनन्तर यह अर्थ है। इससे उत्पन्नवस्तु को आदिमान् अर्थात् कारणवान् समझना पड़ेगा। प्रागभाव उत्पन्न नहीं होता हैं। वह अनादि परन्तु सान्त है। ध्वंस आदिमान् अर्थात् कारणवान् होता है। अतः भाष्यकार ने 'भूत्वा न भवति' इस वाक्य के प्रयोग द्वारा जिसको व्यक्त करना चाहते थे वह अभाव ध्वंसाभाव ही है। शब्द का अनित्यत्व कहने से ध्वंसाभावप्रतियोगित्वरूप अर्थ ही भाष्यकारसम्मत है प्रतीत होता है। यह भी कहा जा सकता है कि 'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्' (१।१।३६) इस न्यायसूत्र में पञ्चावयववाक्यों के अन्यतम अवयववाक्य 'उदाहरण' के लक्षण में शब्द के अनित्यत्व के साधन के लिए 'शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवत्' इस दृष्टान्त को उपस्थित करते हुए भाष्यकार ने अनित्यत्व का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है—तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकं तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति निरुध्यत इत्यनित्यम्। यहाँ 'आत्मानं जहाति' इस वाक्य का ही अर्थ है 'जिसका स्वरूप निरुद्ध होता है' अर्थात् जो उत्पत्तिधर्मक वस्तु विनाश प्राप्त हो वह वस्तु ही अनित्य है। उस अनित्य वस्तु का धर्म ही ध्वंस अथवा विनाशरूप अनित्यत्व है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि ध्वंस स्वयं कारणवान् अर्थात् उत्पत्तिधर्मक होने पर भी उसका ध्वंस नहीं होता है। अतः भाष्यकार के

अनुसार अनित्यत्व ध्वंसाभाव में नहीं रह सकता है। अतः उत्पत्तिधर्मकत्वरूप हेतु से अनित्यत्व का अनुमान करना सङ्गत नहीं है। क्योंकि उत्पत्तिधर्मकत्वरूप हेतु ध्वंसाभाव में अनित्यत्व का व्यभिचारी है। इस शङ्का के समाधान के लिए किसी किसीने उत्पत्तिधर्मक-भावपदार्थमात्र ही अनित्य है कहा है। इससे ध्वंसाभाव में अनित्यत्व की अव्याप्ति का प्रसङ्ग ही नहीं आता है। परन्तु प्राचीनों के व्याख्यानुसार उत्पत्ति केवल भावपदार्थों का ही धर्म होता है। वस्तु का प्रथमक्षण में उसके कारण से समवाय-सम्बन्ध ही उत्पत्तिपदार्थ है। यदि भाष्यकार का यही अभिप्रेत हो तब ध्वंसाभाव में वह उत्पत्ति न रहने से पूर्वोक्त हेतु व्यभिचारी नहीं है।

न्यायवार्त्तिककार उद्द्योतकरने अनित्यत्व की व्याख्या के प्रसङ्ग में एक मत का उल्लेख किया है जिसमें प्रागभाव तथा ध्वंस दोनों ही अनित्यत्व है माना गया है।[1] जिस वस्तु का प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव दोनों है वह वस्तु अनित्य है। अर्थात् प्रागभाव तथा ध्वंस इन उभय के सम्बन्धी ही अनित्य है। परन्तु वार्त्तिककारने इस मत को समीचीन नहीं समझा। क्योंकि कोई भी भाववस्तु प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव से सम्बद्ध न होने से उन्हें अनित्य कहना सम्भव न होगा।[2] यह भी विचारणीय है कि प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव दोनों का एक साथ उपस्थिति (सहचार) की सम्भावना नहीं है। इसलिए यदि प्रागभाव अथवा ध्वंसाभाव प्रत्येक को (पृथक् पृथक् रूप से) अनित्यत्व कहा जाए तो अनुत्पन्नभाववस्तु तथा विनष्टभाववस्तुओं में भी अनित्यत्व की आपत्ति होगी। तथा यदि प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव उभयको (एक साथ मिलित रूप से) अनित्यत्व कहा जाए तो अनुत्पन्नवस्तु में प्रागभाव तथा (वस्तु के) विनाश के पश्चात् ध्वंसाभाव रहने के कारण वस्तु के सत्ताकाल में (विद्यमानता की दशा में) उस वस्तु के विषय में 'अनित्य' प्रतीति का कोई कारण बतलाना सम्भव नहीं होता है।[3]

यह भी विचारणीय है कि यदि अनित्य का भाव ही अनित्यता हो तब प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव को कभी अनित्यता कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव दोनों ही अभाव हैं। अतः किसी भावबोधक प्रत्यय से यह दोनों अभिहित

---

१. किं पुनस्तत् ? प्राक्प्रध्वंसाभावावित्येके। एके तावद् वर्णयन्ति यस्य प्राक्प्रध्वंसाभावौ स्तः तदनित्यम् इति। न्या. वार्त्तिक, पृ० २८१

२. नासम्बन्धात्। नहि प्राक्ध्वंसाभावाभ्यां भावः सम्बध्यत इति। न्या. वार्त्तिक, पृ० २८१

३. अनुत्पन्ने वस्तुनि प्रागभावोऽस्ति, ऊर्ध्वञ्च वस्तुनः प्रध्वंसाभावोऽस्ति इति असति प्राक्प्रध्वंसाभावे अनिमित्ततोऽनित्यप्रत्ययः स्यात्। न्या. वार्त्तिक, पृ० २८१

होने के योग्य नहीं हैं। प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव दोनों ही भाव का निषेध रूप हैं। भाव-वाचक प्रत्यय से अभिहित हो नहीं सकते। अतः इन दोनों को अनित्यता कही नहीं जा सकती है।[१] 'अनित्यस्य भावः अनित्यता' इस व्युत्पत्ति में 'तल्' प्रत्यय 'तस्य भावस्त्व-तलौ' इस पाणिनि के सूत्र से विहित होता है। इस सूत्र के 'तस्य' पद से धर्मी को समझा जाता है। फलतः उस धर्मी के धर्म को सूत्रस्थ 'भाव' शब्द से समझना आवश्यक है। प्रस्तुत स्थल में प्रागभाव अथवा ध्वंसाभावरूप धर्म जब वर्त्तमान रहता है तब (तच्छब्दवाच्य) धर्मी (वस्तु) रहता ही नहीं। तथा जब धर्मी (वस्तु) वर्त्तमान रहता है तब धर्म (प्रागभाव या ध्वंसाभाव रहता ही नहीं। यदि धर्मी वर्त्तमान नहीं हो तो वहाँ अनित्यस्य' इस षष्ठी विभक्ति से किसका सम्बन्ध प्रतीत होगा ?[२]

अन्य कारणों से भी प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव को अनित्यता कहना सम्भव नहीं है। पहले कहा गया है कि इन दोनों अभावों को अनित्यता कहने से षष्टी विभक्ति से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो सकता है। इस स्थिति में घटस्य प्रागभावः' अथवा 'घटस्य प्रध्वंसाभावः' इन षष्ठीविभक्तिघटितवाक्यों का प्रयोग किस प्रकार से सम्भव होगा ? यह सत्य है कि उक्त वाक्यों के प्रयोग के स्थलों में कोई सम्बन्ध अभिहित नहीं है। क्योंकि इन वाक्यों का अर्थ है 'घट पूर्व काल में नहीं था' अर्थात् पश्चात् काल में उत्पन्न हुआ है तथा विनाश के पश्चात् घट नहीं रहेगा। इसी लिए घट को अनित्य कहा गया है। इस प्रकार अनित्यवस्तु का भाव ही अनित्यता होगी।[३] परन्तु तब यह शङ्का होगी कि वर्त्तमान वस्तु में अनित्यता किस प्रकार से सम्भव होगी ? प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव उभय ही यदि अनित्यता होगी तब वर्त्तमान वस्तु में प्रागभाव अथवा ध्वंसाभाव न रहने के कारण उस वस्तु को अनित्य कहा नहीं जा सकेगा। कोई यह कह भी सकते हैं कि 'ण्वुल्' प्रत्ययान्त पाचक, पाठक आदि शब्द जिस प्रकार त्रिकालविषयक होता है अर्थात् उन शब्दों द्वारा जिस प्रकार भूत भविष्य तथा वर्त्तमान पाककर्त्ता आदि

१. प्राक्प्रध्वंसाभावौ च भावप्रतिषेधौ, न च अभावो भावाभिधानेन वक्तुं युक्तः। न्या. वार्त्तिक, पृ० २८१

२. षष्ठ्यर्थश्च नास्ति। तस्य भावस्त्वतलाविति तस्येति धर्मी अपदिश्यते, भाव इति धर्मिणो धर्मः। न च धर्मकाले तच्छब्दवाच्यो धर्मी विद्यते। न च अविद्यमानस्य षष्ठ्या योग इति। न्या. वार्त्तिक, पृ० २८१

३. घटस्य प्रागभावो घटस्य प्रध्वंसाभाव इत्येतत् कथम् ? नात्र षष्ठ्या सम्बन्धोऽभिधीयते अपितु प्रागिदं वस्तु नासीत् पश्चाज् जातमित्यर्थः। ऊर्ध्वञ्च विनाशाद् इदं वस्तु न भविष्यतीति अनित्यमित्युच्यते। तस्य च भावोऽनित्यतेति। न्या. वार्त्तिक, पृ० २८१-२

अर्थ का बोध होता है उसी प्रकार यह 'त्यप्' प्रत्ययान्त शब्द से भी कालत्रयविषयक
अर्थ उपस्थित होगा।[1] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी समय पाक (रसोई)
करने वाले को पाचक कहा जाता है—उस शब्द के प्रयोग के काल में पाकक्रिया सम्पन्न
करने की आवश्यकता नहीं उसी प्रकार वस्तु का किसी काल में अनित्यता अर्थात् प्राग-
भाव तथा ध्वंसाभाव रहने से ही उस वस्तु को अनित्य कहा जा सकता है। अनित्य
शब्द के प्रयोग काल में ही अनित्यता अर्थात् प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव रहना अपेक्षित नहीं
है। परन्तु यह समाधान ठीक नहीं है। क्योंकि 'ण्वुल्' प्रत्ययान्त शब्द का त्रिकाल-
विषयत्व प्रयोगसिद्ध है। 'त्यप्' प्रत्ययान्त शब्दों के विषय में इस प्रकार प्रयोग की सिद्धि
नहीं है। इसी लिए प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव उभय का ही अनित्यत्व वार्तिककार का
अभिप्रेत नहीं है।[2]

अनित्यत्व के स्वरूप की आलोचना करते हुए वार्तिककारने एक और मत की
भी समालोचना की है। उस मत में 'विनाशहेतुभाव' ही अनित्यत्व है। अर्थात्
विनाश के हेतु का भाव अर्थात् उपस्थिति या वर्त्तमानता ही अनित्यता है।[3] परन्तु
विनाशहेतु के अस्तित्व अर्थात् विद्यमानता के पूर्व ही भाववस्तुओं में 'अनित्य' है इस
प्रकार की प्रतीति होती है। अतः यह मत भी यथार्थ नहीं है। कपालद्वय के विभाग
घट के विनाश का हेतु है। उस विभाग की उत्पत्ति के पूर्व ही हम घट को अनित्य समझते
हैं। विनाशहेतुभाव ही यदि अनित्यता हो तो वर्त्तमान घटादि को अनित्य समझने की
युक्ति नहीं है। जिस वस्तु का विनाशहेतुभाव है उसके 'विनाश हेतु है' यह अनुभव होता
है। वह अनित्य है यह अनुभव नहीं होता है। अतः विनाशहेतु के अस्तित्व को अनित्यता
कहना उचित नहीं है।

कोई-कोई इस विनाशहेतुभाव की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिसके विनाश-
हेतु है वह विनाशी है। जो विनाशी है वह अनित्य है।[4] अनित्यत्व का यह निर्वचन
भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि जिसके विनाश हेतु है उसे विनाशहेतुमान् कहना ही सङ्गत
है। उसको विनाशी कहना यथार्थ नहीं है। जिससे जिसका सम्बन्ध हो उसको उसका

पाणिनीय ४।२।१०४ सूत्र वार्त्तिक।
१. त्यब् ने ध्रुव इति वक्तव्यम्। नहि असति अनित्ये
२. अथ मन्यसे त्यपोऽपि त्रिकालविषयत्वमिति, तच्च न अदर्शनात्। अतो न
अनित्य इति प्रयोगं पश्यामः। तस्मात् त्यपस्त्रिकालविषयत्वमयुक्तिमिति।
प्रागभावप्रध्वंसाभावावनित्यतेति। न्या० वा० पृ० २८१–२
न्या० वा० पृ० २८२
३. विनाशहेतुभाव इत्यन्ये। यद् विनाशवत् तदनित्यमिति। न्या.
४. अथ मन्यसे यस्य विनाशहेतुरस्ति तद् विनाशवद्,
वा०, पृ० २८२

सम्बन्धी कहा जा सकता है। यथा दण्ड से जिसका सम्बन्ध है उसको दण्डी कहा जाता है। कुण्डली नहीं। परन्तु पूर्वपक्षी (इस मत को मानने वाले) का वक्तव्य यह है कि शरीर से विनाश का सम्बन्ध न रहने पर भी हम 'विनाशवच्छरीरम्' इस वाक्य का प्रयोग करते हैं। अतः सम्बन्ध न रहने से 'मतुप्' आदि प्रत्यय प्रयुक्त नहीं हो सकते हैं यह कहना उचित नहीं होगा। वस्तुतः उक्त प्रयोग में 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग औपचारिक है। किसी व्यक्ति से कुण्डल का सम्बन्ध न रहने पर उसके लिए कुण्डली शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है। उसी प्रकार विनाश से सम्बन्ध न रहने से 'विनाशवच्छरीरम्' प्रयोग भी नहीं हो सकता है। अतः तादृशस्थल में 'विनाशवच्छरीरम्' प्रयोग होने पर उस प्रयोग को औपचारिक अर्थ में ही स्वीकार करना पड़ेगा। इसीलिए उद्द्योतकरने विनाशहेतुभाव को अनित्यता कहना उचित नहीं है कहा है।[१]

इसी प्रकार एक और मत की आलोचना वार्त्तिककारने की है। उसके अनुसार जो उपलब्धि का विषय है उसका आत्यन्तिक तिरोभाव ही अनित्यत्व है।[२] इस मत को सांख्यमत कहा गया है। परन्तु सांख्यमत में भाववस्तु की उत्पत्ति अथवा विनाश स्वीकृत नहीं है। सामग्रीविशेष के समवधान होने पर वस्तु की उपलब्धि होती है। इसीको वस्तु का जन्म अथवा आविर्भाव कहा जाता हैं। सामग्रीविशेष के असमवधान से वस्तु की अनुपलब्धि होती है। उसी को वस्तु का विनाश अथवा तिरोभाव कहा जाता है। इस लिए सांख्यमत में जो उपलब्धि का विषय है उसका अत्यन्ताभाव कभी सम्भव नहीं है। सांख्यमत में उपादान का विकारविशेष को ही कार्य कहा जाता है। विकार तथा उपादान अभिन्न होता है। अतः घटादिविकार विनाशप्राप्त होने पर भी उस विकार के उपादानभूत कपालादि, जिससे विकार अभिन्न है, की उपलब्धि वर्त्तमान रहने के कारण उस विकार का आत्यन्तिक अनुपलब्धि नहीं हो सकती है। इसी लिए वार्त्तिककार ने अत्यन्त अनुपलब्धि को अनित्यता कहना स्वीकार नहीं किया है।

वार्त्तिककारने जो भाव उथवा दशा पूर्वकाल में नहीं था पश्चात् उत्पन्न हुआ तथा उत्पन्न होने के कुछ काल के पश्चात् नहीं रहता है उसको अनित्यता कहने वालों के मत का भी विचारपूर्वक खण्डन किया है।[३] इस मत में अनित्य तथा

१. अथ मन्यसे दृष्टोऽयं प्रयोगो विनाश्येतच्छरीरम् एतेऽध्रुवा विषया इति, न उपचारात्। विनाशीत्युपचारेण प्रयोगो विनाशो यस्यावश्यन्तया भविष्यतीति। तस्मान्न विनाशहेतुभावोऽनित्यता। न्या. वा० पृ० २८३

२. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य अत्यन्ततिरोभावोऽनित्यता इत्यन्ये। न्या. वा०, पृ. २८३

३. ये पुनर्वर्णयन्ति—स एव भावोऽभूत्वा भवन् भूत्वा चाभवन् अनित्य इत्युच्यते सा च अवस्था भावप्रत्ययेन अनित्यतेत्यभिधीयते। एतत्तु न युक्तम्, स्वार्थे भावप्रत्ययस्या दर्शनात्। न्या० वा० पृ० २८३

अनित्यता दोनों शब्द समानार्थक हैं। यहां जो 'तल्' प्रत्यय है वह स्वार्थ में प्रयुक्त है कहा जाता है। यहां स्मरण रखना होगा कि 'तल्' प्रत्यय स्वार्थ में कदापि प्रयुक्त नहीं होता है। किसी-किसी के मत में 'विनयादिभ्यष्ठक्' (पाणिनी, ५।४।३४) सूत्र द्वारा स्वार्थ में भावप्रत्यय का प्रयोग समर्थित है। परन्तु वस्तुतः इस सूत्र द्वारा स्वार्थ में भावप्रत्यय बिहित नहीं हुआ है। क्योंकि वहां 'विनयेन योगः' अर्थ में ही 'ठक्' प्रत्यय का विधान किया गया है। स्वार्थ में नहीं। वार्त्तिककारने कहा है कि जहां आपाततः स्थूलदृष्टि से कोई भावप्रत्यय स्वार्थ में प्रयुक्त है प्रतीत होता है बहाँ भी वह प्रत्यय भेदरूप अर्थ में ही प्रयुक्त है यह अनुमान किया जा सकता है।

अनित्यता शब्द के अनेक प्रकार अर्थों की आलोचना करने के पश्चात् उद्द्योतकरने कहा है कि हमारी आलोचनाओं के पश्चात् क्या यही समझना पड़ेगा कि अनित्यता शब्द का कोई भी वाच्यार्थ नहीं है? इसके समाधान में उन्होंने कहा है कि सत्ता दो प्रकार की होती है। जिनमें एक को अवधि की अपेक्षा है। और दूसरी अवधिनिरपेक्ष होती है। जो सत्ता पूर्व तथा अपर अवधिसापेक्ष है वह सत्ता ही अनित्यता है। जो सत्ता कोई अवधि-सापेक्ष नहीं वही नित्यता है।[१]

कारणत्वञ्च ज्ञातृधर्मेतरकार्यापेक्षया। अन्यथा[२] पारिमाण्डल्यादिव्यवच्छेदत्रयग्रहणञ्च नोपपद्येत।[३] पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणम्। आदिग्रहणात् परममहत्त्वम्[४] अन्त्यावयविगत[५] रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणानि, द्वित्वद्विपृथक्त्वपरत्वापरत्वानि विनश्यदवस्थद्रव्ये[६] संयोगविभागवेग[७] कर्माणि, अन्त्यः शब्दः चरमः संस्कारो ज्ञानञ्च गृह्यते।

---

१. तत् किमिदानीम् अनित्यतेत्ययं शब्दो निरभिधेय एव? नानभिधेयः। अवध्यपेक्षानपेक्षाभेदात् सत्तैवोभयधा—योभयान्तपरिच्छिन्नवस्तुसत्ता सा अनित्यतेति, या तु उभयान्तानवच्छिन्नवस्तुसत्ता सा नित्यता। न्या० वा०, पृ० २८४

२. अन्यथा नेति सोसाइटिपुस्तकधृतपाठः। स च प्रामादिक एव।

३. नोपपद्यते इति सोसाइटिपुस्तकधृतपाठः।

४. द्व्यणुकपरिमाणमित्यधिकः पाठः केषुचिदादर्शपुस्तकेषु उपलभ्यते।

५. 'गत' इति नास्ति सोसाइटिपुस्तके।

६. द्रव्यनिष्ठसंयोगेति पाठः सोसाइटिपुस्तके।

७. 'वेग' इति नास्ति सोसाइटिपुस्तके।

['कारणत्वञ्चान्यत्र पारिमाण्डल ादिभ्यः'[१] इस ग्रथ के कारणत्व पदार्थको ही 'ज्ञातृधर्मव्यतिरिक्तकार्य की अपेक्षया' कहा गया है। अन्यथा पारिमाण्डल्यादि का परित्याग तथा त्रितय (अर्थात् द्रव्य, गुण तथा कर्म) का ग्रहण उपपन्न न होगा। पारिमाण्डल्य शब्द से परमाणु के परिमाण को समझना चाहिए। आदि पद के ग्रहण (अर्थात् पारिमाण्डल्यादिभ्यः इस पद में आदि पद के प्रयोग) करने से परममहत्त्व, अन्त्यावयी का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा परिमाण और द्वित्वसंख्या, द्विपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व तथा विनश्यदवस्थ द्रव्य में आश्रित संयोग, विभाग वेग तथा कर्म और अन्त्यशब्द, चरम संस्कार तथा ज्ञान भी गृहीत हुआ है।]

'कारणत्वञ्चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः' इस ग्रन्थ से प्रशस्तपादने कारणत्व को पारिमाण्डल्य आदि पदार्थों को छोड़कर शेष द्रव्य, गुण तथा कर्म यह त्रिविध पदार्थ का साधर्म्य कहा है। यहाँ पूर्ववर्ती ग्रन्थ के (पृ० २४६) 'द्रव्यादीनां त्रयाणाम्, से प्रस्तुत अंश का सम्बन्ध है समझना होगा। क्योंकि प्रस्तुत साधर्म्य में प्रशस्तपादने द्रव्यादित्रय का कण्ठतः उल्लेख नहीं किया है। परन्तु प्रस्तुत कारणत्वरूप साधर्म्य द्रव्यादि तीन पदार्थों का ही साधर्म्य है यह स्वीकार करना पड़ेगा।

किरणावलीकारने मूल ग्रन्थ के 'कारणत्व' पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रस्तुत 'कारणत्व' रूप साधर्म्य कार्यमात्र-प्रतियोगिक नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस किसी कार्यता-निरूपित-कारणता ही यहां कारणता शब्द का अर्थ नहीं है। परन्तु ज्ञाता अर्थात् जीवात्मा के धर्मभूत बुद्धि, सुख, दुःख, द्वेष, इच्छा आदि कार्यगुणों से भिन्न कार्य-प्रतियोगिक है। अर्थात् बुद्धि आदि आत्मविशेषगुणों में जो कार्यता है तद्भिन्न कार्यता-निरूपित-कारणता ही पारिमाण्डल्य आदि से भिन्न द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों का साधर्म्य है। यदि प्रस्तुत साधर्म्य कार्यतामात्र-निरूपित-कारणता ही होता तब इस के पूर्व के वाक्य के 'द्रव्यादित्रयाणाम्' इस अंश का अनुषङ्ग अर्थात् इस वाक्य से सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि द्रव्यादि तीन पदार्थ से अतिरिक्त सामान्य आदि पदार्थ भी ज्ञातृधर्म (अर्थात् जीवात्मा के) ज्ञानरूप कार्य का कारण है। घटत्वादि जाति के आश्रयभूत निखिलघट के अलौकिकप्रत्यक्ष में ज्ञायमान घटत्वरूप सामान्य ही सन्निकर्षरूप से उस प्रत्यक्ष का कारण होता है। यह वैशेषिकसिद्धान्तसम्मत ही है। जो लोग प्रत्यक्ष के प्रति विषय की कारणता स्वीकार

१. प्रशस्तपाद पृ० २९

करते हैं उनके मत में विशेष तथा समवाय के योगज-अलौकिक-प्रत्यक्ष में वे दोनों भी कारणरूप से अपेक्षित हैं। फलतः कारणत्व पदार्थमात्र का ही साधर्म्य होने में कोई बाधा न रहते हुए उस कारणत्व को उक्त पदार्थव्यतिरिक्त अर्थात् पारिमाण्डल्यादि से भिन्न द्रव्यादिपदार्थत्रय का साधर्म्य कहना असङ्गत हो जाता है। वस्तुतः आचार्य प्रशस्तपादने पदार्थमात्र के साधर्म्यप्रकरण में 'कारणत्व' रूप साधर्म्य का उल्लेख न कर द्रव्यादि तीन पदार्थों के साधर्म्यप्रकरण में 'कारणत्व' को साधर्म्य बतलाने से कार्यतामात्र-निरूपित-कारणता को प्रस्तुत साधर्म्यरूप से नहीं समझा है यह स्पष्ट है। इसीलिए कारणत्व शब्द का विशेष अर्थ करना भी आवश्यक हुआ है। क्योंकि प्रशस्तपादने "अन्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः" कहते हुए प्रस्तुत साधर्म्यरूप कारणता का अर्थ सङ्कोच करने के लिए इङ्गित भी कर दिया है। प्रशस्तपाद के तात्पर्य को दृष्टिगत रखकर ही उदयनने कारणत्व का अर्थ ज्ञातृधर्मव्यतिरिक्त कार्यों की कारणता कहा है। वस्तुतः पारिमाण्डल्य आदि जिन पदार्थों को प्रशस्तपादने कारणत्वरूप साधर्म्य से मुक्त किया है वे सभी ज्ञातृधर्मात्मक कार्यों के प्रति ही कारण होते हैं। अन्यत्र नहीं। ज्ञातृधर्मातिरिक्त कार्य की कारणता को किसी पदार्थ का साधर्म्यरूप से निर्दिष्ट करने की आवश्यकता पड़ने पर यह कहना आवश्यक होगा कि वह (कारणता) पारिमाण्डल्यादि से भिन्न द्रव्यादि त्रिविधपदार्थ का ही साधर्म्य है।

यह विचारणीय है कि प्रशस्तपादने कारणत्व को षट्पदार्थ का ही साधर्म्य क्यों नहीं कहा। तथा फलतः 'द्रव्यादित्रयाणाम्" इस वाक्य से प्रस्तुत साधर्म्यनिर्देशक वाक्य का सम्बन्ध करना पड़ रहा है। जो लोग भूत, भविष्य तथा वर्तमान यह त्रैकालिक वस्तुओं का योगजप्रत्यक्ष होता है स्वीकार करते हैं उनके मतानुसार विशेष तथा समवाय की कारणता सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि योगजप्रत्यक्ष में विशेष तथा समवाय का भान (ज्ञान) होने पर भी वे विषयरूप से उस प्रत्यक्ष का कारण होते नहीं। परन्तु सामान्य-लक्षण-सन्निकर्षजनित अलौकिकप्रत्यक्ष में ज्ञायमानसामान्य कारण होता है। स्मरण रखना होगा कि घटत्व पटत्वादि प्रत्यक्षसिद्ध जातियां सामान्य-प्रत्यासत्ति के रूप में अलौकिकप्रत्यक्ष में कारण होने पर भी अतीन्द्रियसामान्य कारण नहीं होते हैं। ज्ञायमानसामान्य (ज्ञानविषयीभूत सामान्य) को सन्निकर्ष न मानकर यदि सामान्यज्ञान को ही सन्निकर्ष स्वीकार किया जाए तो प्रत्यक्षसिद्ध घटत्वपटत्वादि जातियां भी कारण नहीं होंगी। इसीलिए कारणत्व को षट्पदार्थ का साधर्म्य कहना सम्भव नहीं है। अतीन्द्रियसामान्य तथा विशेष में कारणत्व अव्याप्त होता है इसलिए 'द्रव्यादित्रयाणाम्' इस वाक्यांश का सम्बन्ध यहां अवश्य ही स्वीकार करना है। इस मत में द्रव्यादि तीन पदार्थों के साधर्म्यरूप से निर्दिष्ट कारणता को ज्ञातृधर्मरूपकार्य भिन्न कार्य की कारणता रूप से विशेषित करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि किसी भी

कार्यता-निरूपित-कारणता को ही पदार्थत्रय का साधर्म्य कहा जा सकता है। परन्तु इस मत में भी द्रव्यादि तीन पदार्थ में पारिमाण्डल्यादिभिन्नत्व विशेषणरूप से देना आवश्यक है। क्योंकि पारिमाण्डल्यादि द्रव्यादि के अन्तर्गत होते हुए भी कभी कारण नहीं होते है। अतः पारिमाण्डल्यादिभिन्नत्व यदि विशेषण न दिया जाए तो उनमें कारणत्वरूप साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। फलतः यह विशेषण परमावश्यक है।

योगजप्रत्यक्ष के प्रति विषय की कारणता अस्वीकार करने पर पारिमाण्डल्यादिभ्यः' शब्द में आदि पद से गृहीत अन्त्यावयविगतरूपादि को प्रस्तुत साधर्म्य (कारणता) का अलक्ष्य कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि वे हमारे लौकिकप्रत्यक्ष के विषय हो सकते हैं। तथा लौकिप्रत्यक्ष के प्रति विषय की कारणता सर्वसम्मत ही है। 'पारिमाण्डल्यादिभ्यः' शब्द से जिन पदार्थों का उल्लेख किरणावली में प्राप्त है उनमें पारिमाण्डल्य को छोड़कर सभी पदार्थ लौकिकप्रत्यक्ष का विषय होने से लौकिकप्रत्यक्ष की कारणता उनमें रहती है। हम कह चुके हैं कि पारिमाण्डल्य (अर्थात् अणुपरिमाण) अलौकिकप्रत्यक्ष का ही विषय हो सकता है। वह लौकिकप्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। फलतः योगजप्रत्यक्ष के प्रति विषय की कारणता स्वीकृत न होने पर प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य का अर्थसङ्कोच किय बिना ही अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है। कारणता द्रव्यादि तीनों पदार्थ का साधर्म्य हो सकती है। इस स्थिति में प्रशस्तपाद का 'पारिमाण्डल्यादिभ्यः' कहना व्यर्थ होता है। अतः प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य को किरणावलीकारने ज्ञातृधर्मातिरिक्त-कार्यतानिरूपित-कारणता कहा है। यदि इस प्रकार की विलक्षण कारणता ही साधर्म्य है तब अन्त्यावयविगत रूपादि पदार्थों का परित्याग की आवश्यकता होगी। क्योंकि द्रव्यादि पदार्थत्रय के अन्तर्गत होने से वे प्रस्तुत साधर्म्य का लक्ष्य होंगे। परन्तु पूर्वोक्त विलक्षण कारणतारूप साधर्म्य उनमें न रहने से अव्याप्ति होगी। इस अव्याप्ति के वारण के लिए ही 'अन्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः कहा गया है। यहां शङ्का होगी कि अन्त्यावयविगत रूपादि परिगणित पदार्थों में ज्ञातृधर्मातिरिक्तकार्यतानिरूपित-कारणतारूप साधर्म्य की अव्याप्ति वारण के लिए उन पदार्थों को वर्जन करना आवश्यक होने पर भी पारिमाण्डल्य का वर्जन प्रशस्तपाद ने क्यों किया? हम कह चुके हैं कि अलौकिकप्रत्यक्ष में विषय की कारणता स्वीकृत नहीं है। तथा लौकिकप्रत्यक्ष के विषय होने से अन्त्यावयविगतरूपादि परिगणित पदार्थ लौकिकप्रत्यक्ष के प्रति विषयरूप से कारण होते हैं। अतः उन परिगणित पदार्थों का परित्याग आवश्यक है। परन्तु पारिमाण्डल्य कभी लौकिकप्रत्यक्ष का विषय न होने के कारण लौकिकप्रत्यक्ष का कारण होता नहीं है। किन्तु प्रशस्तपाद ने पारिमाण्डल्य का भी वर्जन किया है। यह परिवर्जन आवश्यक है। इसी शङ्का के समाधान के लिए प्रकाशकारने प्रस्तुतस्थल में 'पारिमाण्डल्यादिभ्यः' इस समस्तपद की अतद्गुण सं-

विज्ञानबहुब्रीहि से निष्पण्ण बतलाया है[१]। फलतः समास के बल पर ही पारिमाण्डल्य, अन्त्यावविगतरूपादि परिगणित पदार्थ, जिनका वर्जन अभीष्ट है, में अन्तर्भूत नहीं हुआ है। पारिमाण्डल्य को छोड़कर शेष (अन्त्यावयविगतरूपादि-ज्ञानान्त) पदार्थ ही परिवर्जित हुए। केवल अन्त्यावयविगतरूप से ज्ञान तक पठित पदार्थ ही प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य का विलक्षण धर्म स्वीकार करने में प्रयोजक हुए हैं समझना है।

कारणत्वरूप साधर्म्य की व्याख्या करते हुए कन्दली, सूक्ति आदि टीकाओं के रचयिताओंने यह कारणत्व शब्द को निमित्तभिन्नकारणता अर्थ मे प्रयुक्त है कहा है। अर्थात् द्रव्यादि तीन पदार्थ में निमित्तभिन्नकारणता साधर्म्य है। प्रशस्तपाद द्वारा पारिमाण्डल्य आदि के वर्जन से यह स्पष्ट है। मूल ग्रन्थ में जिन पारिमाण्डल्य आदि पदार्थों का वर्जन किया गया है वे सब ही विषयरूप से ज्ञान के निमित्तकारणमात्र होते हैं।[२]

यद्यपि अन्त्यावयविगत रूपादि अपने अपने ध्वंसाभाव के प्रतियोगी होने के कारण अपने ध्वंसाभाव में भी कारण होते हैं तथापि ध्वंस के प्रति प्रतियोगी निमित्तकारण ही होता है। अतः उनमें निमित्तकारणता ही हो सकती है। निमित्तभिन्नकारणता को साधर्म्य कहने पर उन पदार्थों में अतिव्याप्ति की शङ्का नहीं है। उदयन के व्याख्यानुसार भी ये वर्जित पदार्थसमूह (पारिमाण्डल्य) आदि में ज्ञानातिरिक्त ध्वंसाभावरूप कार्य की कारणता रहने से अतिव्याप्ति की शङ्का हो सकती थी। परन्तु कार्यत्व का स्वरूप पूर्व में जिस प्रकार कहा गया है तदनुसार ध्वंस का कार्यवस्तु में अन्तर्भाव न होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। अर्थात् कार्यत्व का स्वरूप पहले प्रागभाव-प्रतियोगित्वविशिष्टसत्ता कहा गया है। ध्वंस में उक्त रूप कार्यत्व न रहने से यहां ध्वंस को कार्यरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अतः किरणावली में प्रस्तुत कारणता का ज्ञातृधर्मातिरिक्त-कार्यतानिरूपित-कारणता अर्थ किये जाने पर भी ध्वंस के प्रति प्रतियोगीरूपसे उन वर्जित पदार्थों की कारणता को लेकर अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि ध्वंस कार्यलक्षणाक्रान्त नहीं है।

---

१. यद्यपि योगिप्रत्यक्षस्य विषयाजन्यतया पारिमाण्डल्यमपि न ज्ञातृधर्मजनकं तथाप्य-तद्गुणसंविज्ञानबहुब्रीहिणादिपदग्राह्या णामस्मादिप्रत्यक्षजनकत्वात् ते व्यवच्छेद्या द्रष्टव्याः। प्रकाश, पृ० १४६

२. तथापि निमित्तकारणताविलक्षणतयेदं साधर्म्यमुक्तम्। न्यायकन्दली, पृ० १८
तथापि निमित्तकारणताविलक्षणतयेदं साधर्म्यमुक्तम्। न्यायकन्दली, पृ० १८ तथा च तेभ्योऽन्यत्र द्रव्यादीनां त्रयाणां कारणत्वं निमित्तान्यकारणतावच्छेदक जातिमत्त्वम्। सूक्ति, पृ० १३०

द्रव्यादि तीन पदार्थों का ज्ञातृधर्मातिरिक्त कार्यता-निरूपित-कारणता को साधर्म्य कहा गया है। परन्तु परमाणु का परिमाण के गुण होते हुए उसमें ज्ञातृधर्मातिरिक्तकार्यतानिरूपित-कारणता नहीं है। अतः यह साधर्म्य परमाणुपरिमाण में अव्याप्त है। परमाणु का परिमाण विवादग्रस्त योगजप्रत्यक्ष को छोड़कर और किसी भी वस्तु के प्रति कारण नहीं होता है। क्योंकि सामान्यतया कारण के गुण कार्य के गुण का कारण होता है। अतः परमाणु-परिमाण भी परमाणु के कार्य द्व्यणुक के परिमाण का ही जनक हो सकता है। यदि वैसा हो तो वस्तुस्थिति में परिमाण अपने सजातीय उत्कृष्टपरिमाण का जनक होने से परमाणु परिमाण भी अपने कार्य द्व्यणुकपरिमाण को अपने जातीय उत्कृष्ट परिमाण ही करेगा। फलतः परमाणु का अणुपरिमाण द्व्यणुक में अणुतरपरिमाण का ही जनक हो सकेगा। जिस प्रकार कपाल का महत् परिमाण से घट में महत्तरपरिमाण उत्पन्न होता है। फलतः परमाणु से द्व्यणुक अणुतर हो जाएगा। क्योंकि महत्व का उत्कर्ष जैसा महत्तरता में है उसी प्रकार अणुत्व का उत्कर्ष भी अणुतरत्व में होगा। किन्तु वस्तुस्थिति इस का विरोधी ही है। परमाणु से अणुतर कुछ नहीं है। अणुतारतम्य का अन्त परमाणु में होता है। अतः परमाणु परिमाण किसी भी वस्तु (ज्ञानतिरिक्त) का कारण नहीं होता है। अतः ज्ञातृ-धर्मातिरिक्तकार्यतानिरूपित कारण नहीं होता है। अतः ज्ञातृधर्मातिरिक्तकार्यतानिरूपित-कारणता परमाणुपरिमाण में न रहने से अव्याप्ति के वारणार्थ पारिमाण्डल्य अर्थात् परमाणुपरिमाण को प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य के लक्ष्यों में से वर्जन किया गया है।

यद्यपि पारिमाण्डल्य पद के अर्थ किरणावलीकारने परमाणुपरिमाण बतलाया है तथा प्रकाशकारने इस पर कोई टिप्पणी भी नहीं की है तथापि पारिमाण्डल्य शब्द का अर्थ परमाणु तथा द्व्यणुक दोनों के परिमाण को ही समझना चाहिए। अर्थात् पारिमाण्डल्य का अर्थ अणुपरिमाण ही समझना चाहिए। क्योंकि जिन युक्तियों के कारण परमाणु का परिमाण द्व्यणुकपरिमाण में कारण नहीं कहा जा सकता है उन्हीं युक्तियों के कारण द्व्यणुकपरिमाण भी त्रसरेणुपरिमाण में कारण नहीं हो सकता है। त्रसरेणु महत्परिमाण-विशिष्ट कार्य है। यदि द्व्यणुक के अपकृष्ट अणुपरिनाण त्रसरेणु के परिमाण का कारण होता तो त्रसरेणु में अपकृष्टतर अणु परिमाण ही उत्पन्न होता महत् परिमाण नहीं। महत् परिमाण विजातीय परिमाण होने से द्व्यणुक के अणुपरिमाण उसका कारण नहीं हो सकता है। फलतः द्व्यणुक का परिमाण भी ज्ञानातिरिक्तकार्यतानिरूपितकारणताशून्य होने से प्रस्तुत साधर्म्य की अव्याप्तिवारण के लिए पारिमाण्डल्य शब्द का अणुपरिमाण अर्थ समझना ही उचित है। यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि व्योमवतीकारने भी पारिमाण्डल्य का अर्थ परमाणुपरिमाण ही बतलाया है।[1] परन्तु कन्दली तथा सूक्ति टीकाओं में

---

१. परिमण्डल्याः परमाणवस्तेषां भावः पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणम्। व्योम० पृ० १३३।

पारिमाण्डल्य शब्द से द्व्यणुकपरिमाण का भी ग्रहण होगा नहीं कहा गया। परन्तु मूल प्रशस्तपाद के 'आदि' पद से द्व्यणुकपरिमाण का संग्रह होगा कहा गया है।[१]

किरणावलीकारने 'आदि' पद से परममहत्त्व, अन्त्यावयविगत रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा परिमाण और द्वित्वसंख्या द्विपृथक्त्व, परत्व तथा अपरत्व, विनश्यदवस्थ-द्रव्यगत संयोग, विभाग, वेग तथा क्रिया, अन्त्यशब्द, चरमसंस्कार तथा ज्ञान का संग्रह होगा कहा है। अर्थात् प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य को इन परिगणित पदार्थों से अतिरिक्त द्रव्य, गुण तथा कर्म का साधर्म्य समझा जाए कहा है।

पहले कहा जा चुका है कि परिमाण अपने जातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है। अतः परममहत् परिमाण भी यदि ज्ञानातिरिक्त कार्य का कारण है तो वह कार्य परिमाण ही हो सकता हैं। परन्तु आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा इन विभुद्रव्यों का परिमाण परममहत् परिमाण है। इन विभु द्रव्यों में कोई समवेतकार्यद्रव्य नहीं हैं जिनके परिमाण का जनक इनके परममहत् परिमाण हो सके। यह भी विचारणीय हैं कि अणु तथा महत्परिमाण में तारतम्य रहने पर भी परममहत् परिमाण में तारतम्य नहीं है। यदि यथाकथञ्चित् इन विभुद्रव्यों के परममहत् परिमाण को किसी परिमाण का कारण कहा जाए तो उस परिमाण में परममहत्तरत्ता की कल्पना भी आवश्यक हो जाएगी जो वस्तुगत्या अत्यन्त अप्रसिद्ध है। इसीलिए प्रस्तुत साधर्म्य के लक्ष्यों में से इस का वर्जन किया गया है।

कार्यद्रव्यों के अवयवगतरूपरसादि अवयविगतरूपरसादि के प्रति कारण होते हैं। जो स्वयं अन्त्यावयवी है अर्थात् जिससे अन्य कोई कार्यद्रव्य उत्पन्न नहीं होता है उसमें समवेत रूपरसादि भी किसी रूपरसादि का कारण न होने से प्रस्तुत साधर्म्य (कारणत्व) की अव्याप्ति उन रूपादि में होगी। उसके वारण के लिए ही अन्त्याव-यविगत रूपरसादि को लक्ष्य कोटी से वर्जित किया गया है।

किरणावलीकारने अन्त्यावयविगत रूप, रस, गन्ध के साथ ही स्पर्श को भी प्रस्तुत कारणत्वरूप साधर्म्य के लक्ष्य कोटी से वर्जन किया है। परन्तु अन्त्यावयविगत स्पर्श भी केवल स्पर्श का ही कारण हो सकता है यह कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि कुछ स्पर्शों में समानजातीयारम्भकत्व के साथ ही असमानजात्यारम्भकत्व भी प्राप्त है। अतः अभिघातादि के कारण होने से अन्त्यावयविगत स्पर्श का वर्जन उचित

---

१. आदिशब्दाद् द्व्यणुकपरिमाणम्। न्या० कन्दली, पृ० १८

आदिपदेन द्व्यणुकपरिमाणम्। सूक्ति, पृ० १२६-२०

नहीं हुआ। इसी अभिप्राय से किरणावलीभास्करकारने कहा है कि किरणावली में अन्त्यावयविगत रूपरसादि के वर्जन के साथ सहसा (प्रवाहपतित होकर) स्पर्श का भी उल्लेख दृष्ट होता है।[1] अर्थात् किरणावलीभास्करकार अन्त्यावयविगत स्पर्श के वर्जन का समर्थन नहीं करते हैं। क्योंकि अभिघात तथा नोदनादि के प्रति स्पर्शकी कारणता स्वीकृत होने से ज्ञातृधर्मातिरिक्त कार्य के प्रति कारणता ही बनी हुई है। अतः उसका वर्जन अनावश्यक है। इस प्रसङ्ग में प्रकाशकारने कहा है कि किरणावली के 'अन्त्यावयविगतरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणानि' इस द्वन्द्वसमासनिष्पण्णपद में पृथक् रूप से स्पर्श का ग्रहण नहीं किया गया है। परन्तु 'स्पर्शपरिमाण' इस प्रकार के एक मध्यपदलोपी-समासनिष्पन्नपद रूप से ही परिगृहीत है। अर्थात् 'स्पर्शसमानाधिकरणं परिमाणम्' इस अर्थ से 'स्पर्शपरिमाण' पद का ग्रहण ही उचित हैं।[2] इस स्थिति में अन्त्यावयविगतस्पर्श का समानाधिकरण परिमाण ही वर्जित होने से अन्त्यावयविगतस्पर्श में कारणता रहने पर भी अव्याप्ति न होगी।

परिमाण को प्रशस्तपादने 'समानजात्यारम्भक' तथा परत्रारम्भक कहा है। अर्थात् परिमाण समानजातीयगुण को अन्यत्र उत्पन्न करता है। फलतः अन्त्यावयविगत-परिमाण भी रूपरसादि के तुल्य ही किसी परिमाण का कारण नहीं होता है। अतः अन्त्यावयविगत परिमाण में प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य के अभाव के कारण अव्याप्ति की सम्भावना को दूर करने के लिए उसका वर्जन आवश्यक हुआ है।

हमारे विचार से प्रस्तुत स्थल में 'स्पर्श' पद लेखकप्रमादवश ही आ गया है। यद्यपि किरणावली के मुद्रित सब संस्करणों में ही उस पद का उल्लेख हे तथा प्रकाश-कार और भास्करकारने 'स्पर्श' पद सहित पाठ की ही व्याख्या की है तथापि हम इस पाठ को प्रामादिक हो समझना चाहते हैं।

द्वित्वसंख्या भी प्रस्तुत साधर्म्य के लक्ष्य कोटी से वर्जित हुआ है। यद्यपि परमाणु-गत द्वित्वसंख्या द्व्यणुकपरिमाण के प्रति कारण होने से कारणत्व द्वित्वसंख्या का भी साधर्म्य हो सकता है तथापि प्रस्तुत स्थल में प्रकाशकारने द्वित्व शब्द से अन्त्यावयविगत द्वित्वसंख्या ही ग्रन्थकार का विवक्षित है कहा है।[3] हमारे विचार से यहाँ 'अन्त्य'

---

१. नन्वन्त्यावयविस्पर्शो जनको भवत्येव स्पर्शवद्वेगवत् संयोगस्याभिघातस्पर्शवत् द्रव्यसंयोगस्य नोदनायाश्च क्रियां प्रति जनकत्वादिति चेन्न। स्पर्शपदस्यात्र सम्पातायातत्वात्। किरणा० भास्कर, पृ० ५४

२. स्पर्शपदञ्च स्पर्शसमानाधिकरणं परिमाणमिति मध्यमपदलोपिसमासेन स्वसहवृत्ति-परिमाणोपलक्षणम्। प्रकाश, पृ० १४७

३. द्वित्वञ्च अन्त्यावयविवृत्तिपरिमाणाजनकं विवक्षितम्। प्रकाश, पृ० १४७

शब्द आवश्यक ही नहीं है। क्योंकि किसी भी अवयविवृत्ति द्वित्व परिमाण का जनक नहीं होता है। दो सावयव वस्तु से निर्मित अवयवी के परिमाण के प्रति उसके समवायि-कारणगत परिमाण ही असमवायिकारण होता है। चरम अवयव परमाणु की द्वित्वसंख्या ही द्व्यणुक के परिमाण का जनक होता है। परमाणु अवयवी नहीं है। अतः अवयविगत द्वित्व को ही प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य के लक्ष्य कोटी से निष्कासित करने की आवश्यकता है। 'अन्त्य विशेषण की व्यर्थता ही प्रतीत होता है।

विनश्यदवस्थद्रव्यगत संयोग, विभाग, वेग तथा क्रिया भी ज्ञातृधर्मातिरिक्त कार्य के प्रति कारण नहीं होते हैं। इसलिए इन सबको भी प्रस्तुत कारणतारूप साधर्म्य के लक्ष्य कोटी से वर्जन किया गया है। विनश्यदवस्थद्रव्य शब्द से जिस द्रव्य का ध्वंस उत्पन्न हुआ है उसी को समझना है। ध्वंस के उत्पत्तिक्षण में द्रव्य का ध्वंस होने पर भी उस द्रव्य के संयोग, विभाग आदि का ध्वंस नहीं होता है। उन संयोग, विभाग आदि के ध्वंस के प्रति उनके समवायिकारणरूप आश्रय का नाश ही कारण होता है। कारण को कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में अवश्य होना चाहिए। अन्यथा वह कारणलक्षणाक्रान्त ही न होगा। अतः उन संयोग, विभाग आदि के नाश के पूर्वक्षण में उनके समवायिकारणरूप आश्रय का नाश की उपस्थिति आवश्यक है। फलतः द्रव्य के नाशक्षण में ही उस द्रव्यगत संयोगादि का नाश, कारण के अभाव में ही नहीं हो सकता है। द्रव्यनाशक्षण के परवर्त्तीक्षण में संयोगविभागादि नष्ट होते हैं। इसलिए अपने समवायिकारणरूप आश्रय के नाशक्षण में विद्यमान संयोग, विभागादिगुण तथा कर्म अपने नाशक्षण में किसी का कारण नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उस क्षण में समवायिकारणभूत द्रव्य का नाश हो जाने से कोई द्रव्य उत्पन्न न होगा। फलतः उत्पन्न द्रव्य न रहने से संयोगादि का कोई कार्य भी नहीं हो सकता है। अतः द्रव्य के विनाशक्षण में उस द्रव्य के संयोगादि गुण तथा क्रिया विद्यमान रहते हुए किसी कार्य का कारण नहीं हो सकते हैं। अतः प्रस्तुत कारणत्वरूप साधर्म्य के अव्याप्तिवारण के लिये उन संयोगादिको लक्ष्यकोटी से वर्जन किया गया है।

इसी प्रकार अन्त्यशब्द भी ज्ञानातिरिक्त कार्य के प्रति कारण नहीं होता है। वीचितरङ्गन्याय से उत्पन्न शब्दों की धारा में पूर्ववर्ती शब्द से अव्यवहित उत्तरवर्त्ती शब्द उत्पन्न होता है। अन्तिम शब्द ही अन्त्यशब्द कहलाता है। वह एक शब्दसन्तान के अन्तिम व्यक्ति होने से उसके पश्चात् उस धारा में कोई शब्द उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए अन्तिम शब्द का ज्ञानातिरिक्त कोई कार्य नहीं है। फलतः कारणतारूप प्रस्तुत साधर्म्य की अव्याप्ति वहाँ वारण के लिए ही अन्त्यशब्द को लक्ष्यबहिर्भूत बतलाया गया है।

चरम संस्कार को किरणावली में प्रस्तुत साधर्म्य के लक्ष्यबहिर्भूत बतलाया गया है। वस्तुतः भावनाख्य संस्कार ही यहाँ ग्रन्थकार का विवक्षित है प्रतीत होता है।

इसीलिए किरणावलीभास्करकारने पुंलिङ्ग 'चरम' पद को नपुंसकलिङ्ग में परिवर्तित कर उसको ज्ञानपद का विशेषण समझा जाए कहा है।[१] क्योंकि भावनाख्य संस्कार ज्ञानातिरिक्त कार्य का कारण नहीं होता है। उनकी व्याख्या के अनुसार (भावनाख्य) संस्कार तथा चरमज्ञान प्रस्तुत साधर्म्य का लक्ष्यकोटिवहिर्भूत है।

मोक्ष के अव्यवहितपूर्ववर्त्तिक्षण के ज्ञान को ही चरमज्ञान समझना है। वह ज्ञान किसी भी भावकार्य का जनक न होने के कारण उसको भी प्रस्तुत साधर्म्य का लक्ष्य में नहीं रखा गया है। संसारावस्था (अर्थात् मोक्ष के पूर्व अवस्था) के ज्ञान में किसी न किसी प्रकार की कारणता असम्भव न होने से उन ज्ञानों को लक्ष्य में ही रखा गया है।

द्रव्याश्रितत्वञ्च द्रव्यसमवायिकारणकता। एवं द्रव्यत्वादिसामान्य-विशेषपदार्थयोरप्रसङ्गः। तथाप्यव्यापकमत आह अन्यत्रेति। नित्य-द्रव्येभ्य[२] इत्युपलक्षणम्। नित्यगुणेभ्य[३] इत्यपि द्रष्टव्यम्। नित्यद्रव्याणि नित्यगुणांश्च विहायेदं पदार्थत्रितयसाधर्म्य[४]मित्यर्थः। आद्य संयोग-विभागौ नित्यवर्गश्च विहाय गुणासमवायिकारणकता चेति चार्थः।

['द्रव्याश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य'[५] इस परममूलग्रन्थ के द्रव्याश्रि-तत्वपद को द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप अर्थ में प्रयुक्त समझना है। इससे द्रव्यत्व आदि सामान्य तथा विशेष पदार्थ में अतिप्रसक्ति (साधर्म्य की) न होगी। तथापि यह (साधर्म्य) अव्यापक तो हुआ ही (अर्थात् द्रव्यसमवायिकारण-कत्वरूप द्रव्याश्रितत्व परमाणु, आकाश, काल आदि नित्यद्रव्यों में न रहने से अव्याप्तिदोषदुष्ट हुआ)। इसीलिए (परममूल में) अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' पद उपलक्षण है। (अतः) नित्यगुणेभ्यः (अन्यत्र)' इस प्रकार प्रयोग भी समझना होगा। (फलतः) नित्यद्रव्यसमूह तथा नित्यगुणसमूहको छोड़कर यह (अर्थात् द्रव्यसमवायिकारणकत्व) पदार्थत्रय (अर्थात् द्रव्य, गुण तथा कर्म) का साधर्म्य है यह तात्पर्यार्थ है। 'द्रव्याश्रितत्वञ्च' इस परममूल के 'च' कार द्वारा आद्यसंयोग, आद्यविभाग तथा नित्यवर्गों (अर्थात् नित्यद्रव्य तथा नित्यगुणों) को

---

१. अत्र लिङ्गव्यत्ययेन चरमत्वं ज्ञानविशेषणम्। किरणा० भास्कर, पृ० ५४

२. नित्यद्रव्येष्वुपलक्षणम्। सोसाइटि पुस्तके पाठः

३. नित्यगुणेष्वपि द्रष्टव्यम्। सोसाइटि पुस्तके पाठः

४. त्रयं साधर्म्यमित्यर्थः। सोसाइटि पुस्तके पाठः

५. प्रशस्तपाद, पृ० ४०

छोड़कर द्रव्यादि तीन पदार्थों का गुणसमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य भी सूचित हुआ है।]

'द्रव्याश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' इस ग्रन्थ से द्रव्याश्रितत्व को द्रव्य, गुण तथा कर्म यह तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है। यहां द्रव्याश्रितत्व शब्द का अर्थ किरणावलीकारने द्रव्यसमवायिकारणकत्व अर्थात् द्रव्यरूप-समवायिकारणजन्यत्व कहा है।[१] स्वभावतः द्रव्याश्रितत्व शब्द से द्रव्यसमवेतत्व ही समझा जाता है। परन्तु वह अर्थ स्वीकृत होने पर सामान्य तथा विशेष पदार्थ भी द्रव्यसमवेत होने के कारण इस साधर्म्य का लक्ष्य बन जाने से अतिव्याप्ति होगी। अतः इस अर्थ को त्यागकर पूर्वोक्त अर्थ को ही विवक्षित समझा गया है। सामान्य तथा विशेष नित्यपदार्थ होने से उनमें द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य की अतिव्याप्ति न होगी।

यहां यह शङ्का होगी कि सामान्य तथा विशेष में अतिव्याप्ति के कारण, द्रव्याश्रितत्व का पारिभाषिक अर्थ स्वीकार करने पर भी परमाणु, आकाश आदि नित्यद्रव्यों में द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य की अव्याप्ति का निरास नहीं हुआ। परमाणु आदि नित्यद्रव्य द्रव्यसमवायिकारणक नहीं है। इसी शङ्काको दृष्टिगत रखकर ही प्रशस्तपाद ने "अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" कहा है। फलतः नित्यद्रव्यों को छोड़कर शेष द्रव्य गुण तथा कर्म में यह द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य होगा। परन्तु तब भी द्रव्यादि तीन पदार्थ के अन्तर्गत नित्यगुणों (ईश्वरीय ज्ञान, प्रयत्न आदि तथा परमाणु आकाश आदि के संख्या, परिमाण आदि) में भी द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य के अभाव रहने से अव्याप्ति बनी है। इस अव्याप्ति के निरास के लिए ही किरणावलीकारने "अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" इस वाक्यांश में 'नित्यद्रव्येभ्यः' पद को उपलक्षण कहा है। जो शब्द अपना प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करते हुए अतिरिक्त अर्थ को भी व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हो उसे शास्त्र में उपलक्षण कहा जाता है। नित्यद्रव्येभ्यः' पद उपलक्षण है। इसी कारण वह अपना प्रसिद्ध अर्थ से अतिरिक्त अर्थ का भी द्योतक होगा। वह अतिरिक्त अर्थ ही नित्यगुण है। अर्थात् परममूल के अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' वाक्य से 'अन्यत्र नित्यगुणेभ्यः' यह भी आक्षिप्त होकर नित्यगुणों में प्रस्तुत साधर्म्य की अव्याप्ति को भी दूर करेगा। फलतः द्रव्याश्रितत्व अर्थात् द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य नित्यद्रव्य तथा नित्यगुणों को छोड़कर शेष द्रव्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य हो सकेगा।

'द्रव्याश्रितत्वञ्च' इस 'च' कार को किरणावलीकारने अनुक्तसमुच्चायक बतलाया है। उनका वक्तव्य यह है कि इस प्रकरण में प्रशस्तपादाचार्यने द्रव्यादि तीन पदार्थों का

१. द्रव्याश्रितत्वं द्रव्यसमवेतत्वं सामान्ये विशेषे च गतमित्यन्यथा व्याचष्टे। प्रकाश, पृ० १४७-४८

गुणासमवायिकारणकत्वरूप एक साधर्म्य भी सूचित किया है। यह साधर्म्य भी आद्य-संयोग, आद्यविभाग, नित्यद्रव्य तथा नित्यगुणों को छोड़कर शेष द्रव्यादि तीन पदार्थों का होगा। आद्यसंयोग तथा आद्यविभाग शब्द से क्रियाजन्य संयोग तथा क्रियाजन्य विभाग ही समझना है। क्योंकि हरेक संयोगजसंयोग अथवा विभागजविभाग में पहले एक क्रियाजन्यसंयोग अथवा क्रियाजन्यविभाग कारणरूप से रहता है। यह आद्यसंयोग अथवा आद्यविभाग क्रियाजन्य, अर्थात् कर्म उनके प्रति असमवायिकारण, होने से उनमें गुणासमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य रहता नहीं है। अतः अव्याप्ति है। उस अव्याप्ति-वारण के लिए इनको लक्ष्यकोटी से निकाल दिया गया है। परमाणु, आकाश आदि नित्यद्रव्यों के प्रति कोई भी गुण असमवायिकरण नहीं, तथा उन परमाणु आदि नित्य-द्रव्यों के नित्यगुणों का भी असमवायिकारण नहीं होता हैं। अतः नित्यद्रव्य तथा नित्य-गुणों में भी गुणासमवायिकारणकत्वरूप साधर्म्य की सम्भावना नहीं है। फलतः उनमें प्रस्तुत साधर्म्य की अव्याप्ति के वारण के लिए उनको भी लक्ष्यकोटि में रखा नहीं गया है। यहां प्रस्तुत साधर्म्य के लक्ष्यकोटि से क्रियाजन्य वेग का भी वर्जन करना आवश्यक है[१]। क्योंकि क्रियाजन्य तथा वेगजन्य वेग में क्रियाजन्यवेग का असमवायिकरण क्रिया है। अतः उनमें गुणासमवायिकारणकत्व न रहने से अव्याप्ति होगी।

यहां विचारणीय है कि व्योमवतीकारने 'द्रव्याश्रितत्व' पद को यथाश्रुत अर्थ में ही ग्रहण किया है। उनका अभिप्राय यह है कि प्रशस्तपादाचार्यने षट्पदार्थसाधर्म्य-प्रकरण में आश्रितत्व को षट्पदार्थों का साधर्म्य कहा है। उसी से द्रव्यादि तीन पदार्थों में भी आश्रितत्व एक साधर्म्य निर्णीत हो चुका है। पुनः आश्रितत्व को कोई विशेषणशून्य स्थिति में द्रव्यादि तीन पदार्थों के साधर्म्य कहने से अर्थपुनरुक्तिदोष की आशङ्का होगी। अतः द्रव्योपलक्षित आश्रितत्व को केवल द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है[२]। इस व्याख्या में शब्द का यथाश्रुत अर्थ ही स्वीकृत होने से पारिभाषिक अर्थ स्वीकार करना अथवा अर्थपुनरुक्तिदोष की सम्भावना नहीं है। तथापि हम इस व्याख्या को समीचीन नहीं समझते हैं। क्योंकि द्रव्यत्वादि सामान्य तथा विशेष पदार्थ सर्वदा द्रव्याश्रित ही होते हैं। अतः यथाश्रुत द्रव्याश्रितत्वरूप साधर्म्य की अतिव्याप्ति सामान्य तथा विशेष पदार्थों में होगी ही। इसलिए किरणावलीकारने यथाश्रुत अर्थ को त्यागकर पारिभाषिक द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप अर्थ को ही अव्याप्ति के वारण के लिए स्वीकार किया है। यहाँ द्रव्यसमवायिकारणकत्वरूप पारिभाषिक द्रव्याश्रितत्व में

१. अत्र कर्मजन्यवेगोऽपि त्याज्यः। किरणा० भास्कर, पृ० ५४

२. यद्यपि षण्णामाश्रितत्वाभिधानेन द्रव्यादीनामाश्रितत्वमुक्तम्, तथापि द्रव्योपलक्षित-स्येहाभिधानादपुनरुक्तमिति। व्योम० पृ० १३३

द्रव्यपद की आवश्यकता नहीं है। यह सत्य है। क्योंकि द्रव्य को छोड़कर अन्य पदार्थ
कभी समवायिकारण नहीं हो सकते हैं यह कहा जाएगा। अतः केवल समवायिकारण-
कत्व ही साधर्म्य रूप से पर्याप्त है। तथापि द्रव्यभिन्न गुणादि पांच पदार्थ समवायिकारण
नहीं होते हैं वह सूचित करने के लिए यहां द्रव्यपदप्रयुक्त हुआ है समझना चाहिए। द्रव्य-
पद समवायिकारण का स्वरूपमात्र कथन के लिए प्रयुक्त है। वह यहां व्यावर्त्तकविशेषण
के रूप में प्रयुक्त नहीं है।

सामान्यादीनामिति। स्वात्मसत्त्वं सत्ताविरहः।

[सामान्यादीनाम्[१] इस मूलग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है]

इदानीं सामान्य, विशेष तथा समवाय इन तीन पदार्थों का साधर्म्य कहा जा रहा
है। किरणावलीकारने स्वात्मसत्त्व की व्याख्या सत्ताविरह अर्थात् सत्ता का अत्यन्ताभाव
किया है। शङ्का हो सकती है कि सामान्य आदि तीन पदार्थ के सत्ता जाति का अत्यन्ता-
भाव साधर्म्य है कहा गया परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि सामान्यादि में अपर सामान्य रहते
हैं या नहीं। इस विषय में किरणावली में स्पष्टतः कुछ कहा नहीं गया है। परन्तु सामान्य
आदि तीन पदार्थ में कोई अपरसामान्य रह नहीं सकता यह अर्थतः सिद्ध है। क्योंकि
सामान्य परा जाति है तथा वह अन्य समस्त जातियों का व्यापक है। समस्त अपर-
सामान्य के व्यापक सत्ता के अभाव यदि सामान्यादि तीन पदार्थ में हो तो व्यापक के
अभाव रहने के कारण उन सामान्यादि तीन पदार्थं में सत्ता जाति के व्याप्य कोई अपर
जाति रह नहीं सकती। व्यापक सत्ता जाति के अभाव रहने के कारण अन्य सत्ताव्याप्य
जातियों का अत्यन्ताभाव भी सामान्यादि तीन पदार्थ में अर्थतः प्राप्त होगा। अतः पूर्वोक्त
शङ्का का अवसर नहीं है। फलतः सामान्य अर्थात् जातिमात्र का अत्यन्ताभाव ही उक्त
तीन पदार्थों का साधर्म्य होगा। इसी अभिप्राय से कारिकावली में 'सामान्यपरिहीनास्तु
सर्वे जात्यादयो मताः[२] ग्रन्थद्वारा सामान्यशून्यता को सामान्यादि तीन पदार्थों का
साधर्म्य कहा भी है।

हम कह चुके हैं कि किरणावलीकारने स्वात्मसत्त्व का अर्थ सत्ता का बिरह
अर्थात् अभाव कहा है। परन्तु उस पद का इस प्रकार अर्थ साधारणतया होता नहीं है।
अतः इस प्रकार अर्थ स्वीकार करने की आवश्यकता पर विचार करना आवश्यक है।
सेतुटीकाकारने कहा है कि स्वात्मसत्त्व का अर्थ होता है प्रामाणिकत्व। यह प्रामाणि-

१. सामान्यादीना त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्य-
विशेषवत्त्वं नित्यत्वमर्थशब्दाभिधेयत्वञ्चेति। प्रशस्तवाद, पृ० ३०

२. भाषापरिच्छेद, कारिका, १५

कत्त्व सामान्यादि तीन पदार्थ ही नहीं अपितु द्रव्यादि पदार्थ में भी रहने से प्रस्तुत स्थल में स्वात्मसत्त्व का वह अर्थ हो नहीं सकता है। अतः सत्ता का विरहरूप अर्थ ही स्वीकार करना पड़ेगा[१]। इसी प्रकार रहस्यटीकाकार मथुरानाथने स्वात्मसत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि स्वात्मक अधिकरण में समवायसम्बन्ध से अपनी वृत्तिता ही स्वात्मसत्त्व शब्द का अर्थ है। परन्तु 'स्व' का 'स्व' में वृत्तित्व अप्रसिद्ध होने से प्रस्तुत स्थल में सत्ताविरह को ही स्वात्मसत्त्व का अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा[२]।

हम इन व्याख्याओं का अन्तःकरण से समर्थन नहीं कर सकते हैं। स्वात्मसत्त्व शब्द का अर्थ प्रामाणिकत्व किस प्रकार से हो सकता है यह कहीं भी बताया नहीं गया है। किस प्रकार व्युत्पत्ति से स्वात्मसत्त्व का अर्थ प्रामाणिकत्व होगा यह विचारशील पाठक अनुसन्धान कर सकते हैं। अपने में समवाय सम्बन्ध से अपनी ही वृत्तिता यदि यहां स्वात्मसत्त्व शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है स्वीकार किया जाय तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रशस्तपाद ने एक अलीकपदार्थवाचक पद का प्रयोग कर अपनी अशक्ति ही प्रकट किया है। इस अशक्ति के प्रच्छादन के लिए टीकाकारों को यत्न करना पड़ा है। इसलिए इन दोनों अर्थों को हम अभिनन्दित नहीं कर सकते हैं।

सूक्तिटीकाकार जगदीशने स्वात्मसत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि स्वात्मक जो सत्त्व अर्थात् सत्ता जाति से पृथक् जो वस्तु का स्वरूपसत्त्व है। उसी को स्वात्मसत्त्व समझना है[३]। उन्होंने स्वरूपसत्त्व को ही सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा है। परन्तु यदि हम सत्ता से अतिरिक्त स्वरूपसत्त्व को स्वीकार करें तो द्रव्यादि सब भाव पदार्थ में ही उसे स्वीकार करना पड़ेगा। अतः केवल सामान्यादि तीन पदार्थ के साधर्म्यरूप से स्वरूपसत्त्व द्रव्यादि में अतिव्याप्त हो जाएगा। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए यदि सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से सत्ताविरहविशिष्ट-स्वरूपसत्त्व को प्रस्तुत साधर्म्य कहें तो इस निर्वचन में विशेष्यांश अर्थात् 'स्वरूपसत्त्व' पद की व्यावृत्ति बतलाना सम्भव न होगा। अतः उस विशेष्यांश का त्यागपूर्वक केवल सत्ताविरह को ही प्रस्तुत साधर्म्य तथा स्वात्मसत्त्व शब्द का प्रकृतोपयोगी अर्थ कहना सम्भव होता है। यह व्याख्या अभिनन्दनीय है। इसमें स्वात्मसत्त्व शब्द की यथार्थ व्याख्या करने की चेष्टा है।

---

१. स्वात्मसत्त्वं प्रामाणिकत्वं द्रव्यादावपीति सत्ताराहित्यमित्यर्थः। सेतु, पृ० १३३

२. ननु स्वात्मसत्त्वं स्वस्मिन् समवेतत्वं, तच्चाप्रसिद्धमित्यतो व्याचष्टे सत्ताविरह इति। रहस्य, पृ० १७२

३. सामान्यविशेषसमवायानां स्वात्मकमेव सत्त्वं न सत्ताजातिरित्यर्थः। सूक्ति, पृ० १३३

परन्तु इस व्याख्या में सूक्तिकारने सत्ताजाति के साथ ही उससे पृथक् स्वरूपसत्त्व को भी स्वीकार किया है। सत्ताजाति से पृथक् स्वरूपसत्त्व की स्वीकृति तब हो सकती है यदि 'सत्' यह बुद्धि सामान्य आदि पदार्थों में उपपादन करने का अन्य कोई प्रकार उपलब्ध न हो। हम जानते हैं कि द्रव्यादि तीन पदार्थ में 'सत्' यह बुद्धि मुख्य रूप से सत्तासम्बन्ध रहने से होती है। तथा सामान्य आदि तीन पदार्थों में सत्ता के परम्परा सम्बन्धवश औपचारिकरूप से 'सत्' यह बुद्धि को उपपन्न किया गया है।

अन्त में हम व्योमवतीकारकी स्वात्मसत्त्व पद की व्याख्या का वर्णन करते हैं। उन्होंने उपचरित-सद्बुद्धिनियामकत्व को स्वात्मसत्त्व का अर्थ बतलाया है[1]। हमारे विचार से यह व्याख्या ही सर्वोत्तम है। यद्यपि सत्ता का उपचार शब्द से स्वाश्रयाश्रितत्व-रूप परम्परा सम्बन्ध से सत्तावत्त्व ही समझा जाता है तथा जन्यपदार्थों में अर्थात् समवेत द्रव्य, गुण तथा कर्म में स्वाश्रयाश्रितत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से भी सत्तासम्बन्धित्व रहता है यह सत्य है, तथापि उन स्थलों में वह परम्परासम्बन्ध सद्बुद्धि का नियामक न होगा। साक्षात्सम्बन्ध के नियामकत्व की सम्भावना न रहने पर ही परम्परासम्बन्ध की नियामकता होती है। द्रव्यादि तीन पदार्थ में साक्षात् सम्बन्ध से सद्बुद्धि नियन्त्रित हो सकती है। इसलिए वहाँ परम्परा सम्बन्ध रहने पर भी वह सम्बन्ध सद्बुद्धि का नियामक नहीं होता है। अतः स्वात्मसत्त्वरूप सामान्यादि तीन पदार्थ के साधर्म्य की द्रव्यादि तीन पदार्थ में अतिव्याप्ति की शङ्का अमूलक ही है।

बुद्धिलक्षणत्वं बुद्धिमात्रममीषां लक्षणं प्रमाणम्, न तु द्रव्यादिवत् प्रमाणान्तरमस्तीत्यर्थः। अनुवृत्तबुद्धिर्व्यावृत्तबुद्धिरिहेति बुद्धिरित्येव सामान्यादित्रये प्रमाणमिति।

['मूल ग्रन्थ के 'बुद्धिलक्षणत्वं' पद केवल बुद्धि ही इन (सामान्यादि तीन पदार्थों) का लक्षण अर्थात् प्रमाण है इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। द्रव्यादि पदार्थों के विषय में जिस प्रकार अन्य प्रमाण हैं इन (सामान्यादि तीन पदार्थों) का यह (प्रमाणान्तर) नहीं है यही तात्पर्य है। अनुवृत्तबुद्धि, व्यावृत्तबुद्धि तथा 'इह' बुद्धि (यह तीन प्रकार बुद्धि ही) सामान्यादि तीन पदार्थ का प्रमाण है।]

स्वात्मसत्त्व के तुल्य ही बुद्धिलक्षणत्व भी सामान्यादि तीन पदार्थ का एक साधर्म्य है। साधारणतया लक्षण शब्द असाधारणधर्मरूप अर्थ में प्रयुक्त होता है। फलतः बुद्धि-

---

१. स्वात्मना साधारणधर्मेणोपचारनिमित्तेन सत्त्वं सत् सदितिप्रत्ययजनकत्वम्, मुख्ये हि अनवस्थादिबाधकोपपत्तेः। व्योम० पृ० १४२

रूप असाधारणधर्म केवल आत्मा का ही है। सामान्यादि तीन पदार्थ का वह साधर्म्य नहीं हो सकता है। न्यायवैशेषिकशास्त्रों में बुद्धिलक्षणत्व शब्द का अर्थ अन्य प्रकार की व्युत्पत्ति के आश्रय से किया है। उन्होंने 'बुद्धिमात्रं लक्षणं येषां तेषां भावः बुद्धिलक्षणत्वम्' यह व्युत्पत्ति के बल पर बुद्धिमात्र-प्रमाणत्व को सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है कहा है। सामान्यादि तीन पदार्थ में बुद्धिमात्र-प्रमाणकत्वरूप साधर्म्य है। अन्यत्र वह नहीं है यह प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने कहा है कि द्रव्यादि तीन पदार्थ के विषय में बुद्धि को छोड़कर शब्द अथवा चक्षुरादि इन्द्रिय भी प्रमाण हैं। शब्द अथवा चक्षुरादि इन्द्रियों से भी द्रव्यादि तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं। परन्तु सामान्यादि तीन पदार्थ के विषय में केवल बुद्धि ही प्रमाण है। अनुवृत्तबुद्धि द्वारा सामान्य, व्यावृत्त बुद्धि द्वारा विशेष तथा 'इह' बुद्धि द्वारा समवाय की सिद्धि होती है। इसीलिए बुद्धिमात्र-प्रमाणत्व सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य होने में बाधा नहीं है।

प्रमाणशब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार का है। 'प्रमीयते अनेन' इस व्युत्पत्ति से 'प्रमा का करण' यह अर्थ होता है। इससे केवल बुद्धि से ही प्रमाणित होने वाले को ही 'बुद्धिलक्षण' कहना पड़ता है। इस स्थिति में घटत्व पटत्व आदि सामान्य चक्षुरिन्द्रिय से भी प्रमाणित होने के कारण उनमें 'बुद्धिमात्र-प्रमाणकत्व' न रहने से प्रस्तुत साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। यदि 'प्रमीयते' इस भाववाच्य में प्रमाण शब्द को व्युत्पन्न कहा जाए तो प्रमाण शब्द से बुद्धि ही समझी जाएगी। फलतः बुद्धिमात्र ही जिनके विषय में प्रमा है उनके भाव अर्थात् 'बुद्धिमात्रप्रमासम्बन्धित्व' ही बुद्धिमात्रलक्षणत्व का अर्थ होगा। परन्तु बुद्धि को छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु प्रमा नहीं होती है इसलिए 'बुद्धिमात्र ही प्रमा' यह उक्ति की कोई सार्थकता नहीं प्रतीत होता है। यथा कथञ्चित् इस अर्थ को स्वीकार करने पर घट पट आदि पदार्थ में भी बुद्धिरूप प्रमासम्बन्धित्व रहने से प्रस्तुत साधर्म्य की अतिव्याप्ति घटपटादि में होगी। इन्हीं कारणों से प्रकाशकारने बुद्धिलक्षणत्व का स्वतन्त्ररूप से निर्वचन किया है। उन्होंने 'बुद्धिलक्षणत्व' इस समस्तपद में बुद्धिपद सामान्यशून्यत्वप्रकारक-भावविशेष्यक-बुद्धिरूप विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है समझना चाहिए कहा है।[1] तथा लक्षणपद लक्षित अर्थात् विषयरूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है समझा जाए कहा है। फलतः सामान्यशून्यत्व-प्रकारक-भावविशेष्यक-प्रमितिविषयत्व ही बुद्धिलक्षणत्व का अर्थ है। इस प्रकार बुद्धिलक्षणत्व सामान्यादि तीनों पदार्थ में वर्त्तमान रहने से अव्याप्ति की शङ्का न होगी। यद्यपि सामान्यप्रतियोगिकाभावप्रकारक-भावविशेष्यक-प्रमितिविषयत्व अर्थात् 'सामान्यं नास्ति' इत्याकारक अभावविशिष्ट भावविषयक प्रमितिविषयत्व द्रव्यादि तीन पदार्थ में सामान्य (जाति) के रहने से नहीं रहता है परन्तु 'जातिः निःसामान्या घटश्च गन्धवान्, यह समूहालम्बनज्ञान भी

---

१. बुद्धिपदस्य निः सामान्यत्वप्रकारक-भावविषयक-प्रमितिपरतया……प्रकाश, पृ० १४८-९

सामान्यप्रतियोगिकाभावप्रकारकभावविशेष्यकप्रमिति होने से तादृशप्रमितिविषयत्व घट में भी रहने से अतिव्याप्ति हो सकती है। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए सामान्यत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपिताभावत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-प्रमीयविशेष्यत्व को यदि बुद्धिलक्षणत्व का निष्कृटार्थ कहा जाएगा तब यह अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि पूर्वोक्त समूहालम्बन ज्ञान में घटगत विषयता निरुक्त प्रकारतानिरूपितविशेष्यतात्मक नहीं है। समूहालम्बनज्ञान में एक से अधिक विशेष्य होते हैं। तथा उनकी विशेष्यता के निरूपक प्रकारता भी अर्थत: भिन्न-भिन्न ही होते हैं। इस स्थिति में विशेष्यता तथा प्रकारता को निर्दिष्ट कर देने से अतिव्याप्ति नहीं हुई। बुद्धि-लक्षणत्व के इस परिष्कार में अभावीय प्रतियोगिता को समवायसम्बन्धावच्छिन्न न कहने से "घटः स्वरूपेण सामान्यप्रतियोगिकाभाववान्" इस प्रमाज्ञानीय विशेष्यता घट में रहने के कारण अतिव्याप्ति होगी। एतदर्थ प्रतियोगिता को समवायसम्बन्धावच्छिन्न कहना अत्यावश्यक है। घट में घटत्व, पृथिवीत्व तथा द्रव्यत्वादि सामान्य समवायसम्बन्ध से रहते हैं। परन्तु स्वरूपसम्बन्ध से सामान्य कहीं नहीं रहने से वह सम्बन्ध सामान्य का व्यधिकरणसम्बन्ध होने से उस सम्बन्ध से सामान्य का अभाव सर्वत्र रहने के कारण घट में भी है। अतः यह ज्ञान प्रमा है। इस प्रमाज्ञानीय विशेष्यता घट में रहने से अतिव्याप्ति भी है। उसके वारण के लिए उपाय कह चुके हैं। प्रस्तुत अभावीय प्रतियोगिता स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न होने से प्रस्तुत साधर्म्य की अतिव्याप्ति नहीं है। बुद्धिलक्षणत्व के पूर्वोक्त परिष्कार में अभावीय प्रतियोगिता को सामान्यत्वावच्छिन्न भी कहना पड़ेगा। अन्यथा पट में 'समवायेन घटत्वं नास्ति, यह घटत्वाभावीय प्रतियोगिता समवायसम्बन्धावच्छिन्न होते हुए वह अभाव पट में रहता है। फलतः समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वत्वरूप-सामान्यत्वावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपिताभावत्वा-वच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता विशेष्यता पट में रहने के कारण प्रस्तुत साधर्म्य अतिव्याप्त होगा। अभावीय प्रतियोगिता यदि समवायसम्बन्धावच्छिन्नत्व के साथ ही सामान्यत्वा-वच्छिन्नत्व से भी विशेषित होगा तब उक्त 'समवायेन घटत्वं नास्ति' यह अभाव लक्षण-घटक अभाव न होगा। समवायेन 'सामान्यं नास्ति' यह सामान्य का सामान्याभाव ही लक्षण घटक हो सकेगा। फलतः अतिव्याप्ति न होगी। यह अभाव केवल सामान्य आदि तीन पदार्थ में ही रहता है। अतः अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है।

प्रकारान्तर से बुद्धिलक्षणत्व के निर्वचन करते समय प्रकाशकारने अनुवृत्तबुद्धि व्यावृत्तबुद्धि तथा अयुतसिद्धसम्बन्धिविषयक इहेति बुद्धि इन त्रिविध बुद्धियों के अन्यतम बुद्धि के असाधारणप्रयोजकत्व ही प्रस्तुत बुद्धिलक्षणत्व होगा कहा है। घटव्यक्तिओं में अनेक विलक्षणता रहने पर भी प्रत्येक घटव्यक्ति में 'घटः' इत्याकार प्रत्यय की अनुवृत्ति देखी जाती है। वह प्रत्ययानुवृत्ति या अनुवृत्तबुद्धि की प्रयोजकता घटत्वरूप सामान्य में जिस प्रकार है उसी प्रकार से घटव्यक्तियों में भी है। परन्तु उक्त अनुवृत्तबुद्धि में असाधारण प्रयोजकता केवल घटत्वजाति में ही होती है। इसी प्रकार व्यावृत्तबुद्धि में भी असाधारण-

प्रयोजकता विशेष में ही रहती है। सामान्यतः 'इह बुद्धि' 'इह कुण्डे बदरम्' 'इह भूतले घटाभावः' आदि है। इह बुद्धि की प्रयोजकता संयोग स्वरूपादि सम्बन्ध में रहने पर भी अयुतसिद्धसम्बन्धियों के विषय में यह प्रयोजकता समवाय में ही रहती है। उक्त तीन प्रकार बुद्धि को प्रात्यक्षिक बुद्धि ही समझना है। यद्यपि वैशेषिकमत में विशेष तथा समवाय का लौकिकप्रत्यक्ष स्वीकृत नहीं है तथापि योगजप्रत्यक्ष को लेकर यहां विशेष तथा समवाय में साधर्म्य की सङ्गति होगी। अर्थात् विशेष तथा समवाय के योगजप्रत्यक्षकाल में उनके विषय में व्यावृत्तबुद्धि तथा 'इह बुद्धि' की असाधारणप्रयोजकता केवल विशेष तथा समवाय में रहने से उन दोनों की बुद्धिलक्षणता बन जाएगी। योगजप्रत्यक्ष में भी विषय अपेक्षित है इस मत को ही ग्रहण करके यह निर्वचन है समझना है।

सूक्तिटीकाकारने 'बुद्धिलक्षणत्व' पद के 'लक्षण' शब्द का अर्थ जनकत्व कहा है। अर्थात् बुद्धिमात्र-जनकत्व ही सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य है[1]। सामान्य, विशेष तथा समवाय यथाक्रम अनुवृत्तप्रत्यय व्यावृत्तप्रत्यय तथा इहप्रत्यय का जनक होता है। यहां 'बुद्धिमात्रजनकत्व' में मात्र पद न रहने से अर्थात् 'बुद्धि जनकत्व' को ही सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहने से घट पटादि द्रव्य भी बुद्धिजनक अर्थात् विषयरूप से ज्ञान का कारण होने से यह साधर्म्य घटपटादि में अतिव्याप्त होगा। लौकिकप्रत्यक्षों में विषय की कारणता सर्वमतसिद्ध है। अतः 'मात्र' पद साधर्म्य में दिया गया है। घटपटादि द्रव्य केवल ज्ञान का ही जनक नहीं होते। परन्तु उनके अपने गुण, क्रिया आदि में भी कारण अर्थात् जनक होने से उनमें बुद्धिमात्रजनकत्व-रूप साधर्म्य नहीं रहता है। अतिव्याप्ति नहीं होती है। विशेष भी अनुमापक हेतु के रूप से केवल व्यावृत्तबुद्धि का जनक होता है। समवाय केवल 'इह' बुद्धि का जनक होता है। अतः सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य बुद्धिमात्रजनकत्व हो सका।

परन्तु घटपट आदि अन्त्यावयवियों के रूपादि गुणों में भी गुणान्तर की जनकता सम्भव न होने से तथा लौकिकप्रत्यक्ष के विषय होने के कारण बुद्धि (ज्ञान) मात्रजनकता ही रहती है। अतः उन गुणों में यह साधर्म्य (बुद्धिमात्रजनकत्व) अतिव्याप्त होगा। अन्त्यावयवी के रूपादि गुणों के अपने आश्रयभूत द्रव्य अन्त्यावययीं होने के कारण उससे कोई द्रव्यान्तर उत्पन्न नहीं होते। अतः उनके गुणादि को उत्पन्न करने की सम्भावना भी नहीं रहती है। वे अपना कोई कार्यान्तर न रहने से, केवल लौकिकप्रत्यक्ष में विषयरूप से कारण होते हैं। अतः अतिव्याप्ति भी रहेगी। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए जगदीश ने 'बुद्धिमात्रजनकत्व' की व्याख्या करते हुए कहा है कि बुद्धिभिन्न भाव-वस्तु के जनकों में अवृत्ति (न रहनेवाली) भावविभाजकोपाधि को ही बुद्धिमात्रजनकत्व

---

१. बुद्धिलक्षणत्वं बुद्धि प्रत्येव जनकत्वम्। सूक्ति पृ० १३३

समझना होगा[1]। इस व्याख्या के कारण घटपट आदि द्रव्य, उन (अन्त्यावयविओं) के गुण तथा उनमें आश्रित कर्म में जो द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप भावविभाजकोपाधियाँ हैं उनको लेकर अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप भावविभाजकोपाधियां ऐसे द्रव्य, गुण तथा कर्म में भी रहती हैं जो बुद्धिभिन्नभाववस्तुओं के जनक होते हैं। अतः बुद्धिभिन्नभाववस्तु के जनकों में अवृत्ति भावविभाजकोपाधि द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व कभी न होगा। अतिव्याप्ति न होगी। बुद्धिभिन्नभाववस्तु के जनकों मे अवृत्ति भावविभाजकोपाधि केवल सामान्यत्व, विशेषत्व, तथा समवायत्व ही हो सकेगा। वह उपाधियां केवल सामान्य, विशेष तथा समवाय में रहने से यह साधर्म्य यथार्थ भी होगा।

प्रकारान्तर से भी जगदीशने बुद्धिलक्षणत्व की व्याख्या की है। उन्होंने 'बुद्धिलक्षणत्व' में बुद्धिशब्द को सामान्यतः बुद्धि अर्थ में न लेकर उसको एक विशेषबुद्धि का वाचक कहा है। सामान्यशून्यत्वविशिष्ट जो भावत्व वह भावत्वप्रकारक यथार्थबुद्धि हो वह विशेषबुद्धि हैं। प्रस्तुत स्थल में सामान्यशून्यत्वविशिष्ट-भावत्वप्रकारक-यथार्थ-बुद्धिविशेष्यत्व ही बुद्धिलक्षणत्व है। भावत्व यद्यपि द्रव्यादि षट्पदार्थ में ही है तथापि सामान्यशून्यत्वसमानाधिकरणभावत्व केवल सामान्य, विशेष तथा समवाय में ही होता है। सामान्यत्व, विशेषत्व तथा समवायत्व के अधिकरणों (अर्थात् सामान्य विशेष तथा समवाय) में जो भावत्व है वही सामान्यशून्यत्व के समानाधिकरण है। सामान्यादि में सामान्य नहीं रहता, सामान्यशून्यत्व ही है। प्रत्युत द्रव्य, गुण तथा कर्म में जो भावत्व है वह सामान्यशून्यत्व के समानाधिकरण नहीं है। क्योंकि द्रव्य, गुण तथा कर्म में सामान्य तथा भावत्व समानाधिकरण अर्थात् एक साथ ही रहता हैं। इस व्याख्या से भी अतिव्याप्ति या अव्याप्ति की सम्भावना न रहने से पूर्वोक्त बुद्धिलक्षणत्व सामान्यादि पदार्थत्रय का साधर्म्य हो सकेगा।

बुद्धिलक्षणत्व की उपरिलिखित व्याख्याएं हम जगदीश के स्वोद्भावित नहीं मान सकते हैं। क्योंकि प्रकाशकारने ही प्रथम इस प्रकार की व्याख्या की है। सावधानी से प्रकाशकार की व्याख्याओं को अध्ययन करने से प्रतीत होगा कि जगदीश ने प्रकाशकार की व्याख्याओं को ही भङ्ग्यन्तर से ग्रहण कर अपनी व्याख्या की रचना की है। हम प्रकाशकार की व्याख्या को प्रदर्शित कर चुके हैं। अतः पुनरुक्ति के भय से पुनः उसका उल्लेख नहीं करना है।

सेतुटीकाकारने प्रकाशकार की व्याख्या का ही अनुवर्त्तन किया है। अतः उसकी आलोचना अनावश्यक है। यहां व्योमवतीकारने विशेष कोई वक्तव्य दिया नहीं है। वस्तुतः उनकी व्याख्या अस्पष्ट तथा संक्षिप्त है। इसीलिए यह समझना गलत न होगा कि प्रकाशकार इस प्रकार की व्याख्या में व्योमवतीकार द्वारा प्रभावित नहीं हुए हैं।

---

१. बुद्धयन्यभावजनकावृत्ति-भावविभाजकधर्मवत्त्वमिति यावत्। सूक्ति, पृ० १३३

"सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्" इस वैशेषिकसूत्र (१।२।३) में बुद्ध्यपेक्ष-पद तथा "सामान्यादीनां...... बुद्धिलक्षणत्वम्" यह प्रशस्तपाद के वाक्य में बुद्धिलक्षणत्व-पद के प्रयोग को देखकर कोई कोई यह समझते हैं कि प्राचीन वैशेषिक लोग सामान्य, विशेष तथा समवाय को द्रव्यादि पदार्थ के तुल्य बाह्यपदार्थ नहीं समझते थे। परन्तु वे एक प्रकार बुद्धि या अनुभव को ही सामान्यादि पदार्थ समझते थे। संस्कृतवाङ्मय में लक्षण-पद अनेक स्थानों में 'स्वरूप' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः 'बुद्धिलक्षण' पदका 'बुद्धि स्वरूप' यह अर्थ होना भी सम्भव है। अतः बुद्धिलक्षण-पद के प्रयोग को देखकर सामान्यादि तीन पदार्थ को बुद्धि का ही प्रकारभेद समझना सम्भव है। विशेषतया बौद्धशास्त्र में सामान्य को बुद्धि का विकल्प रूप से वर्णन भी किया गया है। यदि सामान्य बुद्धि का ही विकल्प, अर्थात् 'चैत्त' पदार्थ में ही अन्तर्भुक्त हो तो तुल्ययुक्ति से विशेष तथा समवाय भी 'चैत्त' पदार्थ में ही अन्तर्भुक्त होगा। पाश्चात्त्य दार्शनिकों में अनेक व्यक्तिने सामान्य को बुद्धिविकल्पित ही समझा है। इस लिए यदि कोई वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए सामान्य आदि पदार्थत्रयको बौद्धपदार्थ ही समझ लें तो आश्चर्य का विषय नहीं है। परन्तु यहां हम वास्तविक वैशेषिक मत का स्वरस को ही प्रदर्शित करेंगे। सामान्य पदार्थ के बाह्य अस्तित्व के विरोध में बौद्ध दार्शनिकोंने जिन युक्तिओं की सहायता ली है उनका खण्डन सामान्य पदार्थ के विशेषविवेचन के अवसर पर करते हुए वैशेषिक सिद्धान्त को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे।

जो लोग केवल वैशेषिक सूत्र के 'बुद्ध्यपेक्षम्' तथा प्रशस्तपाद के ग्रन्थ के 'बुद्धिलक्षणत्व' यह दो पदों के बल पर वैशेषिकमतानुसार सामान्यादि तीन पदार्थ का बौद्धत्व प्रतिपादन करने का उद्योग करते है वे पूर्वापर ग्रन्थों की आलोचना किए विना ही इस प्रकार भ्रम में पड़े हैं हम वही प्रदर्शित करेंगे। सूत्रकारने 'बुद्ध्यपेक्षम्' पद से सामान्य तथा विशेष को ही यह संज्ञा क्यों दी गई है इस का कारण बतलाया है। उस पद द्वारा सामान्यादि पदार्थों का बौद्धत्व प्रतिपादन करने का कोई भी आग्रह सूत्रकार का प्रतीत नहीं होता है। उन्होंने घट व्यक्तियों में परस्पर भेद तथा पृथक्त्व (पार्थक्य) रहते हुए समस्त घटव्यक्ति में ही 'घटः घटः' इस प्रकार बुद्धि (प्रत्यय) की अनुवृत्ति जो देखी जाती है, सामान्य अर्थात् जातिको उसका कारण रूप से प्रदर्शित करते हुए कहा है कि सामान्य अर्थात् जाति ही भिन्न तथा पृथक् व्यक्तियों में प्रत्यय (बुद्धि) की अनुवृत्ति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अनुगतप्रतीति की अपेक्षया जाति की सामान्य संज्ञा दी गई है। यह संज्ञा अन्वर्थक है आकस्मिक नहीं। परस्पर भिन्न तथा पृथक् व्यक्तियों में जो व्यावृत्तबुद्धि होती है उस बुद्धि के कारण वह भेदक पदार्थ की संज्ञा विशेष हुआ है। आगे के सूत्रों को देखने से ही सूत्रकार का अभिप्राय स्पष्ट हो जाएगा। हम उन सूत्रों को उद्धृत कर रहें हैं।

'भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव।' वैशे० सू० १।२।४

'द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च ।' वै० सू० १।२।६

'अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः। वैशे० सू० १।२।७

उद्धृत सूत्रों के सावधानी से अध्ययन से 'बुद्ध्यपेक्षम्' पद का सूत्रकारीय अभिप्राय स्पष्ट हो जाएगा। केवल विच्छिन्न एक पद के बल पर वैशेषिकमत के अनुसार सामान्य आदि पदार्थों को बौद्ध पदार्थ कहना युक्तियुक्त नहीं हैं।

विशेषतया सूत्रकार गुणत्व, सत्ता आदि सामान्यों को चक्षुरिन्द्रियग्राह्य कहते हुए सामान्य आदि पदार्थों को बौद्ध दार्शनिकों के तुल्य ही बुद्धिरूप अथवा विकल्परूप किस प्रकार से कह सकते थे। जो वस्तु (पदार्थ) चक्षु अथवा त्वगिन्द्रिय रूप बहिरिन्द्रिय द्वारा लौकिकप्रत्यक्ष का विषय हो वह कभी बुद्धिरूप या विकल्परूप नहीं हो सकता है। वैशेषिक मत में बुद्धि को मनोमात्रग्राह्य कहा गया है। चक्षु अथवा त्वगिन्द्रिय से बुद्धि का ग्रहण होता है यह कभी वैशेषिक सिद्धान्त हो नहीं सकता है। अतः सत्ता आदि सामान्य का चक्षुरादि बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व मानने वाले वैशेषिकों के सिद्धान्त में उन सामान्य आदि को बुद्धि के अन्तर्गत आन्तर वस्तु किस प्रकार से कहा जा सकता है। चक्षुरादि इन्द्रिय ग्राह्य वस्तु को भी यदि आन्तर वस्तु (बुद्धिरूप) स्वीकार किया जाए तो घट पट भी आन्तर वस्तु स्वीकृत हो सकते हैं। बाह्य पदार्थ के अस्तित्व को मानने वाले कोई भी इस प्रकार अपसिद्धान्त का समर्थन या प्रश्रय नहीं देंगे। बौद्ध दार्शनिक लोग सामान्य का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार नहीं करते इसीलिए उनके लिये सामान्य को विकल्पात्मक कहना सम्भव हुआ है। विज्ञानवादियों से भिन्न बौद्ध आचार्योंने सामान्य को आन्तरवस्तुरूप स्वीकार नहीं किया है। बाह्यास्तित्ववादी दार्शनिकों में किसी ने भी चाक्षुषादि प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु को आन्तर अथवा विकल्पात्मक नहीं कहा है। अतः बाह्यास्तित्ववादी वैशेषिकों के लिए सामान्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष मानते हुए उसको आन्तरवस्तु या विकल्पात्मक कहना किस प्रकार से सम्भव है? सामान्य के तुल्य ही विशेष तथा समवाय का बाह्यास्तित्व को भी समझना है।

अकार्यत्वमनादित्वम्। कथमिति चेत्। स्वरूपव्याघातात्। सामान्यस्य हि कार्यत्वे व्यक्तिरेव समवायिकारणं स्यात्। तथा च तदुत्पत्तिविनाशयोर्जात्युत्पत्तिविनाशे प्रतिव्यक्तिभिन्नं सत् सामान्यरूपतां जह्यात्।

अभेदे तु व्यक्तेः पूर्वमपि सत्त्वान्न तत्कारणकं स्यात्

एवं पूर्वपूर्वतरपूर्वतमादिव्यक्तिभ्योऽपि प्राक् सत्त्वादनादित्वं सामान्यस्य; अन्यथा स्वरूपव्याघात इति।

नित्यद्रव्याणाञ्च कदाचिद् विशेषाभावे व्यावृत्तिरपि निवर्त्तेत। तथाच द्रव्यसङ्करः स्यात्। नच स्वभावसाङ्कर्ये पुनरसाङ्कर्यं स्वभावपरावृत्तिप्रसङ्गात्।

ततः सर्वदैवासङ्कीर्णत्वात् सर्वदैव विशिष्टानीत्यनादय एव विशेषाः।

समवायोऽपि निःसमवायः कथं समवायिकारणं विना भवेत् भवन् वा कथं न कार्यान्तरमर्यादामतिक्रामेत्। कथञ्चोत्पन्नोऽपि विनश्येत्। तथा च कथमुत्पद्येतापि। भावस्याविनाशिनोऽनुत्पत्तेः। समवायान्तराभ्युपगमे च कथमनवस्था नापादयेत्। कथं वा पश्चादुत्पद्यमानः संयोगलक्षणप्राप्तौ स्वभावं न जह्यात्। अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिरिति हि तत्। नित्यसम्बन्धिषु तथानभ्युपगमाच्चेति।

तस्मात् सुष्ठूक्तं सामान्यादीनां त्रयाणामकार्यत्वमिति।

[अकार्यत्व शब्द से अनादित्व समझना होगा : क्यों इस प्रकार (अर्थात् सामान्यादि तीन पदार्थ अकार्य या अनादि) होगा ? अन्यथा (अकार्यत्व का अनादित्वरूप अर्थ स्वीकार न करने पर) उन (सामान्यादि) का स्वरूप ही व्याहत होगा। यदि सामान्य को कार्य कहा जाए तब व्यक्ति (अर्थात् उस सामान्य का आश्रयभूत व्यक्ति) उसका समवायि कारण होगा। फलतः व्यक्ति की उत्पत्ति तथा विनाश से जातिकी भी उत्पत्ति तथा विनाश होता रहेगा। इस स्थिति में सामान्य भी व्यक्ति के भेदवश भिन्न होकर (अपनी) सामान्यरूपता को त्याग करेगा।

यदि (व्यक्तियों के भिन्न होने पर भी समुदायव्यक्तिगत सामान्य को अभिन्न (एक) समझा जाए तब किसी व्यक्तिविशेष के पूर्व भी तद्गत सामान्य की वर्त्तमानता के कारण वह (सामान्य) व्यक्तिकारणक (अर्थात् अपने आश्रयभूत व्यक्ति का कार्य) नहीं होगा।

इस स्थिति में (अर्थात् जाति अभिन्न होने पर) पूर्व, पूर्वतर, पूर्वतम आदि व्यक्तियों से भी तदाश्रित जातिको पूर्ववर्त्ती कहना पड़ेगा। इसीलिए सामान्य की अनादिता ही सिद्धान्तित हुआ है। अन्यथा उसका स्वरूप ही व्याहत हो जाता है।

(सामान्य के तुल्य ही विशेष को भी अकार्य अर्थात् अनादि कहना पड़ेगा। वह (विशेष) अनादि न होने से किसी काल में विशेष का अभाव स्वीकार करना पड़ेगा। (ऐसा होने पर) नित्यद्रव्यों में भी किसी समय विशेष का अभाव को स्वीकार करना पड़ेगा। इस स्थिति में उस (विशेष के अभाव) काल में उन (नित्यद्रव्यों) के (परस्पर) व्यावृत्ति अर्थात् भेद नहीं रहेगा। उन में परस्पर भेद न रहने के कारण नित्यद्रव्य समूह परस्पर सङ्कीर्ण अर्थात् मिश्रित हो जाएंगे। इस प्रकार सङ्कीर्णस्वभाव के होने पर (विशेष के उत्पन्न होने के) पश्चात् काल में भी विशेष के द्वारा उनकी असङ्कीर्णता अर्थात् भेद व्यवस्थापित न हो सकेगा। जो परस्पर सङ्कीर्ण हैं (अर्थात् एक दूसरे से मिश्रित हो चुके हैं) पुन: किसी विशेषकाल में उनका परस्पर भेद स्वीकृत होने पर द्रव्य के स्वभाव में ही परिवर्त्तन की प्रसक्ति अर्थात् सम्भावना की आपत्ति होगी। इसीलिए नित्यद्रव्यों को सर्वदा ही असङ्कीर्ण होना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये नित्यद्रव्यों को सर्वकाल (भूत भविष्य तथा वर्त्तमान) में ही विशिष्ट अर्थात् विशेषयुक्त होना भी आवश्यक है।

फलत: विशेषों की अनादिता भी सिद्ध हो जाता है।

(समवाय को भी अकार्य ही कहना पड़ेगा। क्यों कि) समवाय भी समवायरहित (अर्थात् स्वय समवायसम्बन्ध का प्रतियोगी अथवा अनुयोगी नहीं होता) है। अत: समवायिकारण के न रहने से वह (समवाय) किस प्रकार से कार्य होगा। यदि वैसा हो (अर्थात् यदि समवाय समवायिकारण के बिना ही उत्पन्न हो) तब वह क्यों न अन्य कार्यों की मर्यादा को लङ्घन करेगा ? (अर्थात् वह अन्य भावकार्यो की मर्यादा को अवश्य ही लङ्घन करेगा)। और क्यों (किस कारण से) उत्पन्न होकर विनष्ट होगा (अर्थात् विना समवायिकारण के समवाय की उत्पत्ति को स्वीकार करने पर उत्पन्न होने पर भी समवाय का नाश की सम्भावना नहीं रहेगी)। तब (अर्थात् समवाय का नाश न होने से) उसको भावकार्य होने से उत्पन्न भी किस प्रकार से कहा जा सकेगा। क्योंकि अविनाशी (नाश न होने वाला) भाववस्तु की उत्पत्ति देखी नहीं जाती है। यदि समवाय को अन्य समवाय का सम्बन्धी (अर्थात् प्रतियोगी) स्वीकार किया जाए तब अनवस्था की आपत्ति (सम्भावना) क्यों न होगी (अर्थात् उस स्थिति में अवश्य ही अनवस्था आपतित होगी)। वैसा होने पर (अर्थात् अनवस्था दोषको स्वीकार कर समवाय को अन्य समवाय का प्रतियोगी तथा अपने समवायिकारण से उत्पन्न है स्वीकार करने पर) वह (समवाय) स्वयं (अपने समवायिकारण के) पश्चात् उत्पन्न होने से संयोग का स्वरूप को प्राप्त होकर क्यों न अपना स्वरूप को त्याग करेगा। क्योंकि अप्राप्ति के

पश्चात् जो प्राप्ति होती है वही वह (अर्थात् संयोग) है। दोनों सम्बन्धियों की नित्यता के स्थलों में सम्बन्ध की उत्पत्ति अस्वीकृत ही है। अत: सामान्यादि तीनों के जो अकार्यत्व कहा गया है वह सुसङ्गत है।]

मूलकारने सामान्यादि तीन पदार्थ का अकार्यत्व भी साधर्म्य है कहा है। किरणावलीकारने अकार्यत्व की व्याख्या अनादित्व की है। अकार्यत्व की व्याख्या इस प्रकार क्यों किया गया है यह वर्णन करते हुए प्रकाशकारने कहा है कि अकार्यत्व-पद मे बहुव्रीहि समास की शङ्का न हो एतदर्थ किरणावली में इस पदका अनादित्व अर्थ किया गया है।[१] 'नास्ति कार्यं येषां तेषां भाव:' — इस व्युत्पत्ति से भी अकार्यत्वपद की निष्पत्ति हो सकती है। उक्त स्थिति में कारणत्वाभाव ही अकार्यत्व पद का अर्थ होता है। सत्ता आदि सामान्य में कारणत्व का सामान्याभाव रह नहीं सकता है। क्यों कि इन्द्रियों के ग्रहणयोग्य आश्रय में सत्ता जातिका प्रत्यक्षज्ञान वैशेषिकसिद्धान्त में स्वीकृत है। लौकिकप्रत्यक्ष में विषय की कारणता भी स्वीकृत है। अतः चाक्षुषादि प्रत्यक्ष के बिषय होने के कारण उन प्रत्यक्षों में सत्ता की कारणता भी रहेगी। फलतः बहुव्रीहिसमास स्वीकृत होने पर अकार्यत्वरूप साधर्म्म की अव्याप्ति होगी। इसी लिए किरणावलीकारने प्रस्तुत स्थल में अनादित्व अर्थ है कहा है।

यहाँ प्रागभाव का अप्रतियोगित्व ही अनादित्व है। यद्यपि सांख्यमत में किसी वस्तु की शक्ति अर्थात् सूक्ष्मरूप या कारणरूप को उस वस्तुका आदि कहा जाता है, परन्तु न्यायवैशेषिक मतानुसार वस्तु का सादित्व उस प्रकार से स्वीकृत नहीं है। क्योंकि न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय असत्कार्यवादी है। उस मतमें सूक्ष्मरूप से कार्य का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है। उस मतमें कार्य का प्रागभाव ही उस कार्य का आदि कहा जाता है। अतः जिस का प्रागभाव न हो उसे ही अनादि कहते हैं। अर्थात् प्रागभाव का अप्रतियोगित्व ही अनादित्व हुआ। सामान्यादि तीन पदार्थ के किसी का भी प्रागभाव स्वीकृत नहीं है। अतः प्रागभावाप्रतियोगित्व-रूप अनादित्व इनका साधर्म्य होगा।

यहाँ शङ्का होगी कि आत्मा आदि नित्यद्रव्य तथा नित्यगुण भी अनादि अर्थात् प्रागभावाप्रतियोगी होने से इस साधर्म्य की अतिव्याप्ति नित्यद्रव्य तथा नित्यगुणों के द्रव्यत्व तथा गुणत्व में होगी। इसी के समाधान में प्रकाशकारने सादि (अर्थात् प्रागभाव के प्रतियोगी) वस्तुओं में अनाश्रित पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व को ही अकार्यत्व पद का अर्थ कहा है। सादि अर्थात् अनित्यवस्तुओं में अनाश्रित पदार्थविभाजकोपाधि केवल सामान्यत्व विशेषत्व तथा समवायत्व है। क्योंकि द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व सादि द्रव्य, गुण तथा कर्म में आश्रित ही होता है। अतः किसी नित्यद्रव्य अथवा नित्यगुणों में द्रव्यत्व तथा

१. अकार्यपदे बहुव्रीहिनिरासायाह अनादित्वमिति। प्रकाश, पृ० १४६

गुणत्व के रहने पर भी वे सादि द्रव्य तथा गुणों में रहने के कारण सादिवस्तु में अनाश्रित पदार्थविभाजकोपाधिआं नहीं हैं। कर्म सदा सादि होने से कर्मत्व भी सादिवस्तु में आश्रित पदार्थविभाजकोपाधि है। सामान्य, विशेष तथा समवाय को वैशेषिक मत में नित्य अर्थात् अनादि सिद्ध किया गया है। तथा सामान्यत्व, विशेषत्व तथा समवायत्व कदापि यथाक्रम सामान्य, विशेष तथा समवाय को छोड़कर अन्य कहीं न रहने से वे सब सादिवस्तु में अनाश्रित पदार्थविभाजकोपाधिआं हैं। अतः शङ्कित अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति नहीं है

यह प्रश्न हो सकता है कि प्रकृत स्थल में सादिवस्तु में अनाश्रित धर्मवत्त्व को त्यागकर सादिवस्तु में अनाश्रित पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व को अनादित्वरूप अकार्यत्व का अर्थ क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि सादिवस्तु में अनाश्रित धर्म शब्द से आत्मत्व आदि नित्यद्रव्यगत धर्म भी प्राप्त हो सकेंगे। फलतः आत्मत्व आदि धर्मविशिष्ट होने से आत्मा आदि नित्यद्रव्य में अव्याप्ति हो सकेगी। 'पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व' का निवेश रहने से आत्मत्व आदि द्रव्यविभाजक या गुणविभाजकोपाधिओं को लक्षण समन्वय के लिए लिया नहीं जा सकेगा। क्योंकि वे पदार्थविभाजकोपाधि ही नहीं हैं। अतः अव्याप्ति न होगी। अनादित्व के तुल्य ही अकारणत्व भी अकार्यत्व का अर्थ हो सकता है। उस पक्ष में भी आत्मादि नित्यद्रव्यों में अतिव्याप्ति बारण के लिये अकारणत्व का स्वरूप भी अपने कारण मे अनाश्रित पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व रूप कहना पड़ेगा।[१]

अकार्यत्व की व्याख्या में व्योमवती में मुद्रित पाठ "कार्याणामभावोऽकार्यत्वं स्वकारण सत्तासम्बन्धाभावः" [२] है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से अकार्यत्व पद की यह व्युत्पत्ति कथमपि हो नहीं सकती है। हम व्योमशिवाचार्य को संस्कृत व्याकरण से अनभिज्ञ नहीं समझते हैं। हम यथामुद्रित पाठको लिपिकरप्रमाद समझते हैं। वास्तव में 'कार्याणां भावः कार्यत्वं तदभावोऽकार्यत्वं' स्वकारणसत्तासम्बन्धाभावः यह पाठ था यह हम अनुमान करते हैं। इसी प्रकार अग्रिम साधर्म्य 'अकारणत्व' की व्युत्पत्ति में भी 'कारणानां भावोऽ-कारणत्वम्' मुद्रित पाठ है जो पुनः व्याकरण की दृष्टि से समर्थनयोग्य नहीं है। यहाँ भी हमारा अनुमान है कि "कारणानां भावः कारणत्वं तदभावोऽकारणत्वम्" यह यथार्थ पाठ लिपिकर प्रमाद से विकृत हुआ है।

व्योमवतीकारने अकार्यत्व की व्याख्या में 'स्वकारणसत्तासम्बन्धाभाव' को अकार्यत्व कहा है। निज-कारणावच्छेदेन जो वस्तु सत्ता से सम्बद्ध हो उसे हम कार्य

१. तच्च यद्यप्यकारणत्वं प्रागभावाप्रतियोगित्वं वा द्वयमपि नित्यद्रव्यादावतिव्याप्तं तथा-प्यादिमद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वे तात्पर्यम्। प्रकाश पृ० १४९

२. व्योमवती पृ० १४२

कहते हैं। निरवच्छिन्न सत्ता से सम्बन्ध नित्य आत्मादि द्रव्यों का भी रहता है। अतः समवाय सम्बन्ध से अपने समवायिकारण में रहते हुए सत्ता से सम्बन्ध ही कार्यत्व कहना पड़ता है। फलतः कार्यत्व का यह अभिनव परिष्कार होते हुए इस प्रकार कार्यत्व का अभावरूप अकार्यत्व यदि सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य हो तो पुनः आत्मादि नित्य द्रव्य में उक्त प्रकार अकार्यत्व अतिव्याप्त भी हो जाएगा। उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ प्रकाशकारकी रीति का ही अनुसरण करना पड़ेगा।

सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य अकार्यत्व का अर्थ आलोचित हुआ। अब उस साधर्म्य के विषय में युक्ति भी प्रदर्शित हो रही है। यदि सामान्यादि तीन पदार्थ का अकार्यत्व स्वीकृत न हुआ तो उनकी स्वरूपहानि होगी। हम समग्र पदार्थों को कार्य तथा अकार्य यह दो विभाग में ही विभक्त कर सकते हैं। पदार्थमात्र ही या तो कार्य होगा अथवा अकार्य। इससे तृतीय कोई प्रकार नहीं हो सकता है। यदि सामान्यादि तीन पदार्थ अकार्य न हों तो वे कार्यकोटि में ही रहेंगे। वह तीन पदार्थ भाववस्तु है। यह हम कह चुके हैं। भाववस्तु जो कार्यकोटि में है उनका अवश्य ही कोई न कोई समवायिकारण होगा। दृष्टान्तरूप से घटत्वसामान्य को लिया जाए तो प्रत्येक घटव्यक्ति ही उस घटत्व का समवायि कारण होगा। यदि यावत्-घटव्यक्ति को उस घटत्व सामान्य का समवायिकारण कहा जाए तो अब तक घटत्व उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। क्योंकि अभी तक भविष्य घटव्यक्तिओं की उत्पत्ति न होने से समवायिकारण के न रहने से कार्य भी अनुत्पन्न ही रह जाएगा। इस अनुपपत्ति के वारणार्थ यदि एक एक घटव्यक्ति को ही घटत्वसामान्य का समवायिकारण माना जाए तो घटव्यक्ति के भेद के अनुसार ही घटत्वसामान्य भी प्रति घटव्यक्ति में विश्रान्त होने से उसकी सामान्यरूपता ही नष्ट हो जाएगा। प्रत्येक घटव्यक्ति के कार्यभूत भिन्न भिन्न घटत्व को निखिल घटव्यक्तिओं का समानधर्म कहना असम्भव हो जाएगा। अतः सामान्य कहते हुए उसको कार्य कहना सम्भव नहीं होगा।

सामान्य का कार्यत्व स्वीकार करने से उसके समवायिकारण तथा उसका आश्रयभूत घटव्यक्ति की उत्पत्ति तथा विनाश के साथ ही उस घटव्यक्ति के कार्य घटत्व की भी उत्पत्ति तथा विनाश होगा। फलतः समस्त घटों में अनुगत (एक प्रकार) बुद्धि का नियामक वह उत्पत्ति तथा विनाशशील एक भी घटत्वव्यक्ति नहीं हो सकेगा। इस लिए सामान्य की सामान्यरूपता की सम्भावना नहीं होगी। इस प्रकार से सामान्य का स्वरूप व्याघात होने की शङ्का होगी। इसी लिए सामान्य को कार्य कहना भी सम्भव नहीं है। फलतः अकार्यत्व ही सामान्यादि तीनों का साधर्म्य है। विशेष को भी कार्य स्वीकार करने पर पूर्वोक्त रीति से उसका समवायिकारण नित्यद्रव्य ही होंगे। समवायिकारणों

में विशेषों की उत्पत्ति के पूर्व उन नित्यद्रव्यों के प्रतिव्यक्ति का स्वरूप का वैलक्षण्य भी न रहेगा। फलतः वे एक सङ्कीर्ण (मिश्रित) वस्तु हो जाएंगे। विशेष की उपस्थिति के कारण ही नित्यद्रव्यो में परस्पर स्वरूप का वैलक्षण्य सिद्ध है। वह विशेष यदि कार्य होगा तो उसके द्वारा नित्यद्रव्यों के प्रतिव्यक्ति का वैल ण्य की उपपत्ति नहीं हो सकती है। इससे विशेष के भी स्वरूप का व्याघात होगा। क्योंकि नित्यद्रव्यों के प्रतिव्यक्तिगत विलक्षणता की उपपत्ति ही विशेष का स्वरुप है। समवाय को कार्य स्वीकार करने पर भी तुल्य रीति से उसका समवायिकारण भी स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः समवाय को समवायसम्बन्ध का प्रतियोगी भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार से समवाय का भी स्वरूप व्याहत होता है। क्योंकि समवाय समवायसम्बन्ध का प्रतियोगी या अनुयोगी नहीं होता है यह न्यायवैशेषिक सिद्धान्त है।

भिन्न भिन्न घटव्यक्ति से उत्पन्न होते हुए घटत्व सामान्य को यदि अभिन्न मान लिया जाए तब सामान्य का स्वरूपव्याघात न होगा। इस प्रकार आशङ्कावादियों के प्रति किरणावलीकारने 'अभेदे तु' आदि ग्रन्थपंक्ति द्वारा कहा है कि भिन्न भिन्न व्यक्ति से उत्पन्न सामान्यों के परस्पर अभेद कल्पित नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि वर्त्तमान घटव्यक्ति से उत्पन्न घटत्व अतीत घट से उत्पन्न घटत्व के साथ अभिन्न हो तो यह भी मानना पड़ेगा कि वर्त्तमान घटव्यक्ति के उत्पत्ति के पूर्व भी वह वर्तमानघट से उत्पन्न घटत्व वर्त्तमान था। क्योंकि अतीत तथा वर्त्तमान घटव्यक्तिद्वय से उत्पन्न घटत्वों को अभिन्न कहा जा रहा है। यदि वर्त्तमान घटव्यक्ति से उत्पन्न घटत्व की स्थिति वर्तमान घटव्यक्ति से पूर्व भी स्वीकार करना पड़ा तो वर्त्तमान घटव्यक्ति उस घटत्व का समवायिकारण भी न होगा। क्योंकि वर्त्तमान घटव्यक्ति में उस घटत्व के अनन्यथासिद्ध पूर्ववर्तित्वरूप कारणसामान्यलक्षण ही नहीं बनेगा। जो पूर्ववर्त्ती नहीं उसे कारण कहना कथमपि सम्भव नहीं है। अतः सामान्य की उत्पत्ति मानते हुए उनका अभेद स्वीकार कथमपि सम्भव नहीं है। फलतः सामान्य यदि कार्य है तब उनमें व्यक्तिभेद भी अवश्य होगा। फलतः किसी भी सामान्य से समानाकार प्रतीति नहीं होगी। सामान्य की सामान्यरूपता ही व्याहत होगा।

इसी प्रकार विशेष को कार्य मानने पर विशेष की अनुत्पत्ति काल में नित्यद्रव्यों में परस्पर भेद अनुपपन्न होगा। उस स्थिति में नित्यद्रव्यों में परस्पर साङ्कर्य होगा। इस साङ्कर्य को विशेष की उत्पत्ति के पश्चाद् भी दूर करने का कोई उपाय न होगा। क्योंकि पदार्थ अपना स्वभाव को त्याग नहीं कर सकता है। इसीलिए विशेष को भी अनादि कहना परमावश्यक है।

अकारणत्वमनात्मधर्मेतरकार्यपेक्षया।

[(यहां) अकारणत्व शब्द से आत्मधर्मों (गुणों) से भिन्न कार्यों की अपेक्षया अकारणत्व ही समझना है।]

अकारणत्व को सामान्य विशेष तथा समवाय का साधर्म्य कहा गया। अकारणत्व कारणत्व का अत्यन्ताभाव है। सामान्यादि तीन पदार्थ किसी का कारण नहीं होते हैं यही इस साधर्म्य से समझा जाता है, परन्तु वैशेषिक सिद्धान्त में सामान्य को अनुगतबुद्धि का, विशेष को व्यावृत्तबुद्धि का, तथा समवाय को 'इह' बुद्धि का कारण स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार यदि प्रत्यक्षमात्र के अर्थात् लौकिक तथा अलौकिक उभय प्रकार प्रत्यक्ष के प्रति विषय की कारणता स्वीकृत होता है तब योगजप्रत्यक्ष में भी गुरुत्वत्व आदि अतीन्द्रिय जातियाँ, विशेष तथा समवाय को भी विषय रूप से कारण स्वीकार करना पड़ेगा। अतः अकारणत्व को सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य किस प्रकार से कहा जाऐगा? इन्हीं आशङ्काओं को दृष्टिगत रखते हुए किरणावलीकारने अकारणत्व की व्याख्या में अकारणत्व का अर्थसङ्कोच कर अनात्मधर्मों की अपेक्षया कारणत्वाभाव ही अकारणत्व है कहा है। इससे पूर्वोक्त शङ्काओं का निराश हो जाएगा। क्योंकि आत्मा के धर्म (ज्ञान) से भिन्न किसी जन्यवस्तु का कारण सामान्य आदि तीन पदार्थ नहीं होते हैं। फलतः आत्मा में अनाश्रित जन्यपदार्थ-निरूपित कारणत्व का सामान्याभाव सामान्यादि तीन पदार्थ में रहने के कारण अकारणत्व उनका साधर्म्य हो सकता है।

व्योमवतीकारने अकारणत्व का अर्थ समवायि तथा असमवायिकारणत्व का अभाव कहा है।[१] सामान्यादि पदार्थों में किसी का समवायिकारणत्व अथवा असमवायिकारणत्व न रहने से उक्त प्रकार के अकारणत्व सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य हो सकता है। यदि समवायिकारणत्व तथा असमयायिकारणत्व इन उभय के अभाव को 'समवाय्यसमवायिकारणत्वाभाव' कहा जाएगा तो तादृश उभयाभाव द्रव्य तथा गुण में अतिव्याप्त होगा। क्योंकि तादृशोभयाभाव द्रव्य में समवायिकारणत्व के रहने पर भी समवाय्यसमवायि उभयकारणत्व के न रहने से वहां उभयाभाव बन जाएगा। 'एक सत्त्वोऽपि द्वयं नास्ति' अर्थात् एक के रहने पर भी दो नहीं रहता। इसी प्रकार गुणों में असमवायिकारणत्व के रहने पर भी समवायि तथा असमवायि उभयकारणता वहाँ न होने से उभयाभाव बनेगा। इसलिए अकारणत्व को समवाय्यसमवाय्यन्यतरकारणत्वाभावरूप स्वीकार करना पड़ेगा। द्रव्य में समवायिकारणत्त्व रहने पर भी असमवायिकारणत्व के न रहने से अन्यतराभाव बन जाता है। तुल्यरीति से गुण में असमवायिकारणत्व रहने पर भी समवायिकारणत्व के न रहने से अन्यतराभाव बन जाएगा। अतिव्याप्ति न होगी। इसी प्रकार निमित्तेतरकारणत्वाभाव को भी अकारणत्व कहा जा सकता है। क्योंकि सामान्य आदि तीन पदार्थ निमित्त कारण ही हो सकते हैं। उनमें निमित्तेतर समवायिकारणत्व तथा असमवायिकारणत्व के न रहने से अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति न होगी। व्योमवतीकार का अभिप्राय भी इसी प्रकार के निर्वचन से है

१. तथा कारणानामभावोऽकारणत्वं समवाय्यसमवायिकारणत्वाभावः। निमित्तकारणत्वञ्च ज्ञानोत्पत्ताविष्यत एव। व्योम.पृ० १४३ (पृ० २६१ पैरा ३ यहां शुद्धपाठ के लिए देखें)।

प्रतीत होता है। उन्होंने अनुगतबुद्धि के प्रति सामान्य को, व्यावृत्तबुद्धि के प्रति विशेष को तथा 'इह' बुद्धि के प्रति समवाय को निमित्तकारण ही कहा है।

हमारे द्वारा प्रदर्शित व्याख्या से व्योमवतीकार की व्याख्या में कोई आर्थिक (अर्थगत) वैषम्य नहीं है। इन दोनों व्याख्याओं में वाचनभङ्गी मात्र की ही विषमता है।

असामान्यविशेषवत्त्वम् अपरसामान्यविरहः। स च सामान्येष्वनवस्थानात्।

[असामान्यविशेषवत्त्व का अर्थ अपर (अर्थात् सत्ताभिन्न) सामान्य का अभाव है। अनवस्था की सम्भावना होगी इसीलिए उस (अर्थात् अपरसामान्य) के अभाव को सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है।]

अकार्यत्व तथा अकारणत्व के तुल्य ही असामान्यविशेषवत्त्व अर्थात् अपरसामान्याभाव को भी सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है। सत्ता जाति (पर सामान्य) निखिल पदार्थों में साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से रहती है। 'द्रव्यं सत्' इस प्रतीति के तुल्य ही 'सामान्यं सत्' यह प्रतीति भी न्यायवैशेषिक मत में स्वीकृत है। अतः सत्ता का अभाव किसी भाव पदार्थ का साधर्म्य नहीं हो सकता है। इसीलिए अपरसामान्य अर्थात् सत्ता से भिन्न द्रव्यत्व गुणत्वादि के अभाव को साधर्म्य कहा गया है। सामान्यादि तीन पदार्थों में कोई अपरसामान्य नहीं रहता है। यहां यह शङ्का हो सकती है कि घटत्व, पटत्व, रूपत्व, रसत्व, उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व आदि असंख्य अपरसामान्यों में अपरसामान्यत्व बुद्धि ही अपर सामान्यों में भी अनुगतप्रतीति के कारण एक सामान्य का होना युक्तिसिद्ध प्रतीत होता है। यदि उक्त प्रकार के सामान्य को स्वीकार किया जाता है तथा अपरसामान्य तथा परसामान्य की अनुगतप्रतीति के बल पर पर तथा अपरसामान्य में भी सामान्यत्वरूप एक जाति या सामान्य का रहना भी युक्तिसिद्ध प्रतीत होता हो तब इस स्थिति में सामान्य को 'असामान्यविशेषवत्' कैसे निश्चय किया जाएगा ? इस प्रकार की शङ्का को दृष्टिगत रखकर किरणावलीकार का विचार यह है कि यदि यह सम्भावना को स्वीकार किया जाए तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि पूर्वोक्त रूप से यदि जातियों में जाति स्वीकृत होगी तब यह जातिधारा का कहीं विश्राम न होगा।

परन्तु सूक्ष्म विचार से यह प्रतीत होगा कि इस प्रकार की अनवस्था दोष की सम्भावना नहीं है। अनवस्था एक प्रकार का तर्क है। जिसमें एक आपादक की शङ्का के कारण उससे सम्बन्धित आपाद्य की सिद्धि की आशङ्का की जाती है। न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में आपाद्य यदि अप्रसिद्ध हो तो आपत्ति ही नहीं हो सकती है। अलीक प्रतियोगिक अभाव के तुल्य ही अप्रसिद्ध आपाद्य की आपत्ति भी स्वीकृत नहीं है। ऊपर की आपत्ति के आपाद्य तथा आपादक की परीक्षा करने पर प्रतीत होगा कि उक्त शङ्काओं में जातिमत्त्व को आपादक मानकर सम्प्र-

दायसिद्ध घटत्व, पटत्व आदि जातियों के परस्पर भेद रहते हुए उनमें 'सामान्यम्' 'सामान्यम्' इस प्रकार अनुगत बुद्धि होती हैं। अतः इन अनुगतबुद्धिओं अर्थात् प्रत्ययानुवृत्ति के कारण ही उन घटत्व आदि जातियों में सामान्यत्वरुप एक विशेष जाति को आपाद्य अर्थात् आपत्ति का विषय माना गया है। परन्तु आपादक तथा आपाद्य में व्याप्तिरुप सम्बन्ध का स्वरूप 'जो जातिमान् है वह जातिमान होगा' इस प्रकार हो नहीं सकता है। क्यों कि उस स्थिति में व्याप्य तथा व्यापक में भेद न रहेगा। अतः 'जो जातिमान् है वह जात्यन्तरवान् होगा' इस प्रकार व्याप्तिस्वरूप स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा स्वीकर करने के कारण ही न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में जो एक जाति का आश्रय होता है उसमें दूसरी जाति भी रहती है। घटत्व जाति जहां है वहां पृथिवीत्व, द्रव्यत्व तथा सत्ता जाति रहती ही है। यदि न्यायवैशेषिकशास्त्र स्वीकृत जातिओं में से किसी एक विशेष जाति को जात्यन्तर के रूप से ग्रहण कर उसी को सामान्यत्व या जातित्वरूप आपादित किया गया, तब प्रसिद्ध जातिओं में किसी जाति की जातित्व आपादित किए जाने से उस आपादन द्वारा नयी कोई जाति सिद्ध नहीं होता है। अतः अनवस्था की शङ्का अमूलक है।[१] यदि जात्यन्तर शब्द से कोई अभिनव जाति की कल्पना की जाएगी तब वह अभिनव जाति किसी प्रमाण से सिद्ध न किए जाने से आपत्ति का विषय (आपाद्य) नहीं हो सकता है। यह भी विचारणीय है कि जातित्वरूप जाति को उक्त आपत्ति में पक्ष माना गया है वह भी प्रमाण सिद्ध न होने से वह आपत्ति में आश्रय (पक्ष) की असिद्धि दोष भी होगा। अतः यह कहा नहीं जा सकता कि अनवस्था की शङ्का के कारण जाति में जाति को स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष की सम्भावना को दृष्टिगत रखकर प्रकाशकारने किरणावली की पंक्ति के 'स च सामान्येष्वनवस्थानात्' इस अंश में जो अनवस्था पद है वह सामान्यतया शास्त्र में जिस अर्थ में अनवस्था पद का प्रयोग होता है उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है कहा है। यहां अनवस्था शब्द वैशेषिक शास्त्र में द्रव्य, गुण तथा कर्म से पृथक् पदार्थ रूप से सामान्य को जो स्वीकार किया जाता है उस व्यवस्था का व्याघात रूप अर्थ में प्रयुक्त है स्वीकार किया है। इस का अभिप्राय यह है कि 'जो सामान्यवान् अर्थात् सामान्य का आश्रय है वह द्रव्य, गुण तथा कर्म यह तीन पदार्थ का ही अन्यतम होता है यह वैशेषिकसिद्धान्त है। इस स्थिति में यदि सामान्य को अन्य सामान्य का आश्रय कहा जाता है तब वह सामान्य अवश्य ही उन त्रिविध पदार्थ (द्रव्य,

---

१. ननु सामान्ये सामान्यस्वीकारेऽपि तत्र सामान्यास्वीकारे कथमनवस्था ? न च सामान्यं यदि सामान्यवत् स्यात् तदपि सामान्यं सामान्यवत् स्यादिति सामान्यपरम्परा प्रसक्त्याऽनवस्थेति वाच्यम्। सामान्यस्य सामान्यवत्तया सामान्यसामान्यवत्त्वेन व्याप्त्यभावादापादकस्य क्लृप्तसामान्यनिष्ठत्वेनापाद्यस्य कल्पनीयसामान्यनिष्ठत्वेन वैयधिकरण्याच्च। तदपि सामान्यमित्यनेन सामान्यवृत्तिसामान्यग्रहणे तत् सिद्ध्यसिद्धिभ्यां दोषः। सिद्धावपसिद्धान्तोऽसिद्धौ चाश्रयासिद्धिरिति। सेतु पृ० १३६–७

गुण अथवा कर्म) का अन्यतम होगा । इस से उक्त त्रिविध पदार्थ से वहिर्भूत पृथक् पदार्थ रूप से सामान्य की सिद्धि दुर्लभ होने से वैशेषिक शास्त्रीय व्यवस्था का व्याघात होगा । इसी व्यवस्था का विघात ही अर्थात् अव्यवस्था को ही अनवस्था कही गयी है ।

किसी किसीने किरणावली में प्रयुक्त अनवस्था पद को प्रसिद्ध अर्थ में स्वीकार करके किरणावली के प्रस्तुत प्रकरण की व्याख्या में कहा है कि सामान्य में सामान्य को स्वीकार करने पर वह सामान्यत्व को सामान्यवदाश्रित भी मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में वह सामान्यत्वरूप-धर्म फलतः ऐसी भावविभाजकोपाधि होगी जो सामान्यवान् पदार्थ में रहेगा । यहां यह भी स्मरण रखना होगा कि वैशेषिक सिद्धान्त में यह सिद्ध किया जा चुका है कि सामान्य के आश्रय में आश्रित भावविभाजकोपाधि मात्र ही सामान्य का व्याप्य होता है । यथा सामान्य का आश्रय द्रव्य, गुण तथा कर्म है । सामान्य के आश्रयभूत द्रव्य, गुण तथा कर्म में द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व रूप भावविभाजकोपाधियां हैं । यह तीनों उपाधियां सामान्य अर्थात् सत्ता का व्याप्य होती हैं । सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहती है । परन्तु द्रव्यत्व, गुणत्व अथवा कर्मत्व यथाक्रम केवल द्रव्य, केवल गुण अथवा केवल कर्म में ही रहता है । इस लिये सामान्य के अधिकरण में आश्रित भावविभाजकोपाधिमात्र ही सत्ता सामान्य का व्याप्य हुआ है । इस स्थिति में सामान्यों में जो सामान्यत्वरूप जाति स्वीकार किया जाएगा उसमें यदि सामान्याश्रयवृत्तित्व होगी तब सत्ता के दृष्टान्त से उस सामान्यत्व में सामान्याश्रयवृत्तित्वरूप हेतु से सामान्यव्याप्यत्व का अनुमान हो सकेगा । अर्थात् 'सामान्यत्वं सामान्याभाववदवृत्ति सामान्याश्रयवृत्तित्वात् सत्तावत्' इस अनुमान द्वारा सामान्यत्व में सामान्यव्याप्यत्व का अनुमान होगा । इस प्रकार से प्रत्येक सामान्य में ही सामान्यान्तर स्वीकृत होने से फलतः अनवस्था होगी ।

हम इस व्याख्या का समर्थन नहीं कर सकते हैं । क्योंकि इस व्याख्या में सामान्यत्व का आश्रयीभूत सामान्यान्तराश्रितत्व प्रमाणित होने पर भी उस से अनवस्था प्रमाणित नहीं हुआ है । यतः इस व्याख्या में सामान्यत्व को एक सामान्य रूप से प्रमाणित नहीं किया गया है । सामान्यत्व को केवल सामान्यवदाश्रित ही कहा गया है । सामान्यवदाश्रित वस्तुमात्र ही सामान्य होगा इस प्रकार नियम नहीं हो सकता है । क्योंकि सामान्यवत् द्रव्य में आश्रित रूपादि पदार्थ का सामान्य-भिन्नत्व ही शास्त्र प्रसिद्ध है ।[1]

विशेषेष्वपि सामान्यसद्भावे गुणत्वापत्तौ पुनः सामान्यगुणेषु विशेषान्तरापेक्षायामनवस्थानादेव ।

[विशेषों में सामान्य रहने पर उन (विशेषों) का गुणत्व स्वीकार करना

---

१. सामान्यत्वं यदि सामान्यवद्वृत्तिभावविभाजकोपाधिः स्यात् सामान्यव्याप्यः स्यादिति प्रकारेणानवस्थानाह्वानमिति चेन्न । अप्रयोजकत्वात् । सेतु पृ० १३७

पड़ेगा। पुन: उन सामान्यगुणों में विशेषान्तर की अपेक्षा होगी इसी लिए अनवस्था दोष होगा।]

सामान्य के तुल्य ही विशेष भी जातिशून्य है। इसी की व्याख्या में किरणावलीकारने कहा है कि विशेष में जाति है स्वीकार करने पर वह (विशेष) गुणपदार्थ में अन्तर्भूत हो जाएगा। क्यों कि वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों में जाति का रहना स्वीकृत है। तथा विशेषों को नित्यद्रव्यों में समवायसम्बन्ध से आश्रित कहा गया है। आकाशादि नित्यद्रव्यों में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण विशेषपदार्थ द्रव्यपदार्थ में अन्तर्भूत नहीं हो सकता है। क्योंकि द्रव्य होते हुए समवायसम्बन्ध से जो आश्रित होता है वह अपने अवयव में ही रह सकता है। आत्मा अथवा आकाश किसी द्रव्य का अवयव न होने से उनमें समवाय सम्बन्ध से आश्रित 'विशेष' द्रव्य नहीं हो सकता है। तथा विशेषपदार्थ का नित्यत्व स्वीकृत होने के कारण समवायसम्बन्ध से द्रव्य में आश्रित होने पर भी द्रव्यपदार्थ में परिगणित नहीं हो सकता है। स्पन्दस्वरूप न होने के कारण विशेषपदार्थ कर्म में भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता है। फलतः उसे गुणपदार्थ में ही अन्तर्भूत होना पड़ेगा। यदि विशेषगुण में अन्तर्भूत हुआ तब वह एक विलक्षण प्रकार का गुण ही होगा। इस स्थिति में उन (विशेषों) में परस्पर व्यक्तिभेद के लिये प्रत्येक विशेषात्मक गुण में कोई विशेष स्वीकार करना पड़ेगा। विशेष में जाति का होना स्वीकृत होने से वह (द्वितीय कोटि के) विशेष भी गुण में ही अन्तर्भूत होंगे तथा वे भी विलक्षण जाति के गुण ही होंगे। इसी प्रकार से वार वार जातिविशिष्ट विशेष को एक विलक्षण प्रकार के गुण मानना तथा उनके व्यक्तिभेद के लिए पुनः उसमें अन्य विशेष मानने से अनवस्था दोष अपरिहार्य होगा। इसी लिए किरणावलीकारने विशेष में जाति का होना स्वीकार नहीं किया है।

'विशेष में जाति के होने में और भी बाधा है। जिस धर्मिग्राहक प्रमाण के बलपर विशेषपदार्थ सिद्ध है उस (धर्मिग्राहक प्रमाण) के द्वारा वह (विशेष) स्वतोव्यावृत्तरूप से ही सिद्ध हुआ है। इस स्थिति में अर्थात् विशेष के स्वतो व्यावृत्तरूप से सिद्ध होने से उसमें जाति के स्वीकृत होने पर उस जाति द्वारा भी विशेष में विजातीय भेद सिद्ध होगा। यदि अपनी जाति के कारण विशेष अन्य पदार्थ तथा अन्य विशेषव्यक्ति से भिन्न सिद्ध होगा तब विशेष का स्वतोव्यावृत्तत्व अर्थात् अपनी व्यावृत्ति के लिए अन्यानपेक्षत्व का व्याघात होगा। अतः धर्मिग्राहकप्रमाण से बाधित होने के फलस्वरूप स्वरूपहानि की आशङ्का भी विशेष में सामान्य (जाति) होने में बाधक है।[१]

---

१. विशेषस्यापि धर्मिग्राहकमानेन स्वव्यावर्तकत्वान्न दोष इति भावः। विवृति पृ० १५४। एवञ्च धर्मिग्राहकप्रमाणप्रमापितस्वव्यावर्तकत्वावगाहनशीलोऽनुगतां कथं जातिमनुमिनुयात्। सेतु पृ० १३६.

पहले कहा गया है कि वैशेषिकमत में विशेष नामका एक पृथक् पदार्थ को स्वीकार करने का कारण यह है कि जन्यद्रव्यों के परस्पर व्यक्तिभेद उनके अवयवसंयोगादिजनित विलक्षण आकार आदि से प्रमाणित होता है। परन्तु नित्य आकाश, काल, दिक् आत्मा तथा पार्थिवादि परमाणुओं में व्यक्तिभेद का जनक कोई प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि उनके अवयव न रहने के कारण उन अवयवों के संयोगादिवश उनमें व्यक्तिभेद उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः जो व्यक्तिभेद की प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति के लिए ही विशेष पदार्थ को स्वीकार किया गया है। विशेष के रहने के कारण नित्यद्रव्यों में परस्पर व्यक्तिभेद उत्पन्न होता है। अब नित्यद्रव्यों में व्यक्तिभेदजनक विशेष यदि स्वगत-भेद की उपपत्ति के लिए पुनः भेदकान्तर की अपेक्षा रखे तो उस भेदक का व्यक्तिभेद की उपपत्ति के लिए भी अन्य भेदक की आवश्यकता होगी। फलतः अनवस्था आ जाएगी। इस अनवस्थारूप बाधक प्रमाण की सहायता से विशेषपदार्थों में व्यक्तिभेद को स्वतः अर्थात् अन्यनिरपेक्ष कहा गया है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्मिग्राहकप्रमाण द्वारा स्वतोव्यावृत्त रूप से सिद्ध विशेष का स्वरूप अर्थात् स्वतोव्यावृत्तत्व की हानि होती है। इसीलिए विशेषपदार्थ में कोई सामान्य नहीं रह सकता है।[1]

समवायस्यैकत्वाच्च समवायान्तरापेक्षायामनवस्थानाच्चेति।

[समवाय केवल एक है (इसलिए उसमें सामान्य नहीं रहता) तथा समवाय में सामान्य स्वीकृत होने पर वह समवायगत सामान्य का सम्बन्धरूप से समवायान्तर (अन्य समवाय) की आवश्यकता होगी। (फलतः) अनवस्था आ जाएगी।]

प्रशस्तपादने सामान्य तथा विशेष के तुल्य ही समवाय को भी सामान्य का अनाश्रय कहा है। इसकी व्याख्या में किरणावलीकारने कहा है कि एक से अधिक समवाय न रहने से समवाय में समवायत्व नाम की जाति नहीं रह सकती है। क्योंकि सामान्य का लक्षण में उसे अनेकव्यक्तिसमवेत कहा गया है। अतः एकमात्रव्यक्ति में आश्रित होने से समवायत्व को जाति नहीं कहा जा सकता है। अन्य कारण से भी समवाय में जाति का रहना स्वीकृत नहीं हो सकता है। किरणावली में कहा गया है कि समवाय में समवायत्व जाति

---

१. एवञ्च नित्यद्रव्याणि परस्परव्यावर्तकधर्मवन्ति परस्परव्यावृत्तत्वादित्यनेन सिद्धे व्यावर्तके विशेषसंज्ञा निवेश्यते। तच्च प्रामाणिकधर्मपुरस्कारेणैव युक्तम्। प्रामाणिकञ्च सिद्धेऽनुव्यावर्तकत्वं स्वव्यावर्तकञ्चेति ताभ्यामेव प्रवृत्तिनिमित्तान्त्यविशेषशब्दप्रयोगे गतधीरपि तदवलम्बनेन ज्ञानव्यवहारयोः समानशीलत्वादिति सिद्धं विशेषत्वमपि न जातिरिति संक्षेपः। सेतु पृ० १३६

रहना स्वीकार करने पर उस जाति के आश्रय के रूप से समवाय को अन्य समवाय का अनुयोगी भी मानना पड़ेगा। क्योंकि जाति अपने आश्रयभूत व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से ही रहती है। यदि समवाय में समवायत्व रहेगा तो समवायसम्बन्ध से ही रहना पड़ेगा। उस सम्बन्ध का अनुयोगी समवाय होगा। इस स्थिति में समवाय में समवायानु-योगित्व मानने पर समवाय तथा समवायत्व के सम्बन्धरूप समवाय में भी समवायत्व जाति है इसको भी उपायान्तर न रहने से स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः द्वितीय समवाय तथा उसमे समवायत्व जाति स्वीकृत होने पर उनका समवायसम्बन्ध भी अगत्या स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः समवाय में समवायत्व जातिका आश्रयत्व है मानने से इस धारा का अनन्त प्रवाह जिसे अनवस्था कहते हैं आ जाएगी। इस कारण से भी समवाय जाति का अनाश्रय है यह सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है।

नित्यत्वमनन्तत्वम्। तच्चाकार्यत्वात्। अनित्यत्वं हि कार्यतया व्याप्तम्। सा च सामान्यादिभ्यो व्यावर्त्तमाना स्वव्याप्यमनित्यत्वमुपा-दाय निवर्त्तते। अकार्यमपि हि यदाकाशपरमाण्वादि सामान्यादि वा निवृत्तं स्यात् पुनस्तन्न स्यात् कारणाभावात्। ततस्तदभावे निराश्रयं किञ्चिदपि न स्यादिति।

[नित्यत्व (का अर्थ) अनन्तत्व (है)। वह (अनन्तत्व) भी अकार्यत्व के कारण (है) (अर्थात् जो अकार्य होता है वह अनन्त भी है। उसका पूर्व तथा अपर अन्त नहीं रहता है। अतः वह नित्य होता है)। अनित्यत्व कार्यत्व द्वारा व्याप्त है (अर्थात् अनित्यत्व जहां भी है वहां कार्यता अवश्य होगी तथा कार्यता न रहने पर अनित्यता भी नहीं रहती है)। वह कार्यता सामान्यादि तीन पदार्थ से व्यावृत्त (निवृत्त) होते हुए अपने व्याप्य अनित्यत्व के साथ ही निवृत्त होती है। अकार्य होते हुए भी आकाश परमाणु आदि (तथा) सामान्यादि यदि निवृत्त (विनष्ट) होता है तो पुनः वह नहीं हो सकता है (उनके उत्पादक) कारण के अभाव के कारण। अनन्तर उनके अभाव होने पर (कार्य वस्तुओं के समवायिकारणरूप आश्रयों के न रहने से) आश्रयरहित होकर कोई भी कार्य (वस्तु) नहीं हो सकता है।]

नित्यत्व भी सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य है। किरणावलीकारने नित्यत्व को अनन्तत्वरूप कहा है। सामान्यतः 'प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्व को नित्यत्त्व कहा जाता है। अतः नित्यत्त्व का यह अर्थ क्यों किया गया। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पहले इसी प्रकरण में अकार्यत्व को सामान्यादि का साधर्म्य कहा गया है। वह अकार्यत्व को प्रागभावाप्रतियोगित्वरूप कहा गया है। इसलिए पुनरुक्तिदोष को हटाने के लिए

यहां नित्यत्व को अनन्तत्व अर्थात् केवल ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप कहा गया है। सामान्य आदि तीन के ध्वंसाप्रतियोगित्व को प्रमाणित करने के लिए किरणावलीकारने कहा है कि यह (सामान्य आदि) अकार्य हैं इसलिए ध्वंसका अप्रतियोगी भी हैं। क्योंकि अनित्यत्व अर्थात् ध्वंसप्रतियोगित्वका व्यापक होता है कार्यत्व अर्थात् प्रागभावप्रतियोगित्व। इसका तात्पर्य यह है कि कार्यत्व के रहने पर वहां अनित्यत्व भी अवश्य रहता है। तथा कार्यत्व के न रहने पर वहां अनित्यत्व भी रह नहीं सकता है। व्यापकधर्म के अभाव के अधिकरण में व्याप्यधर्म रह नहीं सकता है। सामान्य आदि में कार्यत्वाभाव पहले ही अकार्यत्वरूप साधर्म्य द्वारा निश्चित हो चुका है। फलतः व्यापक के अभाव रहने से सामान्य आदि में व्याप्य अनित्यत्व का अभाव भी अवश्य रहेगा।

यहां शङ्का हो सकती है कि यद्यपि कार्यत्व अर्थात् प्रागभावप्रतियोगित्व के साथ अनित्यत्व अर्थात् ध्वंसप्रतियोगित्व का व्याप्यव्यापकभाव रहने पर भी अकार्यत्व अर्थात् प्रागभावाप्रतियोगित्व के साथ नित्यत्व अर्थात् ध्वंसाप्रतियोगित्व का व्याप्यव्यापकभाव है इसमें प्रमाण क्या है? इसी के समाधान के लिए किरणावलीकारने अकार्यत्व अर्थात् प्रागभावाप्रतियोगित्व के साथ अनन्तत्व अर्थात् ध्वंसाप्रतियोगित्व के व्याप्यव्यापकभाव के अनुकूल एक तर्क भी उपस्थित किया है। उनका अभिप्राय यह है कि 'जो जो अकार्य हैं वह अनन्त भी होते हैं'। यदि ऐसा न हो अर्थात् अकार्य वस्तु भी यदि सान्त अर्थात् ध्वंस का प्रतियोगी हो तब आकाश, परमाणु तथा सामान्य भी यदि नष्ट (नाश प्राप्त) हो तो परमाणु का विनाश होगा। परमाणु का विनाश होने पर पुनः वह परमाणु उत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका कोई समवायिकारण ही नहीं है। इस स्थिति में परमाणु के अभाव होने पर कोई भी कार्यवस्तु अपने समवायिकारणरूप आश्रय के न रहने से न रहेगा या उत्पन्न भी होगा। फलतः दृश्यमान् जगत् की विद्यमानता की अनुपपत्ति होगी। दृश्यमान जगत् की विद्यमानता से ही यह सिद्ध है कि अकार्य परमाणु का अकार्यत्व अवश्य ही अनन्तत्व अर्थात् ध्वंसाप्रतियोगित्व का व्याप्य है। अर्थात् जो अकार्य हैं वह अनन्त भी है यह नियम सिद्ध हुआ। यह भी ज्ञातव्य है कि किन्हीं दो वस्तुओं में जो व्याप्यव्यापकभाव होता है उन्हीं वस्तुओं के अभावों में भी उसके विपरीत व्याप्यव्यापकभाव होता है। यहां पहले अनित्यत्व को व्याप्य तथा कार्यत्व को व्यापक प्रमाणित किया गया है। अतः अनित्यत्व तथा कार्यत्व के अभावों में भी व्याप्यव्यापक-भाव अवश्य होगा। परन्तु वह व्याप्यव्यापकभाव विपरीत होगा। अर्थात् अनित्यत्व का अभाव नित्यत्व व्यापक होगा तथा कार्यत्व का अभाव अर्थात् अकार्यत्व व्याप्य हो जाएगा। यह एक साधारण नियम है।

यहां यह शङ्का अवश्य होगी कि नित्यत्व अर्थात् ध्वंसाप्रतियोगित्व आकाश, काल, दिक्, आत्मा, परमाणु आदि द्रव्य तथा इनके नित्यगुणों में भी रहने से नित्यत्व को केवल सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहने से उक्त द्रव्य तथा गुणों में अतिव्याप्ति होगी।

इसके समाधान करते हुए प्रकाशकारने कहा है कि नित्यत्व को अनित्यावृत्तिपदार्थ-विभाजकोपाधिमत्त्व रूप ही यहां समझना है। अनित्यपदार्थ में न रहने वाली पदार्थ-विभाजकोपाधि ही नित्यत्व का अर्थ ग्रन्थकार का अभिप्रेत है। फलतः द्रव्य तथा गुण नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार के होने से उनमें जो पदार्थविभाजकोपाधि द्रव्यत्व तथा गुणत्व है वह अनित्य में अवृत्ति न होने से उन दोनों उपाधियों को लेकर अतिव्याप्ति न होगी। सामान्यत्व, विशेषत्व तथा समवायत्व कभी अनित्य वस्तु में रहता ही नहीं। अतः अनित्यावृत्तिपदार्थविभाजकोपाधि वह तीनों हैं। अव्याप्ति नहीं है। कर्मत्व सर्वदा अनित्य-वृत्ति होने से वह विचार योग्य नहीं है। फलतः अनित्य पदार्थ में न रहने वाली पदार्थ-विभाजकोपाधि ही नित्यत्व का फलितार्थ है।[१]

अर्थशब्दानभिधेयत्वं स्वसमयार्थशब्दानभिधेयत्वम् ।

[अर्थशब्दानभिधेयत्व (का अर्थ) स्व (अर्थात् अपना वैशेषिक) समय (आचार सङ्केत अथवा परिभाषा का विषयभूत) अर्थ शब्द का अनभिधेयत्व है।]

पहले "द्रव्यादीनां त्रयाणाम्" इत्यादि ग्रन्थ द्वारा प्रशस्तपादाचार्यने निरुपपद (उपपद रहित) अर्थ शब्द से द्रव्य, गुण तथा कर्म को समझा जाना चाहिए कहा है। अर्थात् अर्थशब्द का वैशेषिक सम्प्रदाय में प्रचलित व्यवहार, सङ्केत अथवा परिभाषा यह है। इसीलिए उन तीनों के बहिर्भूत सामान्यादि तीन अर्थतः निरुपपद अर्थ शब्द का अभिधेय न होंगे। अर्थशब्दानभिधेयत्व सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य होगा।[२]

'च' कारात् कारणानपेक्षत्वमिति ।

['च' कार (रहने के कारण) कारणानपेक्षत्व को भी (सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य समझना है) ।]

परममूलग्रन्थ के 'च' कार का तात्पर्यवर्णन करते हुए किरणावलीकारने कहा है कि यथाश्रुत साधर्म्यों से भिन्न साधर्म्यों की सम्भावना रहने से वे भी प्रशस्तपादके अभिमत हीं होंगे इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए ही प्रशस्तपादने इस प्रकरण के अन्त में अनुक्तसमुच्चायक 'च'कार का प्रयोग किया है। तदनुसार किरणावलीकारने प्रशस्तपाद-द्वारा अनुक्त कारणानपेक्षत्व को सामान्यादि तीन पदार्थ का साधर्म्य कहा है। 'कारणानपेक्षत्व'

---

१. न चैतद् व्योमादावतिव्याप्तम्। अनित्यावृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वस्य विवक्षित-त्वात्। प्रकाश पृ० १५१

२. पृष्ठ २४८ देखें।

नित्यवस्तु मात्र में ही होता है। अतः इस साधर्म्य की अतिव्याप्ति नित्यवस्तु यथा नित्यद्रव्य तथा नित्यगुणों, में होगी। इसीलिए प्रकाशकारने कारणानपेक्षत्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि सकारण वस्तुओं में जिनका अभाव हो इस प्रकार के पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व ही यहां वक्तव्य है। फलतः द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधियां सकारण (अर्थात् कार्य) द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहने से सकारणवस्तुओं में उनका अभाव नहीं रहता है। इससे कारणवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप कारणानपेक्षत्व भी उनमें नहीं रह सकता। अतः अतिव्याप्ति नहीं है। सामान्यत्व, विशेषत्व तथा समवायत्व किसी भी सकारण वस्तु में नहीं रहता है। अतः सकारण वस्तुओं में उन पदार्थविभाजकोपाधिओं का अभाव रहने से उन अभावों की प्रतियोगिता उक्त तीन पदार्थविभाजकोपाधियों में रहती है। इससे अव्याप्ति की शङ्का नहीं है। कोई यह शङ्का कर सकते हैं कि कारणवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मवत्त्व ही कारणानपेक्षत्व क्यों न कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि सकारण वस्तुओं में रहने वाला अभाव के प्रतियोगी धर्म शब्द से आकाशत्व कालत्व आदि धर्म का अभाव घट पट आदि अनित्य द्रव्य में रहने के कारण वह धर्म भी कारणवन्निष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी धर्म होगा। फलतः नित्यद्रव्यों के धर्मभूत आकाशत्व आदि को लेकर अतिव्याप्ति दूर न होगी। परन्तु आकाशत्व आदि पदार्थविभाजकोपाधि न होने से अतिव्याप्ति सम्भावना नहीं है।[१]

उपलक्षणञ्चैतत् । अन्यदप्यूह्यम् ।

[यह उपलक्षण है। ऊह अर्थात् युक्तिसिद्ध तर्क से अन्य साधर्म्य की भी कल्पना की जा सकती है।]

मूलकार प्रशस्तपादने अब तक द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य के विषय में जो कुछ कहा है, उनकी यथायथ व्याख्या करने के पश्चात् किरणाबलीकारने कहा है कि मूलकार की उक्ति को 'उपलक्षण' मात्र समझना होगा। इसका अभिप्राय यह है कि युक्तिसिद्ध तर्क की सहायता से अन्य साधर्म्यों की कल्पना भी करनी होगी। मूल ग्रन्थ में जिन साधर्म्यों का उल्लेख किया गया है केवल वे ही उन पदार्थों का साधर्म्य हैं अन्य कोई साधर्म्य उन पदार्थों का नहीं है इस प्रकार अभिप्राय मूलकार प्रशस्तपाद का नहीं है। सम्भावित स्थलों में उन पदार्थों का अन्य साधर्म्यों को भी मूलकार का अभिप्रेत ही समझना है।

तद् यथा अनित्यधर्मत्वमविशेषाणामेव । नित्यत्वमकर्मणामेव ।

---

१. अत्रापि कारणवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिविभक्तोपाधिमत्त्वमभिप्रेतम् । प्रकाश पृ० १४४ । विभक्तेति । साक्षाद् भावविभाजकोपाधिमत्त्वमित्यर्थः । विवृति पृ० १४४

अयोगिप्रत्यक्षत्वं द्रव्यादीनां चतुर्णामेव। असमवायिकारणत्वं गुण-कर्मणोरेव। असमवेतत्वं नित्यद्रव्यसमवाययोरेव।

[उन (तर्क द्वारा सिद्ध साधर्म्य) का प्रकार (आगे कहा जा रहा है) अनित्यधर्मत्व विशेष को छोड़कर शेष पदार्थों का ही, नित्यत्व कर्मभिन्न पदार्थों का ही, अयोगिप्रत्यक्षत्व द्रव्यादि चार पदार्थों का ही, असमवायिकारणत्व गुण तथा कर्म का ही, असमवेतत्व नित्यद्रव्य तथा समवाय का ही साधर्म्य है)।]

मूल प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में अनुक्त साधर्म्यो का वर्णन करते हुए अनित्यधर्मत्व को विशेषभिन्न पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है। अनित्यपदार्थवृत्तित्व ही अनित्यधर्मत्व का अर्थ है। विशेष केवल नित्यद्रव्यों में रहने से उसमें कदापि अनित्यपदार्थवृत्तित्व नहीं रहता है। इसीलिए विशेषभिन्न पदार्थों का साधर्म्य अनित्वधर्मत्व है। परन्तु यह साधर्म्य की अव्याप्ति विभुद्रव्य तथा विभुद्रव्यों के विशेषगुण अर्थात् शब्द, ज्ञान, इच्छा आदि गुणों में होगी। क्योंकि विभुद्रव्य कहीं भी आश्रित नहीं होते हैं। आश्रितत्व को नित्यद्रव्यभिन्न पदार्थों का साधर्म्य कहा भी गया है। इसी प्रकार विभुद्रव्यों के विशेषगुण शब्द, ज्ञान आदि केवल विभुद्रव्यों में, जो नित्य ही होते हैं, आश्रित होने से उनमें अनित्यधर्मत्वरूप साधर्म्य का अभाव ही है। इसलिए प्रकाशकारने अनित्यधर्मत्व का अर्थ नित्यमात्र के धर्मों में अवृत्ति विभाजकोपाधिमत्त्व कहा है। अर्थात् केवल नित्यवस्तु में ही रहने वाले पदार्थों में न रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व ही अनित्यधर्मत्व शब्द से विवक्षित हैं। फलतः विभुद्रव्यों में पदार्थविभाजकोपाधि द्रव्यत्व ही रहता है। वह नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार द्रव्यों में रहने के कारण नित्यवस्तु मात्र में रहने वाले पदार्थों में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि नहीं है। इसी प्रकार शब्द, ज्ञान आदि विभुद्रव्यों के विशेषगुणों में रहने वाला गुणत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधि नित्यद्रव्यों के गुणों के तुल्य ही अनित्यद्रव्यों के गुणों में भी रहता है। इसलिए नित्यवस्तुमात्र में रहने वाले पदार्थों में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि न होने के कारण वह उपाधि रहने से शब्द, ज्ञान आदि भी विवक्षित अनित्यधर्मत्वविशिष्ट ही हुए। अव्याप्ति न होगी।[१]

नित्यत्व को कर्मभिन्न पाँच पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है। स्पन्दात्मक कर्ममात्र ही अनित्य है। शेष पदार्थों में सामान्य, विशेष तथा समवाय नित्य हैं। परन्तु द्रव्य तथा गुणों में कुछ नित्य होने पर भी अनेक द्रव्य तथा गुण अनित्य हैं। अतः नित्यत्व को कर्मभिन्न पाँच पदार्थ का साधर्म्य कहने से अनित्यद्रव्य तथा अनित्यगुणों में उस साधर्म्य की अव्याप्ति

---

१. यद्यप्येतदवृत्तिव्योमादौ नित्यवृत्तिशब्दादौ चाव्यापकं तथापि नित्यमात्रधर्मावृत्तिविभ-जकोपाधिमत्त्वे तात्पर्यम्। प्रकाश पृ० १५४

होगी। इसके वारण के लिए प्रकाशकारने नित्यत्व का अर्थ नित्यवृत्ति विभाजकोपाधि किया है। नित्यवृत्तिविभाजकोपाधि के रूप से द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि होंगे। वह उपाधियाँ अनित्य घटादि में रहने पर भी साधर्म्य अव्याप्त न होगा। इसी प्रकार गुणत्व, रूपत्व, रसत्व आदि विभाजकोपाधियाँ नित्यवृत्ति होते हुए अनित्यद्रव्य तथा अनित्यगुणों में भी रहने से अव्याप्ति नहीं होगी। यह कहना सम्भव है कि नित्यवृत्तिधर्मवत्व ही नित्यत्व होगा। अतः नित्यवृत्तिविभाजकोपाधिमत्त्वरूप गुरुतर अर्थ क्यों किया गया। परन्तु लघुतर नित्यवृत्तिधर्मत्व को नित्यत्व का पर्यवसित अर्थ मानने पर आत्मा तथा क्रिया (कर्म) इन दो में जो द्वित्व संख्या अथवा उभयत्व है वह, तथा आत्मा, घट तथा क्रिया इनमें जो अन्यतमत्वरूप धर्म है वह आत्मवृत्ति होने से नित्यवृत्तिधर्म होगा। वह उभयत्व अथवा अन्यतमत्वरूप नित्यवृत्तिधर्म कर्म में भी रहेगा। फलतः वह उभयत्व अथवा अन्यतमत्वरूप नित्यवृत्ति धर्म के रहने के कारण कर्म भी नित्य वृत्तिधर्म विशिष्ट होकर अतिव्याप्ति होगी। अतः गुरुतर होनेपर भी नित्यवृत्तिविभाजकोपाधिमत्त्व का निवेश किया गया है।

अयोगिप्रत्यक्षत्व द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्यों का साधर्म्य है। अयोगित्व अर्थात् योगज प्रत्यक्षभिन्नत्व को प्रत्यक्ष का विशेषण तथा प्रत्यक्षत्व को प्रत्यक्षविषयत्व समझना है। फलतः योगजप्रत्यक्षभिन्नप्रत्यक्षविषयत्व ही उक्त द्रव्यादि चार पदार्थों का साधर्म्य हुआ। विशेष तथा समवाय का लौकिकप्रत्यक्ष नहीं होता है। केवल योगजप्रत्यक्ष ही होता है। शेष द्रव्यादि पदार्थों का योगज अर्थात् अलौकिक तथा अयोगज अर्थात् लौकिक उभयप्रकार प्रत्यक्ष ही होता है। इसीलिए अयोगिप्रत्यक्षत्व द्रव्यादि चार पदार्थ का साधर्म्य हो सकता है। परन्तु काल, आकाश दिक्, परमाणुओं में तथा गुरुत्व, भावनाख्य संस्कार धर्म तथा अधर्म आदि गुणों में अयोगिप्रत्यक्षत्वरूप साधर्म्य अव्याप्त होता है। क्योंकि उक्त द्रव्यों तथा गुणों का योगजप्रत्यक्ष को छोडकर अन्य किसी प्रकार प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस अव्याप्ति के वारण के लिए प्रकाशकारने योगजप्रत्यक्षभिन्नप्रत्यक्षविषयाश्रितविभाजकोपाधिमत्त्व ही अयोगिप्रत्यक्षत्त्व का अर्थ कहा है। फलतः योगजप्रत्यक्षभिन्नप्रत्यक्ष का विषय घट पट आदि द्रव्य तथा रूप रस आदि गुण हुए। उनमें आश्रित द्रव्यत्व तथा गुणत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व काल, आकाश आदि तथा गुरुत्व, भावना आदि योगजप्रत्यक्षके विषयों में भी रहने से अव्याप्ति न हुई। इसी प्रकार घटत्व पटत्व आदि योगजप्रत्यक्षभिन्न प्रत्यक्ष का विषयभूत सामान्यों में जो सामान्यत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधि है वही अतीन्द्रिय सामान्यों में भी रहने से अव्याप्ति न होगी।

असमवायिकारणत्व गुण तथा कर्म का साधर्म्य है। असमवायिकारणत्व शब्द से कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के निरूपक सम्बन्धी के साथ एक ही अधिकरण में समवेत वस्तु में जो कारणता होती है उसे समझा जाता है। कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध का सम्बन्धी कार्य तथा कारण दोनों ही होते हैं। घटरूप कार्य के प्रति कपालद्वयसंयोग को असमवायिकारण कहा जाता है। क्यों कि घट के समवायिकारण कपाल है। कपालरूप समवायिकारण का कार्यभूत

घट तथा कपाल में कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध का सम्बन्धी जैसा कपाल है तुल्य रूप से घट भी है। कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के सम्बन्धी घट के समवायसम्बन्ध से अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से ही रहते हुए कारण अर्थात् अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ती कपालद्वयसंयोग है। कपालद्वयसंयोग सामान्यतः कारणलक्षणाक्रान्त होते हुए घटरूप कार्य के समवायसम्बन्ध से अधिकरण अर्थात् समवायिकारण कपालद्वय में समवायसम्बन्ध से रहने से असमवायिकारणत्व-विशिष्ट हुआ है। कपालद्वयसंयोग घटरूप कार्य का असमवायिकारण है। इसी प्रकार घट का रूप एक कार्य है जिसका समवायिकारण घट ही है। यह घटस्वरूप समवायिकारण भी कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध का सम्बन्धी है। कार्यकारणभावसम्बन्ध के सम्बन्धी घट का समवाय सम्बन्ध से अधिकरण कपाल हैं। उन कपालों में जो रूप समवायसम्बन्ध से है वह घट के रूप के प्रति कारण का सामान्य लक्षणाक्रान्त भी है। अतः घट के रूप के प्रति उस रूप के समवायि-कारण घट के समवायसम्बन्ध से अधिकरण या समवायिकारण कपाल में कपालरूप भी अपने समवायिकारण कपाल में समवायसम्बन्ध से रहता हुआ घटरूप का अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ती होने से असमवायिकारणत्वविशिष्ट हुआ। कपालरूप घटरूप का असमवायिकारण है। इनमें प्रथम प्रकार को कार्यैकार्थप्रत्यासत्तिवश असमवायिकारण तथा द्वितीय प्रकार को कारणैकार्थ-प्रत्यासत्तिवश असमवायिकारण कहा जाता है।[1]

यद्यपि असमवायिकारणत्व को गुण तथा कर्मों का साधर्म्य कहा गया परन्तु आत्मा के कोई भी विशेषगुण यथा बुद्धि, सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावनाख्य संस्कार किसी कार्य का असमवायिकारण नहीं होते हैं। उनमें केवल निमित्त-कारणता ही होती है। फलतः प्रस्तुत साधर्म्य की आत्मविशेषगुणों में अव्याप्ति होगी। तथा परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्व आदि परिगणित गुणों में भी कारणत्वाभाव रहने से भी अव्याप्ति होगी।

इस अव्याप्ति के वारण के लिए प्रकाशकारने असमवायिकारणवृत्तिपदार्थविभाजको-पाधिमत्त्व को ही असमवायिकारणत्वरूप साधर्म्य का निर्गलितार्थ कहा है। फलतः जो गुण असमवायिकारण नहीं होते अथवा जिनमें किसी का कारणत्व ही नहीं उनमें भी असमवायिकारणरूप से सिद्ध गुणों में रहने वाला गुणत्वरूप पदार्थविभाजकोपाधि अवश्य रहने से इस साधर्म्य की अव्याप्ति न होगी।[2]

किसी-किसी के विचार से प्रकाशकारने असमवायिकारणत्व का निर्वचन जिस प्रकार से किया है तदनुसार आत्मविशेषगुणों में असमवायिकारणत्व का लक्षण अव्याप्त

---

१. कार्यकारणभावसम्बन्धनिरूपकसम्बन्ध्येकार्थसमवायनिरूपितकारणत्वयोगित्वमसमवायि-कारणत्वम्। प्रकाश पृ० १५५

२. तथाप्यसमवायिकारणवृत्तिविभक्तोपाधिमत्त्वं विवक्षितम्। प्रकाश पृ० १५५

नहीं होता है। क्योंकि वे समझते हैं कि आत्मा में इष्टसाधनताज्ञान उत्पन्न होने पर उपायेच्छा होती है। अर्थात् 'इदं मदिष्टसाधनम्' इस ज्ञानके पश्चात् इष्टसाधनवस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है। पूर्वोक्त इष्टसाधनताज्ञान पश्चादुत्पन्न उपाय की प्राप्तीच्छा के समवायसम्बन्ध से अधिकरणभूत तथा समवायिकारण आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहकर कारणलक्षणाक्रान्त भी होने से इष्टसाधनताज्ञान उपायेच्छा का असमवायिकारण होगा। अतः प्रकाशकारोक्त असमवायिकारणत्वरूप साधर्म्य की अव्याप्ति आत्मविशेषगुणों में न होनी चाहिए।

फलतः वे समझते हैं कि वैशेषिकसिद्धान्तानुसार असमवायिकारणत्व के प्रकाशका-रोक्त निवचन में ज्ञानादिभिन्नत्व को विशेषण देना पड़ेगा। अन्यथा ज्ञानादि में प्रकाश-कार द्वारा परिष्कृत असमवायिकारणत्व लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। ज्ञानादिभिन्न पूर्वोक्त असमवायिकारणत्वको गुण तथा कर्मों का साधर्म्य कहने से ज्ञानादिभिन्नत्व न रहने के कारण आत्मविशेषगुणों में प्रस्तुत साधर्म्य अव्याप्त होगा। इसीलिए असमवायिकारण-वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वरूप पारिभाषिक असमवायिकारणत्वको ही प्रस्तुत साधर्म्य कहना आवश्यक होता है। क्योंकि यह पारिभाषिक असमवायिकारणत्व आत्मविशेषगुणों में रहने से असमवायिकारण के लक्षण की अतिव्याप्ति भी न होगी।

नित्यद्रव्य अर्थात् पार्थिवादि चतुर्विध परमाणु, आकाश, काल, दिक् आत्मा, मन तथा समवाय का साधर्म्य असमवेतत्व है। समवेतत्व अर्थात् समवायसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तित्व तथा उस प्रकार वृत्तित्व का अभाव ही असमवेतत्व है। गुण कर्म जाति तथा विशेष सर्वदा अपने आश्रयों में समवायसम्बन्ध से ही रहते हैं। परमाणु आदि नित्यद्रव्यों का समवायिकारण न रहने से वे कहीं भी समवायसम्बन्ध से नहीं रहते हैं। द्रव्य अपने समवायिकारण मे ही समवायसम्बन्ध से रहता है। समवाय भी अनवस्था दोष की सम्भावना के कारण कहीं समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है। अतः नित्यद्रव्य तथा समवाय का यह साधर्म्य में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है।

इदानीं द्रव्याणामेव साधर्म्यं वैधर्म्यञ्चाह। पृथिव्यादीनामिति। कियतामित्यत आह नवानामपीति। अपरिभिव्याप्तौ।

[(परममूलकार) अव पृथिव्यादीनाम् आदि ग्रन्थद्वारा केवल द्रव्यपदार्थ का ही साधर्म्य तथा वैधर्म्य को कह रहे हैं। (पृथिवी आदि) कितने का इस प्रश्न पर नवविध (द्रव्यों का) यह कहे हैं। (उस वाक्यांश में) अपि शब्द अभिव्याप्ति अर्थ में प्रयुक्त (समझना है)।]

केवल द्रव्यों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य का वर्णन करते हुए प्रशस्तपादने "पृथिव्या-दीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः" इस वाक्य द्वारा द्रव्यत्व को नवविध द्रव्यों का साधर्म्य

कहा है। इस वाक्य में 'अपि' शब्द के रहने के कारण वाक्य का अर्थ सामान्यतः यह होता है कि द्रव्यत्वयोग अर्थात् द्रव्यत्व का सम्बन्ध पृथिवी आदि नवविध द्रव्यों का भी साधर्म्य है। फलतः पृथिवी आदि नवविध द्रव्यभिन्न अन्य पदार्थों का भी यह (द्रव्यत्व) साधर्म्य है यह भ्रम हो सकता है। क्योंकि 'अपि' शब्द सामान्यतः समुच्चयार्थक है। परन्तु प्रस्तुत स्थल में वह अर्थ विवक्षित नहीं है। क्योंकि द्रव्यत्व द्रव्यातिरिक्त किसी पदार्थ का साधर्म्य नहीं है। इसीलिए किरणावलीकारने प्रशस्तपाद के वाक्य में स्थित 'अपि' शब्द का अभिव्याप्तिरूप अर्थ कहा है। यद्यपि 'नवानाम्' कहने से ही अभिप्रत अर्थ सिद्ध हो सकता है। तथा द्रव्यत्व कुछ द्रव्यों में रहता है समस्त द्रव्यों में नहीं यह भ्रम होने की सम्भावना नहीं है। अतः 'अपि' शब्द का प्रयोग निष्फल है। तथापि 'अपि' शब्द के प्रयोग के विषय में विशेष विचार हम इस साधर्म्य प्रकरण के प्रारम्भ में 'षण्णामपि' इस शब्द की व्याख्या में विस्तृत रूप से कर चुके हैं। पुनरुक्ति के भय से यहां उस विचार को नहीं लिखा गया। पाठक प्रकरण के प्रारम्भ में उसे देख सकते हैं।

द्रव्यत्वयोगो द्रव्यसमवायः। द्रव्यत्वमित्येतावति वक्तव्ये योगग्रहणमुपलक्षणनियमार्थम्। अपरिच्छिन्नदेशत्वात् सामान्यसमवाययोः कथमत्रेवेदं नान्यत्रेति प्रत्यय इति केचिच्चोदयन्ति। तत्रेदमत्रैव द्रव्यत्वं वर्त्तते नान्यत्र यत इत्युच्यते। अयमेव हि द्रव्यत्वस्य स्वभावो यदेतत् समवायमभिव्यञ्जयेदेताभिर्व्यक्तिभिः सह न रूपादिव्यक्तिभिः। गुणत्वञ्च रूपादिव्यक्तीरादाय न पृथिव्यादिव्यक्तीरित्यादि वक्ष्यते।

[द्रव्यत्व योग (शब्द का अर्थ) व्यत्व का समवाय (सम्बन्ध) है। (केवल) 'द्रव्यत्वम्' इतना ही वक्तव्य होते हुए 'योग' (शब्द का) ग्रहण (प्रयोग) उपलक्षण के नियमार्थ है। (उपलक्षण अर्थात् व्यञ्जक के नियन्त्रण के लिए योग' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् द्रव्यत्व के समवाय द्वारा ही द्रव्यत्व की अभिव्यक्ति होती है यह प्रदर्शित करने के लिए योग शब्द का ग्रहण किया गया है)। (कोई कोई यह कहते हैं कि) सामान्य तथा समवाय दोनों के अपरिच्छिन्नदेशत्व (अर्थात् सीमित देशता न रहने) के कारण 'यहां ही रहेगा अन्यत्र नहीं' इस प्रकार प्रतीति क्यों होगी? (इसके उत्तर में) 'यतः वह यहां ही रहता है अन्यत्र नहीं रहता' यह कहा जा सकता है। यही द्रव्यत्व का स्वभाव (प्रकृति) है कि वह (केवल) इन्हीं (नौ) व्यक्तियों के साथ ही (अपना) समवाय को अभिव्यक्त करता है रूपादि व्यक्तियों के साथ नहीं। (तथा) गुणत्व भी रूपादि व्यक्तियों के साथ (अपना समवाय को व्यक्त करता है) पृथिव्यादि व्यक्तियों के साथ नहीं करता है। यह आगे कहा जाएगा।]

द्रव्यत्व योग अर्थात् द्रव्यत्व से समवायसम्बन्ध को पृथिव्यादि नौ द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया है। प्रश्न होगा कि द्रव्यत्व को साधर्म्य न कहकर द्रव्यत्व से समवाय-सम्बन्ध को साधर्म्य क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि प्रशस्तपादने द्रव्यादि जातियों के अभिव्यञ्जकों के नियम को सूचित करने के लिए ही यहां (योग) शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् भिन्न भिन्न देशो में वर्तमान घटव्यक्तिओं के अन्तरालों में स्थित पटादि व्यक्तिओं में घटत्व उपस्थित रहने पर भी पटादि घटत्व का अभिव्यञ्जक नहीं होता है। परन्तु घटव्यक्ति ही घटत्व का अभिव्यञ्जक होता है; जातियों के अभिव्यञ्जक का यह नियम को सूचित करने के लिए ही 'योग' शब्द का प्रयोग साधर्म्य में किया गया है। विश्व में कहीं भी घट उत्पन्न होते ही उससे घटत्व अभिव्यक्त होता है। इससे घटत्व सर्वत्र उपस्थित है प्रमाणित होता है। विश्व में सर्वत्र उपस्थित रहते हुए घट को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति में उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है यह भी सिद्ध है। उक्त स्थिति के कारण जातियों की अभिव्यक्ति का जो नियम देखा गया है उसी को सूचित करने के लिए ग्रन्थकारने 'योग' शब्द को साधर्म्य में प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यत्व का समवायसम्बन्ध के कारण ही वहाँ उपस्थित द्रव्यत्व अभिव्यक्त होता है।

इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप से 'अपरिच्छिन्नदेशत्वात्' आदि पंक्ति कही गयी है। पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि सामान्य तथा समवाय दोनों की उपस्थिति किसी देश से परिच्छिन्न अर्थात् सीमित न होने से वे दोनों विश्व भर में ही उपस्थित रहते हैं। तब किस प्रकार से यह प्रतीति होगी कि 'यह सामान्य यहाँ ही है अन्यत्र नहीं है'। एक ही समवाय सब सामान्य को व्यक्ति से सम्बद्ध करता है। अतः घटव्यक्ति में ही घटत्व की प्रतीति होती है पटव्यक्ति में नहीं यह किस प्रकार से स्वीकृत होगा।

यह पूर्वपक्ष युक्तियुक्त होने पर भी वस्तुस्थिति का जो अनुभव हमें निरन्तर हो रहा है वह पूर्वपक्षी की युक्तियों का विरोधी है। अर्थात् अनुभवविरुद्ध होने के कारण उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक स्थान में अनेक घट तथा अनेक पट के उपस्थित रहने के समय केवल घट व्यक्तियों में घटत्व की प्रतीति होती है। तथा किसी भी पटव्यक्ति में घटत्व की प्रतीति नहीं होती है यह अनुभवसिद्ध है। अतः अनुभव के आधार पर यही स्वीकार करना पड़ेगा कि द्रव्यत्व, घटत्व आदि जातियों का स्वभाव यह है कि वह सामान्य द्रव्य अथवा घटरूप तत्तद्व्यक्तिओं के साथ ही अपना समवायसम्बन्ध को व्यक्त करता है। गुण अथवा पट आदि व्यक्तियों के साथ अपना समवायसम्बन्ध को व्यक्त नहीं करता है। इसी प्रकार गुणत्वजाति भी स्वभाव से ही रूपादि व्यक्ति में ही अपना समवायसम्बन्ध को व्यक्त करता है पृथिवी आदि व्यक्तिओं में नहीं। वस्तु का स्वभाव तर्क या आपत्ति का विषय नहीं होता है। पूर्वपक्ष में वस्तुस्वभाव पर ही शङ्का की गयी है। अतः वह स्वीकार योग्य नहीं है।

ऊपर कहा गया है कि द्रव्यत्वादि सामान्यों का स्वभाववश ही वे निदिष्ट व्यक्तियों में ही अपना समवाय को अभिव्यक्त करते हैं। अन्य व्यक्तियों में अपना समवाय को अभिव्यक्त नहीं करते। अब यह प्रश्न होगा कि समवाय की अभिव्यक्ति शब्द से क्या समझा जाए। साधारणतया ज्ञान ही अभिव्यक्ति शब्द का अर्थ होता है। घट की अभिव्यक्ति का अर्थ घट का ज्ञान है। प्रस्तुत प्रकरण में समवाय की अभिव्यक्ति शब्द से समवाय का प्रत्यक्ष अनुभव को समझना सम्भव नहीं है। क्योंकि वैशेषिक सिद्धान्त में समवाय का प्रात्यक्षिक अनुभव होता नहीं है।[१] वैशेषिक सम्प्रदाय समवाय को अतीन्द्रिय मानते हैं। समवाय का अनुमित्यात्मक अनुभव भी यहाँ अभिव्यक्ति शब्द से समझना सम्भव नहीं है।[२] क्योंकि ग्रन्थकार ने कहा है कि जातियाँ व्यक्तिविशेष के साथ ही अपना समवाय को अभिव्यक्त करती हैं अन्य व्यक्तिओं में नहीं। परन्तु अनुमिति के स्थल में जाति के आश्रयीभूत व्यक्तिविशेष की अभिव्यक्ति के विना ही जातिप्रतियोगिक समवाय का अनुमित्यात्मक अनुभव होता है। जातिओं के विषय में यह अनुमान हो सकता है कि द्रव्यत्वादिजातियाँ समवेत हैं, क्योंकि वे जातित्व का आश्रय हैं। इस अनुमान में द्रव्यत्वादिजातियों के आश्रयीभूत पृथिवी, जल आदि व्यक्तियों के भान के विना ही समवाय का भान होता ही है। अतः यह कहा नहीं जा सकता है कि आश्रयीभूत व्यक्ति के साथ ही जातिप्रतियोगिक समवाय का अनुमान होता है।

इस स्थिति में अर्थात् अभिव्यक्ति का स्वरूप यथार्थ रूप से निर्णीत न होने पर पूर्वपक्षी की आपत्ति का खण्डन नहीं हुआ है यही प्रतीत होता है। इसीलिए प्रकाशकारने स्वतन्त्र रूप से पूर्वपक्ष का समाधान के लिए प्रयास किया है। उन्होंने अभिव्यक्ति की बात को परित्याग कर गुणात्यन्ताभाव के अभाव जहाँ हो वहाँ ही द्रव्यत्वजाति का समवाय रहेगा अन्यत्र नहीं यह कहा है। द्रव्यत्वजाति की विश्वव्यापकता रहने पर भी गुण, क्रिया आदि पदार्थों में गुणात्यन्ताभावाभाव के न रहने से नियामक के अभाव रहने से वहाँ द्रव्यत्व जाति के समवाय के रहने की आपत्ति न होगी। यह प्रश्न हो सकता है कि प्रकाशकारने साक्षात् गुण को द्रव्यत्व के समवाय का नियामक न कह कर द्रविड़ प्राणायाम के तुल्य गुण के अत्यन्ताभाव के अभाव को, जो गुण स्वरूप है, द्रव्यत्व के समवाय का नियामक क्यों कहा है। इसका उत्तर यह है कि गुण को साक्षात् रूप से द्रव्यत्व के समवाय का नियामक कहने से उत्पत्तिक्षण में कार्यद्रव्यों में गुण नहीं रहता है। अतः घटादि के उत्पत्तिक्षण में वहां गुण न रहने के कारण घट में जो द्रव्यत्व उत्पत्तिक्षण से सम्बद्ध है उसके समवायसम्बन्ध के नियामक गुण न रहने से घट के उत्पत्तिक्षण में उसमें द्रव्यत्वजाति का सम्बन्ध समवाय भी न रहेगा। वैशेषिक सिद्धान्त में उत्पत्तिक्षण से ही द्रव्यत्व का समवाय कार्यद्रव्य में रहने के सिद्धान्त की हानि होगी। इसलिए गुण को साक्षात् रूप से द्रव्यत्वसमवाय का नियामक न कहकर

---

१. नत्वभिव्यक्तिर्न साक्षात्कारः। समवायस्यातीन्द्रियत्वात्। प्रकाश पृ० १५६

२. नाप्यनुमितिर्व्यक्ति विनापि द्रव्यत्वस्य जातित्वेन समवायानुमानात्। प्रकाश पृ० १५६

गुणात्यन्त्याभाव के अत्यन्ताभाव को नियामक कहा गया है। फलतः गुणात्यन्ताभाव के अत्यन्ताभाव घटादि कार्यद्रव्य में उत्पत्तिक्षण में अत्यन्ताभाव के रूप से रहने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि प्राचीनों के मतानुसार अत्यन्ताभाव जिस प्रकार प्रतियोगी के अधिकरण में नहीं रहता है उसी प्रकार प्रतियोगी के ध्वंस तथा प्रागभाव के अधिकरणों में भी नहीं रहता है। अतः घट के उत्पत्तिक्षण में गुण के न रहने पर भी उस क्षण में गुण का अत्यन्ताभाव भी नहीं रहता है। क्योंकि उत्पत्स्यमान अर्थात् आगे उत्पन्न होने वाले गुणों का प्रागभाव उत्पत्तिक्षण में घट में रहने से गुणों का अत्यन्ताभाव वहां नहीं रह सकता है। अतः वहां गुणात्यन्ताभाव का अभाव ही रहेगा। कोई कोई घट के अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी जिस प्रकार घट होता है उसी प्रकार घटप्रागभाव तथा घटध्वंस भी घटात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है स्वीकार करते हैं। तदनुसार भी गुणात्यन्ताभाव के प्रतियोगी गुण, गुणप्रागभाव तथा गुणध्वंस भी है। अतः उत्पत्तिक्षणों में कार्यद्रव्यों में गुण न होने पर भी गुणात्यन्ताभाव के प्रतियोगी गुणप्रागभाव के रहने से गुणात्यन्ताभाव का अभाव रहेगा। फलतः कोई भी आपत्ति न होगी। उत्पत्तिकालावच्छेदेन घट में गुणात्यान्ताभाव के अभाव के रहने से घट में द्रव्यत्वसमवाय के नियामक के रहने से द्रव्यत्व का द्रव्याश्रयत्व में बाधा न रही[१]।

द्रव्यत्वमेव नास्ति गोत्वादिवदनुपलब्धेरिति केचित्। न। कार्याश्रयतोपलक्षणेन साधर्म्येणाभिव्यक्तस्य सामान्यस्य सास्नादिसंस्थानाभिव्यक्तगोत्ववदेव प्रतीतेः। अन्यथा कार्याश्रयत्वमपि सामान्यानियतं नवस्वेव न स्यात्। कारणत्वं सामान्येन नियम्यते कार्यत्वञ्च। तच्च स्वाभाविकमबाधनात्। बाधनेत्वौपाधिकमिति विशेषः।

[द्रव्यत्व ही नहीं है, गोत्वादि (जातियों के) तुल्य उपलब्ध न होने के कारण (यह) कोई (कहते हैं)। (यह कहा) नहीं (जा सकता है)। कार्याश्रयतोपलक्षित साधर्म्य द्वारा अभिव्यक्त (द्रव्यत्वरूप) सामान्य की सास्नादि (रूप) संस्थान द्वारा अभिव्यक्त गोत्व (जाति के) तुल्य ही, प्रतीति होने के कारण। ऐसा न होने से कार्याश्रयत्व भी सामान्य द्वारा नियमित न होने पर नवविध (द्रव्य) में ही न हो। कारणत्व सामान्य द्वारा नियमित होता है कार्यत्व भी। वह (नियामक धर्म) स्वाभाविक होगा (कोई) बाधा न रहने से। बाधा (रहने पर) औपाधिक (होगा) यह विशेषता है।]

---

१. अत्राहुर्गुणस्यात्यन्ताभावो यत्र नास्ति तत्र द्रव्यत्वं वर्त्तते। अत्यन्ताभावस्य यद्यपि प्रतियोग्येव स च नोत्पत्तिकाले तथापि प्रध्वंसप्रागभावयोरप्यत्यन्ताभावाभावरूपत्वम्। अत्यन्ताभावाश्रयत्वमेव प्रतियोगितद्ध्वंसप्रागभावानामनुगमकम्। प्रकाश, पृ. १५६–७

पृथिवी आदि द्रव्यपदार्थों का साधर्म्य निरूपण करते हुए प्रथम द्रव्यत्वजाति को नवविध द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया है। परन्तु जिस वस्तु को प्रमाणसिद्ध नहीं किया गया उसे किसी का साधर्म्य कहा नहीं जा सकता है। अतः द्रव्यत्व को नवविध द्रव्य का साधर्म्य कहने से पूर्व उसकी सिद्धि आवश्यक है। गोत्व, अश्वत्व आदि जातिआं जिस प्रकार चाक्षुषप्रत्यक्षसिद्ध हैं द्रव्यत्वजाति उसी प्रकार से सर्वद्रव्यसाधारण कोई धर्मरूप से चाक्षुषादि प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है। क्योंकि पृथिवी, जल, आत्मा आदि द्रव्य एक जातीय हैं इस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं होता है। अधिक क्या कहा जाए पार्थिव वस्तु दुग्ध तथा लाक्षा का एकजातीयपदार्थ के रूप से प्रत्यक्ष नहीं होता है। तब विभिन्न द्रव्यों की एकजातीयता प्रत्यक्षानुभव द्वारा गृहीत न होने से सर्वद्रव्यसाधारण द्रव्यत्व को प्रत्यक्षसिद्ध कहा नहीं जा सकता है।

यदि यह कहा जाय कि उत्पन्न वस्तुमात्र ही द्रव्य अर्थात् पृथिवी आदि पदार्थों में आश्रित होकर ही उत्पन्न होता है तथा कोई भी उत्पन्नवस्तु अन्यत्र (पृथिवी आदि से भिन्न पदार्थ में) आश्रित होकर उत्पन्न नहीं होता है। अतः यह अवश्य कहना पड़ेगा कि द्रव्यरूप से परिगणित पृथिवी आदि नवविध पदार्थ ही कार्यमात्र अर्थात् उत्पन्न वस्तुमात्र के प्रति समवायिकारण होते हैं। फलतः उन उत्पन्न वस्तुमात्र में जो कार्यता है तदवच्छिन्न समवायिकारणता पृथिवी आदि नवविध द्रव्य में रहता है यह स्वीकार करना पड़ेगा। कारणतामात्र ही किसी न किसी धर्म द्वारा अवछिन्न अर्थात् नियंत्रित होता है। हमें यह ज्ञात है कि कपाल में जो घटसमवायिकारणता है वह कपालत्व द्वारा अवछिन्न होता है। कोई बाधा न रहने पर कार्यता अथवा कारणता जातिविशेष द्वारा ही अवच्छिन्न होता है। क्योंकि वैशेषिकशास्त्र सम्मत पदार्थों में केवल जाति ही स्वरूपतः अर्थात् अपने स्वरूप से ही प्रकाशित अर्थात् ज्ञात होने में समर्थ है। अन्य कोई भी पदार्थ हमारे सविकल्पज्ञान में स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता। परन्तु अपना किसी धर्म द्वारा विशेषित होकर ही प्रकाश प्राप्त होता है। हम प्रत्यक्ष का विषयीभूत वस्तु को घटः, पटः, मठः, गौः, अश्वः आदि रूप से ही घटत्व, पटत्व, मठत्व, गोत्व, अश्वत्व आदि धर्म द्वारा विशेषित ही ज्ञात होते हैं। ज्ञान में विशेषण अर्थात् अवच्छेदकरूप से जाति के रहने पर उसका कोई अवच्छेदक अर्थात् विशेषण की आवश्यकता नहीं होती है। यथा घटः कहने से घटत्वविशिष्ट वस्तु की प्रतीति होती है। परन्तु दण्डी या छत्री कहने से दण्डत्वविशेषित दण्डविशिष्टवस्तु अथवा छत्रत्वविशेषित छत्रविशिष्टवस्तु की प्रतीति होती है। इससे स्पष्ट होगा कि जाति यदि विशेषण अर्थात् अवच्छेदक हो तब उसकी उपस्थिति अर्थात् ज्ञान विशेषणान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। फलतः दण्डी इस प्रकार के ज्ञान में दण्डत्व जाति प्रकारतावच्छेदक हुए विना पुरुषगत वैशिष्ट्य अर्थात् विलक्षणता का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। यहां पुरुष विशेष्य है तथा दण्डत्वावच्छिन्न दण्ड प्रकार है। परन्तु घटः इस ज्ञान में विशेष्य घट है तथा प्रकार घटत्व है। यहां प्रकार का कोई विशेषण अर्थात् अवच्छेदक की आवश्यकता नही होती है। जातिओं का

स्वरूपतो भान (ज्ञान में विषयरूप से उपस्थिति) होता है। यह सर्वस्वीकृत है। इस स्थिति में पूर्वोक्त सर्वद्रव्यसाधारण समवायिकारणता का अवच्छेदक रूप से किसी जाति की कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि 'द्रव्यं समवायिकारणम्' इस ज्ञान में किसी एक द्रव्यको समवायिकारण समझा नहीं जाता है। परन्तु द्रव्यमात्र को ही समवायिकारण समझा जाता है। समवायिकारणता किन द्रव्यों में है यह प्रश्न होने पर जहां भी द्रव्यत्व हो वहीं समवायिकारणता रहती है यही युक्तितर्क से ज्ञात होता है। इसलिए समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से उसे द्रव्यों में नियन्त्रित करने वाला द्रव्यत्व को माना जाता है। जहां द्रव्यत्व हो वहां समवायिकारणता रहती है तथा जहां भी समवायिकारणता है वहां द्रव्यत्व का अनुमान किया जा सकता है। द्रव्यत्वशून्य किसी व्यक्ति को समवायिकारण होते देखा नहीं जाता है। इस प्रकार से प्रमाणसिद्ध जाति को ही वैशेषिकशास्त्र में द्रव्यत्व कहा गया है। द्रव्यत्व के अनुमान का आकार निम्नलिखित रूप है।

'कार्यसमवायिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् दण्डनिष्ठघटकारणतावत्।'

इस अनुमान में पक्षीभूत कार्यसमवायिकारणता में किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व ही साध्य है। पक्ष में किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व की सिद्धि होने पर भी द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि 'गुणवत्त्व' रूप उपाधि भी 'किञ्चिद्धर्म' शब्द से गृहीत हो सकता है। समवायिकारणता जहां भी है वहां अर्थात् सब द्रव्य में गुणवत्त्व अवश्य रहता है। फलतः उपर्युक्त अनुमान द्वारा द्रव्यत्व की सिद्धि किस प्रकार से होगी ?

यदि कहा जाय कि जातिआं वस्तु का स्वाभाविक अतः अनागन्तुक धर्म हैं। उपाधियां आगन्तुक धर्म होने से उनको अवच्छेदक स्वीकार करना उचित न होगा। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कल्पनीय (जिसकी कल्पना करनी होगी) तथा क्लृप्त इन दो प्रकार के धर्म में क्लृप्तधर्म की अवच्छेदकता की सम्भावना रहने पर कल्प्यधर्म (अर्थात् जिसकी कल्पना करनी होगी) की अवच्छेदकता युक्तियुक्त न होगा। प्रस्तुत स्थल में 'गुणवत्त्व, द्रव्य में क्लृप्त (अर्थात् जिसकी कल्पना हो चुकी है) है। परन्तु द्रव्यत्व जाति अभी तक सिद्ध न होने के कारण उसकी कल्पना करनी होगी। अतः द्रव्यत्वजाति कार्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक न होगा परन्तु गुणवत्त्व ही अवच्छेदक होगा।

उपर्युक्त आपत्तियों के उत्तर में कहा जा सकता है कि गुणवत्त्व को द्रव्यनिष्ठ समवायिकारणता का अवच्छेदक मानने पर वह स्वरुपतः अवच्छेदक नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'गुणवत्त्व' शब्द का अर्थ है गुण, गुण चौबीस हैं। अतः गुण शब्द से समस्तगुणों के ग्रहण तभी हो सकेगा यदि गुणत्वजाति के आश्रयरूप से वह विशेषण या अवच्छेदक हो। अन्यथा यदि हम गुण शब्द से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि को एक एक व्यक्ति के रूप से लें तो क्रमशः वायु, आकाश आदि में उन गुणों के न रहने से गुणवत्त्व अर्थात् गुण की अवच्छेदकता बन नहीं सकेगी। क्योंकि गुण शब्द से समस्त गुणव्यक्तियों का ही ग्रहण होगा।

इसलिए गुण शब्द से समस्तगुणों के ग्रहण को सम्भव करने के लिए गुणशब्द का अर्थ गुणत्वजाति का आश्रय कहना पड़ेगा। जिससे संख्या आदि सर्वद्रव्यवृत्ति गुणों का ग्रहण हो सकेगा। परन्तु तब गुण स्वरूपतः अवच्छेदक न होकर गुणत्वजात्यवच्छिन्न होकर अवच्छेदक होगा। द्रव्यनिष्ठ समवायिकारणता यदि गुणत्वावच्छिन्न कहा जाएगा तो गुण वहां गुणत्वावच्छिन्न होकर अवच्छेदक होगा। फलतः द्रव्यनिष्ठसमवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकरूप से गुणत्व की उपस्थिति भी रहेगी। निरवच्छिन्न अर्थात् अविशेषित गुण द्रव्यनिष्ठ समवायिकारणता का अवच्छेदक हो नहीं सकता है। तदर्थ यदि गुणत्व को तादृशकारणतावच्छेदकतावच्छेदक रूप कल्पना करना ही पड़ा तब तदपेक्षया द्रव्यत्वजाति को उस समवायिकारणतावच्छेदक कहने में उपस्थिति में लाघव होगा। द्रव्यत्व जाति समवायसम्बन्ध से द्रव्यमात्र में रहने से उसका कोई विशेषण या अवच्छेदक की आवश्यकता न होगी। परन्तु गुणवत्त्व अर्थात् गुण (कोई एक गुणव्यक्ति, यथा रूप) सर्वसाधारण न होने से उसको गुणत्व जाति के आश्रय के रूप से 'स्ववृत्तिगुणत्वजात्याश्रयत्वरूप परम्परासम्बन्ध से ही अवच्छेदक माना जा सकेगा। जहां साक्षात्‌रूप से सम्बद्ध वस्तु की अवच्छेदकता बाधित है वहां परम्परा सम्बन्ध से सम्मद्ध वस्तु की अवच्छेदकता कल्पना की जाती है।[१] अतः उपर्युक्त अनुमान में लाघव ज्ञान सहकृत 'द्रव्यनिष्ठसमवायिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इस अनुमान में किञ्चिद्धर्म के रूप में द्रव्यत्वजाति ही कारणतावच्छेदक सिद्ध होगा।

यहां शङ्का होगी कि लाघवानुगृहीत अनुमान की सहायता से प्रत्यक्ष का अविषयभूत जाति सिद्ध होने पर 'स्पर्शनिष्ठकार्यतानिरूपित समवायिकारणता किञ्चिद्धर्म्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इस अनुमान से पृथिव्यादि चतुर्विध द्रव्यसाधारण एक जाति भी कल्पित हो सकती है। क्यों कि स्पर्श की समवायिकारणता पृथिवी, जल, तेज तथा वायु में ही रहती है। इस समवायिकारणता का अवच्छेदक कोई जाति सिद्ध होने पर पृथिव्यादि चार द्रव्य में ही रहेगी अन्यत्र नहीं।

उपर्युक्त आपत्ति युक्तिसङ्गत नहीं हैं। क्यों कि स्पर्शत्वजाति नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार स्पर्श में रहती है। स्पर्शमात्र ही कार्य नहीं है। स्पर्शनिष्ठ कोई कार्यता भी नहीं हो सकती है। क्यों कि नित्यस्पर्श किसी का कार्य नहीं। अतः उसमें कार्यता भी नहीं है। फलतः स्पर्शत्वावच्छिन्न कोई कार्यता न रहने से उक्त अनुमान द्वारा तादृश कार्यतानिरूपित समवायिकारणता का अवच्छेदकधर्मरूप से किसी जाति की सिद्धि न होगी।[२]

---

१. न च गुणवत्त्वमुपाधिस्तदवच्छेदकं जातौ बाधके सत्येव उपाधिस्वीकारात्। उपाधिः क्लृप्तो, जातिः कल्प्येति चेन्न। साक्षात्सम्बद्धधर्मबाधे सत्येव परम्परासम्बद्धस्यावच्छेदकत्वात्। प्रकाश. पृ० १५६

२. पृथिव्यादिचतुष्टुं स्पर्शसमवायिकारणतया चैका जातिः स्यादितिचेन्न। स्पर्शत्वद्रव्यत्वयोः कार्याकार्यवृत्तित्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वात्। प्रकाश, पृ० १५६

पूर्वपक्षी यह शङ्का पुनः करते हैं कि 'अनित्यस्पर्शनिष्ठ-कार्यतानिरूपित-समवायिकारणता किञ्चिद्धर्म्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' इस प्रकार से अनुमान के पक्ष को विशेषित करने पर अनित्यस्पर्श में कार्यता अवश्य होगी तथा वह कार्यता का अवच्छेदक भी अनित्यत्वसामानाधिकरण्यविशिष्ट स्पर्शत्व होगा। फलतः अनित्यत्वसामानाधिकरण्यविशिष्ट स्पर्शत्वावच्छिन्न कार्यतानिरूपित समवायिकारणता का अवच्छेदकरूप से एक विलक्षण जाति की सिद्धि होने में बाधा नहीं है। इसी प्रकार 'जन्यद्रव्यनिष्ठ-कार्यतानिरूपित समवायिकारणता किञ्चिद्धर्म्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' अनुमान से पृथिव्यादि चार द्रव्य में एक विलक्षण जाति की कल्पना भी हो सकेगी।

इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि हम जन्यस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदक के रूप से कोई विलक्षण जाति की कल्पना करें तो वह जाति चतुर्विधद्रव्यसाधारणधर्म न होगा। क्योंकि वह विलक्षण जाति जन्यस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदक होने से जलीय आदि त्रिविध परमाणुओं में रह नहीं सकेगा। जलीय आदि परमाणु जन्यस्पर्श का समवायिकारण नहीं होते हैं। इसी प्रकार जन्यद्रव्य के समवायिकारणतावच्छेदक के रूप से यदि कोई विलक्षण जाति कल्पित होती है तो वह जाति भी चतुर्विध द्रव्य का साधारणधर्म न होगा। क्यों कि जन्यद्रव्यसमवायिकारणता अन्त्यावयविद्रव्यों में नहीं रहता है। अन्त्यावयवी द्रव्यसमूह किसी भी द्रव्य का समवायिकारण नहीं होते हैं। अतः तादृश समवायिकारणतावच्छेदक वह विलक्षणजाति वहां नहीं रह सकती है। इस स्थिति में वह विलक्षण धर्मों को जाति भी कहा नहीं जा सकेगा। क्यों कि वह दोनों विलक्षणधर्म ही जलत्वादि जातियों से सङ्कीर्ण हो जाएंगे।[१] जन्यस्पर्श समवायिकारणतावच्छेदकरूप से कल्पित विलक्षणधर्म केवल जन्यस्पर्शसमवायिकारणभूत पृथिवी आदि चार द्रव्य में रहेगा। अर्थात् नित्य तथा अनित्य पृथिवी, अनित्यजल, अनित्यतेजः तथा अनित्यवायु यह चार द्रव्य ही जन्यस्पर्श का समवायिकारण होते हैं। परन्तु नित्यजल, नित्यतेजः तथा नित्यवायु (अर्थात् जल, तेज तथा वायु परमाणु) जन्यस्पर्श का समवायिकारण नहीं होते हैं। फलतः जलत्वजाति नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार जलों में रहने से अनित्य जल में रहने वाला पूर्वोक्त कल्पित विलक्षणधर्म के साथ समानाधिकरण होते हुए नित्यजल (जलीय परमाणु) में, जहां वह विलक्षणधर्म नहीं है, वहां, भी रहता है। वह विलक्षणधर्म नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार पृथिवी में रहने पर भी पृथिवी में जलत्व नहीं रहता है। इस से जलत्व तथा वह विलक्षणधर्म परस्पर के अत्यन्ताभाव के अधिकरणों में रहते हुए जन्यजल में समानाधिकरण भी हुए। यही धर्मो की सङ्करता है। इसी प्रकार तेजस्त्व, वायुत्व से भी वह कल्पित विलक्षणधर्म सङ्कीर्ण होगा। जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकरूप से कल्पित विलक्षण-

---

१. न चानित्यत्वेन स्पर्शवद्द्रव्ये विशेष्ये जलादि परमाणौ स्पर्शसमवायिकारणत्वाभावेनान्त्यावयविनि च द्रव्यसमवायिकारणत्वाभावेन तज्जात्योरनङ्गीकारे जलत्वादिना सङ्करापत्तेः। प्रकाश, पृ० १५९

धर्म भी जलत्व आदि तीन जातियों से सङ्कीर्ण होगा। क्यों कि अनित्य तथा अन्त्यावयवी जल किसी जन्यद्रव्य का समवायिकरण न होने से उसमें वह विलक्षणधर्म रह नहीं सकता परन्तु जलत्व वहां अवश्य है। कपाल, तन्तु आदि पार्थिवद्रव्य में वह विलक्षणधर्म रहेगा परन्तु जलत्व वहां नहीं रहेगा। किन्तु अन्त्यावयविभिन्न जल में वह विलक्षणधर्म तथा जलत्व दोनों रहेंगे। फलतः परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण होते हुए उभयधर्म ही अन्त्यावयविभिन्न जल में विद्यमान होगा यही उनका साङ्कर्य है। अतः जन्यस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदक अथवा जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक के रूप में कोई उपाधि की कल्पना करना सम्भव होने पर भी उस उपाधि अर्थात् धर्म का जातित्व कल्पना करना सम्भव न होगा। इसी लिए कार्यमात्र के समवायिकारणतावच्छेदक के रूप में सर्वद्रव्यसाधारण एक द्रव्यत्वजाति सिद्ध होती है।

प्रकाशकार के विचार से प्रत्यक्षानुभव द्वारा भी द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो सकती है। क्यों कि सभी लोग पृथिवी जल आदि को द्रव्य समझते हैं।[1] अतः अबाधित तथा सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्ष से भी द्रव्यत्वजाति सिद्ध होने में बाधा नहीं है। पृथिवीत्व जाति से वह प्रत्यक्षप्रतीति अन्यथासिद्ध नहीं होगी। क्यों कि जलीय पदार्थ को भी द्रव्य ही समझा जाता है।[2] अतः पृथिवी तथा जल में 'ये द्रव्य हैं' इस प्रकार प्रत्यक्ष का विषयीभूत द्रव्यत्व को पृथिवी तथा जल इन दोनों का साधारणधर्म कहना पड़ता है। क्यों कि पृथिवीत्व या जलत्व पृथिवी तथा जल का उभयसाधारणधर्म नहीं हैं। कोई कोई उक्त प्रत्यक्षप्रतीति को गुरुत्व से अन्यथासिद्ध समझते हैं। क्योंकि पृथिवी तथा जल में जो 'ये द्रव्य हैं' यह प्रत्यक्ष प्रतीति है वह गुरुत्व के कारण होता है यह कहा जा सकता है। पृथिवी तथा जल दोनों में गुरुत्व रहता है। इस लिए उन दोनों में गुरुत्व के रहने से भी समानाकार प्रतीति हो सकती है। परन्तु गुरुत्व की धारणा जिनको नहीं है उनको भी पार्थिव तथा जलीय वस्तु में 'ये द्रव्य हैं' यह प्रतीति होती है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्वोक्त प्रतीति द्वारा सिद्ध जो उभयसाधारणधर्म होगा वह आकाशादि साधारण है इस प्रकार कोई प्रमाण न रहने से उस उभयसाधारणधर्म को वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत द्रव्यत्व जाति के स्थानापन्न नहीं कहा जा सकता है। द्रव्यत्व जाति को वैशेषिक मत में सर्वद्रव्यसाधारणधर्म कहा गया है। अतः पूर्वोक्त प्रत्यक्ष द्वारा पृथिवी तथा जलका एकजातीयत्व सिद्ध होने पर भी उस प्रत्यक्ष द्वारा द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं होगी।[3]

इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त प्रत्यक्षप्रतीति द्वारा पृथिवी तथा जल में उभयसाधारण जो धर्म सिद्ध होगा उसकी सर्वद्रव्यसाधारणता प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध न होने पर भी अनुमान से

---

१. यद्वा द्रव्यमिति तावत् प्रत्यक्षं सर्वसिद्धम्। प्रकाश, पृ० १५६

२. तच्च यथा पृथिव्यां तथा जलेऽपि। प्रकाश, पृ० १५९–६०

३. व्योमवद् गुरुत्वं तदज्ञानेऽपि तद्बोधादिति। प्रकाश, पृ० १६४

उसकी सिद्धि होगी। क्यों कि 'गगनं तादृशवैजात्यवत् संयोगित्वाद् घटवत्' इस अनुमान से उस वैजात्य की गगनादिसाधारणता प्रमाणित होने से वह वैजात्य अर्थात् वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत द्रव्यत्व ही हो जाता है।[१]

प्रकाशकारने पृथिवी तथा जल एतदुभयसाधारण द्रव्यत्व को प्रत्यक्षसिद्ध बतलाकर पश्चात् अनुमान द्वारा उस द्रव्यत्व का आकाशादिसाधारण्य प्रमाणित किया है। प्रकाशकार यह समझते हैं कि द्रव्यत्वजाति को अप्रत्यक्ष मानने पर भी उसकी सिद्धि हो सकती है। उन्होंने "आकाशादित्रयं सत्तान्यूनवृत्तिजातिमत् संयोगजनकत्वात् कर्मवत्" इस अनुमान द्वारा आकाश, काल तथा दिक् में संयोगजनकतारूप हेतु के बलपर सत्ता से न्यूनवृत्ति कोई जाति का अनुमान कर्म के दृष्टान्त पर किया है। कर्म जिस प्रकार संयोग का कारण होने से सत्ता से न्यूनवृत्ति कर्मत्वजातिविशिष्ट होता है उसी प्रकार आकाश, काल तथा दिक् भी संयोग का कारण होने से सत्ता से न्यूनवृत्ति कोई जाति का आश्रय अवश्य होंगे। वैशेषिकमत में कर्मत्वजाति प्रत्यक्षसिद्ध है। आकाश काल तथा दिक् कर्म अर्थात् क्रिया के तुल्य ही संयोग का जनक होने से क्रिया के तुल्य ही सत्ता से न्यूनवृत्ति जातिमान् भी होंगे। इस प्रकार का एक जातिविशेष की सिद्धि होने पर भी उसकी द्रव्यत्वरूपता प्रमाणसापेक्ष है। क्यों कि पृथिवी आदि से उस जाति का सम्बन्ध ऊपर कहे गये अनुमान से सिद्ध नहीं होता है। इस लिए एक अन्य अनुमान द्वारा पृथिवी आदि से उस जाति का सम्बन्ध सिद्ध करना होगा। उस अनुमान का आकार निम्नलिखित है। 'पृथिव्यादिषट्कं कालवृत्तिसत्ताव्याप्यजातिमत् संयोगजनकत्वात् व्योमवत्'। इस अनुमान में व्योम अर्थात् आकाश जिसमें, सयोग का जनक होने से, कालवृत्तिसत्ताव्याप्यजाति पूर्वानुमान द्वारा सिद्ध हो चुका है, को दृष्टान्त लिया गया है। अर्थात् आकाश जब संयोग का जनक होने से कालवृत्ति सत्ताव्याप्यजाति का आश्रय है तब पृथिव्यादि, अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन तथा आत्मा, ये भी संयोग का जनक होने से उसी प्रकार कालवृत्ति सत्ताव्याप्यजाति का आश्रय होंगे। इससे प्रथम अनुमान द्वारा सिद्ध कालादिवृत्ति विलक्षण जाति की पृथिव्यादिसाधारणता द्वितीय अनुमान से सिद्ध हो जाता है। फलतः कालादिवृत्ति सत्ताव्याप्यजाति का पृथिव्यादि साधारण्य की सिद्धि होने पर उस विलक्षण सत्ताव्याप्यजाति का नवद्रव्यसाधारणता तथा द्रव्यत्वरूपता भी सिद्ध हो गया।[२]

किरणावलीरहस्यकार मथुरानाथने 'द्रव्यत्वमेव नास्ति' आदि ग्रन्थपंक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि पूर्वपक्षी 'द्रव्यत्वरूप जाति नहीं है, क्योंकि वह उपलब्धि का विषय नहीं होता है,

---

१. व्योमादावपि संयोगादिना तत् साध्यम्। प्रकाश, पृ० १६४

२. यद्वा आकाशादित्रितयं सत्ताव्याप्यजातियोगि संयोगजनकत्वात् कर्मवदिति त्रितयमात्रवृत्तिजातिसिद्धौ पृथिव्यादिषट्कं कालवृत्तिसत्ताव्याप्यजातिमत् संयोगजनकत्वाद् व्योमवत्। प्रकाश, पृ० १६०

जैसा गोत्वादि जाति' इस अनुमान द्वारा द्रव्यत्वजाति का निषेध सिद्ध करते हैं यही ग्रन्थ की पंक्ति से प्रतीत होता है। यह युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि उक्त अनुमान में पक्षभूत द्रव्यत्व यदि है तब उसका निषेध नहीं हो सकता है। किसी वस्तु को यदि 'है' यह स्वीकार किया जाय तब उसका अस्तित्व रहने के कारण उसका निषेध हो नहीं सकता है। और यदि द्रव्यत्व न हो तब भी उसका निषेध नहीं हो सकता है। क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं वह अलीक अर्थात् मिथ्या होने से उसका निषेध नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति में द्रव्यत्व की सिद्धि तथा असिद्धि दोनों द्वारा व्याहत अर्थात् बाधा प्राप्त होने के कारण द्रव्यत्व को पक्ष मानकर पूर्वोक्त अनुमान की सम्भावना नहीं है। दूसरा दोष इस में यह है कि इस अनुमान में उपलब्धिविषयत्व का अभाव को हेतु बनाया गया है। वह हेतु गोत्वादि दृष्टान्त में नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादि द्वारा गोत्व का उपलब्धि ही होती है। तथा उपलब्धिविषयत्व का अभावरूप हेतु स्वयं अलीक अर्थात् मिथ्या वस्तु है। क्योंकि वैशेषिक मत में ज्ञेयत्व केवलान्वयि अर्थात् सर्वत्र रहने वाला धर्म होनेसे उसका अत्यन्ताभाव कहीं भी रह नहीं सकता। अतः पूर्वपक्षी अपने पूर्वोक्त अनुमान की सहायता से द्रव्यत्वजाति का निषेध सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

परन्तु इस पूर्वपक्ष के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि हम 'इदं द्रव्यम्' 'एतानि द्रव्याणि' आदि शब्द का प्रयोग पृथिव्यादि नवविध द्रव्यको समझाने के लिए करते हैं। इस प्रकार से द्रव्यपदकी प्रवृत्ति तथा उसका निमित्त अर्थात् हेतु उभयवादिसिद्ध वस्तु है। क्योंकि एक कोई अनुगत धर्म अर्थात् साधारण धर्मके विना भिन्न-भिन्न प्रकार के पृथिवी, जल, तेज आदि वस्तुओं को समझाने के लिए अनुगतरूप से एक ही द्रव्यपद का प्रयोग होना सम्भव नहीं होता। फलतः द्रव्यपदकी इस प्रकार की प्रवृत्ति के निमित्तरूप से जो अनुगत एक धर्म की आवश्यकता है वही द्रव्यत्व है। उसका अस्तित्व में किसीका विवाद नहीं है। परन्तु वह द्रव्यत्व जाति है अथवा गुणवत्त्वरूप उपाधि है इसी विषय में विवाद है।[१] फलतः द्रव्यत्व के स्वरूप के विषय में कोई विवाद न रहने से उसकी सिद्धि तथा असिद्धि उभय पक्ष में ही द्रव्यत्वपक्षक अनुमान हो नहीं सकता है यह कहना युक्तियुक्त न होगा। पूर्वोक्त अनुमान के स्थान में द्रव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त के रूप से सिद्ध द्रव्यत्वरूप पक्ष में अनुपलब्धिरूप हेतु के बलपर जातित्व का अभावको सिद्ध किया जा सकता है।[२] यहां 'अनुपलब्धि' शब्द से लौकिकप्रत्यक्षनिरूपित किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारता का अभाव समझना होगा। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्वपक्षी 'द्रव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं जातित्वाभाववद् लौकिकप्रत्यक्षनिरूपितकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारत्वाभाववत्त्वाद् गुरुत्वादिवत्' इस प्रकार अनुमान से द्रव्यत्व की जातिरूपता निषेध करने का प्रयास कर रहे हैं। घट, पट, गौ, अश्व आदि में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि वैचित्र्य होते हैं। कम से कम उन में व्यक्तियों के भेद तो अवश्य ही

---

१. तथापि द्रव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं तावदुभयवादिसिद्धं तज्जातिगुणवत्त्वलक्षणोपाधिर्वेत्येव विवादः। रहस्य पृ० १८०

२. अनुपलब्धेः स्वरूपतो लौकिकप्रत्यक्षाप्रकारत्वात्। रहस्य, पृ० १८०

होता है। इस स्थिति में समस्त घटव्यक्तियों में जिस वस्तु की उपस्थिति अर्थात् ज्ञान होने के कारण उन व्यक्तियों में अनेक विलक्षणता के रहते हुए हम एक ही 'घट' शब्द का प्रयोग करते हैं वह वस्तु ही घट का भाव अथवा घटपदप्रवृत्तिनिमित्त कहलाता है। घदपदप्रवृत्ति-निमित्तभूत उस वस्तुको हम घटत्वशब्द से समझाते हैं। वह 'घटत्व' उपाधि अथवा जाति हो सकता है। केवल घटशब्द की प्रवृत्ति से ही घटत्व का जातित्व प्रमाणित नहीं होता है। इसी लिए पूर्वपक्षी 'द्रव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं' को पक्ष मानकर उस पक्ष में अर्थात् 'द्रव्यत्व' में जातित्व का अभाव को सिद्ध करने के लिए अनुमान करते हैं। इस अनुमान में हेतुरूप से अनुपलब्धि जो 'लौकिकप्रत्यक्ष में किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारत्व का अभाव' रूप है, को लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि लौकिकप्रत्यक्ष विशिष्टबुद्धि होती है। विशिष्टबुद्धि मात्र में विशेषणनियन्त्रित विशेष्य की ही उपस्थिति होती है। विशेषण प्रकाररूप से तथा विशेष्य, विशेष्यरूप से बुद्धि में भासमान होता है। जो विशेषण अर्थात् प्रकार अपने स्वरूप से ही विशेष्यता को नियन्त्रित करता हो उस विशेषणभूत धर्म का जातित्व स्वीकृत है। अनुल्लिख्यमान जाति के ज्ञान में स्वरूपतो भान सर्ववादिसिद्ध है। फलतः किसी विशिष्टबुद्धि में जो धर्म स्वरूपतः विशेषण अर्थात् प्रकाररूप से उपस्थित हो उसकी जातिता भी सिद्ध हो जाती है। यहां 'द्रव्यम्' इस प्रकार की विशिष्टबुद्धि में विशेषणभूत 'द्रव्यत्व' (द्रव्यपद के प्रयोग के हेतु) में जातित्व तभी सिद्ध हो सकता है यदि लौकिकप्रत्यक्ष में उसका स्वरूपतो भान हो। पूर्वपक्षीने 'द्रव्यम्' इस प्रकार ज्ञान में द्रव्यत्व का स्वरुपतः, अर्थात् किसी धर्मान्तर से अनियन्त्रित, प्रकारता नहीं है अतः उसमें जातित्व का अभाव सिद्ध होगा समझकर अनुमान का प्रयोग किया है। परन्तु वैशेषिकसम्प्रदाय में मनस्त्व, घ्राणत्व आदि अतीन्द्रिय धर्मो को जातिरूप ही स्वीकार किया गया है। इन अतीन्द्रिय जातियों में लौकिकप्रत्यक्षनिरूपित किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारत्वाभाववत्त्वरूप हेतु के रहने से तथा वहां जातित्वाभाव के न रहने (व्याप्य धर्म हेतु के रहते हुए व्यापकधर्म साध्य के न रहने) से व्यभिचार होगा। इस व्यभिचार के वारण के लिए यदि हेतु में 'ऐन्द्रियक-समवेतत्वविशिष्ट' यह विशेषण दिया जाए तो अतीन्द्रिय मनस्त्व, घ्राणत्व आदि जातियों में 'ऐन्द्रियकसमवेतत्व' न रहने से पूर्वोक्त हेतुरूप विशेष्यांश रहने पर भी विशेषणांश के न रहने से व्यभिचार न होगा।[१]

अथवा पूर्वोक्त हेतु में 'लौकिक' यह अंश का परित्याग करने से भी व्यभिचार का वारण हो सकेगा। क्योंकि तब प्रत्यक्षनिरूपित किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारत्वाभाववत्त्व ही हेतु होगा। फलतः मनस्त्व आदि अतीन्द्रियजातियों का भी ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से अलौकिक प्रत्यक्ष स्वीकृत रहने के कारण उन जातियों में प्रत्यक्षनिरूपित किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारत्वा-

---

१. न च मनस्त्वघ्राणत्वाद्यतीन्द्रियमात्रवृत्तिजातौ व्यभिचार ऐन्द्रियकसमवेतत्वे सती-त्यनेन विशेषणात्। रहस्य पृ० १८०

भाववत्त्वरूप हेतु न रहेगा। अतः हेतु व्यभिचारी न होगा। पूर्वपक्षी हेतुवाक्य में संशोधन करने से पूर्वोक्त अनुमान का आकार होगा 'द्रव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं जातित्वाभाववत् प्रत्यक्ष-निरूपित किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारत्वाभाववत्वाद् गुरुत्ववत्'' ।[१]

इसी पूर्वपक्ष को दृष्टिगत रखकर किरणावलीकारने 'कार्याश्रयतोपलक्षणेन' आदि पंक्तियों को कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्वपक्षी अनुपलब्धि के कारण द्रव्यत्वजाति को स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु द्रव्यत्व की उपलब्धि नहीं होती है यह यथार्थ नहीं है। द्रव्यत्व का प्रत्यक्ष भी होता है। अतः अनुपलब्धिरूप हेतु स्वरूपासिद्ध होने से उसके बलपर द्रव्यत्वजाति के निषेध का अनुमान हो नहीं सकता है। ग्रन्थकार का आशय यह है कि कार्याश्रयता अर्थात् कार्यसमवायिकारणतारूप धर्मोपलक्षित कार्य-समवायिकारणों में अर्थतः एक सामान्यधर्म की अभिव्यक्ति होती है। समवायिकारणतारूप धर्म उपलक्षण मात्र होने से अर्थात् सर्वदा ज्ञाताज्ञात सकलसमवायिकारणों में विद्यमान न रहने से एक कपालयुगल को घटसमवायिकारण जानने पर भी घटार्थी व्यक्ति के लिये अन्य कपाल-युगल का परिग्रह करना सम्भव न होगा। इस अनुपपत्ति के कारण ज्ञाताज्ञात सकलसमवायि-कारणगत समवायिकारणता को नियन्त्रित करने के लिए सकलसमवायिकारणगत एक धर्म को स्वीकार करना पड़ता है। अर्थात् 'कार्यसमवायिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् दण्डनिष्ठघटकारणतावत्' इस अनुमान द्वारा कार्यसमवायिकारणता के अवच्छेदक (नियन्त्रक) धर्म के रूप से सर्वद्रव्यसाधारण एक धर्म सिद्ध होता है। वह धर्म प्रत्यक्षयोग्य घट, पट आदि वस्तुओं में आश्रित होने के कारण उन घट, पट आदि व्यक्तियों के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी उस धर्म का भान (उपस्थिति) होता है। फलतः घट, पट आदि प्रत्यक्षयोग्य वस्तु के चाक्षुषादि प्रत्यक्षों में भी उस धर्म की उपस्थिति होती है। अतः उपलब्धिगम्य उस सर्वद्रव्यसाधारण धर्म अर्थात् द्रव्यत्व को अनुपलब्धि के कारण निषेध नहीं किया जा सकता है। किरणावली के 'कार्याश्रयतोपलक्षणेन साधर्म्येण' इस पंक्ति की व्याख्या में रहस्यकारने कार्याश्रयता शब्द का जन्यभावत्वावच्छिन्न कार्यतानिरूपित समवायिकारणता अर्थ किया है।[२] तथा 'उपलक्षण' शब्द को 'वृत्ति' अथवा 'निष्ठ' अर्थ में ग्रहण किया है। अतः रहस्यकार के अनुसार उस पंक्ति का 'जन्यभावत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायिकारणतानिष्ठ जो कारणतात्व उसके द्वारा' यह अर्थ होगा।[३]

---

१. वस्तुतस्तु स्वरूपतः प्रत्यक्षाप्रकारत्वादित्येव हेतुर्नतु लौकिकत्वं निवेशनीयम्। तथा च मनस्त्वादावप्युपनीतभानमादायैव तादृशप्रकारत्वसत्त्वाद् हेत्वभावादेव न व्यभिचार इति तत्त्वम्। रहस्य, पृ० १८०

२. कार्याश्रयत्वमपीति। जन्यसत्सामान्यसमवायिकारणत्वमपीत्यर्थः। रहस्य पृ० १८१

३. कार्याश्रयतोपलक्षणेनेति। जन्यसत्सामान्यसमवायिकारणतानिष्ठेनेत्यर्थः। रहस्य, पृ० १८०

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूप हानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः ॥

[(किसी धर्म के जातित्व में बाधक हेतुओं का वर्णन किया जा रहा है) व्यक्ति का अभेद (अर्थात् अभिन्नव्यक्तिकत्व), तुल्यता (अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व अर्थात् समनैयत्य), साङ्कर्य, अनवस्था, रूपहानि (अर्थात् स्वरूप की हानि), तथा असम्बन्ध (यही) जातिबाधकों (अर्थात् जाति होने में बाधा उत्पन्न करने वाले हेतुओं) का संग्रह (अर्थात् एकत्र उल्लेख) हैं ।)]

आचार्य उदयनने यहां छः जातिबाधकों का उल्लेख किया है । अभिन्नव्यक्तिकत्व, तुल्यता, साङ्कर्य, अनवस्थिति, रूपहानि तथा असम्बन्ध यह छ में किसी एक की उपस्थिति रहने पर विचारणीय धर्म की जातिता को अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है । यहां 'जातिबाधक' यह समस्त पद में जाति शब्द जातित्व का बोधक है । यहां उन हेतुओं का संग्रह किया गया हैं जिनमें कोई एक की उपस्थिति से ही प्रस्तुत किसी धर्म के जातित्व के विषय में अनुमान में बाधदोष होने से वह अनुमिति नहीं होती है । फलतः वह प्रस्तुत धर्म जाति है यह सिद्ध नहीं होता है । इस प्रकरण के प्रारम्भ में आचार्य ने पूर्वपक्षियों के आशय को व्यक्त करते हुए कहा है कि द्रव्यत्व की उपलब्धि न होने के कारण उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है । इसी आशङ्का पर उन्होंने कहा कि कार्याश्रयता अर्थात् कार्यसमवायिकारणता का उपलक्षणभूत धर्म समवायिकारणतात्व समवायिकारणतास्वरूप होने से तथा समवायिकारणता भी समवायिकारणस्वरूप होने से समवायिकारणव्यक्तियों के भेद से भिन्न भिन्न होते हैं । परन्तु उन समवायिकारणव्यक्तियों के लिए 'समवायिकारण' शब्द का प्रयोग के निमित्त है समवायिकारणता । वह समवायिकारणता यदि अपना स्वरूप (अर्थात् समवायिकारणतात्व) द्वारा ही नियन्त्रित हो तो समस्त समवायिकारणव्यक्तियों में रह नहीं सकती है । क्यों कि वह समवायिकारणतात्व समवायिकारणता से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं हैं । यह समवायिकारणता समस्त समवायिकारणव्यक्तियों में रहने के कारण ही समस्त समवायिकारणों में एक समानता की उपलब्धि होती है । जिससे हम सभी समवायिकारणों को 'समवायिकारण' कहते हैं । यदि वह समवायिकारणता 'सामान्य' (अर्थात् जाति) द्वारा नियन्त्रित न हो तो समस्त समवायिकारणों में वह (समवायिकारणता) प्रतीत नहीं हो सकती है । फलतः कार्यत्व हो या कारणत्व वह अवश्य ही बाधा न रहने से 'सामान्य' द्वारा ही नियन्त्रित होंगे । क्यों कि 'सामान्य' ही वस्तु का स्वाभाविक धर्म होता है । उपाधि (अर्थात जो धर्म स्वाभाविक नहीं) को नियन्त्रक मानने पर अवश्य ही बाधा होती है । उन्हीं बाधाओं को आचार्य ने यहां संग्रह कर बताया है ।

यद्यपि सामान्योद्देश प्रकरण (पृ० १८१–१८४) में आचार्यने 'नैकव्यक्तिकं सामान्यमस्ति' आदि ग्रन्थ द्वारा इन्हीं छः जातिबाधकों का विचार किया है तथा प्रकाशकारने भी उनकी व्याख्या किया है । हमने वहां आचार्य तथा प्रकाशकारके अभिप्रायों को यथाबुद्धि वर्णन भी

किया है । ग्रन्थकारने यहां उन्हीं बाधकों का पृथक् विचार प्रस्तुत किया है । इस लिए हमें भी व्याख्या करना आवश्यक प्रतीत हुआ है । यहां हम नव्यमतों की भी आलोचना प्रस्तुत करेंगे ।

व्यक्ति के अभेद को जातिबाधक कहा गया है । अर्थात् अभिन्नव्यक्तिमात्रवृत्ति धर्म की जातिता नहीं होती है । 'आकाशत्व' एक तथा अद्वितीय आकाश में रहने के कारण जाति नहीं है । अनुमान का आकार यह है—'आकाशत्वं न जातिः, अभिन्नव्यक्तिमात्रवृत्तित्वात्, एतद्घटत्ववत्' ।[१] यहां 'व्यक्तेरभेदः' शब्द का अर्थ अभिन्नव्यक्तिकत्व है । अभिन्न-व्यक्ति' शब्द का अर्थ एकत्वविशिष्टव्यक्ति नहीं हो सकता है । क्योंकि एकत्व संख्या प्रत्येक द्रव्य में ही होने से प्रत्येक घटव्यक्ति ही अभिन्नव्यक्ति होंगे । फलतः घटत्व भी 'एकत्वविशिष्टव्यक्तिक' होगा । अतः नव्यमत में 'व्यक्तेरभेदः' का अर्थ स्वप्रतियोगिवृत्तित्व तथा स्वानुयोगिवृत्तित्व एतदुभयसम्बन्ध से भेदविशिष्टान्यत्व' रूप किया गया है । घटत्व नीलघट भेद के अधिकरणभूत पीतादि घट में रहता है । 'नीलघटो न' यह भेद पीतादि घटों में रहता है । नीलघट में नहीं रहता है । 'नीलघटो न' यह भेद के प्रतियोगी नीलघट है उस भेद के अनुयोगी पीतादि घट हैं । अतः घटत्व में 'नीलघटो न' इस भेद के प्रतियोगी नीलघटवृत्तित्व के साथ ही 'नील घटो न' भेद के अनुयोगी पीतादि घटवृत्तित्व भी होने से घटत्व स्वप्रतियोगि-वृत्तित्व तथा स्वानुयोगिवृत्तित्व एतदुभयसम्बन्ध से 'नीलघटो न' यह भेदविशिष्ट ही हुआ । परन्तु तद्घटत्व, जो अभिन्नव्यक्तिक धर्म है, वह 'तद्घटो न' इस भेद के प्रतियोगी तद्घट में वृत्ति होने से स्वप्रतियोगिवृत्तित्वसम्बन्ध से 'तद्घटो न' यह भेदविशिष्ट होने पर भी 'तद्घटो न' इस भेद के अनुयोगी एतद्घट आदि में न रहने से स्वानुयोगिवृत्तित्वसम्बन्ध से 'तद्घटो न' यह भेदविशिष्ट न हुआ । फलतः तद्घटत्व 'तद्घटो न' इस भेद के स्वप्रतियोगिवृत्तित्व तथा स्वानुयो-गिवृत्तित्व एतदुभयसम्बन्ध से 'तद्घटो न' यह भेदविशिष्ट न होने से अभिन्नव्यक्तिक हुआ । इसी लिए अभिन्नव्यक्तिकत्वरूप जातिबाधक की उपस्थिति के कारण तद्घटत्व जाति नहीं है । इसी प्रकार 'आकाशत्व' अभिन्नव्यक्तिक धर्म होने से जाति नहीं है । क्योंकि 'आकाशं न' यह भेद आकाश को छोडकर सर्वत्र रहता है । परन्तु आकाश में नहीं रहता है । 'आकाशत्व' केवल आकाश में रहता है । आकाश व्यक्ति एक ही है । अतः 'आकाशं न' यह भेद के प्रतियोगी आकाश में रहने से 'आकाशत्व' स्वप्रतियोगिवृत्तित्व सम्बन्ध से 'आकाशं न' यह भेदविशिष्ट होने पर भी 'आकाशं न' यह भेद के अनुयोगी पृथिवी आदि वस्तु में न रहने के कारण स्वानुयोगिवृत्तित्वसम्बन्ध से 'आकाशं न' यह भेदविशिष्ट नहीं है । अतः स्वप्रतियोगि-वृत्तित्व स्वानुयोगिवृत्तित्वैतदुभय सम्बन्धेन 'आकाशं न' यह भेदविशिष्ट नही है । इसी लिए वह आकाशत्व अभिन्नव्यक्तिक धर्म होने से जाति नहीं है । प्रकाशकारने 'आकाशत्वं न जातिः एकव्यक्तिमात्रवृत्तित्वात् एतद्घटत्ववत्' अनुमान का आकार कहा है । हम कह चुके हैं कि

---

१. प्रकाश, पृ० १६१

एकत्वविशिष्टव्यक्ति यदि अभिन्नव्यक्ति पद का अर्थ होगा तो प्रत्येक व्यक्ति ही एकत्व संख्या-विशिष्ट होने से घटत्व आदि भिन्नव्यक्तिक धर्म भी एकत्वसंख्याविशिष्टव्यक्तिमात्रवृत्ति होने से अभिन्नव्यक्तिक धर्म कहलाने में बाधा नहीं है। अतः प्रकाशकार के अनुमान में 'एकव्यक्ति-मात्रवृत्ति' शब्द का यथाश्रुत अर्थ को त्यागकर पूर्वोक्त पारिभाषिक अभिन्नव्यक्तिकत्व अर्थ ही स्वीकार करना पड़ेगा।

तुल्यत्व को जातिबाधक कहा गया है। तुल्यत्व का अन्यूनानतिरिक्तव्यक्तिवृत्तित्व रूप अर्थ को स्वीकार कर प्रकाशकारने अनुमान किया है कि 'बुद्धित्वं ज्ञानपदप्रवृत्तिनिमित्तं न ज्ञानत्वभिन्नजातिः ज्ञानभिन्नावृत्तित्वे सति सकलज्ञानवृत्तित्वाद् विषयित्ववत्।' इस अनुमान से बुद्धित्व में ज्ञानत्व से विलक्षण जातित्व का अभाव सिद्ध किया गया है।[१] यहां प्रकाशकारने 'विषयित्व' को दृष्टान्त लिया है। परन्तु इच्छा, कृति आदि भी सविषयक गुण हैं। इस लिए 'विषयित्व' इच्छा आदि में भी रहता है। इच्छादिगत विषयित्व में ज्ञानभिन्नावृत्तित्वरूप विशेषणांश के न रहने से विशिष्ट हेतु (अर्थात् ज्ञानभिन्नावृत्तित्वविशिष्ट सकलज्ञानवृत्तित्व) का अभाव होगा। फलतः 'विषयित्व' दृष्टान्त साधनविकल हो जाता है। इसके समाधान के लिए स्वीकार करना पड़ेगा कि प्राचीन किसी सम्प्रदाय के मतानुसार इच्छा आदि में स्वतन्त्ररूप से 'विषयित्व' नहीं है। इच्छा आदि गुण याचितमण्डनन्याय से ज्ञानगत विषयित्व को ग्रहण करके ही विषयित्व-विशिष्ट होते हैं। अतः विषयित्व शब्द से यहां ज्ञानगत विषयित्व ही दृष्टान्त रूप से गृहीत हुआ है। अतः दृष्टान्त की साधनविकलता नहीं है।

तुल्यव्यक्तिवृत्ति धर्मद्वय दो पृथक् जाति हैं अथवा नहीं इस आशङ्का पर 'तुल्यत्व' को जातिबाधक कहा गया है। तुल्यव्यक्तिमात्रवृत्ति धर्मद्वय का पृथग् जातित्व नहीं है। अन्यूनान-तिरिक्तवृत्तित्व ही तुल्यव्यक्तिमात्रवृत्तित्व है। अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व भी फलतः समनैयत्य है। समनैयत्य अर्थात् समनियतत्व शब्द से स्वव्याप्यत्वे सति स्वव्यापकत्व समझना पड़ेगा। जिन दो धर्मों में परस्पर का व्याप्यत्व तथा व्यापकत्व हो वह दो धर्म दो पृथग् जाति नहीं हैं। अर्थात् पर्यायभूत शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तों में, जैसा बुद्धित्व, ज्ञानत्व; घटत्व, कलसत्व आदिओं में पृथग् जातित्व नहीं होता है।

उपर्युक्त विवेचन से किरणावलीकारका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि बुद्धित्व ज्ञानत्व, घटत्व कलसत्व आदि अन्यूनानतिरिक्तव्यक्तिमात्रवृत्ति अर्थात् समनियत धर्मद्वय भिन्न भिन्न जातियां नहीं परन्तु एक ही जाति है। तब तुल्यत्व को जातिबाधक कहने की अपेक्षया जातिभेद-बाधक कहना ही उचित होगा।[२] पर्याय शब्द से भिन्नानुपूर्वीक एकार्थवाचक शब्दों को

---

१. प्रकाश, पृ० १६१

२. तुल्यत्वञ्च न जातिबाधकम्। किन्तु जातिभेदबाधकम्। घटत्वकलसत्वात्मकैकजाति-स्वीकारात्। सेतु, पृ० १४६

समझा जाता है। वह शब्द भिन्न भिन्न आनुपूर्वी के होने पर भी एक ही अर्थ के वाचक होने से उन पदों के प्रवृत्तिनिमित्त फलतः एक ही होते हैं। इसी लिए बुद्धित्व तथा ज्ञानत्व, घटत्व तथा कलसत्व अभिन्न जाति हैं। कोई आधुनिक टीकाकारने कारिकावली की टीका में कलसत्व को कम्बुग्रीवादिमत्स्वरूप होने से जाति नहीं है कहा है। यह भ्रम है। क्यों कि अवच्छेदकत्वनिरुक्ति में जगदीशने कम्बुग्रीवादिमत्त्व को कम्बुग्रीवास्वरूप ही कहा है। फलतः घटव्यक्ति के भेद से कम्बुग्रीवा भी भिन्न भिन्न होते हैं। समस्तकलसवृत्ति कलसत्व कलसभेद से भिन्न नहीं होता है।

'सङ्करः' को किरणावलीकारने जातिबाधक कहा है। यह 'सङ्कर' शब्द भावार्थवाची समझना पड़ेगा। अर्थात् सङ्कीर्ण पदार्थ के धर्म साङ्कर्य ही सङ्कर शब्द से गृहीत होगा। यह साङ्कर्य का स्वरूप क्या तथा वह क्यों जाति बाधक होगा? प्रकाशकारने साङ्कर्य के स्वरूप के निर्वचन करते हुए कहा है कि 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानाधिकरणत्व' ही साङ्कर्य है[१]। उन्होंने भूतत्व तथा मूर्त्तत्व के दृष्टान्त से निष्क्रमणत्व तथा प्रवेशनत्वरुप धर्मद्वय में जातित्वाभाव का साधन किया है[२]। यहां प्रकाशकारने स्पष्टतया 'न मिथो व्यभिचारीति निष्क्रमणप्रवेशनादौ जातिसङ्करापत्तौ' इस किरणावली ग्रन्थ का (पृ० १८० देखें) ही अनुवाद किया है। रहस्यटीकाकार मथुरानाथने प्रकाशकारकी इस व्याख्या को समीचीन नहीं समझा हैं। क्योंकि प्रकाशकारने निष्क्रमणत्व तथा प्रवेशनत्वरूप जो दो धर्मों का उल्लेख किया है वह दो धर्म परस्पर समानाधिकरण होने पर भी परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण नहीं है। किसी वस्तु का एक स्थान से निष्क्रमणक्रिया ही स्थानान्तर में उसका प्रवेशन क्रिया है। अतः उस वस्तु में एक क्रिया की सत्ता तथा दूसरी क्रिया का अभाव नहीं होता है। अर्थात् केवल प्रवेशन अथवा केवल निष्क्रमण क्रिया न रहने से निष्क्रमणत्व तथा प्रवेशनत्व का परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्य दुर्लभ है[३]। नव्यमतवालों ने भूतत्व तथा मूर्त्तत्व रूप दो धर्म को सङ्कीर्णधर्मरूप से ग्रहण कर के उनका जातित्वाभाव सिद्ध किया है।

नव्य तथा प्राचीनमतों में साङ्कर्य के स्वरूप के विषय में भी मतभेद है।

साङ्कर्य को जातित्वबाधक क्यों कहा गया? इस प्रश्न के उत्तर में प्राचीन नैयायिक सम्प्रदाय यह समझते हैं कि सामान्य के उद्देशप्रकरण में प्रसङ्गतः उसका लक्षण भी कहा गया

---

१. प्रकाश, पृ० १६१. यहां द्वितीय 'परस्पर' पद अव्यावर्त्तक है प्रतीत होता है।

२. निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वे न जाती, परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानाधिकरणत्वात्। प्रकाश, पृ० १६१

३. तदसत्। निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वयोः परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यविरहात्। न च तत्र निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वपदं वाराणसीनिष्क्रमणत्व-प्रयागप्रवेशनत्वपरमिति वाच्यम्। रहस्य पृ० १८२

है। वहां सामान्यों की प्रकृति पर भी प्रकाश डाला गया है (देखें पृ० १८०)। कहा गया है
कि सामान्यों के परस्परपरिहार के साथ ही परस्परस्थिति विरुद्ध होता है। तथा सामान्यों में
परस्पर परापरभाव से स्थिति ही अविरुद्ध है। जैसा सत्ता तथा द्रव्यत्व आदि, द्रव्यत्व तथा
पृथिवीत्व आदि, पृथिवीत्व तथा घटत्व आदि सामान्यों में परस्पर परापरभाव से सामानाधिकरण्य
रहता है। परन्तु भूतत्व तथा मूर्त्तत्व में परस्परस्थिति अर्थात् सामानाधिकरण्य पृथिवी आदि में
सिद्ध रहते हुए मन तथा आकाश में परस्परपरिहार अर्थात् परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्य
भी सिद्ध होने से वह (परस्परपरिहार के साथ ही परस्परस्थिति) उन दो के सामान्यताविरोधी
हो जाता है। इससे प्राचीन नैयायिकोंने दो जातियोंकी एकत्र स्थिति के एक नियम का आवि-
ष्कार किया है। वह नियम निम्नलिखित रूप हैं। 'स्वाभाववद्वृत्तित्व-स्वसामानाधिकरण्य-
एतदुभयसम्बन्धेन जातिविशिष्टजातित्वावच्छेदेन स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावः'।
वस्तुतः यह नियम परापरभाव से स्थिति का ही स्पष्टीकरण है। सत्ता द्रव्यत्व का व्यापकजाति
है। उसमें स्वशब्द से गृहीत द्रव्यत्वाभाववद्गुणादिवृत्तित्व है। तथा स्व (द्रव्यत्व) सामानाधि-
करण्य है। अतः स्वाभाववद्वृत्तित्व-स्वसामानाधिकरण्य यह दो सम्बन्ध से सत्ताजाति द्रव्यत्व-
जातिविशिष्ट हुआ है। सत्ता द्रव्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छेदेन द्रव्यत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्व का अभावविशिष्ट अवश्य होगा। क्योंकि उक्त सम्बन्ध से व्याप्यविशिष्टव्यापक में
व्याप्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वरूप व्यापकत्व अवश्य रहेगा। एक जाति यदि स्वा-
भाववद्वृत्तित्व तथा स्वसामानाधिकरण्य यह उभयसम्बन्ध से अन्य जाति में रही, जैसा द्रव्यत्व
जाति उक्त दो सम्बन्ध से सत्ता जाति में रही, परन्तु अन्यजाति (अर्थात् प्रस्तुत स्थल में सत्ता)
यदि द्रव्यत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का अप्रतियोगी न हुआ तो वह अन्यजाति (सत्ता)
द्रव्यत्वजाति का व्यापक न होगा। फलतः परापरभावस्थिति इन दो जातियों में न रहेगी।
तब इन दो जातियों में परस्परपरिहारस्थितिरूप विरुद्धता आ जाएगी। प्रस्तुत उदाहरण में
द्रव्यत्वाभाववद्वृत्तित्व तथा द्रव्यत्वसामानाधिकरण्य दोनों सम्बन्ध से द्रव्यत्वजाति सत्ताजाति में है।
तथा सत्ताजाति में द्रव्यत्वजाति के अधिकरण द्रव्य में जो अत्यन्ताभाव है उनमें 'सत्ता नास्ति' यह
अत्यन्ताभाव नहीं है। अतः सत्ताजाति में उन अभावों के प्रतियोगित्व का अभाव ही रहेगा।
जातिओं में परापरभावस्थिति के कारण ही यह नियम प्राप्त होता है। भूतत्व-मूर्त्तत्व आदि धर्मों
की जातिता स्वीकार करने पर यह नियम का व्याघात होगा।[1] क्योंकि उक्त नियमानुसार
एक जातिविशिष्टापरजाति शब्द से यदि हम भूतत्वविशिष्टमूर्त्तत्व को ग्रहण करें तो भूतत्वा-

---

१. यहां प्रश्न हो सकता है कि स्वसामानाधिकरण्य, स्वाभाववद्वृत्तित्व तथा स्वसमानाधि-
करणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व यह तीन सम्बन्ध से धर्मविशिष्टत्व को अनुगत साङ्कर्य
कहा गया है। वह साङ्कर्य स्वत्व घटित होने से अनुगत किस प्रकार से हो सकता है।
इसका समाधान यह है कि नव्यमत में 'स्वत्व' अननुगतधर्म होने पर भी सम्बन्धांश में
प्रविष्ट 'स्वत्व' को अनुगत धर्म ही स्वीकार किया जाता है।

भाववद्वृत्तित्व तथा भूतत्वसामानाधिकरण्य यह दो सम्बन्ध से मूर्त्तत्व भूतत्वविशिष्ठ होगा परन्तु मूर्त्तत्वत्वावच्छेदेन (अर्थात् मूर्त्तत्वत्व जहां भी हो वहां) भूतत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावों में हमें 'मूर्त्तत्वं नास्ति' यह अत्यन्ताभाव भी मिलेगा। क्यों कि भूतत्व के अधिकरण आकाश में 'मूर्त्तत्वं नास्ति' यह अभाव है। अतः उस अभाव का प्रतियोगी ही मूर्त्तत्व हो जाने से उक्त अभाव का प्रतियोगित्वाभाव मूर्त्तत्व में न रहेगा। फलतः पूर्वोक्त नियम का व्याघात होगा। यह नियमभङ्ग की आपत्ति के कारण ही साङ्कर्य की जातिबाधकता स्वीकृत हुआ है।[१] यहां भूतत्वविशिष्ट मूर्त्तत्व को हेतुरूप से लेकर भूतत्वरूप सङ्कीर्ण धर्म में जातित्वाभाव सिद्ध किया गया तथा मूर्त्तत्वविशिष्टभूतत्व को हेतु मान कर मूर्त्तत्वरूप सङ्कीर्णधर्म में जातित्वाभाव सिद्ध किया जाता है।

नवीनसम्प्रदायने उक्त नियमभङ्ग की आपत्ति के कारण ही साङ्कर्य की जातिबाधकता स्वीकार करना युक्तिसिद्ध नहीं माना है। उनके अनुसार पूर्वोक्त नियम प्रमाणसिद्ध नहीं है। क्योंकि उक्त दो सम्बन्ध से एकजातिविशिष्ट अपरजाति में आधेयजाति के समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रहेगा ही। इस प्रकार की व्याप्ति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध नहीं है। जहां व्याप्ति प्रमाणसिद्ध नहीं होता है वहां व्यभिचार का सन्देह होना स्वाभाविक है। व्यभिचारसन्देह रहने पर तर्क से ही व्यभिचारशङ्का निवृत्त हो सकता है। तर्क द्वारा व्यभिचारशङ्का की निवृत्ति ही व्याप्तिनिश्चय का उपाय रूप से स्वीकृत है। जहां तर्क की सहायता के बिना व्याप्तिनिश्चय हो नहीं सकता, जैसा प्रस्तुत स्थल में, वहां व्याप्ति के भङ्ग की प्रसक्तिरूप आपत्ति इष्ट ही होगी। अर्थात् तादृश एकजातिविशिष्ट अपरजाति में तादृशाभावाप्रतियोगित्वरूप व्याप्ति स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। अतः पूर्वोक्त नियमभङ्ग की शङ्का के कारण भूतत्वमूर्त्तत्वादि सङ्कीर्णधर्मों में आचार्य उदयनोक्त जातित्वाभाव स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय से सिद्धान्तमुक्तावली की टीका में दिनकरभट्टने कहा है कि 'तादृशनियमे मानाभावान्न साङ्कर्यं जातिबाधकमिति नव्याः'।[२]

दीधितिटीकाकार रघुनाथशिरोमणिने अपने पदार्थतत्त्वनिरूपण नामके ग्रन्थ में ईश्वर से अतिरिक्त आकाशादि तथा परमाणुपरिमाण मन के पृथक् द्रव्यत्व का खण्डन किया है। अतः आकाश तथा मनरूप पृथक् द्रव्य न रहने के कारण भूतत्व तथा मूर्त्तत्व का साङ्कर्यदोष नहीं रह सकता है। फलतः उनके मत में भूतत्व तथा मूर्त्तत्व अभिन्न जाति हैं। उन्हों ने क्रिया-

१. तुलना करें—स्वसामानाधिकरण्य-स्वाभावसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन जातिविशिष्ट-जातित्वावच्छेदेन स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वाभाव इति नियमस्य भङ्गप्रसङ्ग एवेति। दिनकरी पृ० ५८

२. दिनकरी पृ० ५८

समवायिकारणतावच्छेदकरूप से मूर्त्त्व की जातिता सिद्ध किया तथा भूतत्व को मूर्त्त्व से अभिन्न कहा है।[१]

अप्रामाणिक पदार्थकल्पना की अविश्रान्ति को अनवस्था कही जाती है। आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा लाघव, सामान्यतः यह पांच प्रकार की आपत्तियां होती है। सत्ता, द्रव्यत्व आदि जातिओं में पुनः जात्यन्तर क्यों न स्वीकार किया जाय इस प्रकार शक्का के समाधान में यह तर्क उपस्थित होता है कि यदि जातिओं में जात्यन्तर स्वीकृत हो तब अनवस्था आपतित होगी। अर्थात् जाति में जाति स्वीकृत होने पर पुनः उस जाति में भी जाति स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः जातिकल्पना में कहीं विश्राम न रहेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्ता, द्रव्यत्व; द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि जातियों में परस्पर विलक्षणता रहते हुये यदि वे सभी जाति हैं तब उन जातियों में भी 'यह जाति है' 'यह जाति है' इस प्रकार समानाकार बुद्धि उत्पन्न होगी ही। फलतः जातियों में भी जाति स्वीकार करना पड़ेगा। इस शङ्का का समाधान यह है कि जातियों में जातिकल्पना करने पर वह कल्पना अविश्रान्त रूप से चलेगी कहीं भी अन्त न होगा। अतः अनवस्थादोष के कारण जातियों में जाति कल्पित नहीं हो सकती है। इसी लिये कल्पित जातियों में अनवस्था दोष के कारण कोई जाति कल्पनीय नहीं है। वह कल्पनीय जाति का जातित्व में अनवस्था दोष ही बाधक है।[२]

अनवस्थादोष के प्रसङ्ग में प्रकाशकारने आपत्ति के आकार का प्रदर्शन करते हुए कहा है कि सामान्य यदि द्रव्य तथा कर्म से भिन्न होते हुए जातिविशिष्ट हो तब वह गुण ही होगा। इस प्रकार से सामान्य का अनेक स्वरूपता, जो प्रमाणसिद्ध नहीं, से सामान्य का एक व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त न होगा। यही सामान्यों में जाति स्वीकार करने में बाधा है।[३]

'रूपहानि' को जातिबाधक कहा गया है। रूपहानि शब्द के अन्तर्गत 'रूप' शब्द का दो प्रकार अर्थ सम्प्रदाय के भेद के कारण स्वीकृत है। प्राचीन सम्प्रदाय के लोग 'रूप' शब्द का 'लक्षण' अर्थ मानते हैं। जिससे रूपहानि शब्द का अर्थ लक्षण की हानि होगी। अर्थात् विशेष पदार्थ में जाति स्वीकार करने पर 'निःसामान्यत्वे सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वम्' यह सामान्यशून्यत्वगर्भित विशेष के लक्षण विशेषपदार्थ में समन्वित न होने से विशेषलक्षण में असम्भव दोष होगा। अतः निःसामान्यत्वगर्भित यह लक्षण विशेष का लक्षणरूप से गृहीत न हो सकेगा। फलतः उक्त लक्षण की हानि ही विशेष में जाति स्वीकार करने में बाधा है।

---

१. मूर्त्तत्वन्तु स्पन्दसमवायिकारणतावच्छेदको जातिविशेषः। भूतत्वं तदेव। पदार्थतत्त्व-निरूपण, पृ० १४

२. रहस्य पृ० १८२

३. सामान्यं यदि द्रव्यकर्मभिन्नं सत् जातिमत् स्यात् गुणः स्यात्। प्रकाश, पृ० १६१

नवीन सम्प्रदाय वाले 'रूपहानि' शब्दान्तर्गत 'रूप' शब्द का 'स्वरूप' अर्थ स्वीकार करते हैं। स्वतो व्यावृत्तत्वको प्रशस्तपादने विशेषों का स्वरूप कहा है। नव्यमतवादियोंने स्वतो व्यावृत्तत्व का निर्वचन करते हुए 'स्वभिन्नलिङ्गपरामर्शजन्य-स्वविशेष्यक-स्वजातीयेतरभेदानुमितिविषयत्वाभाव' को स्वतो व्यावृत्तत्व कहा है। विशेष को छोड़कर शेष पदार्थ स्वतो व्यावृत्त नहीं होते हैं। व्यावृत्ति शब्द का अर्थ इतरभेद है। द्रव्यादि पदार्थ अपने असाधारणधर्मभूत लक्षण द्वारा ही स्वेतरभेदविषयक अनुमितिके विषय होते हैं। जैसा 'द्रव्यं द्रव्येतरभिन्नं गुणवत्त्वात्' इस अनुमिति का विषय द्रव्य होता है। यहां 'गुणवत्त्व' रूप हेतु द्वारा द्रव्य में द्रव्येतरभेद की सिद्धि होती है। यहाँ इतरभेदानुमान में गुणवत्त्व हेतु है। वह द्रव्य से भिन्न होने से द्रव्य स्वभिन्नलिङ्गपरामर्शजन्य-स्वविशेष्यक-स्वजातीयेतरभेदानुमितिविषय ही होगा। परन्तु विशेष में इस प्रकार अनुमितिविषयत्व का अभाव है। यदि विशेष में भी इतरभेदानुमिति विशेषभिन्न किसी हेतु से हो तो विशेष का यह स्वभिन्नलिङ्गपरामर्शजन्य-स्वविशेष्यक-स्वजातीयेतरभेदानुमितिविषयत्वाभावरूप स्वतो व्यावृत्तत्व न रहेगा। अर्थात यदि हम 'विशेषः विशेषेतरभिन्नः जातिविशेषवत्वात्' इस प्रकार अनुमान विशेष में जाति स्वीकार करके करें तो विशेष में 'जातिविशेषवत्त्व' रूप स्वभिन्नलिङ्गपरामर्शजन्य-स्वविशेष्यक-स्वजातीयेतरभेदानुमितिविषयत्व आ जाने से विशेष का स्वतो व्यावृत्तत्वरूप स्वरूप की हानि होगी। इस लिए विशेष में कोई जाति स्वीकार करने में विशेष की स्वरूपहानि ही बाधा है। विशेष स्वतः व्यावृत है।

पञ्चम जातिबाधक रूपहानि के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए प्रकाशकारने लिखा है कि 'विशेष यदि द्रव्य तथा कर्म से भिन्न वस्तु होते हुए जातिमान हो तब वह गुणपदार्थ ही होगा।[१] इस आपत्ति को यदि स्वीकार कर लिया जाय अर्थात् विशेषपदार्थ यदि गुणपदार्थ में अन्तर्भुक्त हो तब विशेषपदार्थ की स्वतो व्यावृत्तत्वरूप विलक्षणता व्याहत हो जाएगी। अतः निज स्वरूप की हानि ही विशेषपदार्थ की जातिमत्ता का बाधक है।

असम्बन्ध को जातिबाधक कहा गया है। इसके सम्बन्ध में प्रकाशकारने कहा है कि समवाय यदि स्वयं प्राप्ति अर्थात् सम्बन्ध होते हुए समवायविशिष्ट हो तो वह संयोगस्वरूप होगा। यह आपत्ति ही समवाय में जाति स्वीकार करने में बाधक है। इसका अभिप्राय यह है कि समवाय स्वयं सम्बन्ध (प्राप्ति) रूप है। यदि उस में जाति होगी तो उस जाति से व्यक्तिरूप समवाय का समवायसम्बन्ध ही होना चाहिए। स्वयं सम्बन्ध होते हुए समवायसम्बन्ध का सम्बन्धी संयोग ही होता है। अतः समवाय भी संयोगस्वरूप होगा। इसी प्रकार अभाव में जाति का अभाव भी सिद्ध किया जा सकेगा।

असम्बन्ध शब्द का सम्बन्धाभाव अर्थ है। स्वप्रतियोगित्व तथा स्वानुयोगित्व इन में से किसी सम्बन्ध से समवायाभाववत्त्व ही 'सम्बन्धाभाव' शब्द का अर्थ होगा। यहाँ यह शङ्का

---

१. विशेषो यदि द्रव्यकर्मान्यत्वे सति जातिमान् स्यात्, गुणः स्यात्। प्रकाश, पृ० १६२

होगी कि समवाय में जाति स्वीकार करने में असम्बन्ध को जातिबाधक क्यों कहा गया ? समवाय एक होने से अभिन्नव्यक्तिकत्व (अर्थात् व्यक्तेरभेदः) के कारण ही समवायत्वजाति स्वीकृत नहीं हो सकती है । प्रकाशकारने इस शङ्का के समाधान में कहा है कि समवाय का नानात्व मानने वालों के मतानुसार अभिन्नव्यक्तिकत्व समवायत्व का जातित्व में बाधक न होगा । इसी लिए 'असम्बन्ध' को पृथक् जातिबाधक कहा गया है । समवाय के एकत्ववादियों के लिये अभिन्न-व्यक्तिकत्व ही समवायत्व का जातित्वबाधक है । रहस्यटीकाकारने 'असम्बन्ध' शब्द का असमवेतत्वरूप अर्थ ही स्वीकार किया है । वह भी फलतः पूर्वोक्त अर्थ से अभिन्न है । किरणावली-भास्कर आदि में असम्बन्ध का अर्थ असमवाय स्वीकृत है । यह अर्थ भी दिनकर भट्ट के निर्वचन से भिन्न प्रकार नहीं है ।[1]

व्यञ्जकधर्मानुपादाय जातिनिराकरणे गोत्वादिकमपि न स्यात् । न हि सास्नासम्बन्धाद्यनवभासेनैकस्य कस्यचिद् गौरिति प्रत्ययानुवृत्तिरस्ति । तस्मादस्ति द्रव्यत्वम् ।

[(गुणवत्त्व आदि द्रव्यत्व के) व्यञ्जक धर्मों को (प्रत्ययानुवृत्ति के कारण) स्वीकार करते हुए (द्रव्यत्व) जाति का निराकरण (खण्डन) करने से गोत्व आदि (सर्वसिद्ध जाति) भी न रहेगी । (यह) नहीं (कहा जा सकता है कि) सास्ना (गलकम्बल) आदि के सम्बन्ध का अनवभास (अज्ञान) होने पर भी किसी एक व्यक्ति का 'गौ' इस प्रकार प्रत्यय की अनुवृत्ति होती हो । अतः द्रव्यत्व (सिद्ध) है ।]

किरणावलीकारने कहा है कि पूर्वपक्षी यदि गुणवत्त्व (अथवा कार्यसमवायिकारणत्व) आदि व्यञ्जकधर्मो को ही 'द्रव्यम्' 'द्रव्यम्' इस प्रकार प्रत्ययानुवृत्ति के कारण मानकर द्रव्यत्व जाति का, अन्यथासिद्ध होने के कारण, निषेध करेंगे तब उनके द्वारा स्वीकृत गोत्व आदि जाति भी न रहेगी । क्योंकि उभयवादिसिद्ध गोत्व, घटत्व आदि जातियां भी सास्ना अर्थात् गलकम्बल आदि व्यञ्जकों से ही गतार्थ हो जायेगी । अर्थात् 'अयं गौः' 'अयं गौः' इस प्रकार प्रत्ययानुवृत्ति का कारण सास्ना आदिको मानकर, अन्यथासिद्धि के कारण ही, उस प्रत्ययानुवृत्ति के लिए गोत्व जाति को स्वीकार करने को आवश्यकता नहीं रहेगी । यदि पूर्वपक्षी सास्ना अर्थात् गलकम्बल आदि गौ के विलक्षण अवयवों के, गोव्यक्ति के भेद से, भिन्न भिन्न होने के कारण अननुगत धर्म मान कर उन अवयवों को 'अयं गौः' इस प्रकार प्रत्ययानुवृत्ति का कारण नहीं स्वीकार करते हैं तथा समस्त सास्नादियुक्त व्यक्तियों में अनुगत धर्म के रूप से गोत्व को प्रत्ययानुवृत्ति का कारण

---

१. प्रतियोगित्वानुयोगित्वान्यतरसम्बन्धेन समवायाभावः । दिनकरी पृ० ५६

मानते हैं तब तुल्यरीति से गुणवत्त्व अर्थात् गुण भी अनेक होने से अननुगत व्यञ्जक होने के कारण 'द्रव्यम्' 'द्रव्यम्' इस प्रकार प्रत्ययानुवृत्ति का कारण न होगा । फलतः एक अनुगत द्रव्यत्व सिद्ध होगा ।

किरणावली में सत्ता जाति को व्यक्तिमात्रव्यङ्ग्य कहा गया है । अन्य सामान्यों, जैसा द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि संस्थान, गुण, कार्य तथा कारणादि व्यङ्ग्य माना गया है । पूर्वपक्षी गुणादि से व्यङ्ग्य द्रव्यत्वजाति की सिद्धि को गुणादिव्यञ्जकों से अन्यथासिद्धि दोषग्रस्त समझकर द्रव्यत्व का निषेध करना चाहा उस पर ग्रन्थकारने संस्थानादिव्यङ्ग्य जातिमात्र, जो पूर्वपक्षी भी मानते हैं, का निषेध अन्यथासिद्धि के कारण ही किया है । उन्होंने कहा कि इस प्रकार कोई पुरुष नहीं है जिनको सास्नादि व्यञ्जकों का ज्ञान न होने पर भी 'गौः' इस प्रकार प्रन्ययानुवृत्ति हो । फलतः व्यञ्जक का ज्ञान नियमतः प्रत्ययानुवृत्ति के पूर्व रहता ही है । तदानीं नियतपूर्ववर्त्तित्व के कारण व्यञ्जक को ही कारण मानकर किसी जाति की कल्पना अनावश्यक कहने पर गोत्वजाति की भी स्थिति न रहेगी । इस स्थिति में पूर्वपक्षी यदि व्यञ्जकव्यक्तियों के अननुगम होने से एक अनुगतधर्म के रूप से गोत्वादि का स्वीकार करेंगे तो द्रव्यत्व के लिए भी वही युक्तिसाधक होगा ।

स्वात्मन्यारम्भकत्वं स्वसमवेतकार्यकारित्वं समवायिकारणत्वमित्यर्थः ।

[स्वात्मन्यारम्भकत्व (शब्द का) स्वसमवेतकार्यकारित्व अर्थात् समवायिकारणत्व (यह) अर्थ है ।]

व्योमवतीकारने 'स्वात्मन्यारम्भकत्व' पदकी व्याख्या में कहा है कि 'स्वात्मनि आरम्भकत्वं' का अर्थ 'स्वात्मसमवेतकार्यारम्भकत्व', जिसे हम समवायिकारण कहते हैं, ।[१] 'स्व' पद से पृथिव्यादि नौ द्रव्य में जिस किसी को लिया जा सकता है । क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण द्रव्यों के साधर्म्यवर्णन के लिए कहा गया है । सर्वनाम पद बुद्धिस्थवस्तुको समझाने के लिए प्रयुक्त होता है । यह 'स्व' पद भी बुद्धिस्थवस्तु का ही बोधक होगा । प्रकरण के बलपर नवविध द्रव्य ही बुद्धिस्थ हैं । इस लिये 'स्वात्मन्यारम्भकत्वं' नवविध द्रव्यों का साधर्म्य है । यहां आत्मशब्द का अर्थ जीवात्मा अथवा परमात्मा नहीं है । परन्तु स्वरूप अथवा तद्व्यक्ति ही उसका अर्थ है । इससे 'स्वात्मनि' यह सप्तम्यन्त पद से स्वात्मा में समवेतवस्तु (कार्य) का आरम्भकत्व अर्थ होता है । आरम्भ शब्द का अर्थ आद्यक्षण सम्बन्ध है । इसी से स्वात्मसमवेत कार्य का आद्यक्षण सम्बन्ध अर्थात् उत्पत्ति की कारणता यह अर्थ का लाभ हुआ । जो फलतः पारिभाषिक समवायिकारणता में पर्यवसित है । आरम्भकत्व शब्द मात्र से अभीष्ट साधर्म्य का बोध नहीं होता है । क्योंकि वस्तु का आरम्भकत्व अर्थात् आद्यक्षणसम्बन्धानुकूल-अनन्यथासिद्ध-नियतपूर्ववर्त्तिता अर्थ होने से द्रव्य के तुल्य ही गुण तथा कर्म भी वस्तु का आरम्भक होंगे ।

---

१. एवं स्वश्चासावात्मा चेति स्वात्मा । तस्मिन्नारम्भकत्वं स्वात्मसमवेतकार्यजनकत्वं समवायिकरणत्वमिति यावत् । व्योम. पृ० १५१

वस्तु की उत्पत्ति में गुण तथा कर्म भी असमयायि तथा निमित्तकारण होने से द्रव्यमात्र का यह साधर्म्य गुण तथा कर्म में अतिव्याप्त होगा । इसी अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'स्वात्मनि' अर्थात् स्वात्मसमवेतवृत्ति—कार्यतानिरूपितत्व को आद्यक्षणसम्बन्धानुकूलत्वविशिष्ट अनन्यथासिद्धनियत-पूर्ववर्त्तित्व में अर्थात् आरम्भकत्व में विशेषण देना पड़ेगा । गुण तथा कर्म अपने मे समवेत वस्तु का उत्पादक नहीं होते हैं । इसी प्रकार घटारम्भकत्वमात्र यदि घटसमवायिकारणत्व कहा जाए तो दण्ड, चक्र, सलिल, सूत्र आदि घटके निमित्तकारणों का भी संग्रह हो सकेगा । घट दण्डादि का स्वसमवेतकार्य नहीं है अतः घटसमवायिकारणता दण्डादि में नहीं रहेगी ।

किरणावलीकारने भी 'स्वात्मन्यारम्भकत्वं' का इसी अर्थको कुछ शब्दान्तर की सहायता से कहा है । उन्होंने 'स्वसमवेतकार्यकारित्वम्' को 'स्वात्मन्यारम्भकत्वं' का अर्थ कहा है । इस अर्थ में भी पूर्वोक्त अर्थ जैसी ही पदों की सार्थकता समझनी है ।

'स्वात्मन्यारम्भकत्व' ही स्वसमवेतकार्यजनकत्व अथवा स्वसमवेतकार्यकारित्व ही समवायिकारणत्व का निर्वचन है । इसी लिए व्योमवती तथा किरणावली में फलितार्थ के रूप से 'समवायिकारणत्व' का उल्लेख किया है । इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए कारिकावली में विश्वनाथ ने कहा है कि 'यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयन्तु समवायिजनकं तत्' ।

गुणवत्त्वं गुणसमवायः ।

[(द्रव्यमात्र का ही) 'गुणवत्त्व' (साधर्म्य है जिसका अर्थ) गुण-समवाय है ।]

द्रव्यमात्र में ही गुण का समवाय है । द्रव्य निर्गुण नहीं रह सकता है । इस लिए गुण के समवाय अर्थात् गुणप्रतियोगिकत्वविशिष्ट समवाय के रहने के कारण द्रव्यों में इस गुणवत्त्व-रूप साधर्म्य की अव्याप्ति न होगी तथा गुणादि में गुणप्रतियोगिकत्वविशिष्ट समवाय कदापि न रहने से गुणादि में उक्त साधर्म्य की अतिव्याप्ति भी न होगी ।

सामान्यतया 'गुणवत्त्व' शब्द का अर्थ यद्यपि गुणाधिकरणत्व है तथापि यहाँ गुणवत्त्व का गुणसमवायरूप विशेष अर्थ किया गया है । क्योंकि सामान्यतः गुण की अधिकरणता यदि अर्थ हो तो कालिकसम्बन्ध, जो सर्वाधारता का नियामक है, से क्रिया, सामान्य आदि पदार्थभी गुण के अधिकरण होने से प्रस्तुत गुणवत्त्वरूप साधर्म्य की अतिव्याप्ति क्रिया आदि पदार्थों में होगी । अतः उक्त प्रकार से गुणवत्त्व की अतिव्याप्ति न हो तदर्थं गुणवत्त्व का गुणसमवायरूप अर्थ किया गया है । समवायसम्बन्ध से गुण का अधिकरण केवल द्रव्य ही होता है अतः अतिव्याप्ति न होगी ।

यह शङ्का हो सकती है कि सिद्धान्त में समवाय को एक अर्थात् अभिन्न वस्तु माना गया है । इस स्थिति में जो गुण का समवाय है वही जाति का समवाय भी है । गुणों में जाति का

समवाय है अतएव गुणों में गुण का समवाय, जो जाति के समवाय से अभिन्न वस्तु है, भी होने से गुणवत्त्व का अर्थ गुणसमवाय करने पर भी गुणवत्त्वरूप साधर्म्य की अतिव्याप्ति गुणों में अपरिहार्य होगी। इस शङ्का के समाधान में वक्तव्य यह है कि गुणसमवाय पद का अर्थ गुण प्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय ही विवक्षित है। समवाय एक होने पर भी गुणप्रतियोगिकत्व-विशिष्ट होकर वह समवाय द्रव्यातिरिक्त गुणादि में नहीं रहता है। क्योंकि शास्त्र में विशिष्टनिष्ठ आधेयतानिरूपित अधिकरणता की विलक्षणता स्वीकृत है। इसीलिए सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहने पर भी गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता केवल द्रव्य में ही रहती है स्वीकृत है। क्योंकि गुणकर्मान्यत्वरूप विशेषणविशिष्ट सत्ता गुण अथवा कर्म में रहने वाली सत्ता नहीं है। गुण तथा कर्म में रहने वाली सत्ता में गुण-कर्मभेदसमानाधिकरणता नहीं है। अतः गुणकर्मभेद के समानाधिकरणसत्ता केवल द्रव्यवृत्ति सत्ता ही होगी। तुल्यरूप से गुणप्रतियोगिकत्वविशिस्ट समवाय केवल द्रव्य में ही रहेगा गुणादि में नहीं। व्योमवतीकारने गुणोपलक्षित समवाय को गुणवत्त्व का अर्थ बतलाने के पश्चात् और स्पष्टता के लिये समवेत गुणों को ही गुणवत्त्व कहा है।[१]

तदेतद् द्वयं निमित्तव्यवस्थापकम्। द्रव्यत्वन्तु द्रव्यव्यवहार-निमित्तमित्यवधेयम्।[२]

[वह (अव्यवहित पूर्व कहे गये समवायिकारणत्व तथा गुणवत्त्व) यह दो (द्रव्यपद के प्रयोग के) निमित्त का व्यवस्थापक हैं। द्रव्यत्व ही द्रव्य (पद के) व्यवहार का निमित्त है यह समझना है।]

प्रस्तुत प्रकरण के प्रारम्भ में 'द्रव्यत्वयोगो। द्रव्यसमवायः' आदि ग्रन्थ द्वारा द्रव्यत्व को नवविध द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया। परन्तु द्रव्यत्व जाति के विषय में पूर्वपक्षी की शङ्का के समाधान में कहा गया कि यदि पूर्वपक्षी द्रव्यत्वजाति के व्यञ्जकधर्मों को स्वीकार कर द्रव्यत्व जाति को अस्वीकार करेंगे तो प्रत्यक्षसिद्ध गोत्व आदि जाति का भी निराकरण हो जायेगा। अतः प्रत्यक्षसिद्ध गोत्व आदि जाति के ज्ञान में जिस प्रकार सास्ना आदि व्यञ्जकधर्मों की सहायता आवश्यक है उसी प्रकार व्यञ्जकों की सहायता से द्रव्यत्वजाति भी अनुमित होने में बाधा नहीं है। अनन्तर स्वात्मन्यारम्भकत्व तथा गुणवत्त्व को नवविध द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया। यह दो साधर्म्य वस्तुतः द्रव्यपद के प्रयोग में निमित्तभूत द्रव्यत्वजाति का व्यवस्थापक है। पृथिवी आदि को समवायिकारण अथवा गुणवान् यह ज्ञात होने पर भी उन

---

१. गुणोपलक्षितः समवायः समवेता वा गुणाः। व्योम, पृ० १५१

२. अवसेयम् इति पाठान्तरम्।

पदार्थों को द्रव्य क्यों कहा जाएगा ? स्वभावतः जिनकी समवायिकारणता अथवा समवायसम्बन्ध से गुणाधिकरणता हमने जाना उनके लिए हम समवायिकारण अथवा गुणी (गुणवान्) शब्द का ही प्रयोग करते हैं उन्हें हम द्रव्य नहीं कहते हैं। जब हम समवायिकारणताविशिष्ट वस्तुओं को अथवा गुणाधिकरणताविशिष्ट वस्तुओं को अत्यन्त भिन्न भिन्न स्वरूप के होते हुए उनमें एकरूपता का अनुभव करते हैं तब ही हम उन्हें द्रव्य कह सकते हैं। वही एकरूपता, जो अत्यन्त भिन्न-भिन्न स्वरूप के समवायिकारणों तथा गुणाधिकरणों में है, द्रव्यत्व है। वही द्रव्यपद की प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग में निमित्त है। वह द्रव्यपद की प्रवृत्ति पृथिव्यादि नवविध वस्तुओं में जब हम समवायिकारणता अथवा गुणाधिकरणता को प्रत्यक्ष करते हुए उनके स्वरूपगत भेदों का भी अनुभव करते हैं तब हो सकती है। यह अत्यन्त भिन्न स्वरूप के वस्तुओं में एक पता के अनुमान अर्थात् द्रव्यत्वजाति के अनुमान में समवायिकारणता तथा गुणवत्ता ही हेतु अर्थात् व्यवस्थापक होता है। द्रव्यत्वपद में 'त्व' यह प्रत्यय भावार्थक है। शास्त्र में 'भाव' शब्द का अर्थ शब्दप्रवृत्तिनिमित्त है। अर्थात् किसी शब्द का प्रयोग अर्थात् व्यवहार का निमित्त अर्थात् हेतु ही प्रयुक्त उस शब्द के अर्थ का भाव कहलाता है। जैसा पाण्डित्य के रहने के कारण हम किसी व्यक्ति को पण्डित कहते हैं। मूर्खता रहने के कारण किसी व्यक्ति को मूर्ख कहा जाता है। पाण्डित्य अथवा पण्डितत्व ही पण्डित का भाव है। मूर्खत्व ही मूर्ख का भाव है। वस्तुतः वस्तु का स्वरूप ही उसका भाव है। हम किसी वस्तुको जिस रूप से ज्ञात होते हैं तदनुसार ही उस वस्तुको समझाने के लिए शब्द भी प्रयोग करते हैं। किसी व्यक्ति का मनुष्यत्व को ज्ञात होकर उसके लिए पण्डित शब्द प्रयुक्त नहीं होता है। किसी पदार्थ का पृथिवीत्व को ज्ञात होकर घट शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु का समवायिकारणत्व को जानकर 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग भी नहीं हो सकता है। किसी वस्तु के लिए 'द्रव्य' शब्द तभी प्रयुक्त हो सकता है जब हम उसमें द्रव्यत्व को ज्ञात होते हैं। यह द्रव्यत्व ही द्रव्यपद प्रयोग का तिमित्त है यह निश्चित है।

कार्यकारणाविरोधित्वम् ; कार्यकारणयोरन्यतरेणापि द्रव्यजातीयं न विरुध्यत इत्यर्थः।

[कार्यकारणाविरोधित्व (नवविध द्रव्यों का साधर्म्य है)। कार्य तथा कारणों के किसी एक से भी द्रव्यजातीय (वस्तु) का विरोध नहीं है यह अर्थ है।]

प्रकाशकारने नाश्यनाशकभावको ही विरोध कहा है। नाश्यनाशकभाव का अभाव ही अविरोधित्व है। प्रशस्तपादके प्रायः टीकाकारों ने तथा किरणावली के टीकाकारों ने भी एक वाक्य से इसी अर्थ का समर्थन किया है।[1] केवल जगदीशने प्रशस्तपादके सूक्तिटीका में

---

१. कार्यकारणेति। यथा शब्दोगुणः कार्येण शब्देन नाश्यते कर्म चोत्तरसंयोगेन तथा अन्त्यः शब्दः उपान्त्येन नाश्यते। नैवं द्रव्यजातीयम्। प्रकाश पृ. १६३

अन्य प्रकार अर्थ किया है।[१] जगदीश की कार्यकारणाविरोधित्व की व्याख्या सूत्रकारानुगत नहीं है। सूत्रकारने स्पष्ट शब्द से नाश्यनाशकभावाभावपक्ष को ही उपदेश किया है।[२] कोई भी द्रव्य अपने कार्यद्वारा विनष्ट नहीं होता है। न कोई द्रव्य अपने कारणद्वारा विनष्ट होता है। यही कार्यकारणाविरोधित्वरूप साधर्म्य का अर्थ है। कुछ गुण तथा कर्म अपने कार्य से विरोध रखते हैं। जैसा आत्मा के ज्ञानादि विशेषगुण उनके कार्यभूत गुणों की उत्पत्ति होते ही नष्ट हो जाते हैं। इष्टसाधनताज्ञान के कारण आत्मा में उपायेच्छा उत्पन्न होते ही इष्टसाधनताज्ञान का नाश होता है। इसी प्रकार कर्म द्वारा उत्तरसंयोगरूप कार्य उत्पन्न होते ही उत्तरसंयोगोत्पादक कर्म का नाश हो जाता है। प्रकाशकारने भी उदाहरण के रूप में शब्द को लिया है। उन्होंने कहा है कि उत्पन्न शब्द अपनी उत्पत्ति के पश्चात् द्वितीय शब्द को उत्पन्न करता है परन्तु वह द्वितीयशब्द, जो प्रथम शब्दज है, की उत्पत्ति होते ही शब्दजशब्द के उत्पादक शब्द का नाश हो जाता है। तथा शब्दधारा के अन्तिमशब्द अपने उत्पादक शब्दको नष्ट करते हुए स्वयं अपने उत्पादक शब्द से ही नाश प्राप्त होता है। गुण तथा कर्म प्रकरण में इस विषय की विस्तृत विचार किया जाएगा। गुण तथा कर्म जिस प्रकार अपने कार्य अथवा कारण से ही नष्ट हो जाते हैं द्रव्य उस प्रकार नहीं होता है। कपाल अपने कार्य घट से, तन्तु अपने कार्य पट से कोई विरोध नहीं रखता है। प्रत्युत कपाल के नाश हो जाने पर घट की स्थिति रह नहीं सकती। तन्तु के नष्ट होने से पट की स्थिति भी नहीं रहती है। फलतः घटरूप कार्य से कपालरूप कारण का नाश नहीं होता है। न तो कपाल के कारण ही घट का नाश होता है। एतावता द्रव्य अपने कार्य अथवा कारण से नष्ट नहीं होता है यह प्रत्यक्षसिद्ध है।

प्रसङ्गतः यहां नाश्यनाशकभाव का विचार आवश्यक है। हम देखते हैं कि घट अपने समवायिकारण कपालद्वय के नाश होने पर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार कपालद्वय के रहते हुए कपालद्वयसंयोग, जो घट का असमवायिकारण है, के नष्ट होने से भी घट का नाश अवश्य होता है। इससे प्रतीत होता है कि कार्यद्रव्य का नाश आश्रयनाश अर्थात् समवायिकारण के नाश से होता है। तथा आश्रय के रहते हुए कार्यद्रव्य का नाश उसके असमवायिकारण के नाश से भी होता है। फलतः कार्यद्रव्यनाश के प्रति उस कार्यद्रव्य का समवायिकारण नाश अथवा असमवायिकारणनाशको स्थिति के अनुसार कारण मानना पड़ता है।

कार्येण न विरुध्यन्ते न विनाश्यन्ते इति...व्योम० पृ. १५१
गुणो हि क्वचित् कार्येण विनाश्यते...न्या. कन्दली पृ. २१
न विरुध्यते न नाश्यते। रहस्य पृ. १८४
कार्येति। तच्च न कार्यकारणोभयानाश्यत्वम्........। सेतु पृ. १४८

१. कार्यकारणाविरोधित्वं स्वजन्यसंयोगकारणकविभागजनकत्वम्। सूक्ति, पृ. १४४

२. कार्याविरोधिद्रव्यं कारणाविरोधि च। १।१।११, उभयथा गुणः १।१।१२ चन्द्रानन्द-वृत्ति। उपस्कार में पाठभेद है।

कोई कोई नाश्यनाशकभाव में लाघव के अनुरोध से कार्यद्रव्यनाश के प्रति उस कार्य-द्रव्य के असमवायिकारणनाश को ही एकमात्र कारण स्वीकार करते हैं। क्योंकि समवायिकारण-नाश से कार्यद्रव्यनाश के स्थलों में भी असमवायिकारण का नाश भी अवश्य होता है। अतः केवल असमवायिकारणनाशको ही कार्यद्रव्यनाश का कारण कहने में लाघव होगा। परन्तु यदि हम लाघव के अनुरोध से केवल असमवायिकारणनाशको ही कार्यद्रव्यनाश का कारण स्वीकार करें तो जिस स्थल में घटरूप कार्य के आश्रयनाश अर्थात् कपालनाश के कारण कपालद्वय-संयोगरूप घट के असमवायिकारणनाश तथा घटनाश होता है वहां कपालनाश के कारण कपाल-द्वयसंयोग यद्यपि नष्ट होता है तथापि कपालसंयोगनाश के साथ ही घट भी नष्ट होता है कहना पडेगा। अन्यथा कपालनाश के कारण कपालसंयोगनाश तथा कपालसंयोगनाश के कारण यदि घटनाश स्वीकार किया जाएगा तब कपालनाश के अव्यवहित परवर्त्ती कपालसंयोग का नाश, जो घटनाश का कारण माना गया है, के क्षण में कपाल के न रहने से उस क्षण में घट की निराधार स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी। कपालसंयोगनाश के साथ ही यदि घटनाश होता है तो कपालद्वयसंयोगनाश के समकालवर्त्ती होने से वह घटनाश का कारण नहीं हो सकेगा।

प्रस्तुत 'कार्यकारणाविरोधित्व' रूप साधर्म्य की अव्याप्ति द्रव्य में नहीं होती है। परन्तु ईश्वरीयज्ञान, इच्छा आदि गुणों के नित्य होने से उनका भी अपना कार्य से नाश नहीं होता है। अतः उनमें भी कार्यकारणान्यतराविरोधित्वरूप साधर्म्य अतिव्याप्त होगा। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए प्रकाशकारने कहा है कि अदृष्टेतर अर्थात् अदृष्टभिन्न, कार्यगुणों से नाशप्राप्त होने वाले वस्तुओं में न रहनेवाली सत्ताजातिमत्त्व ही 'कार्यकारणाविरोधित्वं' का अर्थ यहां विवक्षित है।[१] इस प्रकार अर्थ होने से ईश्वरीयज्ञान आदि में अतिव्याप्ति न होगी। क्यों कि यहां अर्थ का विशेष्यांश 'सत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व' अर्थात् सत्ता की साक्षाद्व्याप्यजातिमत्ता है। वह यद्यपि द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप है तथापि उसमें 'कार्यगुणनाश्यावृत्तित्व' विशेषण है। जिससे कार्यगुणों से नाशप्राप्त होने वाले वस्तुओं में न रहने वाली 'सत्तासाक्षाद्व्याप्यजाति' शब्द से गुणत्व तथा कर्मत्व को लिया नहीं जा सकेगा। क्योंकि कर्मत्वरुप सत्तासाक्षाद्व्याप्यजाति अपने कार्यभूत उत्तरसंयोग से नष्ट होने वाले कर्म में रहने से कर्मत्व कार्यगुणनाश्यावृतिजाति नहीं होगी। कर्म अपनो उत्पत्ति के अनन्तर क्रमशः एक एकक्षण में अपने आश्रय का पूर्वदेश से विभाग, पूर्वदेशसंयोग का नाश, उत्तरदेश से संयोग को उत्पन्न करके उसी उत्तरदेशसंयोग के कारण नाश को प्राप्त होता है। वह अपने कार्यगुण उत्तरदेशसंयौग से नाश्य है। अतः कार्यगुणनाश्यावृतिसत्तासाक्षाद्व्याप्यजाति कर्मत्व नहीं है। इससे कर्म में अतिव्याप्ति न होगी। इसी प्रकार शब्द अपने कार्यभूतगुण द्वितीय शब्दजशब्द से नाश प्राप्त होने से शब्दवृतिसत्तासाक्षाद्-

१. न च अदृष्टेतरकार्यगुणनाश्यावृत्ति-सत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वमित्यर्थः। प्रकाश पृ० १६३

व्याप्यजाति गुणत्व भी कार्यगुणनाश्यावृत्ति नहीं है। अतः गुणों में भी अतिव्याप्ति न होगी। परन्तु आत्मा के कार्यभूत अदृष्ट अर्थात् धर्म तथा अधर्मरूप गुण को कार्यमात्र के प्रति तथा कार्यमात्र के नाश में भी कारण स्वीकार किया गया है। फलतः आत्मकार्यभूत अदृष्टरूप गुणनाश्य घटपटादि कार्यों में वृत्ति होने से सत्तासाक्षाद्व्याप्य द्रव्यत्वजाति भी कार्यगुणनाश्यावृत्ति-सत्तासाक्षाद्व्याप्यजाति नहीं है। अतः द्रव्य में प्रस्तुत कार्यकारणाविरोधत्वरूपसाधर्म्य की अव्याप्ति रह जाएगी। इसीलिए 'अदृष्टेतर' यह विशेषण 'कार्यगुण' अंश में दिया गया है। फलतः अदृष्टरूप कार्यगुणनाश्य घटादिवृत्ति होने पर भी द्रव्यत्व जाति को यथाश्रुतार्थ में अदृष्टेतरकार्यगुणनाश्य में अवृत्ति सत्तासाक्षाद्व्याप्यजाति कही जा सकती है। यहां अदृष्टेतर गुणनाश्य न कहकर 'अदृष्टेतरकार्यगुणनाश्य' कहने का उद्देश्य यह है कि यदि प्रकृत अर्थ में 'कार्य' अंश विशेषण न हो तो ईश्वरीयज्ञान आदिगुणों को कार्यमात्र के प्रति अर्थात् कार्यनाश के प्रति भी कारण स्वीकार किए जाने के कारण घटपटादि कार्यद्रव्य भी अदृष्टेतर ईश्वरीय-नित्यगुणनाश्य होने से तद्वृत्ति द्रव्यत्वरूप सत्तासाक्षाद्व्याप्यजाति भी अदृष्टेतरगुणनाश्यावृत्तिजाति नहीं होगी। फलतः द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप सत्तासाक्षाद्व्याप्य कोई भी जाति लक्षणघटक नहीं होगी। इससे साधर्म्य को असम्भवदोषग्रस्त होना पड़ेगा। इसी लिए 'अदृष्टेतर तथा कार्य' यह दो विशेषण गुणशब्द में दिया गया है। ईश्वरीयज्ञानादि नित्य होने से घटपटादि उन नित्यगुणों के नाश्य होने पर भी अब असम्भव दोष न होगा।

यहां यह शङ्का होगी कि घटनाश में कपालद्वयसंयोगनाश अर्थात् असमवायिकारण-नाश को कारण स्वीकार करने से कपालसंयोगनाश के स्थल में कपालद्वयविभाग अवश्य होता है। अतः कपालद्वयसंयोगनाश के साथ कपालद्वयविभाग भी कार्यद्रव्य का नाशक होगा। फलतः अदृष्टेतरकार्यगुणभूत—कपालद्वयविभागनाश्य घट में वृत्ति होने से सत्तासाक्षाद्व्याप्यजाति द्रव्यत्व भी कार्यकारणाविरोधित्वरूप साधर्म्यघटक नहीं हुआ। फलतः असम्भव दोष का वारण उक्त अर्थ करने पर भी नहीं होगा। इसी लिए प्रकाशकारने पुनः पूर्वोक्त कार्यकारणभाव के निरूपक सम्बन्धी से विनष्ट होने वाले वस्तुओं में न रहने वाली जातिविशिष्ट पदार्थमें रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधित्व ही यहां कार्यकारणाविरधित्व का पर्यवसितार्थ कहा है।[1] यहां जातिमद्-वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधि द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व ही होगा। क्यों कि सामान्य आदि में जो पदार्थविभाजकोपाधियां (सामान्यत्व, विशेषत्व तथा समवायत्व) हैं वे जातिमद् पदार्थ में नहीं रहते हैं। उन उपाधियों के वारण के लिए 'जातिमद्वृत्ति' विशेषण आवश्यक है। शेष पदार्थविभाजकोपाधि हैं द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व। इनमें गुणत्व तथा कर्मत्व के निराकरण के लिए जातिमद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधि का विशेषण के रूप से 'कार्यकारणभावनिरूपक-सम्बन्धिनाश्यावृत्तित्व' दिया गया है। इस से गुणत्व तथा कर्मत्व का निराकरण होता है। क्यों कि कार्यकारणभाव शब्द से कार्यत्व तथा कारणत्व समझा जाता है। कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के

---

१. तथापि कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धिनाश्यावृत्ति-जातिमद्वृत्ति-पदार्थविभाजकोपाधि-मत्त्वभिप्रेतम्। प्रकाश, पृ. १६४

दो सम्बन्धी अवश्य होंगे । सम्बन्धमात्र ही द्विष्ठ अर्थात् दो वस्तु में स्थित होता है । उन सम्बन्धियों
के एक उस सम्बन्ध का अनुयोगी तथा दूसरा प्रतियोगी कहा जाता है । जैसे कार्यत्वरूप यदि
सम्बन्ध है तो उस सम्बन्ध के दो सम्बन्धी हैं कार्य तथा कारण जिनमें कार्यत्वरूप सम्बन्ध का
अनुयोगी कार्य है तथा प्रतियोगी होता है कारण। इसी प्रकार कारणत्वरूप यदि सम्बन्ध है तब
कारण उस सम्बन्ध का अनुयोगी तथा कार्य उस सम्बन्ध का प्रतीयोगी होगा । स्वकार्यत्वरूप
सम्बन्ध से कारण अपने कार्य से सम्बद्ध होता है । स्वकारणत्व सम्बन्ध से कार्य अपने कारण
से सम्बद्ध होता है । 'कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धिनाश्य' शब्द से फलतः कार्य अथवा कारणरूप
सम्बन्धि द्वारा नाशयोग्य वस्तु समझा जाएगा । कर्मजन्य उत्तरदेशसंयोग ही अपने उत्पादक
कर्मका नाशक होता है । अतः कर्म तथा उत्तरदेशसंयोग में जो कार्यकारणभावसम्बन्ध है उस
सम्बन्ध के एक सम्बन्धी उत्तरदेशसंयोग से नाश्य कर्म है । इस लिए कार्यकारणभावनिरूपक-
सम्बन्धिनाश्य में अवृत्ति तथा जातिमद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधि कर्मत्व नहीं हो सकता है । इसी
प्रकार अन्त्यशब्द तथा उसके उत्पादक उपान्त्य शब्द में कार्यकारणभाव है । उपान्त्य शब्द से
अन्त्यशब्द उत्पन्न होता है तथा अन्त्यशब्द का नाश भी उपान्त्यशब्द से ही होता है । फलतः
उपान्त्यशब्द अन्त्यशब्द का कारण तथा नाशक भी हैं । इससे कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धि-
नाश्य पद से हम अन्त्यशब्द को ले सकते हैं । अन्त्यशब्द में शब्दत्व तथा गुणत्व जाति भी है ।
परन्तु कार्यकारणभावनिरूपक उपान्त्यशब्दरूप सम्बन्धिनाश्य उपान्त्य शब्द में जो गुणत्व है वह
तादृशनाश्यावृत्ति होकर जातिमद्वृत्ति पदार्थविभाजकोपाधि न होगा । अतः गुण तथा कर्म में
उक्त साधर्म्य की अतिव्याप्ति न होगी ।

उपर्युक्त कार्यकारणाविरोधित्व के निर्वचन में कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धिनाश्य में
अवृत्ति तथा जातिमद्वृत्ति पदार्थविभाजकोपाधि तद्वत्त्व इस प्रकार से समस्तपद का अर्थ करना
होगा । यदि तादृशनाश्यावृत्तित्व को जातिका विशेषण किया जाएगा तब कार्यकारणभावनिरूपक-
सम्बन्धिनाश्य में अवृत्ति जो जाति तादृशजातिमद्वृत्ति पदार्थविभाजकोपाधि ही साधर्म्यका घटक
होगा । फलतः स्नेहत्वजाति को लेकर स्नेहत्वजातिमद्वृत्ति पदार्थविभाजकोपाधि गुणत्व हो जाने
से गुणों में प्रस्तुत साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी[1] । क्योंकि स्नेहरूप गुण अपने कार्य अथवा
कारण से नाश्य नहीं है । फलतः स्नेहगुण कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धिनाश्य न होने से तद्वृत्ति
स्नेहत्व जाति तादृशसम्बन्धिनाश्यावृत्तिजाति होगी । इस से स्नेहत्वजातिमद् स्नेहवृत्तिपदार्थ-
विभाजकोपाधि पुनः गुणत्व ही हो जाने से गुण में कार्यकारणान्यतराविरोधित्वरूप साधर्म्य
अतिव्याप्त होगा । इसी लिए तादृशसम्बन्धिनाश्यावृत्तित्व को साक्षात् रूप से पदार्थविभाजको-
पाधि का ही विशेषण स्वीकार करना होगा । जिससे स्नेहवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधि को लेकर
अतिव्याप्ति न हो सकेगी । क्योंकि स्नेह तादृशसम्बन्धिनाश्य न होने से उसको साधर्म्यघटकरूप

---

१. नाश्यावृत्तित्वमत्र विभाजकोपाधिविशेषणं न तु जातिविशेषणम् । अन्यथा तादृशस्नेहत्व-
जातिमात्रवृत्तितया गुणत्वस्यातिव्याप्त्यापत्तेः । विवृति, पृ. १६४

से लिया नहीं जा सकेगा। तथा गुणत्व भी तादृशसम्बन्धिनाश्य में अवृत्ति तथा जातिमद्वृत्ति-पदार्थविभाजकोपाधि न होगा। आद्यशब्द तथा द्वितीयशब्द, उपान्त्यशब्द तथा अन्त्यशब्द में कार्यकारणभाव तथा नाश्यनाशकभाव का वर्णन के साथ साधर्म्य को पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

इसी प्रकार उक्त निर्वचन में पदार्थविभाजकोपाधि में यदि जातिमद्वृत्तित्व को विशेषण न दिया जाएगा तब सामान्यत्व आदि पदार्थविभाजकोपाधियों को लेकर सामान्य आदि में यह साधर्म्य अतिव्याप्त होगा[१]। क्योंकि तब साधर्म्य का स्वरूप होगा कार्यकारणभावनिरूपक-सम्बन्धिनाश्यावृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व। फलतः तादृशसम्बन्धिनाश्य पद से यदि शब्द, कर्म, ज्ञान आदि को लिया जाएगा तब शब्द आदि तादृशसम्बन्धिनाश्य वस्तुओं में न रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि पद से सामान्यत्व, विशेषत्व आदि का भी ग्रहण हो सकेगा। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए ही पदार्थविभाजकोपाधि में कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धिनाश्यावृत्तित्व तथा जातिमद्वृत्तित्व यह दो विशेषण दिया गया है। सामान्यत्व आदि पदार्थविभाजकोपाधि तादृश-सम्बन्धिनाश्य वस्तुओं में अवृत्ति होने पर भी जातिमद्वृत्ति नहीं है। फलतः गुणत्व आदि समवायत्व तक पदार्थविभाजकोपाधियां साधर्म्य का घटक न होगी। अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है।

यहां पुनः शङ्का होगी कि इस निर्वचन से द्रव्यत्व भी इस साधर्म्य का घटक न होने से तथा गुणत्वादि के निराकरण होने के कारण यह साधर्म्य असम्भव दोषग्रस्त हो जाएगा। क्योंकि अस्त्र, शस्त्र तथा विस्फोरक पदार्थों के निर्माता पुरुष का शरीर उसी पुरुष के द्वारा निर्मित अस्त्रादि से विनष्ट होते देखा जाता है। फलतः पुरुष का शरीररूप द्रव्य अपने कार्य अस्त्रादि से नाश प्राप्त होने से कार्यकारणभावनिरूपक जो पुरुषविशेषोत्पादित अस्त्ररूप सम्बन्धि तन्नाश्य पुरुषशरीर में अवृत्ति तथा जातिमद्वृत्ति पदार्थविभाजकोपाधि द्रव्यत्व न हो सकेगा। इससे द्रव्यत्व का साधर्म्य घटक रूप से ग्रहण न होने तथा गुणत्व आदि समवायत्वान्त पदार्थविभाजकोपाधियों के पूर्व ही निरस्त होने से यथाश्रुत पदार्थविभाजकोपाधि ही प्रसिद्ध न होगा। फलतः साधर्म्य असम्भवदोष-ग्रस्त हो जाएगा।

इस आशङ्का के समाधान में विवृत्तिकारने कहा है कि यहां 'नाश्य' शब्द का नाश प्रतियोगित्वमात्र अर्थ नहीं परन्तु नाशक के अव्यवहितोत्तरक्षणवर्त्ति नाशप्रतियोगित्व ही तन्नाश्यत्व है। इससे मनुष्यशरीर अपने कार्य अस्त्रादि के अव्यवहितोत्तरक्षण में नष्ट नहीं होता है। कदाचित् ही उस प्रकार नाश होते देखा जाता है। अतः शङ्कित असम्भवदोष न होगा[२]।

---

१. सामान्यादिवारणाय जातिमद्वृत्तीति। विवृति, पृ. १६५

२. तन्नाश्यत्वञ्च तदुत्पत्त्यव्यवहितोत्तरनाशप्रतियोगित्वम्। तेन तच्छरीरकार्यखड्गादिना तन्नाशदर्शनान्नासम्भवः। विवृति, पृ. १६४

यहां हम प्रसङ्गवश कार्यकारणाविरोधित्व का प्रकाश तथा विवृति में जो निर्वचन किया गया है उसकी समालोचना करेंगे। प्रकाशकारने प्रथम निर्वचन में "अदृष्टेतरकार्यगुणनाश्यावृत्ति-सत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व" को कार्यकारणाविरोधित्व कहा है। इस प्रकार निर्वचन द्वारा 'कार्यकारणान्यतराविरोधित्वं' रूप किरणावली में उक्त अर्थ का परिष्कार करना मूलानुगत किस प्रकार कहा जा सकेगा? यद्यपि अव्याप्ति अतिव्याप्ति न हो तथापि मूल का अनुसरण इस निर्वचन में नहीं किया गया है। द्वितीयप्रकार निर्वचन करने का हेतुरूप से उन्होंने असमवायि-कारणनाशसहकृत अवयवविभाग को कार्यद्रव्यनाश का कारण स्वीकार कर लिया है जिससे "कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धिनाश्यावृत्ति" इत्यादि कहना पड़ा है। हमारा वक्तव्य यह है कि कपालद्वयसंयोगनाश यद्यपि अपने पूर्वक्षण में कपालद्वयविभाग की अपेक्षा रखता है परन्तु कपालद्वयविभाग को घटनाश का कारणकोटि में लाया नहीं जा सकता है। क्योंकि कपालद्वय-संयोग, जो घट का असमवायिकारण है तथा जिसके नाश के विना घटनाश नहीं होता है, के नाशक के रूप से ही कपालद्वयविभाग क्लृप्त है। अतः अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तित्वरूप कारणता कपालद्वयविभाग में धर्मिग्राहकमानबाधित होने से वह विभाग घटनाश के कारणभूत कपालद्वयसंयोगनाश के सहवर्त्ति होने पर भी वह कुलालपिता अथवा रासभादि के तुल्य ही नियतपूर्ववर्त्ती होने पर भी कारणकोटि में आ नहीं सकता है। वह चतुर्थ अथवा पञ्चम प्रकार अन्यथासिद्ध ही है। अतः कपालद्वयविभाग को लेकर गुण में प्रस्तुत साधर्म्य की अतिव्याप्ति की कल्पना यथार्थ नहीं है। द्वितीयप्रकार निर्वचन की आवश्यकता प्रदर्शित हेतु से अनावश्यक ही था।

यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से तथा मूल के अनुरोध से द्वितीयनिर्वचन की आवश्यकता हुई तब "कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धिनाश्य" इत्यादि निर्वचन में 'नाश्य' शब्द का नाश अर्थात् ध्वंसप्रतियोगित्वमात्र अर्थ को लेकर निजनिर्मितखड्गादि से विनष्ट शरीररूप द्रव्यगत द्रव्यत्व को लेकर असम्भव दोष के वारण के लिए विवृतिकारने 'तन्नाश्यत्व' का तदुत्पत्त्यव्यवहितो-त्तरनाशप्रतियोगित्वरूप अर्थ किया है वह भी प्रकृतोपयोगी नहीं है। क्यों कि नाश्यनाशकभाव के स्थलों में भी कार्यकारणभाव के तुल्य ही नियतोत्तरवर्त्तित्व तथा नियतपूर्ववर्त्तित्व का निवेश भी अवश्यकरणीय है। अन्यथा जिस स्थल में मनुष्यशरीरविशेष से उत्पन्नखड्गादि की उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में उत्पादकशरीर नष्ट हुआ वहाँ विवृतिकार का निर्वचन व्यर्थ हो जाएगा।

द्वितीय अर्थात् कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्ध्युत्पत्त्यव्यवहितोत्तरनाशप्रतियोग्यवृत्ति-जातिमद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वरूप द्रव्यों के साधर्म्य कहने की अपेक्षया कार्यनाश्यावृत्ति-जातिमद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व कहने से लघुतर धर्म द्रव्यों के साधर्म्य हो सकता था। परन्तु मूल के अनुरोध से ही अर्थात् मूल में कार्यकारणान्यतराविरोधित्वरूप पंक्ति में कार्य तथा कारण एतदन्यतराविरोधित्व को साधर्म्य कहे जाने के कारण उसी के अनुसार निर्वचन में भी

कार्य तथा कारण का निवेश करना पड़ा है[१]। यह भी निश्चित है कि उक्त लघुतर निर्वचन से मूल के अनुरोध से जो गुरुतर निर्वचन किया गया है वह गतार्थ होने से व्यर्थता दोष से दुष्ट है कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि उक्त लघु तथा गुरुधर्मो में गुरुधर्म के लघुतर धर्म-घटित होने से गुरुधर्म व्यर्थविशेषणता के कारण व्याप्यत्वासिद्धिरूप हेत्वाभास (दुष्टहेतु) होने से इतरभेदानुमापक न हो सकता था। यहाँ गुरुधर्म लघुतर धर्मघटित न होने से दोनों धर्म ही इतरभेदानुमापक होने में बाधा नहीं है। यहाँ गुरुतर निर्वचन में कार्यकारणभावनिरूपकसम्बन्धि-नाश्यवृत्तित्व का सामान्याभाव का प्रवेश है तथा लघुतर निर्विचन में कार्यनाश्यवृत्तित्व का सामान्या-भाव प्रविष्ट है। यह दो अभाव भिन्न भिन्न होने से एक (लघुतर) से दूसरे (गुरुतर) की गतार्थता नहीं है। इस लिए इन दोनों को द्रव्य का समानधर्म कहा जा सकता हैं।

प्रस्तुत साधर्म्य की व्याख्या में व्योमवतीकारने प्रशस्तपाद के कार्यकारणाविरोधित्व को कार्यकारणान्यतराविरोधित्वरूप एक साधर्म्य अथवा कार्याविरोधित्व तथा कारणाविरोधित्वरूप दो साधर्म्य के रूप से ग्रहण किया है। उनकी व्याख्या में विलक्षणता यह है कि उसमें कार्याविरोधित्व, कारणाविरोधित्व तथा कार्यकारणान्यतराविरोधित्व इसमें किसी को भी द्रव्य का लक्षण नहीं स्वीकार किया गया है। परन्तु यह धर्मो को उन्होंने द्रव्य का साधर्म्यमात्र कहा है[२]। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञानादि नित्यगुणों में कार्याविरोधित्व उनकी नित्यता के कारण अवश्य रहेगा। अतः कार्याविरोधित्व गुण में अतिव्याप्त होगा। इसी प्रकार आकाशादि नित्यद्रव्यों में कारण के अभाव के कारण ही कारणविरोधित्व रह नहीं सकता है। अतः कारणाविरोधित्व की अव्याप्ति नित्य-द्रव्यों में होगी। इस लिए व्योमवतीकारने इन धर्मो को द्रव्य का लक्षण नहीं स्वीकार किया हैं। परन्तु इनको द्रव्य का साधर्म्यमात्र कहा है।

परन्तु जो धर्म अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्तिदोष दुष्ट है उसको साधर्म्य किस प्रकार से कहा जा सकेगा यह विचारणीय है। क्यों कि प्रशस्तपादने स्पष्टरूप से आगे चल कर कहा है कि "एवं सर्वत्र विपर्ययात् साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च वाच्यम्।" कारिकावली में इसी सिद्धान्त को "यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत्" कहकर स्पष्ट भी किया गया है। प्रकाश आदि ग्रन्थों में इसी लिए प्रत्येक साधर्म्य को ही स्वरूपनिर्वचन द्वारा दोषत्रय रहित बना दिया है। फलतः सभी साधर्म्य इतरभेदानुमापक लक्षण भी हो गये हैं। इस स्थिति में व्योमवतीकार का कथन कहाँ तक ग्रहणीय है यह चिन्तनीय ही है।

---

१ यद्यपि कार्यनाश्यावृत्तीत्येव युक्तं तथापि मूलानुरोधादेवमुक्तम्। विवृति, पृ. १६४

२. कार्यकारणयोर्विरोधः कार्यकारणविरोधः, स न विद्यते येषां ते कार्यकारणाविरोधिनस्तेषां भावः कार्यकारणाविरोधित्वं कार्यकारणयोः परस्पराविरोधित्वमेक एव धर्मः। यदि वा धर्मद्वयं कार्याविरोधित्वं कारणाविरोधित्वञ्चेति।......स च सर्वेषु पृथिव्यादिष्वस्तीति साधर्म्यं न पुनर्लक्षणम्। व्योम, पृ. १५१

व्योमवतीकार के समर्थन में केवल इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैशेषिक सूत्रों में महर्षि कणादने इस विषय में जो उपदेश किया है वह कुछ दूर तक व्योमवती का अनुकूल है । हम देखते हैं कि सूत्रकारने "न द्रव्यं कार्यं कारणञ्च बधति" (१।१।१२) कहने के अनन्तर ही "उभयथा गुणाः" (१।१।१३) तथा "कार्यविरोधि कर्म" (१।१।१४) कहा है । चन्द्रानन्दवृत्ति में इन सूत्रों में कुछ पाठ भेद है । (यथा "कार्याविरोधि द्रव्यं कारणाविरोधि च" "उभयथा गुणः" तथा "कार्यविरोधि कर्म") । चन्द्रानन्दवृत्ति में स्पष्टतया कार्याविरोधित्व तथा कारणाविरोधित्व का उल्लेख है । यदि कार्याविरोधित्व आदि को सूत्रकारने साधर्म्य होते हुए लक्षण भी समझा होता तो अनन्तर ही "उभयथा गुणः" कहना सम्भव नहीं था । फलतः सूत्रों की पारम्पर्य से यह समझना नितान्त असम्भव नहीं है कि कार्याविरोधित्व आदि धर्म समानधर्म होते हुए लक्षण नहीं है । यह भी निश्चित कहा नहीं जा सकता है कि कार्यकारणान्यतराविरोधित्व ही एक साधर्म्य है । क्यों कि 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' में गृहीत सूत्रपाठ यद्यपि एक साधर्म्य के अनुकूल है तथापि चन्द्रानन्दवृत्ति में गृहीत सूत्रपाठ स्पष्टतया दो साधर्म्य का ही अनुकूल प्रतीत होता है ।

अन्त्यविशेषवत्त्वम् । एतद् द्रव्यजातीयस्यैव सम्भवतीत्यर्थः । अथवा अन्यत्रावयविद्रव्येभ्यः इति भविष्यति ।

[अन्त्यविशेषवत्त्व यह द्रव्यजातीय (वस्तु) का ही सम्भव है यह अर्थ है । अथवा अवयविद्रव्यों से अन्य (द्रव्यों) में यह (साधर्म्य) होगा ।]

अन्त्यविशेषवत्त्व को नवविध द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया है । इसकी व्याख्या में प्रकाशकारने कहा है कि 'अन्त्यरूपो विशेषो व्यावर्त्तकधर्मस्तद्वत्त्वम्'[१] । यहाँ विशेष-पदकी व्याख्या व्यावर्त्तकधर्म किया गया है । अन्त्य-पदकी कोई व्याख्या प्रकाशकारने नहीं किया है । सामान्यतया 'अन्त्य' शब्द से अन्तिम अथवा चरम अर्थ होता है । फलतः अन्त्यविशेष शब्द का 'चरमव्यावर्त्तक' अर्थ होगा । यहां शङ्का हो सकती है कि प्रकाशकारने विशेष शब्द का 'व्यावर्त्तक' मात्र अर्थ क्यों किया जब कि किरणावली अथवा प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में विशेषपद 'स्वतोव्यावर्त्तक' पदार्थ का ही बोधक है (देखें पृः १९१) । किरणावली में प्रशस्तपाद की पंक्ति की व्याख्या करते हुए 'अन्त्य' शब्द को पदार्थविभाजकधर्म में विशेषणरूप से स्वीकार नहीं किया है । फलतः 'विशेष' शब्द ही 'स्वतोव्यावर्त्तक' पदार्थ है । इसके समाधान में कहा जा सकता है कि विशेष पदार्थ के उद्देशप्रकरण में (पृः १९१) कहा है कि "सामान्यरूपेभ्यो विशेषेभ्योऽपरे गुणादयो विशेषाः सन्ति । एभ्यस्तु नापरे, किन्तु एव्वेव वैशिष्ट्यं समाप्यते ।" इस कथन से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत स्थल में केवल विशेष शब्द के प्रयोग से कदापि गुणादिरूप विशेष का भ्रम न हो तदर्थ प्रशस्तपादने 'अन्त्य' शब्द को विशेष पदका विशेषण दे रखा है । इसी लिए प्रकाशकारने 'विशेष' पद का 'व्यावर्त्तक' मात्र अर्थ किया है । यदि यहां विशेष पदका 'स्वतोव्यावर्त्तक' अर्थ

१. प्रकाश, पृ. १६४.५

होता तब 'अन्त्य' पद विशेषण देना व्यर्थ होता। इसी लिए अन्त्य पदको उपलक्षक अर्थात् परिचायक कहा गया है।[१]

अन्त्यविशेष अर्थात् स्वतोव्यावर्त्तकधर्म ही नवविध द्रव्यों का साधर्म्य है। फलतः रूपत्व, रसत्व, पृथिवीत्व, जलत्व आदि सामान्यविशेष अथवा गुण कर्म आदि विशेषों का ग्रहण साधर्म्य के लिए सम्भव न होने से अतिव्याप्ति न होगी। केवल स्वतोव्यावर्त्तक धर्म अर्थात् वैशेषिकशास्त्र प्रसिद्ध पञ्चमपदार्थ ही साधर्म्य के रूप से गृहीत होगा। यहां 'अन्त्य' पद विशेष का परिचायक होने से गुणादिरूप विशेषों का ग्रहण न होगा।

यहां शङ्का होगी कि अन्त्यविशेष अथवा विशेष, जिस नाम से भी वह साधर्म्य हो, केवल नित्यद्रव्यवृत्ति होता है। घट, पट आदि अनित्यद्रव्यों में विशेष को स्वीकार नहीं किया गया है। अतः विशेष नित्यानित्य उभयविध द्रव्यों का साधर्म्य कहने से अनित्य द्रव्यों में इस साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। इसी के समाधान के लिए किरणावलीकारने कहा है कि यह साधर्म्य द्रव्यजातीय का होना सम्भव है। अर्थात् 'अन्त्यविशेषवद्वृत्ति सत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व' आदि रूप से यह साधर्म्य नवविध द्रव्यो का ही हो सकता है। अथवा प्रकारान्तर से भी कहा जा सकता है कि अवयविभिन्न द्रव्यों का यह साधर्म्य है। इस प्रकार व्याख्या से अव्याप्ति की सम्भावना नहीं है।

प्रकाशकारने इसी लिए पूर्वोक्त अर्थ का ही समर्थन करते हुए अन्त्यविशेष के अधिकरण में रहने वाली सत्तेतरजातिमत्ताको ही अन्त्यविशेषवत्त्वका अर्थ बतलाया है।[२] इससे अन्त्य-विशेषवत्त्व नवविध द्रव्यका साधर्म्य हो सकेगा। अन्त्यविशेषवत्त्वको केवल नित्यद्रव्यों का ही साधर्म्य बतलाकर किरणावली में जो द्वितीय प्रकार अर्थ किया गया उसमें ग्रन्थकार की अरुचि स्पष्ट है। प्रकाशकारने उस द्वितीय कल्प की उपेक्षा ही की है। यह उचित भी है। क्योंकि यह प्रकरण नवद्रव्यों के साधर्म्य वर्णन का होने से नित्यद्रव्यमात्र का साधर्म्य को यहां वर्णन करना उचित भी न होता। अन्त्यविशेषवान् आकाशादिनित्यद्रव्यगत जाति अथवा पार्थिवादिपरमाणुगत पृथिवीत्वादि जातिको लेकर समस्तद्रव्य में तथा समस्तपृथिवी में ही यह साधर्म्य घटेगा। गुणादि में विशेष न रहने से गुणत्व, कर्मत्व अथवा रूपत्व, उत्क्षेपणत्वादि लेकर गुण अथवा कर्म में अतिव्याप्ति भी न होगी। यद्यपि अन्त्यविशेषवत् द्रव्यनिष्ठ सत्ता जातिको लेकर गुणादि में अति-व्याप्ति हो सकती थी तथापि सत्ताभिन्न जाति के निवेश के कारण वह अतिव्याप्ति न होगी। सामान्य आदि पदार्थो में कोई जाति ही नहीं रहती है। इस लिए उनमें यह साधर्म्य अतिव्याप्त होने की शङ्का नहीं है।

---

१. अन्त्यपदं विशेषपदार्थोपलक्षकम्। विवृति, पृ. १६५

२. अन्त्यविशेषवन्निष्ठसत्तेतरजातिमत्त्वम्। प्रकाश पृ. १६५.

'अन्त्यविशेषवत्त्व' का अर्थ प्रशस्तपादभाष्य की टीका सेतु में अन्त्यविशेष के आश्रय-भूत वस्तुओं में जो भावविभाजकोपाधि हैं तादृशउपाधिमत्त्व किया गया है[1]। इससे विशेषों के अधिकरणभूत नित्यद्रव्यों में भावविभाजकोपाधि केवल द्रव्यत्व ही होने से तथा वह द्रव्यत्व नित्या-नित्यद्रव्यगत होने से अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है। सेतु टीकाकारने किरणा-वलीकार द्वारा किये गये प्रथम अर्थ का ही समर्थन किया है।

परन्तु प्रशस्तपाद के सूक्तिटीकाकार जगदीशने अन्त्यविशेषवत्त्व को केवल नित्यद्रव्यों का ही साधर्म्य स्वीकार कर उसका परिष्कार में कहा है कि उभयव्यक्ति में असमवेत जो सामान्य-रहित धर्म उसका समवायसम्बन्ध से अधिकरणता ही अन्त्यविशेषवत्त्व पद से विवक्षित है।[2] उभय व्यक्ति में असमवेत धर्म के रूप से अनेकव्यक्तिवृत्ति जातिओं का ग्रहण न होगा। परन्तु 'तद्रूप' उभयावृत्ति धर्म होने से उसका ग्रहण हो सकेगा। फलतः 'तद्रूप' व्यक्ति में साधर्म्य अतिव्याप्त होगा। इसी लिए उभयावृत्तिधर्म में निःसामान्यत्व अर्थात् जातिशून्यत्व विशेषण दिया गया है। तद्रूप व्यक्ति उभयासमवेत होने पर भी रूपत्वजातिविशिष्ट होने से साधर्म्यघटक न होगा। फलतः तत्तत् नित्यद्रव्यसमवेत तथा सामान्यरहित विशेष ही वह धर्म होगा।

अनाश्रितत्वमाधारैकस्वभावता। नित्यत्वं द्रव्यत्वे सतीति बोद्धव्यम्। 'च' काराद् विपर्ययेण विशेषरहितद्रव्यत्वम्, आश्रितद्रव्यत्वम्, अनित्य-द्रव्यत्वञ्च अन्यत्रनित्यद्रव्येभ्य इति।

[अनाश्रितत्व (पद से) आधारैकस्वभावता (समझना है)। द्रव्यत्व रहने पर नित्यत्व (प्रस्तुत स्थल में साधर्म्य है) समझना होगा। (मूल के) 'च' कार से विपरीतरूप से विशेषाभावविशिष्टद्रव्यत्व, आश्रितत्वविशिष्टद्रव्यत्व, तथा अनित्यद्रव्यत्व भी नित्यद्रव्यों से अन्य द्रव्यों का (अर्थात् अनित्या-द्रव्यों का) (साधर्म्य है यह समुच्चित होगा)।]

अनाश्रितत्व नित्यत्वे[3] इत्यादि प्रशस्तपादकी पंक्तिओं की व्याख्या करते हुए किरणावली-कारने अनाश्रितत्वको आधारतामात्रस्वभावता कहा है। यद्यपि यथाश्रुत अनाश्रितत्व शब्द से आश्रितत्वका अभाव ही अवयविभिन्न द्रव्योंका अर्थात् नित्यद्रव्यों का साधर्म्य है प्रतीत होता है तथापि नित्यद्रव्य किसी का आधार होता है अथवा नहीं यह स्पष्ट नहीं होता है; सम्भवतः

---

१. अन्त्यविशेषवत्त्वम्। अन्त्यविशेषवद्वृत्तिभावविभाजकोपाधिमत्त्वं तेन न अनित्यद्रव्याव्याप्तिः। सेतुः पृ. १४९

२. अन्त्येति। पृथिव्यादीनां नवानामवयविद्रव्येभ्योऽन्यत्रान्त्यविशेषवत्त्वम्। उभयासमवेतनिःसामान्यधर्मसमवायित्वमित्यर्थः। सूक्ति, पृ. १४४

३. अनाश्रितत्वनित्यत्वे चान्यत्रावयविद्रव्येभ्यः। प्रशस्तपाद

इसीलिए किरणावली में अनाश्रितत्वको आधारैकस्वभावता कहा गया है। यहां प्रयुक्त 'एक' पद का 'मात्र' अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा। स्वसमभिव्याहृतपदार्थभिन्न सकल पदार्थका निषेध 'मात्र' पद का अर्थ है। इससे आधारैकस्वभावता शब्द का आधारमात्रस्वभावता अर्थात् आधारता को छोड़कर अन्य धर्मों का निषेध समझना स्वाभाविक है। परन्तु नित्यद्रव्यों में नित्यत्व, सत्ता, पृथिवीत्व आदि सामान्यविशेष प्रभृति धर्म सर्ववादिसिद्ध हैं। अतः आश्रितत्वाभाव-विशिष्ट आधारता ही आधारैकस्वभावता शब्द का विवक्षित अर्थ है स्वीकार करना पड़ेगा। उसी प्रकार आधारैकस्वभावता को नित्यद्रव्यों का साधर्म्य कहा गया है। यहां आधारैकस्वभावतारूप अनाश्रितत्व समवायसम्बन्धावच्छिन्न आश्रितत्व का अभावविशिष्ट आधारता ही साधर्म्य है। क्योंकि परमाणु आदि नित्यद्रव्यों में संयोगसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता (आश्रितत्व) स्वीकृत रहने के कारण आश्रितत्वाभावविशिष्ट आधारतारूप साधर्म्य की अव्याप्ति परमाणु आदि में होगी। इसी लिये समवाय सम्बन्धावच्छिन्नाश्रितत्व का अभाव कहना आवश्यक है। आधारता भी समवायसम्बन्धावच्छिन्ना-धेयतानिरूपित आधारता ही समझना है। क्योंकि उस प्रकार निवेश न करने से समवाय में समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता का अभाव तथा स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना—समवायत्वनिष्ठाधेयतानिरूपित आधारता के रहने से समवाय में आश्रितत्वाभावविशिष्ट आधारतारूप साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी।[1]

पृथिवीत्यादि[2]। अनेकत्वं बहुत्वसंख्या। अपराजातिः पृथिवीत्वादिका, तद्वत्ता तत्समवायः। संस्कारवत्ता चेति द्रष्टव्यम्।

[पृथिवी इत्यादि (ग्रन्थकी व्याख्या की जा रही है)। (प्रस्तुत स्थल में) अनेकत्व (पद का अर्थ) बहुत्व संख्या (होगा)। अपरा जाति (पद से) पृथिवीत्व आदि (द्रव्यत्व की व्याप्यजातिओं को समझना चाहिए); तद्वत्ता (पद भी) तत् (अर्थात् उस पृथिवीत्व आदि जातिओं) का समवाय (समझना है)। संस्कारवत्ता भी (पृथिवी आदि का साधर्म्य है), यह द्रष्टव्य है।]

प्रशस्तपादाचार्यने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आत्मा तथा मन इन छः द्रव्यों का अनेकत्व तथा अपरजातिमत्त्व को साधर्म्य कहा है। इनमें 'अनेकत्व' को किरणावलीकारने बहुत्व संख्या कहा है। क्योंकि अनेकत्व का 'एकभिन्नत्वरूप' अर्थ स्वीकार करने पर एक घट, एक पट आदि एक एक व्यक्ति का भेद आकाश, काल आदि में प्राप्त हो जाने से एकभिन्नत्व रूप अनेकत्व आकाश आदि में अतिव्याप्त होगा। इसी लिये अनेकत्व को एकभिन्नत्व न कह कर बहुत्वसंख्यारूप कहा गया है। बहुत्वसंख्यारूप अनेकत्व भी घट, पट, मठ तथा आकाश इन चार व्यक्तियों में

---

१. समवायेनाधारैकस्वभावता। तेनेह परमाणुरिति प्रतीतेस्तस्याधेयत्वेऽप्यदोषः। प्रकाश, पृ. १६५

२. पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामनेकत्वापरजातिमत्त्वे। प्रशस्तपाद

रहने से आकाश में भी बहुत्वरूप संख्या प्राप्त होगा। फलतः बहुत्वरूप अनेकत्व भी आकाश, काल आदि में अतिव्याप्त होगा[१]। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए किरणावलीभास्करकारने कहा है कि द्रव्यविभाजकोपाधिव्याप्यबहुत्वसंख्या ही प्रस्तुत स्थल में बहुत्वसंख्या का अर्थ है। इससे एक घट एक पट तथा आकाश इन तीन व्यक्ति में जो बहुत्व है उसका ग्रहण नहीं हो सकेगा। क्योंकि इन तीन व्यक्तियों में जो बहुत्व है वह इन तीनों में रहने वाली पृथिवीत्व तथा आकाशत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधियों के व्याप्य नहीं है। घट तथा पट में द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व है। एक घट, एक पट तथा आकाश में जो बहुत्व है वह पृथिवीत्वाभाव के अधिकरण आकाश में भी होने से पृथिवीत्वरूपद्रव्यविभाजकोपाधि का व्याप्य नहीं है। इसी प्रकार एक घट, एक पट तथा आकाश में जो बहुत्वसंख्या है वह आकाशत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधि का भी व्याप्य नहीं है। क्योंकि आकाशत्वाभाव के अधिकरण घट तथा पट व्यक्ति में भी वह बहुत्व है। फलतः उक्त घट पट तथा आकाश में जो बहुत्वसंख्या है वह पृथिवीत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधि का अथवा आकाशत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधिका व्याप्य न होने से वह बहुत्व साधर्म्यकोटि में नहीं आवेगा। अतिव्याप्ति न होगी। वस्तुतः एकजातीयसमुदायगत बहुत्व संख्या ही प्रस्तुत प्रकरण में अनेकत्व है। अर्थात् घट, पट तथा मठ व्यक्तिओं में जो बहुत्व है वही पृथिवीत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधिका व्याप्य होगा। इसी प्रकार जल, तेज आदि एकजातीयवस्तुगत बहुत्वसंख्या को लेकर लक्षण का समन्वय होगा। आकाश, काल, दिक् इनमें सजातीय बहुव्यक्ति न रहने के कारण इनमें जो बहुत्व संख्या होगी वह आकाशत्व आदि द्रव्यविभाजकोपाधियों के व्याप्य न होने से साधर्म्य का विषय न होंगे[२]। पूर्वोक्त प्रकार की बहुत्व संख्या पृथिवी आदि छः द्रव्यों का समानधर्म होगा।

उपर्युक्त अनेकत्व के निर्वचन में शङ्का यह होगी कि बहुत्व संख्या से द्रव्यविभाजकोपाधिका जो व्याप्यव्यापकभाव कहा गया है उसमें व्यापकाभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति में व्यापकाभाव का स्वरूप क्या होगा? अर्थात् यदि द्रव्यविभाजकोपाधि के अभाव के अधिकरण में न रहना ही बहुत्व संख्या की द्रव्यविभाजकोपाधिव्याप्यता हो तब एक घट, एक पट तथा आकाश में जो बहुत्व संख्या है वह 'द्रव्यविभाजकोपाधिर्नास्ति' इस प्रकार अभाव के अधिकरणों में न रहने से उस बहुत्व में द्रव्यविभाजकोपाध्यभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति बन जाएगी। पुनः अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि वह बहुत्व संख्या घट तथा पट व्यक्ति तथा आकाश में है उन घट पट तथा आकाश में द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व तथा आकाशत्व के रहने से सामान्यतः 'द्रव्यविभाजकोपाधिर्नास्ति'

---

१. यद्यपि घटपटाकाशा इति बहुत्वसंख्यात्राप्यस्ति। प्रकाश, पृ. १६५

२. द्रव्यविभाजकोपाधिव्याप्यबहुत्वसंख्यावत्त्वं विवक्षितम्। नातो दिगाकाशघटा इत्यादि बहुत्वसंख्यामादायातिप्रसक्तिः। तस्याः कस्याप्युपाधेर्व्याप्यत्वाभावाद्। दिगादि विहायाकाशादौ सत्त्वात्। घटपटस्तम्भा इत्यादि बहुत्वसंख्या तु भवति पृथिवीत्वादिव्याप्येत्यर्थः। भास्कर, पृ. ५९-६०

यह अभाव घट, पट अथवा आकाश, जहां वह बहुत्व है, में न रहने से बहुत्व में द्रव्यविभाजकोपाधिसामान्य का व्याप्यत्व सिद्ध है। यदि हम पृथिवीत्वादि द्रव्यविभाजकोपाधिविशेष के अभाव के अधिकरण में न रहना ही यहां बहुत्व का व्याप्यत्व का स्वरूप कहें तब भी व्यापकाभावपद से द्रव्यविभाजकपृथिवीत्वाभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्यत्व बहुत्वसंख्या में न रहने से पृथिव्यादि एकजातीयसमुदायगत बहुत्व में भी लक्षण नहीं घटेगा। क्योंकि जलजातीय वस्तुओं की बहुत्व संख्या में उक्त पृथिवीत्वाभाववद्वृत्तित्व ही रहने से वह बहुत्व द्रव्यविभाजकपृथिवीत्वरूपोपाधिव्याप्य न होगा। इसी प्रकार पृथिवीजातीयसमुदायगत बहुत्व में द्रव्यविभाजकजलत्वाभाववद् वृत्तित्व रहने से उस बहुत्व में द्रव्यविभाजकजलत्वरूपोपाधिव्याप्यत्व न रहेगा। फलतः पृथिवी आदि छ द्रव्य में कोई भी बहुत्वसंख्या द्रव्यविभाजकोपाधिसामान्याभाववदवृत्ति अथवा द्रव्यविभाजकपृथिवीत्वादिविशेषाभाववदवृत्ति न होने से यह साधर्म्य अव्याप्त हो जाएगा।

सम्भवतः इसीलिए प्रशस्तपादभाष्य के सूक्तिटीकाकारने अनेकत्व को बहुसमवेत द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वरूप कहा है[१]। इससे पूर्वोक्त स्थल में अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि आकाशत्व, कालत्व तथा दिक्त्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधिआं बहुसमवेत द्रव्यविभाजकोपाधि नहीं है। पृथिवीत्व आदि छ द्रव्यविभाजकोपाधि बहुसमवेत होने से तद्विशिष्ट पृथिवी आदि में लक्षण का समन्वय होगा। अव्याप्ति न होगी।

प्रकाशकारने बहुत्व को बहुत्वसमानधिकरणद्रव्यविभाजकोपाधिरूप कहा है[२]। इस निर्वचन में अतिव्याप्ति का प्रदर्शन हम पहले कर चुके हैं। विवृत्तिकारने सामानाधिकरण्य को अन्यूनाधिकरणता कहा है[३]। परन्तु घट पट तथा आकाशगत बहुत्व का अन्यूनाधिकरण पृथिवीत्व अथवा आकाशत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधि न होने से इस बहुत्व को साधर्म्य नहीं कहा जा सकेगा। घट, पट, मठ में जो बहुत्व है पृथिवीत्व उसका अन्यूनाधिकरण होता है। अतः अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति न होगी।

किरणावलीरहस्यकार मथुरानाथने अनेकत्व का परिष्कार में कहा है कि स्वानधिकरणावृत्तिबहुत्वसमानाधिकरणद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व ही 'बहुत्वसंख्या' का विवक्षित अर्थ है[४]। यहां

---

१. अनेकत्वम् बहुसमवेतद्रव्यविभाजकवत्त्वम्। सूक्ति, पृ. १५३

२. यद्यपि घटपटाकाशा इति बहुत्वसंख्यात्राप्यस्ति तथापि समानाधिकरणद्रव्यविभाजकोपाधिव्याप्यबहुत्वसंख्यावत्त्वमिहाभिहितम्। प्रकाश, पृ. १६५-६

३. समानाधिकरणत्वम् अन्यूनाधिकरणत्वं विवक्षितमिति न दोषतादवस्थ्यम्। विवृति, पृ. १६५

४. यद्यपि रहस्यटीका के हस्तलेख में 'स्वानधिकरणावृत्तिबहुत्ववृत्तिसमानाधिकरण द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वे ... तात्पर्यम्' पाठ है परन्तु यहां ......बहुत्ववृत्तिसमानाधिकरण अंश में 'वृत्ति' शब्द अनावश्यक होने से लिपिकर प्रमाद है।

स्वपद से पृथिवीत्व, जलत्व आदि का ग्रहण करना है। पार्थिवपदार्थसमुदायगत जो बहुत्वसंख्या है वह पृथिवीत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधि के अनधिकरण जलादि (पृथिवी को छोडकर तावत्) पदार्थ में अवृत्ति है। उसी बहुत्व के समानाधिकरण द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व ही होगा। यदि हम घट पट तथा आकाश की बहुत्व संख्या को लेकर आकाश में इस साधर्म्य को समन्वित करना चाहेंगे तो आकाशत्व को स्वपद से लेना पड़ेगा। फलतः घट, पट तथा आकाशगत बहुत्व संख्या स्वपद से गृहीत आकाशत्व के अनधिकरण घट तथा पट में भी रहने से स्वपदग्राह्य आकाशत्व के अनधिकरण में अवृत्ति न होगा। अतः अतिव्याप्ति न होगी। पृथिवी आदि छहों द्रव्यों में स्वगत भेद रहने से पृथिवी आदि समानजातीय घट, पट, मठादि वस्तु में जो बहुत्व संख्या है उसका ग्रहण हो सकेगा। वह बहुत्व संख्या पृथिवीत्वादि द्रव्यविभाजकोपाधि के अनधिकरण जल आदि में अवृत्ति होने से स्वानधिकरणावृत्ति बहुत्व होगा। इसी प्रकार से जलत्व आदि द्रव्यविभाजकोपाधियां भी गृहीत हो सकेंगी। यह उपाधियां पृथिवी आदि एक एक द्रव्य में आश्रित होने से उनमें अनेकत्व रूप बहुत्वसंख्या के रहने के कारण अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति न होगी।

पृथिवी आदि षड्विध द्रव्यों का 'अपरजातिमत्त्व' भी साधर्म्य है। प्रशस्तपादाचार्यने सत्ताभिन्न सब जातिओं को ही अपरजाति कहा है। इस स्थिति में 'अपरजातिमत्त्व' शब्द से द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि सभी जातियों का ग्रहण हो सकेगा। इसी प्रकार गुणत्व, रूपत्व तथा कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व आदि भी अपरजाति शब्द से गृहीत होने में बाधा नहीं है। फलतः यह अपरजातिमत्त्व पृथिवी आदि परिगणित छ द्रव्यों का साधर्म्य है कहने से गुणत्व, रूपत्व आदि को लेकर गुण आदि में अतिव्याप्ति होगी। इसी लिए किरणावलीकारने पृथिवीत्व आदि जाति ही अपरजाति शब्द से विवक्षित है कहा है।

प्रशस्तपाद के सूक्तिटीकाकारने द्रव्यत्वन्यूनवृत्तिजाति ही यहां अपरजाति शब्द का अर्थ कहा है[1]। क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण द्रव्यों के साधर्म्य प्रकरण के अन्तर्गत परिगणित षड्विध द्रव्यों का साधर्म्य वर्णन का प्रकरण है। अतः प्रकरणबलात् नवविधद्रव्यसाधारण द्रव्यत्वजाति ही उपस्थित होती है। उस द्रव्यत्वजाति से न्यूनवृत्तिजाति ही यहां अपरजाति शब्द से समझना ही युक्तियुक्त है।

किरणावलीरहस्य में मथुरानाथने द्रव्यनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदक-द्रव्यवृत्तिजाति को यहां अपरजाति शब्द का अर्थ कहा है। किरणावली में अपरजाति शब्द का फलीभूत अर्थ को ही कहा गया है। वस्तुतः द्रव्यत्वसमानाधिकरण-तन्न्यूनवृत्तिजातिमत्त्व ही षड्विध द्रव्यों का साधर्म्य है।

प्रशस्तपाद के "पृथिव्युदकज्वलन" इत्यादि ग्रन्थ की उपलक्षणपरता मानकर किरणावली-कारने 'संस्कारवत्त्व' को भी षड्विध द्रव्यों का साधर्म्य कहा है। वैशेषिक सिद्धान्त में वेग,

---

१. अपरजातिमत्त्वं द्रव्यत्वन्यूनवृत्तिजातिमत्त्वम्। सूक्ति, पृ. १५१

स्थितिस्थापक तथा भावना यह तीन प्रकार संस्कार स्वीकृत है। जिनमें पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन में वेगाख्यसंस्कार सर्ववादिसिद्ध है। पृथिवी में स्थितिस्थापकसंस्कार भी सर्व वादिसिद्ध है। परन्तु किसी किसी के मत से जल, तेज तथा वायु में भी स्थितिस्थापकसंस्कार है कहा जाता है। वादिविनोद में मन में भी स्थितिस्थापकसंस्कार है यह किसी किसी का मत है यह कहा गया है। जीवात्मा में भावनाख्य संस्कार है[१]। इस लिए 'संस्कारवत्त्व' परिगणित षड्विध द्रव्यों का साधर्म्य होने में बाधा नहीं है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जिन षड्विध द्रव्यों का साधर्म्य के रूप से 'संस्कारवत्त्व' को कहा गया है उनमें जीवात्मा के साथ ही परमात्मा भी प्रविष्ट हैं। क्योंकि वैशेषिक सिद्धान्त में आत्मा को जीव तथा ईश्वर भेद से द्विविध कहा गया है। ईश्वर में वेग, स्थितिस्थापक अथवा भावना कोई भी संस्कार नहीं है। ईश्वर का ज्ञान नित्य तथा अपरोक्ष है। ईश्वर को पूर्वज्ञात विषय का स्मरण नहीं हो सकता है। अतः भावनाख्य संस्कार ईश्वर में नहीं है। वेग तथा स्थितिस्थापकसंस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः संस्कारवत्त्वरूप साधर्म्य ईश्वर में अव्याप्त है। इसके समाधान में रहस्यकार मथुरानाथने 'संस्कारवत्त्व' को संस्कारवद्वृत्ति-द्रव्यनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूतजातिमत्त्वरूप कहा है। यहां संस्कारवद्वृत्तित्व तथा द्रव्यनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व यह दोनों जाति का विशेषण हैं। तादृश दो विशेषणविशिष्ट जाति पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व, मनस्त्व तथा आत्मत्व होंगे। क्योंकि पृथिवी आदि में संस्कार तथा 'पृथिवी न'' जलं न' आदि भेद जल, पृथिवी आदि द्रव्यों में मिलेगा तथा उन भेदो के प्रतियोगितावच्छेदक पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियां होंगी। इसी प्रकार 'आत्मा न' यह भेद पृथिवी आदि द्रव्यों में मिलेगा तथा उसका प्रतियोगितावच्छेदक आत्मत्व जाति भी होगी। क्योंकि जीवात्मा में भावनाख्य संस्कार है। फलतः आत्मत्वजाति में संस्कारवद्जीवात्मवृत्तित्व तथा पृथिव्यादिद्रव्यनिष्ठ 'आत्मा न' इस भेद का प्रतियोगितावच्छेदकत्व यह दोनों विशेषण प्राप्त है। इससे आत्मत्वजातिविशिष्ट होने से ईश्वर में संस्कार न रहते हुए आत्मत्त्वजाति रहने से संस्कारवत्त्वरूप साधर्म्य की अव्याप्ति न होगी[२]।

संस्कारवत्त्व के उक्त प्रकार निर्वचन में 'संस्कारवद्वृत्तित्व' अंश यदि विशेषण न दिया जाएगा तब केवल द्रव्यनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूत-जातिमत्त्वरूप संस्कारवत्त्व गुणादि में अतिव्याप्त होगा। क्योंकि द्रव्यों में 'गुणो न' 'कर्म न' यह भेद रहता है। उस भेद का प्रतियोगितावच्छेदकीभूतजाति पद से हम गुणत्व तथा कर्मत्व को ग्रहण कर सकेंगे। फलतः

---

१. मनसि केषाञ्चिन्मते स्थितिस्थापक इति वादिविनोदे व्यक्तम्। सेतुः पृ. १५२ पृथिव्यादिषु वेगस्थितिस्थापकौ, जीवात्मनि भावनेत्यर्थः। मनस्यपि स्थितिस्थापक इति कैश्चिल्लिखनात्। भास्कर, पृ. ६०

२. न चेश्वरात्मन्यव्याप्तिः संस्कारवद्वृत्तिद्रव्यनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेक-जातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। रहस्य, पृ. १८७

अतिव्याप्ति होगी । संस्कारवद्वृत्तित्व विशेषण जाति में देने पर गुणत्व अथवा कर्मत्व संस्कारवद्-वृत्तिजाति न होने से उनका ग्रहण न हो सकेगा । अतिव्याप्ति न होगी[1] । यदि केवल संस्कार-वद्वृत्तित्व ही जाति का विशेषण हो तब संस्कारवत् पृथिवी जल आदि षड्विध द्रव्यवृत्तिजाति पद से हमें जिस प्रकार पृथिवीत्व आदि जातियां मिलेंगी उसी प्रकार से द्रव्यत्व तथा सत्ताजाति भी मिल जाएंगी । फलतः आकाश, काल आदि द्रव्यत्वजातिविशिष्ट में, सत्ताजातिविशिष्ट रूप, रस आदि गुण, तथा उत्क्षेपण आदि कर्मों में 'संस्कारवत्त्व' रूप साधर्म्य पुनः अतिव्याप्त हो जाएगा ।

क्षितीत्यादि[2] । क्रिया स्पन्दस्तद्वत्ता । मूर्त्तत्वमसर्वगतपरिमाण-विशेषः । परत्वापरत्वे गुणविशेषौ वक्ष्येते । वेगः संस्कारविशेषस्तद्वत्ता ।

[क्षिति इत्यादि (ग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है) । (क्रियावत्त्व-शब्दान्तर्गत) क्रिया (का अर्थ) स्पन्द (है), तद्वत्ता (परिगणित क्षिति आदि द्रव्यों का साधर्म्य है) । मूर्त्तत्व असर्वगतपरिमाणविशेष (है) । परत्व (तथा) अपरत्व गुणविशेष (हैं जिनके विषय में आगे) कहा जाएगा । वेग संस्कार विशेष (है), तद्वत्ता (परिगणित द्रव्यों का साधर्म्य है ।)

प्रशस्तपादने क्षिति, जल, तेज, वायु तथा मन यह पाँच द्रव्य का क्रियावत्त्व, मूर्त्तत्व, परत्व, अपरत्व तथा वेगवत्त्व को साधर्म्य कहा है । 'क्रिया' पद की व्याख्या उदयनाचार्यने 'स्पन्द' किया है । यह अर्थ प्रसिद्ध होने से अनावश्यक प्रतीत होना स्वाभाविक है । तथापि क्रिया का अर्थ स्पन्द उदयनाचार्यने क्यों कहा इस विषय में हमारा वक्तव्य यह है कि व्याकरणशास्त्र में धात्वर्थ को क्रिया कही जाती है । 'भू' धातु का अर्थ सत्ता तथा 'गम्' धातु का अर्थ 'उत्तरदेशसंयोगानुकूलपदसञ्चरण' होने से क्रिया शब्द से स्पन्दात्मक तथा अस्पन्दात्मक दोनों प्रकार के वस्तु (सत्ता, पदचालना आदि) समझा जा सकता है । सत्ता स्पन्दात्मक वस्तु न होते हुए भू धात्वर्थ होने से व्याकरणशास्त्रानुसार क्रियापदवाच्य होता है । यहां वैशेषिक शास्त्र में क्रिया केवल स्पन्दात्मक ही है यह निर्देश करने के लिये ही प्रसिद्ध अर्थ को पुनः कहना पड़ा है । क्रिया अर्थात् स्पन्दवत्त्व उक्त पांच द्रव्यों का साधर्म्य है । परन्तु उत्पन्नविनष्ट अर्थात् उत्पत्ति के परक्षण में विनष्ट घटरूप पार्थिववस्तु में गुण अथवा क्रियोत्पत्ति का अवसर ही नहीं आता है । इस लिए उत्पन्नविनष्ट पार्थिवादिद्रव्यों में क्रियावत्त्व साधर्म्य अव्याप्त होगा । इसी प्रकार मूर्त्तत्व अर्थात् अवच्छिन्नपरिमाण, परत्व, अपरत्व तथा वेग कोई भी उत्पन्नविनष्ट पृथिवी आदि चार द्रव्य में अव्याप्त होगा । मन नित्य होने से वहां इन साधर्म्यों की अव्याप्ति नहीं है । अतः क्रियावत्त्व आदि को पृथिवी आदि पांच द्रव्यों का साधर्म्य कहना उचित नहीं है यह शङ्का हो सकती है ।

---

१. गुणकर्मातिव्याप्तिवारणाय वृत्यन्तं जातिविशेषणम् । रहस्य, पृ. १८७

२. क्षितिजलज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्त्व-मूर्त्तत्व-परत्वापरत्ववेगवत्त्वानि । प्रशस्तपाद

इसके समाधान में प्रकाशकारने 'स्पन्दवत्त्व' का प्रकृत अर्थ स्पन्द जिसमें हो उस द्रव्य में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्यजाति[१] कहा है। उत्पन्नविनष्ट घट में स्पन्द साक्षात् रूप से न रहने पर भी स्पन्दवान् घटादि में जो द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्व आदि जातिआं हैं वे उत्पत्तिक्षण से उनमें रहने से तादृशजातिमत्त्वरूप क्रियावत्त्व उत्पन्नविनष्ट घट में भी रहा। अव्याप्ति न हुई। इसी प्रकार परत्व, अपरत्व मूर्त्तत्व तथा वेग के विषय में भी समझना है। अर्थात् परत्ववद्वृत्ति द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व ही 'परत्ववत्त्व' रूप साधर्म्य का प्रकृत अर्थ है इत्यादि।

आकाशेत्यादि[२]। सर्वगतत्त्वं पूर्वोक्तेषु सर्वेषु गतत्त्वं सम्बन्धः। परममहत्त्वं प्रकर्षकाष्ठाप्राप्तमहत्परिमाणयोगः।

नन्वियत्ता परिमाणमिति चेन्न। संख्यागुरुत्वयोरपि तथाभावप्रसङ्गात्। हस्तवितस्त्यादिपरिकल्पनाभावे परमाणुषु तदभावप्रसङ्गाच्च।

तदभावे परमसूक्ष्मत्वात् परिमित एव परमाणुरिति चेन्न। तदभावेऽपि परममहत्त्वात् परिमितमेव आकाशादीति न कश्चिद् विशेषः।

तस्माद् हस्तवितस्त्यादिप्रकर्षनिकर्षवानितरेभ्यो व्यावृत्तः परस्परमनुवृत्तश्च गुणविशेषः प्रत्यक्षसिद्धो दुरपह्नवः। तत्र यथा निकर्षकाष्ठया परमाणुत्वं तथा प्रकर्षकाष्ठया परममहत्त्वमपीति।

सर्वसंयोगिसमानदेशत्वम्। सर्वेषां संयोगिनां मूर्त्तानां संयोगवृत्त्या समाना आकाशादयो देशास्तेषां भावस्तत्त्वम्।

पूर्वम् आकाशादय एव सर्वमूर्त्तेषु वर्त्तन्त इत्युक्तम् सम्प्रति तु त एवाकाशादिषु वर्त्तन्त इत्यपौनरुक्त्यम्।

अथवा पूर्वं मूर्त्तसंयोगा एवाकाशादिषु वर्त्तन्त इत्युक्तं सम्प्रति मूर्त्ता एव नभः प्रभृतिषु वर्त्तन्त इत्यपौनरुक्त्यम्।

'च' कारात् क्रिया-परत्वापरत्व-वेगविरहः।

[आकाश काल इत्यादि (ग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है)। सर्वगतत्व (शब्द का अर्थ) पूर्वोक्त (पांच द्रव्यों के) सब में गतत्व (अर्थात्) सम्बन्ध

१. स्पन्द इति स्पन्दवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ. १६६

२. आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वञ्चेति। प्रशस्तपाद।

(है)। परममहत्त्व (शब्द का अर्थ) चरमप्रकर्षप्राप्त महत्परिणाम का योग (अर्थात् सम्बन्ध है)।

इयत्ता (ही) परिमाण है यह नहीं (शङ्का की जा सकती है)। (क्योंकि तब) संख्या गुरुत्व (इन दोनों) का भी तथाभाव (अर्थात् इयत्तारूपता) का प्रसङ्ग (की आपत्ति) होगा। हस्त, वितस्ति आदि (की) परिकल्पना के अभाव रहने से परमाणुओं में उस (इयत्ता अर्थात् परिमाण) का अभाव का प्रसङ्ग भी होगा।

उस (हस्त वितस्ति आदि इयत्ता) की कल्पना सम्भव न होने पर भी परमसूक्ष्मत्व के कारण ही परमाणु यदि परिमित कहे जाएँगे तब हस्त वितस्ति आदि कल्पना न रहने पर भी परममहत्त्व के कारण ही आकाशादि भी परिमित होंगे इसमें भी कोई विलक्षणता नहीं है।

अतः हस्त वितस्ति आदि (मान के) उत्कर्ष (तथा) अपकर्षविशिष्ट, अन्य वस्तुओं से भिन्न (तथा परिमाणविशिष्टवस्तुओं के) परस्पर में अनुवृत्त भी (है इस प्रकार) प्रत्यक्षसिद्ध गुणविशेष का अपलाप दुष्कर है। वहां (परिमाण के विषय में) जिस प्रकार चरम अपकर्ष से परमाणुत्व (है) उसी प्रकार चरम उत्कर्ष के कारण परममहत्त्व भी (है)।

सर्वसंयोगिसमानदेशत्व (का अर्थ है) सब संयोगगुणविशिष्ट मूर्त्तों के संयोगसम्बन्ध से तुल्य रूप से आकाशादि देशों (अधिकरणों) के भाव स्वरूपता।

पहले आकाशादि ही सकलमूर्त्तों में रहते हैं कहा गया है इदानीं वही (मूर्त्त द्रव्य) आकाशादि में रहते हैं (कहा गया है) इस लिए पुनरुक्ति न हुई।

अथवा पहले मूर्त्तसंयोगसमूह आकाशादि में रहते हैं कहा गया इदानीं मूर्त्तसमूह ही आकाशादि में रहते हैं कहा गया इस लिए पुनरुक्ति नहीं हुई। 'च' कार से क्रिया, परत्वापरत्व तथा वेग का विरह (अर्थात् अभाव भी आकाशादि का साधर्म्य है समझना है)।]

इस प्रकरण में आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा यह चार द्रव्य का सर्वगतत्व, परममहत्त्व तथा सर्वसंयोगिसमानदेशत्व को साधर्म्य कहा गया है। 'सर्वगतत्व' शब्द का 'सर्वस्मिन् गतत्वं' यह विग्रह वाक्य से 'सब वस्तु में गमन करने वाला' यह अर्थ होता है। इससे आकाशादि चार द्रव्य में सब वस्तुओं में गमनकर्त्तृत्व का बोध होगा। परन्तु आकाशादि इन चार द्रव्यों में उत्तरदेशसंयोगानुकूल स्पन्दात्मक क्रिया की आश्रयता प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतः सर्वगतत्व की व्याख्या में किरणावलीकारने 'गतत्व' का अर्थ सम्बन्ध कहा है। गत्यर्थक धातु गति, ज्ञान तथा प्राप्ति

अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यहां प्राप्ति अर्थात् सम्बन्ध ही गम् धातु का अर्थ है कहा गया है[१]। इससे समस्त वस्तुओं से सम्बन्ध को इन चार द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया है समझना है। यहां सम्बन्ध शब्द से प्रत्यक्षसिद्ध संयोग को ही समझना है। संयोग सम्बन्ध न रहते हुए 'इह' प्रत्यय के होने से ही घट तथा उसके रूपादि गुणों में सम्बन्धरूप से समवाय का अनुमान करना पड़ता है। यहां प्रत्यक्षसिद्ध संयोग के रहने से सम्बन्धान्तर की कल्पना अनावश्यक है। 'सर्व' शब्द से पूर्वोक्त अर्थात् क्षिति, जल, तेज, वायु तथा मन इन पांच द्रव्यों को समझना है। क्योंकि आकाशादि विभुद्रव्यों का परस्परसंयोग स्वीकृत नहीं है। इन चार द्रव्य में संयोग के उत्पादक स्पन्द के न रहने से इनमें परस्परसंयोग उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसी लिए किरणावली में 'सर्वेषु पूर्वोक्तेषु' कहा गया है। फलतः यावत्-मूर्त्त द्रव्य-प्रतियोगिक-संयोगानुयोगित्वरूप सर्वगतत्व इन चारों का साधर्म्य हो सकता है। परन्तु शङ्का है कि संयोग द्विष्ठ अर्थात् दो व्यक्ति में रहने वाला गुण होने से यावत् मूर्त्त द्रव्यों के एक संयोग का अनुयोगित्वरूप आश्रयता आकाश आदि में सिद्ध नहीं हो सकता है। जन्यमूर्त्त द्रव्यों की उत्पत्ति भिन्न भिन्न काल में होने से किसी भी समय यावत् मूर्त्त द्रव्यप्रतियोगिकसंयोग भी सम्भव नहीं है। अतः तादृश सकलसंयोगाश्रयत्व भी आकाशादि में सिद्ध नहीं होता है। सर्वमूर्त्त संयोगाश्रयत्व शब्द से यदि घट तथा पट का परस्परसंयोग लिया जाए तो वह संयोग भी आकाशादि में नहीं रहता है। अतः सर्वगतत्व को आकाशादि चार विभुद्रव्यों का साधर्म्य कहना उचित न होगा[२]। इसी के समाधान में प्रकाशकारने संयोगित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक जो मूर्त्त निष्ठात्यन्ताभाव उसका अप्रतियोगित्व को सर्वगतत्व का विवक्षित अर्थ कहा है[३]। इसका अभिप्राय यह है कि मूर्त्तत्व-व्यापक संयोगाश्रयत्व ही सर्वगतत्व है। जहां मूर्त्तत्व है वहां आकाशसंयोग अवश्य रहेगा। परन्तु जहां मूर्त्तत्व है वहां घटसंयोग रहने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् मूर्त्तत्व का व्यापक विभुसंयोग है। मूर्त्तत्व का व्यापक कोई मूर्त्त संयोग नहीं होता है। व्याप्याधिकरण-वृत्त्यभावाप्रतियोगित्व ही व्यापक का लक्षण है। यहां मूर्त्तत्व व्याप्य है। मूर्त्तत्व के अधिकरण अर्थात् मूर्त्त वस्तु में जो अभाव लभ्य हो उसका अप्रतियोगित्व ही मूर्त्तत्वव्यापकता है। 'संयोगिनो भावः संयोगित्वम्' अर्थात् संयोगिपदप्रवृत्तिनिमित्त ही संयोगित्व है। संयोगित्व का अर्थ संयोग है। फलतः संयोगावच्छिन्नप्रतियोगिताक जो मूर्त्तनिष्ठ अत्यन्ताभाव उसका अप्रतियोगित्व आकाशादि का साधर्म्य हुआ। क्योंकि मूर्त्तत्व के अधिकरणों में स्व अर्थात् आकाशादि तत्तत् विभुद्रव्य स्वसमवेतसंयोगानुयोगित्वरूप सम्बन्ध से अवश्य रहेगा। इस लिये संयोगित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक-मूर्त्तनिष्ठात्यन्ताभाव पद से आकाशादिरूप संयोगी का अभाव न मिलेगा। परन्तु

---

१. गतत्वं स्पन्दाभावादसम्भवीत्यन्यथा व्याचष्टे। प्रकाश पृ. १६७

२. ननु प्रागुक्तयावन्निरूपितैकसम्बन्धाश्रयत्वमसिद्धम्। न च सर्वेषां मूर्त्तानां ये संयोगास्तद्वत्त्वम्। घटपटसंयोगादीनामिहाभावात्। प्रकाश, पृ. १६८

३. संयोगित्वावच्छिन्नमूर्त्तनिष्ठा यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्य; प्रकाश पृ. १६८

घटरूप मूर्त्त में पटरूप संयोगी का अभाव आदि ही प्राप्त होंगे। उस अभाव का अप्रतियोगी आकाशादि होंगे। यहां शङ्का हो सकती है कि आकाशादि नित्यद्रव्य कहीं आश्रित नहीं होते हैं। अतः मूर्त्तद्रव्यों में संयोगित्वेन (अर्थात् संयोगी के रूप से) आकाशादि रह नहीं सकते हैं। फलतः संयोगित्वेन आकाशादि का अभाव मूर्त्तद्रव्य में प्राप्त हो सकेगा। जिससे संयोगित्वावच्छिन्न मूर्त्तनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व आकाशादि में न रहेगा। सर्वगतत्व की अव्याप्ति होगी। परन्तु यह शङ्का अनुचित है। क्योंकि अनाश्रितत्व का अर्थ असमवेतद्रव्यत्व है। समवायसम्बन्ध से नित्यवस्तु कहीं भी आश्रित नहीं होते हैं। अन्य सम्बन्ध से आकाशादि नित्यद्रव्यविशिष्ट बुद्धि होने में बाधा नहीं है। अतः स्वसमवेत संयोगानुयोगित्वसम्बन्धेन आकाशादि संयोगी का अभाव मूर्त्तद्रव्यों में नहीं रह सकेगा। अतः अव्याप्ति न होगी। स्वसमवेत संयोगानुयोगित्वसम्बन्ध की वृत्तिनियामकता सर्ववादिसिद्ध न होने से प्रकाशकारने यत् संयोगित्वं सर्वमूर्त्तेषु वर्त्तते तद्वत्त्व को सर्वगतत्व का विवक्षित अर्थ रूप से ग्रहण किया है[1]। मूर्त्तद्रव्य तथा आकाशादि विभुद्रव्यों के संयोग वृत्त्यनियामक होने से उस संयोग का अनुयोगित्व तथा प्रतियोगित्व उभय संयोगी में ही रहता है। घटाकाशसंयोग का अनुयोगी घट तथा आकाश दोनों होते हैं। इसी प्रकार प्रतियोगित्व को भी समझना चाहिए। यह द्वितीय प्रकार अर्थ में यदनुयोगिक संयोग का प्रतियोगित्व समस्त मूर्त्तद्रव्यों में हो, अर्थात् जहां भी मूर्त्तत्व है वहां आकाशानुयोगिक संयोग का प्रतियोगित्व अवश्य होगा, तादृश संयोगवत्त्व ही सर्वगतत्व है। यह अर्थ भी व्याप्यव्यापकभावमूलक ही है। यहां केवल अनुयोगिप्रतियोगिभाव में भेद है। तथा व्याप्य मूर्त्तत्व के अधिकरणों (अर्थात् मूर्त्तद्रव्यों) में 'आकाशानुयोगिकसंयोगप्रतियोगित्वं नास्ति' यह अभाव कदापि नहीं मिलने से तादृशाभाव का अप्रतियोगित्व संयोगीय प्रतियोगित्व में रहेगा। तादृश प्रतियोगित्वनिरूपक संयोगवत्त्व ही आकाशादिगत सर्वगतत्व होगा। यहां आकाशादि की आधेयता का प्रश्न ही न होने से साधर्म्य की अव्याप्ति नहीं होगी।

परममहत्त्व भी आकाशादि चार द्रव्य का साधर्म्य है। उत्कर्ष की काष्ठा (अर्थात् चरम सीमा) को प्राप्त महत्त्व ही परममहत्त्व है। आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा इन चार द्रव्यों का परिमाण ही उत्कर्ष की चरम सीमा प्राप्त हो चुका है। 'प्रकर्ष की काष्ठा को प्राप्त परिमाण ही परममहत्त्व है' इस किरणावली के वाक्य की व्याख्या में प्रकाशकारने कहा है कि सजातीयप्रतियोगिक जो अपकर्ष उसका अनाश्रय जो महत्त्व है वही परममहत्त्व होगा[2]। यहाँ सजातीय पद से महत्त्वपरिमाण का ग्रहण करना है। परममहत्त्वपरिमाण कदापि सजातीय महत्त्व-परिमाणप्रतियोगिक अपकर्ष अर्थात् न्यूनता का आश्रय नहीं होता है। अर्थात् परममहत्त्व परिमाण कदापि सजातीय कोई भी महत्त्वपरिमाण की अपेक्षया न्यूनता का आश्रय नहीं होता है।

---

१. यत्संयोगित्वं सर्वमूर्त्तद्रव्येषु वर्त्तते तद्वत्त्वस्य वा विवक्षितत्वात्। प्रकाश, पृ० १६८

२. सजातीयप्रतियोगिकापकर्षानाश्रयमहत्त्वस्य, नित्यमहत्त्वस्य वा योग इत्यर्थः। प्रकाश, पृ० १६९

अन्य सभी महत् परिमाण किसी न किसी महत्परिमाणान्तर की अपेक्षया न्यूनता (अपकर्ष) का आश्रय होता है। केवल अपकर्षानाश्रय परिमाण को परममहत् परिमाण कहने से आकाशादि का परिमाण भी विजातीय ज्ञानादि से कथञ्चित् अपकृष्ट ही है। सामान्यतया अपकर्षानाश्रयत्व किसी भी परिमाण में न होने से अप्रसिद्ध है। अतः 'सजातीयप्रतियोगिकत्व' को अपकर्ष में विशेषण दिया गया है। ज्ञान परममहत्परिमाण के सजातीय न होने से ज्ञानप्रतियोगिक अपकर्ष परम-महत् परिमाण में रहने पर भी हानि न होगी।

पूर्वपक्षी परिमाण के विषय में शङ्का करते हैं कि इयत्ता अर्थात् 'इतना' इसीको परिमाण क्यों नहीं कहा जाता है। हम हरेक परिमाण के स्थलों में हस्त, वितस्ति आदि की कल्पना करके वस्तुका परिमाण करते हैं। अतः इयत्ता को ही गुण कहा जाए परिमाण को गुणरूप से स्वीकार करना अनावश्यक है। इसके उत्तर में कहा गया है कि हस्त, वितस्ति आदि से द्रव्य की इयत्तारूप परिमिति जिस प्रकार से सम्भव है उसी प्रकार से द्रव्यों की मन, सेर, तोला, माषा आदि तथा एक, दो, चार, आदि रूप से इयत्ता भी क्रमशः गुरुत्व तथा संख्या होना चाहिए तदर्थं पृथक् संख्या तथा गुरुत्वरूप गुणान्तर भी नहीं रहेगा। अर्थात् परिमाण को इयत्तामात्र कहने से संख्या तथा गुरुत्व भी उक्त प्रकार से इयत्तामात्र में पर्यवसित होगा। हस्त, वितस्ति आदि की कल्पना सम्भव न होने से परमाणु में इयत्ता का अभाव भी होगा। यदि पूर्वपक्षी परमाणुओं की इयत्ता के लिए हस्त, वितस्ति आदि कल्पना की सम्भाव्यता न रहने पर भी परमसूक्ष्मता के कारण ही परमाणुओं की इयत्ता अथवा परिमिति स्वीकार करते हों तो तुल्ययुक्ति से आकाश आदि की इयत्ता के लिए हस्त, वितस्ति आदि कल्पना सम्भव न होने पर भी परममहत्ता के कारण आकाशादि भी परिमित हो सकेंगे इसमें कोई विलक्षण कल्पना की आवश्यकता न होगी।

हम यदि इयत्ता पदार्थ का स्वरूप का विवेचन करें तो ज्ञात होगा कि इयत् शब्द पर भावार्थक 'तल्' प्रत्यय से इयत्ता शब्द बना है। जिसका अर्थ है 'इयतो भावः'। इयत् शब्द को व्याकरणशास्त्र में सख्याबोधक माना गया है। इयत्ता शब्द से उद्दिष्टवस्तुगत संख्या की पर्याप्ति अर्थात् अन्यूनानतिरिक्तसंख्या का सर्वनामरूप से ही प्रतीति होती है। हम प्रश्न करते हैं काशी से प्रयाग कियत् (कितना) दूर है तो उत्तर मिलता है अस्सी मील। यहां दूरत्व की इयत्ता मील संज्ञक वस्तु की अशीति संख्या है। इसी प्रकार प्रश्न होता है आज इस स्थान में कियान् (कितना) ताप है उत्तर मिलता है कि एक सौ दश डिग्री। यहां ताप अर्थात् तेज के उष्णस्पर्श की इयत्ता डिग्री नामक वस्तु के एक सौ दश संख्या है। इस रेलगाड़ी की गति कियती (कितनी) है प्रश्न करने पर उत्तर मिलता है चालिश किलोमीटर प्रति घण्टा। अर्थात् यह गाड़ी अपनी गति से प्रति एक घण्टा काल के अनन्तर जिस उत्तरदेश से संयुक्त होता है उस देश का दूरत्व किलोमीटर नामक वस्तु की चालीश संख्या है। वस्तुतः काशी से प्रयाग की दूरी एक वस्तु है। उसे हम सर्वस्वीकृत फुट, गज आदि की संख्यायुक्त कर जब कहते हैं तब दूरी, जो पूर्वसिद्ध वस्तु है, की इयत्ता होती है। इसी प्रकार तापमान, गतिमान में भी पूर्वसिद्ध नाप अथवा गति का सर्वस्वीकृत मापदण्ड द्वारा प्रदर्शित संख्या ही नाप अथवा गति की इयत्ता है। इस लिये इयत्ता

पूर्वसिद्ध परिमाण आदि के निराकरण में समर्थ नहीं हैं। इसी लिए किरणावली में परिमाण को 'हस्तवितस्त्यादि प्रकर्षनिकर्षवान् इतरेभ्यो व्यावृत्तः परस्परमनुवृत्तश्च गुणविशेषः' कहा गया है। जो प्रत्यक्षसिद्ध होने से अपलाप का अयोग्य है। घट, पट आदि में प्रत्यक्षसिद्ध महत्परिमाण का निकर्षकाष्ठा अर्थात् न्यूनतमता की सीमा परमाणुत्व होता है। उसी प्रकार से प्रकर्षकाष्ठा अर्थात् सर्वातिशयिता की सीमा परममहत्त्व भी है। अर्थात् मध्यवर्त्ती परिमाणों के आतिशय्य तथा न्यूनता की कल्पना जहां विश्रान्त होता है वहीं परममहत्त्व तथा परमाणुत्व होता है। यद्यपि परममहत् अथवा परमाणु परिमाण कदापि प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है तथापि मध्यवर्त्ती परिमाणों में एक से दूसरे का आतिशय्य तथा न्यूनता प्रत्यक्षसिद्ध है। वह प्रत्यक्षसिद्ध परिमाणगत आतिशय्य अथवा न्यूनता अवश्य ही कहीं विश्रान्त होगा इस तर्क से हम परममहत् तथा परमाणु परिमाण का अनुमान अवश्य ही कर सकते हैं।

सर्वसंयोगिसमानदेशत्व भी आकाशादि का साधर्म्य है। किरणावलीकारने इस पदकी व्याख्या में विग्रहवाक्य को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि समस्त संयोगी मूर्त्त द्रव्योंका संयोगसम्बन्ध से देश अर्थात् आधार आकाशादि हैं। इसलिए वे सर्वसंयोगिसमानदेश हैं। उनका भाव अर्थात् स्वरूप ही उनका साधर्म्य है। यहां यह प्रश्न होगा कि इसी प्रकरण के प्रारम्भ में प्रशस्तपादने 'सर्वगतत्व' को इन्ही चार द्रव्यों का साधर्म्य कहा है। जिसका विवक्षित अर्थ को हमने यथास्थान वर्णन किया है। पुनः उसीको शब्दान्तर से कहना पुनरुक्तिदोष का विषय क्यों न होगा? इसके समाधान में किरणावलीकारने कहा है कि 'सर्वगतत्व' रूप साधर्म्य से पहले आचार्यने आकाशादि को ही समस्त मूर्त्त द्रव्यों में संयोगसम्बन्ध से रहनेवाला कहा है। इदानीं समस्त मूर्त्त द्रव्यों को संयोगसम्बन्ध से आकाशादि में रहने वाला कहा गया है। अर्थका भेद रहने से पुनरुक्तिदोष न होगा। इस प्रकार से पुनरुक्तिदोष के वारण करने से आकाशादि का 'अवृत्तित्वसिद्धान्त' की हानि होगी। यदि समवायसम्बन्ध से वृत्तित्व का अभाव ही वहां अवृत्तित्व कहा जाएगा तब परमाणुओं में भी समवायसम्बन्ध से ही वृत्तित्व का अभावरूप अवृत्तित्व स्वीकार करने से परमाणु भी संयोगसम्बन्ध से घट, पटादि अधिकरणों में वृत्ति अर्थात् आधेय हो सकेंगे। हम यथास्थान कह चुके हैं कि परमाणुओं के संयोग वृत्तिनियामक नहीं होते हैं। अतः मूर्त्त द्रव्यों में संयोगसम्बन्ध से आकाशादि की वृत्तिता स्वीकृत नहीं हो सकती है। इसलिए किरणावलीकारने दूसरी व्याख्या द्वारा पुनरुक्तिदोषका उद्धार किया है। उन्होंने कहा है कि पहले मूर्त्त संयोग ही आकाशादि में हैं यह 'सर्वगतत्व, से कहा गया है। इदानीं मूर्त्त द्रव्य ही संयोगसम्बन्ध से आकाशादि में हैं कहने से पुनरुक्ति न होगी।

प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में इसी प्रकरण के अन्त में एक 'च' कार रहने से उसको अनुक्त समुच्चायक रूप से किरणावलीकारने ग्रहण कर उसी के बलपर इन्हीं चार द्रव्योंका क्रिया, परत्व, अपरत्व तथा वेग का अभाव भी साधर्म्य है कहा है। वस्तुतः आकाशादि में स्पन्दात्मक क्रिया नहीं, इन चारों में कोई किसी से ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ नहीं, इन चारो में कोई किसी से दूर अथवा निकट नहीं तथा इन में वेग भी नहीं है। यह सर्वानुभव सिद्ध है।

पृथिव्यादीनामिति[1] । भूतत्वमौपाधिकं सामान्यम् । अथ जातिरेव तत् किं न स्यात् ? न स्याद् । व्यञ्जकनियमाभावेन व्यक्तिनियमानुपपत्तेः । बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्ता तद्व्यञ्जिकेति केचित् । तदा मूर्त्तत्वमपि जातिरेव स्यात् । अवच्छिन्नपरिमाणस्य व्यञ्जकस्य सद्भावात् ।

एवमस्तु को दोष इति चेन्न । जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तथाहि मनसि मूर्त्तत्वं, नभसि च भूतत्वं परस्परपरिहारेण वर्त्तमानं पृथिव्यादौ सङ्कीर्येत ।

अस्तु तर्हि पृथिवीत्वाद्यनेकनिबन्धनवृत्तिरेव भूतशब्दोऽक्षादिवदिति चेन्न । एकनिमित्तत्वे सम्भवति अनेकार्थत्वकल्पनानवकाशात् ।

तस्माद् भोक्तव्यविषयाश्रयतया भूतानि सिद्धानि भूतानीत्युच्यन्ते ।

[पृथिव्य दीनाम् (आदि ग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है) । भूतत्व औपाधिक सामान्य (है) । प्रश्न है कि वह (भूतत्व) जाति ही क्यो न हो ? नहीं हो सकता है । (क्योंकि) (भूतत्व के) व्यञ्जक का कोई नियम न रहने से (उसकी) अभिव्यक्ति का नियम अनुपपन्न होगा । बहिरिन्द्रि ग्राह्यविशेषगुणवत्ता उस (भूतत्व) का अभिव्यञ्जक है यह कोई (कहते हैं) । तब मूर्त्तत्व भी जाति ही होगा । (क्योंकि) (उसका) अवच्छिन्नपरिमाग (रूप) व्यञ्जक का सद्भाव (वर्त्तमानता) है ।

वही हो (उसमें) कोई दोष तो नहीं है यह कहा नहीं जा सकता है । (क्योंकि) जातिसङ्कर (दोषका) प्रसङ्ग (होगा) । (क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर) मन में मूर्त्तत्व तथा आकाश में भूतत्व (यह दो) परस्पर का परिहार पूर्वक वर्त्तमान (रहकर) पृथिवी आदि में (वह दोनों) सङ्कीर्ण (एक ही अधिकरण में वृत्ति) हो जाएंगे ।

भूतत्व अक्षादि (शब्द) तुल्य पृथिवीत्वादि अनेक (धर्म) के निमित्त प्रवृत्त हो यह कहा नहीं जा सकता है । क्योंकि एकनिमित्तत्व सम्भव होने पर अनेकार्थकत्व की कल्पना का अवकाश नहीं रहता है ।

---

१. पृथिव्यादीनां पञ्चानामपि भूतत्वेन्द्रियप्रकृतित्वबाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वानि । प्रशस्तपाद

इसीलिए भोक्तव्य (रूप रसादि) विषयोंके आश्रयरूप से भूत सिद्ध हैं। अतः 'भूत' (पद द्वारा) कहे जाते हैं।]

'भूतत्व' पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पांच द्रव्योंका साधर्म्य है। यह भूतत्व जातिरूप सामान्य नहीं परन्तु औपाधिक सामान्य है कहा गया है। 'उपाधि' शब्द की निरुक्ति करते हुए सप्तपदार्थी की मितभाषिणी टीकाकारने कहा है कि "उप समीपस्थे साधने स्वधर्मं व्याप्त-मादधातीत्युपाधिः।" जपाकुसुम के सम्बन्ध से स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति जपाकुसुमरूप उपाधि-जन्य होती है। इसी प्रकार पाक अर्थात् विक्लत्त्यनुकूलव्यापार के सम्बन्ध से किसी पुरुष के लिए पाचक शब्दका प्रयोग पाकरूप उपाधिजन्य होता है। शिवादित्य मिश्रने सप्तपदार्थी में निर्बाधक सामान्यको जाति तथा सबाधक सामान्यको उपाधि कहा है। अर्थात् जातिबाधकदोषशून्य अनेकानुगतधर्म जाति तथा जातिबाधकदोषग्रस्त अनेकानुगतधर्म उपाधिरूप सामान्य है (सप्तपदार्थी पृ: ६१, ७०)। उपाधि के अखण्ड तथा सखण्ड दो विभाग स्वीकृत है। विशेषणरहित सबाधक अनेकानुगतधर्म ही अखण्डोपाधि है। यथा अभावत्व। विशेषणयुक्त सबाधक अनेकानुगतधर्म ही सखण्डोपाधि है यथा पाचकत्व अर्थात् पाकानुकूलत्वविशिष्ट कृति। भूतत्वको जातिबाधकदोषग्रस्त धर्म कहा गया है। अतः वह जातिरूप सामान्य नहीं। पृथिव्यादि पांच द्रव्यों में समानरूप से रहने से अनुगतधर्म होने के कारण उपाधिरूप सामान्य ही है। औपाधिक सामान्य होते हुए भी भूतत्व अभावत्व के तुल्य अखण्डोपाधि नहीं है। क्योंकि प्रकाशकारने भूतत्व का "संस्कारभिन्नबहिरि-न्द्रियग्राह्यगुणत्वव्याप्यजातिमद्विशेषगुणवत्त्व" ही स्वरूप है कहा है[1]। फलतः वह एक अनेकविशेषणविशिष्ट धर्म होने से सखण्डोपाधि है। भूतत्व के स्वरूपनिर्वचन में जो 'बहिरिन्द्रिय-ग्राह्यगुण' कहा गया है वह बहिरिन्द्रियग्राह्यगुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग, तथा शब्द हैं। इस निर्वचन में 'विशेष' पद न रहने से बहिरिन्द्रियग्राह्य गुणत्वव्याप्यजाति संख्यात्व से संस्कारत्व तक जातियां होंगी। जिससे इन में से संयोगत्व आदि किसी जाति को लेकर तादृश जातिमद् गुणवत्तारूप भूतत्व मन आदि में अतिव्याप्त होगा। इसलिए 'विशेष' पदका निवेश किया गया है। संख्या आदि गुण विशेषगुण नहीं हैं। अतः 'विशेषगुणवत्त्व' शब्द के निवेश रहने से अतिव्याप्ति न होगी[2]। बहिरिन्द्रियग्राह्य गुणत्व-व्याप्यजातिमद्विशेषगुण रूप, रस, गन्ध स्पर्श स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व तथा शब्द है। यह गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश में रहते हैं। अतः भूतत्वका लक्षण अव्याप्त न होगा। परन्तु बहिरिन्द्रियग्राह्य गुणत्वव्याप्यजाति संस्कारत्व है। क्योंकि वेग बहिरिन्द्रियग्राह्य गुण होने से तद्गत संस्कारत्वजाति का भी ग्रहण होगा। फलतः संस्कारत्वरूप बहिरिन्द्रिय-ग्राह्यगुणत्वव्याप्यजाति 'भावना' नामक आत्मविशेषगुण में रहने से भूतत्व आत्मा में अतिव्याप्त

---

१. औपाधिकमिति। संस्कारत्वान्यबहिरिन्द्रियग्राह्यगुणत्वव्याप्यजातिमद्विशेषगुणवत्त्वम्। प्रकाश, पृ. १६६

२. संयोगत्वमादायातिव्याप्तेराह विशेषेति। विवृति, पृ. १६६

होगा। इसी के वारण के लिए 'संस्कारत्वान्य' विशेषणका निवेश किया गया है[१]। यदि बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्व ही भूतत्व कहा जाए तो परमाणुओं में बहिरिन्द्रिग्राह्यविशेषगुण न होने से पृथिवी आदि के परमाणुओं में लक्षण की अव्याप्ति होगी। इसी लिए 'गुणत्वव्याप्यजातिमद्' यह विशेषण 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' इस अंश में दिया गया है। यदि संस्कारत्वान्यगुणत्वव्याप्य जातिमद् विशेषगुणवत्त्वमात्र भूतत्व हो तब संस्कारभिन्न तथा गुणत्वव्याप्यजातिमद्विशेषगुण ज्ञानत्वजातिविशिष्ट ज्ञान को लेकर आत्मा में भूतत्व अतिव्याप्त होगा। इसलिए 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' यह विशेषण गुणत्वव्याप्यजाति में दिया गया[२]। केवल 'इन्द्रियग्राह्यत्व' विशेषण से ज्ञानादि आत्मगुणों को लेकर अतिव्याप्ति रहेगी। अतः 'वहिः' पद 'इन्द्रिय' अंशमें विशेषण दिया गया है।

वस्तुतः आत्मभेदसमानाधिकरण विशेषगुणवत्त्वरूप लघुतर धर्म भूतत्व का स्वरूप है स्वीकार करने में लाघव है। अतः पूर्वोक्त गुरुतर धर्म का त्याग किया गया है[३]। विशेषगुण पृथिवी, जल, तेज, बायु आकाश तथा आत्मा में ही रहते हैं। इसलिए 'आत्मभिन्नविशेषगुणाश्रयत्व' ही भूतत्व का लक्षण हो सकता है। 'आत्मभिन्नत्व' के निवेश से आत्मा में अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है। कोई कोई 'वहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्व' को ही भूतत्व कहे हैं। परन्तु विवृतिकार रुचिदत्तने कहा है कि पार्थिवादिपरमाणुगत विशेषगुणों में बहिरिन्द्रियग्राह्यता न रहने से बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वविशिष्ट विशेषगुणवत्ता उन परमाणुओं में अव्याप्त होगा। परन्तु 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' शब्द से यदि बहिरिन्द्रियग्रहणयोग्यता को लिया जाए तब परमाणुओं के विशेषगुणों में बहिरिन्द्रियग्रहणयोग्यता के रहने से अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि जिस प्रकार फलोपधायकत्व के विना स्वरूपयोग्यत्व रहने पर ही सामान्य कार्यकारणभावकी कल्पना हो सकती है उसी प्रकार सामान्यतः ग्राह्यग्राहकभाव कल्पना में भी स्वरूपयोग्यता का निषेध करना सम्भव नहीं है। कारणता अथवा कार्यता का अवच्छेदकधर्मवत्ता ही स्वरूपयोग्यता होती है[४]।

भूतत्व तथा मूर्त्तत्व की जातिता किरणावलीकारने जातिसाङ्कर्य के कारण स्वीकार नहीं किया है। जातिबाधकों के विषय में विशेषरूप से आलोचना पहले हम कर चुके हैं। अतः पुनरुक्ति अनावश्यक है। पाठक पृः १८०-१८४ देख सकते हैं।

---

१. तादृशसंस्कारत्वजातिमद्भावनावत्त्वादात्मन्यतिव्याप्तिवारणाय संस्कारत्वान्येति जातिविशेषणम्। विवृति। पृः १६६

२. ज्ञानत्वमादाय तत्रैवातिव्याप्तिवारणाय बहिरिन्द्रियग्राह्येति जातिविशेषणम्। विवृति पृः १६६

३. आत्मभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रकाश पृः १६६

४. बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वमित्येव कृते परमाण्वादावव्याप्तिरिति जातिगर्भम्। विवृति पृः १६६

साङ्कर्यको जातिबाधक स्वीकार करने पर घटत्वादि प्रसिद्ध जातिकी भी जातिता व्याहत होगी। घटत्व जाति भी पृथिवीत्व तेजस्त्व आदि जाति से सङ्कीर्ण होगी। क्योंकि पृथिवीत्व नहीं है इस प्रकार सौवर्ण घट में घटत्व पृथिवीत्व का व्यधिकरणधर्म है। तथा घटत्वशून्य पट आदि में पृथिवीत्व घटत्व का व्यधिकरणधर्म है। दो व्यधिकरणधर्मों का एकत्र समावेश अर्थात् सामानाधिकरण्य ही साङ्कर्य होने से पार्थिव घट में पृथिवीत्व तथा घटत्व दोनों समानाधिकरण होकर साङ्कर्य दोष होगा। यदि साङ्कर्य को जातिबाधक स्वीकार करना पड़ेगा तब समस्त घट (पार्थिव, तैजस आदि) के घटत्व को जाति कहना उचित न होगा। यदि सिद्धान्त के रूप में पार्थिव, तैजस आदि भेद से घटत्व जाति भिन्न भिन्न स्वीकार किया जाएगा तब उसी दृष्टान्त से भूतत्व तथा मूर्त्तत्व भी पृथिवी आदि अधिकरणभेद से भिन्न भिन्न मान कर भूतत्व तथा मूर्त्तत्व का भी जातित्व स्वीकृत होने में बाधा नहीं है। अर्थात् यदि पृथिवीगत भूतत्व तथा मूर्त्तत्व दो जाति, जलगत भूतत्व तथा मूर्त्तत्व उससे भिन्न जाति होगी तब भूतत्व तथा मूर्त्तत्व में परस्पर वैयधिकरण्य अर्थात् व्यभिचार न रहने से केवल सामानाधिकरण्य के कारण उनमें साङ्कर्यदोष नहीं बनेगा। परन्तु इस प्रसङ्ग में हमारा वक्तव्य है कि तब पाँच भूतत्व तथा पाँच मूर्त्तत्व जाति की कल्पना करनी होगी। जिसकी अपेक्षया उन दोनों को दो सखण्डोपाधि स्वीकार करना ही लघुतर होगा। इसी लिए किरणावली में भूतत्व तथा मूर्त्तत्व को औपाधिक सामान्य कहा गया है। घटत्व जाति के विषय में भी इसी युक्ति का प्रयोग करते हुए उसको पार्थिव तैजस आदि सर्वविधघटसाधारण एक सखण्ड उपाधि कही जा सकती है। इस विषय पर न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश में सिद्धान्त रूप से घटत्व जाति को नाना नहीं स्वीकार किया गया। परन्तु संस्थानविशेषविशिष्ट द्रव्यत्व को ही घटत्व कहा गया है[1]।

इन्द्रियप्रकृतित्वमिन्द्रियोपादानकारणत्वम्। तच्च नभसोऽवच्छिन्नानवच्छिन्नभेदकल्पनयोपपादनीयम्। अन्यथा—'भूतेभ्य' इति पञ्चमी समानतन्त्रे, स्वतन्त्रे च मनस एतद् वैधर्म्यं न स्यात्। प्रकृतिशब्दः स्वभावार्थो वा। तथा च मनोऽव्यवच्छेदाय सन्निधिसिद्धं बाह्यपदमनुसञ्जनीयम्।

[इन्द्रियप्रकृतित्व इन्द्रियों का उपादान (समवायि) कारणता है। यह आकाश का अवच्छिन्नत्व तथा अनवच्छिन्नत्व (रूप) भेद की कल्पना द्वारा उपपादनीय है। अन्य प्रकार से (उपपत्ति करने से) 'भूतेभ्यः' यह समानतन्त्र

---

१. यद्यप्येवं घटत्वमपि नाना न स्यान्मार्दसावर्णघटादिसाधारणोपाधिनैव व्यवहारान्यथासिद्धेः। तथापि एतन्मते तत्राभीष्टापत्तिरेव। अतएव संस्थानविशेषैकार्थसमवायिद्रव्यत्वमेव घटत्वमित्युक्तं कुसुमाञ्जलिप्रकाशे। विवृति, पृः १७०

(न्यायसूत्र) के पञ्चमी (विभक्ति)[१] तथा स्वतन्त्र (वैशेषिक सूत्र) में मन का यह (इन्द्रियप्रकृतित्व) वैधर्म्य न होगा। अथवा प्रकृति शब्द स्वभावार्थक (है)। इस प्रकार से (उपपत्ति करने से) मन का व्यवच्छेद (परित्याग) करने के लिए सान्निध्य के कार सिद्ध बाह्य' पद का (इन्द्रिय पद में) अनुसञ्जन (योग) आवश्यक होगा।]

इन्द्रियप्रकृतित्व उक्त पाँच द्रव्य का साधर्म्य है। 'इन्द्रियप्रकृतित्व' शब्द की व्याख्या में आचार्यने 'प्रकृति' पद को उपादानकारणरूप अर्थ में ग्रहण किया है। उपादानकारण समवायिकारण को कहते हैं। परन्तु घ्राणादि इन्द्रियों में श्रोत्र भी है। श्रोत्र श्रवणेन्द्रिय है। तथा वह आकाशरूप है। आकाश एक, विभु तथा नित्य होने से उसमें आकाशरूप श्रवणेन्द्रिय का प्रकृतित्व किस प्रकार से सम्भव होगा इस शङ्का के समाधान में आचार्यने कहा है कि आकाश में इन्द्रियप्रकृतित्व की उपपत्ति के लिए अवच्छिन्न तथा अनवच्छिन्न इस रूप से आकाश को भिन्न भिन्न कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश प्रदेश को ही श्रवणेन्द्रिय कहा जाता है। सामान्य अर्थात् अनवच्छिन्न आकाश तथा कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश में भेद की कल्पना किये विना शब्द का श्रवणेन्द्रियरूप आकाश द्वारा ग्रहण की उपपत्ति नहीं हो सकती है। अनवच्छिन्न आकाश द्वारा शब्द का ज्ञान नहीं होता है। इसी लिए अनवच्छिन्न आकाश को कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाशरूप श्रवणेन्द्रिय की प्रकृति सिद्ध करने के लिए आकाश का अनवच्छिन्न तथा अवच्छिन्न दो भेद की कल्पना आवश्यक है। अनवच्छिन्न आकाश नित्य होने पर भी कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश, जो अनवच्छिन्न आकाश से भिन्न है, जन्य होने से उसका समवायिकारण अर्थात् उपादान अनवच्छिन्न आकाश होगा[२]।

परन्तु इस समाधान को हम समीचीन नहीं स्वीकार करते हैं। क्योंकि वैशेषिक सूत्रकारने शब्द के द्रव्यत्व के निषेध करने के लिए "एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम्" (२।२।२३) कहा है। जिससे 'जन्य द्रव्य का एकद्रव्यत्व निषिद्ध हुआ है। जब एकमात्र द्रव्य समवायिकरण होने से शब्द का द्रव्यत्व सूत्रकार कणाद को इष्ट नहीं है तब श्रवणेन्द्रिय भी एक मात्र द्रव्य अर्थात् अनवच्छिन्न आकाशरूप समवायिकारण से उत्पन्न होने पर द्रव्य किस प्रकार से होगा? आगे चलकर प्रशस्तपादने भी पृथिव्यादि चार द्रव्य को ही द्रव्य का समवायिकारण कहा है। उससे भी आकाश कोई द्रव्य का समवायिकारण नहीं स्वीकार किया गया है। श्रवणेन्द्रिय यदि द्रव्य न होगा तो अर्थतः उसका इन्द्रियत्व भी निषिद्ध हो जाएगा। यहां हम व्योमवतीकारकी

---

१. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। न्या. सूत्र १।१।१२।

२. कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न–तदनवच्छिन्नयोर्भेदाभ्युपगमेनेत्यर्थः। शुद्धाकाशस्य नित्यत्वेऽपि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशस्य ततोऽतिरिक्तस्य जन्यतया तत्समवायिकारणत्वस्यैव तत्र सत्त्वादितिभावः। रहस्य पृ: १९०, ननु विशिष्टं न केवलादन्यदित्यस्वरसादाह। रहस्य, पृः १९१.

व्याख्या में भी देखते हैं कि उन्होंने श्रवणेन्द्रिय की जन्यता की उपपत्ति करते हुए कहा है कि "कर्णशष्कुल्याकाशसंयोगोपलक्षितस्य आकाशस्य कार्यत्वात् तदपेक्षया आकाशस्य कारणत्वात्।" यह कहने के अनन्तर इस व्याख्या द्वारा श्रोत्र अर्थात् श्रवणेन्द्रिय का द्रव्यत्व सिद्ध करना सम्भव न होगा सम्भवतः इसी शङ्का से व्योमशिवने 'प्रकृति' शब्द को स्वभावार्थक कहा है।

व्योमवती में "घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रकारणत्वं यथासंख्यम्" कहते हुए "भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वादित्यादि (वै० सू० ८।२।५) सूत्रैरिति" कहा गया है। परन्तु उक्त प्रकरण में वर्त्तमान काल में उपलब्ध वैशेषिकसूत्र केवल दो ही उपलब्ध हैं। जिनमें आकाश का उल्लेख नहीं है। अतः वर्त्तमान सूत्रपाठ के बल पर यह कहना सम्भव नहीं कि आकाश को श्रवणेन्द्रिय की प्रकृति कहना सूत्रकार को अभीष्ट था या नहीं। व्योमवतीकारने आकाशनिरूपण में श्रोत्र क्या है इस प्रश्न पर 'कर्णशष्कुल्याकाशसंयोगोपलक्षितविशिष्टादृष्टोपगृहीतनभोदेश' को ही श्रवणेन्द्रिय कहा है। परन्तु श्रवणेन्द्रिय की जन्यता स्पष्टरूप से निर्दिष्ट नहीं किया है। यहां कहना आवश्यक है कि वैशेषिकसूत्र, जिसको उदयनाचार्यने इसी प्रकरण में 'स्वतन्त्र' शब्द से उल्लेख किया है, में इन्द्रियप्रकृतित्व को मन का वैधर्म्य साक्षात्रूप से कहा नहीं गया है। न तो प्रशस्तपादभाष्य के अन्य कोई टीकाकार ने ही इस वैधर्म्य का उल्लेख किया है।

इन्ही शङ्काओं के कारण किरणावलीकारने 'प्रकृति' शब्द को स्वभावार्थक स्वीकार किया है। इन्द्रियप्रकृतित्व का अर्थ यदि इन्द्रियस्वभावता हुआ तब पृथिवी आदि पांच द्रव्य ही इन्द्रिय का स्वभाव अर्थात् ज्ञान में करणरूप होंगे। तब घट, पटादि पार्थिवद्रव्य में उस साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। घट, पटादि पृथिवी विषयरूप से ज्ञान का कारण हो सकता है। परन्तु अन्य पार्थिववस्तु के ज्ञान में करण नहीं होता। अतः यह अर्थ नहीं हो सकता है। यदि इन्द्रियतादात्म्य ही इन्द्रियस्वभावता का अर्थ हो तब घ्राणेन्द्रियरूप पार्थिववस्तु में इन्द्रिय स्वभावता रहने पर भी पुनः घट, पट आदि में उसका अभाव के कारण अव्याप्ति होगी। इसी लिए हमारे विचार से बहिरिन्द्रियवृत्ति-द्रव्यविभाजकोपाधि ही इन्द्रियस्वभावता का अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा। बहिरिन्द्रिय भी पृथिवीत्व, जलत्व आदि द्रव्यविभाजकोपाधि युक्त हैं। तथा घट, पट आदि उसी द्रव्यविभाजकोपाधि से युक्त होने से अव्याप्ति न होगी।

बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्   बाह्येनानात्मगुणग्राहिणैकैकेन प्रतिनियतेनेन्द्रियेण साक्षात्कारिज्ञानसाधनेन ग्राह्या ग्रहणयोग्या ये गुणा गन्धादयः परस्परं विशेषा व्यवच्छेदहेतवस्तद्वत्त्वम्। अत्र विवक्षाभेदेन बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यगुणवत्त्वं वाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वं वेति बोद्धव्यम्।

('बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्' (इस मूल पक्ति की व्याख्या की जा रही है) बाह्य (अर्थात्) अनात्मगुणग्राही एक एक (अर्थात्) प्रतिनियत

(तत्तद् गुण के लिए नियत) इन्द्रिय (अर्थात्) साक्षात्कारि (अर्थात् प्रत्यक्ष) ज्ञान का साधन द्वारा ग्राह्य (अर्थात्) ग्रहणयोग्य जो गन्धादि गुण (जो) परस्पर व्यवच्छेद (भेद) के हेतु (होने से) विशेष (हैं) तद्वत्त्व (ही अर्थ है) । यहां विवक्षा (अभिप्राय) के भेद से बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यगुणवत्त्व अथवा बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्व (दो साधर्म्य है) समझना है ।]

बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्व पृथिवी आदि उक्त पांच द्रव्य का साधर्म्य है। किरणावलीकारने प्रतिनियतविषय के ग्राहक बाह्येन्द्रियों द्वारा ग्रहणयोग्य विशेषगुणवत्ता को पृथिवी आदि पाँच द्रव्य का साधर्म्य कहा है। नियमतः निर्दिष्टविषय के ग्रहण के योग्य इन्द्रिय ही प्रतिनियत इन्द्रिय कहा जाता है। चक्षुरिन्द्रिय नियम से रूपग्राहक है। अन्य कोई इन्द्रिय से रूप का ग्रहण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार नियमतः गन्धादि का ग्राहक घ्राणेन्द्रिय आदि प्रतिनियत इन्द्रिय हैं। नियमतः ज्ञान, इच्छा आदि आत्मगुणों के ग्राहक होने से प्रतिनियत इन्द्रिय शब्द से मन का भी ग्रहण हो सकेगा। मनोग्राह्य सुख, दुःखादिरूप विशेषगुणवत्त्व आत्मा में रहने से साधर्म्य की अतिव्याप्ति के वारण के लिए इन्द्रिय शब्द में 'बाह्यत्व' विशेषण दिया गया है। मन बाह्य इन्द्रिय नहीं है। बाह्येन्द्रिय कौन हैं इसकी व्याख्या करते हुए किरणावलीकारने कहा है कि अनात्मगुणों का ग्राहक इन्द्रिय ही बाह्येन्द्रिय हैं। अनात्मगुण शब्द से आत्मभिन्न वस्तुओं का गुण है। मन यद्यपि आत्मभिन्न पृथिवी आदि के गुण रूप, रस आदि का ग्राहक इन्द्रिय नहीं है परन्तु 'नीलो घटः' इत्याकार व्यवसायात्मक ज्ञान के अनन्तर जो 'नीलं घटमहं जानामि' यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है उस ज्ञान में ज्ञान मुख्य विषय होने पर भी मुख्य विषयभूत ज्ञान में घट तथा घट के विशेषणरूप से नील रूप का भान होता है। फलतः अनुव्यवसात्मक ज्ञान मनोजन्य होने से उस ज्ञान में विषयभूत रूप, घट आदि भी मनोग्राह्य होते हैं। इस लिए अनात्मगुणग्राहकत्व को बाह्यत्व नहीं कहा जा सकेगा। प्रकाशकारने आत्मगुणों के अग्राहकत्व को बाह्यत्व कहा है[1]। इससे मन आत्मा के सुख, दुःख, ज्ञानादि के ग्राहक इन्द्रिय होने से बाह्येन्द्रिय न हो सकेगा। अतः आत्मगुणाग्राहकेन्द्रियग्राह्य-विशेषगुणवत्त्व पृथिवी आदि पांच द्रव्य का साधर्म्य होने में बाधा नहीं है।

हम उक्त व्याख्या को भी समीचीन नहीं समझ सकते हैं। क्यों कि अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में नीलरूप तथा घट विषय होने से जिस रीति से घट तथा उसके नीलरूप को मनोग्राह्य कहा गया है तुल्य रीति से 'ज्ञातो घटः' 'ज्ञातं रूपम्' इत्यादि ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से जायमान चाक्षुषप्रत्यक्ष में भी ज्ञान विषय होगा। फलतः चक्षुरादि इन्द्रिय भी सर्वतो भावेन आत्मगुणों के अग्राहक नहीं होंगे। इस लिए यदि मनोभिन्नत्व को बाह्यत्व कहा जाएगा तथापि उक्त ज्ञान-लक्षणा प्रत्यासत्तिजन्य चाक्षुषप्रत्यक्ष में ज्ञान विषय होने से चक्षुरादि में मनोभिन्नत्व रहने पर भी चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुण पद से ज्ञानादि हो सकेंगे। इसलिए पुनः आत्मा में साधर्म्य की अतिव्याप्ति

---

१. अनात्मगुणग्राहकत्वं मनस्यपीत्यात्मगुणाग्राहकेणेत्यर्थः। प्रकाश, पृ० १७१

होगी । इसलिए 'लौकिकप्रत्यक्षनिरूपितविषयता' को ही ग्राह्यत्व कहना पड़ेगा । इससे अतिव्याप्ति का वारण होगा । क्योंकि 'ज्ञातो घटः' आदि प्रत्यक्ष लौकिक नहीं है । यह अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष होने से अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष में ज्ञान चक्षुका ग्राह्य होने पर भी आत्मा में अतिव्याप्ति न होगी । इस प्रकार व्याख्या से अनात्मगुणनिष्ठ लौकिकप्रत्यक्षविषयताप्रयोजकत्व को बाह्यत्व कहा जा सकेगा । इस प्रकार से बाह्यत्व के निर्वचन करने से किरणावलीकार का अभिप्राय भी बना रहेगा ।

बाह्य एक एक अर्थात् प्रतिनियत इन्द्रिय द्वारा ग्रहणयोग्य विशेषगुणवत्त्वको पृथिव्यादि पांच द्रव्य का साधर्म्य कहा गया है । परन्तु विशेषगुण में बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यत्व के स्थान में यदि बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व ही विशेषण हो तब अर्थात् बहिरिन्द्रियजन्य लौकिकप्रत्यक्षविषयताविशिष्ट विशेषगुणवत्त्वरूप साधर्म्य होने से अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति की सम्भावना न रहेगी । क्योंकि उक्त पृथिव्यादि पांच द्रव्य में जो विशेषगुण हैं वे बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्ष का विषयताविशिष्ट अवश्य होते हैं । अतः 'एकैक' विशेषण की आवश्यकता नहीं है प्रतीत हो सकता है । इसी लिए आचार्यने अपनी व्याख्या में 'विवक्षाभेदेन' अर्थात् वक्ता के अभिप्राय के भेद से यह साधर्म्य दो प्रकार हो सकता है कहा है । अर्थात् बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्य गुणवत्त्व अथवा बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्व यह दोनों पृथिवी आदि पाँच द्रव्य का साधर्म्य कहा जा सकता है । यहां प्रथम निर्वचन में 'विशेष' पद को विशेषण नहीं दिया गया है । तथा द्वितीय निर्वचन में 'एकैक' पद को विशेषणांश से हटाया गया है । शङ्का हो सकती है कि प्रथम निर्वचन में 'एकैक' विशेषण को भी हटा कर बाह्येन्द्रियग्राह्यगुणवत्त्व को ही साधर्म्य क्यो न कहा जाय ? इसके उत्तर में वक्तव्य है है कि गुणों के साधर्म्यप्रकरण में कहा गया है कि—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध यह बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्य हैं । संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह तथा वेग यह द्वीन्द्रियग्राह्य गुण हैं । इसलिये बाह्येन्द्रियग्राह्यगुणवत्त्व को साधर्म्य कहने से ऊपर कहे गये शब्द से वेग तक सभी गुणों का ग्रहण हो सकेगा । फलतः बाह्येन्द्रियग्राह्यगुण संख्या आदि गुण होने से उन गुणों के आश्रय काल, दिक्, आत्मा में साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी । परन्तु बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यगुण शब्द से केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का ही ग्रहण होने से कालादि में अतिव्याप्ति की सम्भावना न रहेगी । द्वितीय निर्वचन में यदि 'विशेष' विशेषण न हो तब बहिरिन्द्रियग्राह्यगुणवत्त्व ही साधर्म्य होगा । इससे पूर्वोक्त संख्या आदि वेगान्त गुणों का भी ग्रहण हो सकेगा । फलतः काल, दिक्, तथा आत्मा में अतिव्याप्ति होगी । 'विशेष' विशेषण रहने पर बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुणों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध ही गृहीत होंगे । कालादि में अतिव्याप्ति न होगी । संख्या आदि गुण विशेषगुण नहीं हैं ।

तथापि यह शङ्का होगी कि यथाश्रुत बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्य गुणवत्त्व पृथिवी आदि चार द्रव्य के परमाणुओं में अव्याप्त होगा । क्योंकि परमाणुगत रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्य गुण नहीं हैं । इसी लिए प्रकाशकारने द्रव्यग्राहक यावत् इन्द्रियों द्वारा गृहीत न होने वाले बहिरिन्द्रियग्राह्य गुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजातिविशिष्ट गुणवत्त्व ही उक्त साधर्म्य का पर्यवसित अर्थ

है कहा है[1]। इससे परमाणुओं में अव्याप्ति न होगी। परमाणुगत रूप, रसादि गुण स्वयं बहिरिन्द्रियग्राह्य न होने पर भी द्रव्यग्राहक सकल इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य जो बहिरिन्द्रियग्राह्यगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजाति तद्विशिष्ट हैं। क्योंकि द्रव्यग्राहक सकल इन्द्रिय शब्द से चक्षु:, त्वक् तथा मन होता है। इन सभी इन्द्रियों से अग्राह्य गुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजाति रूपत्व है। रूपत्वविशिष्ट रूप का ग्रहण केवल चक्षु से होता है त्वक् अथवा मन से नहीं। इसी प्रकार रसत्वविशिष्ट रस आदि के विषय में भी समझना है। फलत: परमाणुओं अथवा काल आदि में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि जिस प्रकार रूपत्व रसत्वादि गुणत्वव्याप्यजातिविशिष्ट गुणों का ही ग्रहण हो सकेगा, फलत: तादृश गुणवृत्ति गुणत्वव्याप्य रूपत्व, रसत्वादि जातिविशिष्ट परमाणुओं के रूप रस आदि में अव्याप्ति न होगी, उसी प्रकार संयोगत्वविशिष्ट संयोग आदि गुण चक्षु, त्वक्, तथा मन रूप द्रव्यग्राहक सकल इन्द्रियों द्वारा ही गृहीत होते हैं, अत: उन गुणों में रहने वाली गुणत्वव्याप्य संयोगत्वजातिविशिष्ट होने से संयोगादि गुणों को लेकर आत्मा आदि में भी अतिव्याप्ति न होगी। इसी लिए गुणत्वव्याप्यजाति में द्रव्यग्राहक यावदिन्द्रियाग्राह्यत्व को विशेषण दिया गया है। इस निर्वचन में जो गुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजाति कहा गया है वह केवल स्वरूप-कीर्त्तन मात्र है। क्योंकि गुणत्वव्याप्यजाति गुणवृत्ति होते ही हैं। अत: 'गुणवृत्तित्व' का निवेश अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोषवारक नहीं हैं। द्रव्यग्राहक यावदिन्द्रियाग्राह्यत्व इस विशेषण के अन्तर्गत 'यावत्' पद यदि नही रहता तो द्रव्यग्राहकेन्द्रियाग्राह्य गुणत्वव्याप्यजाति शब्द से इस साधर्म्य को घटाने के लिए अभीष्ट रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व, स्पर्शत्व अथवा शब्दत्व जातियों में रसत्व, गन्धत्व तथा शब्दत्व जाति ही द्रव्यग्राहकेन्द्रियाग्राह्य गुणत्वव्याप्य जातियां होंगी। फलत: रूपत्व, तथा स्पर्शत्व जातियों में द्रव्यग्राहकेन्द्रियाग्राह्यत्व न रहने के कारण रूपत्व तथा स्पर्शत्वविशिष्ट गुण रूप तथा स्पर्श के रहने से उनगुणों को लेकर पृथिवी जल तेज तथा वायु में अव्याप्ति होगी। इसी लिए 'द्रव्यग्राहकयावदिन्द्रियाग्राह्य' कहा गया है। रूपत्व तथा स्पर्शत्व द्रव्यग्राहकयावदिन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। रूप केवल चक्षु द्वारा तथा स्पर्श केवल त्वक् द्वारा ही गृहीत होता है। शेष रसत्व गन्धत्व तथा शब्दत्व द्रव्यग्राहकयावदिन्द्रियाग्राह्य ही हैं। प्रस्तुत विशेषणांश में यदि 'इन्द्रिय' पद न दिया जाएगा तब द्रव्यग्राहकयावदग्राह्य पद से 'संयोगत्व' जाति का ग्रहण हो सकेगा। क्योंकि द्रव्यग्राहकयावत् पद से द्रव्यग्राहक इन्द्रिय तथा उनसे द्रव्यरूप विषय का संयोगरूप सन्निकर्ष भी प्राप्त होगा। संयोगसन्निकर्ष संयोगत्वजातिका ग्राहक नहीं होता है। फलत: संयोगत्वजातिविशिष्ट संयोगरूप गुणवत्व काल आदि में अतिव्याप्त होगा। इसी लिए 'द्रव्यग्राहकयावदिन्द्रियाग्राह्य' शब्द द्वारा संयोग में अतिव्याप्ति का वारण किया गया है। 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' पद न रहने से 'द्रव्यग्राहकयावदिन्द्रियाग्राह्य' गुणत्वव्याप्यजातिमद्गुण शब्द से धर्म आदि आत्मा के अतीन्द्रियगुण मिलेंगे। आत्मा में धर्म आदि गुणोंको लेकर अतिव्याप्ति

---

१. परमाणवादावव्याप्तिरिति जातिगर्भम्। विवृति, पृ० १६६
द्रव्यग्राहकयावदिन्द्रियाग्राह्यबहिरिन्द्रियग्राह्यगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमद्गुणत्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १७२

होगी । इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए यदि केवल 'इन्द्रियग्राह्यत्व' विशेषण दिया जाय तो धर्मत्व को लेकर आत्मा में अतिव्याप्ति का वारण होने पर भी आत्मा के मनोग्राह्य ज्ञानादि गुणगत जातिओंको लेकर अतिव्याप्ति रहेगी । इस लिए 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' अंश को विशेषण दिया गया है । ज्ञानत्वादि मनोग्राह्य जातियां बहिरिन्द्रियग्राह्य न होने से अतिव्याप्ति न होगी ।

द्वितीय प्रकार निर्वचन बाह्येन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवत्त्व में भी यदि वाह्येन्द्रियग्राह्यत्व विशेषण न हो तो आत्मा में विशेषगुणों के रहने से आत्मा में इस साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी । अतः वाह्येन्द्रियग्राह्यत्व को विशेषगुण का विशेषण कहा गया है[१] । आत्मा के विशेषगुण बाह्येन्द्रियों के ग्रहणयोग्य नहीं होते हैं । अतिव्याप्ति न होगी । परन्तु बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व के विशेषण देने पर भी पृथिवी आदि के परमाणुओं के विशेषगुणों में किसी का भी बाह्येन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता है । अतः साधर्म्य अव्याप्त होगा । इसके वारण के लिए बाह्येन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवत्त्व का अर्थ बाह्येन्द्रियग्राह्य-विशेषगुणवृत्ति-गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्व किया जाना आवश्यक है । अभिप्राय यह है कि बाह्येन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजाति रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व, स्पर्शत्व तथा शब्दत्व ही हैं । परमाणुओं में जो विशेषगुण हैं उनमें रूपत्वादि विशेषगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजाति के रहने से परमाणु अथवा उनके विशेषगुण बाह्येन्द्रियग्राह्य न होने पर भी वैसे विशेषगुण-वृत्ति गुणत्वव्याप्यजाति उन गुणों में रहने से अव्याप्ति न होगी । केवल इन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवृत्ति-गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्व रूप ही साधर्म्य कहने से पुनः आत्मा के ज्ञानादि विशेषगुण मन रूप इन्द्रियग्राह्य होने से अतिव्याप्ति होगी । इस लिए बाह्यपद को इन्द्रिय का विशेषण दिया गया है । मन बहिरिन्द्रिय नहीं है । बहिरिन्द्रिय किसे कहते हैं इस प्रश्न पर प्रकाशकारने कहा है कि इस निर्वचन में 'बहिः' पद से 'महत्त्वाश्रय' समझना है । अर्थात् महत्परिमाणविशिष्ट इन्द्रिय ही बहिरिन्द्रिय है[२] । चक्षुरादि इन्द्रिय महत्परिमाणविशिष्ट होते हैं । केवल मन ही परमाणुपरिमाण है । अतः मनोभिन्न इन्द्रिय ही बहिरिन्द्रिय हैं । इसी प्रकार 'ग्राह्यत्व' का अर्थ भी लौकिकप्रत्यक्षयोग्यता ही करना पड़ेगा । क्योंकि चक्षुरादि बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति के अधीन अलौकिक 'ज्ञातं रूपम्' आदि प्रत्यक्ष में ज्ञान भी बहिरिन्द्रिय चक्षु से गृहीत (ज्ञात) होता है । फलतः ज्ञानत्वजातिविशिष्ट विशेषगुणवत्त्व आत्मा में रहने से अतिव्याप्ति होती है । इसीलिए बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व को बहिरिन्द्रियजन्य लौकिक-प्रत्यक्षयोग्यता ही कहना है । जिससे चक्षुरादिजन्य अलौकिकप्रत्यक्ष का विषय ज्ञानादि को लेकर आत्मा में अतिव्याप्ति न होगी । यदि विशेषपद गुणपद का विशेषण न हो तो पुनः आत्मा में संयोगादि गुण के रहने से अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि महत्त्वाश्रय चक्षुरादि इन्द्रियजन्य लौकिकप्रत्यक्षयोग्य गुण संयोग भी है । वह संयोगरूप गुण में गुणत्वव्याप्य

१. आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय ग्राह्यान्तं गुणविशेषणम् । विवृति, पृ० १७१

२. महत्त्वाश्रयेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमद्गुणत्वमित्यर्थः । प्रकाश, पृ० १७२

संयोगत्वजातिविशिष्ट संयोगरूप गुण आत्मा में शरीरात्मसंयोग अथवा आत्ममनःसंयोगादि के रूप से रहने से अतिव्याप्ति होगी। अतः केवल गुण के स्थान में विशेषगुण कहा गया है। संयोग विशेषगुण नहीं[१]। यदि इस निर्वचन में 'इन्द्रिय' पद न हो तो पुनः आत्मा में साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि महत्त्वाश्रयग्राह्य विशेषगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्व शब्द से ज्ञानादि का ग्रहण हो सकेगा। महत्त्व का आश्रय आत्मा परममहत् परिमाणवान् है। आत्मा रूप महत्परिमाण के आश्रय द्वारा ग्रहणयोग्य विशेषगुण पुनः ज्ञानादि होंगे। ज्ञानादिविशिष्ट होने से आत्मा में अतिव्याप्ति होगी। इन्द्रिय पद के रहने से आत्मा इन्द्रिय नहीं। अतः महत्त्वाश्रय इन्द्रिय न होने से आत्मा में अतिव्याप्ति न होगी।

यदि विशेषगुणवृत्ति जाति में गुणत्वव्याप्यत्व विशेषण न हो तो महत्त्वाश्रयीभूत इन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवृत्ति जातिपद से सत्ताजाति भी प्राप्त होगी। संख्या आदि समस्त गुण ही सत्ताजातिविशिष्ट होंगे। फलतः संख्या, परिमाण आदि गुणविशिष्ट आत्मा, काल, दिक् तथा मन में अतिव्याप्ति होगी। गुणत्वव्याप्यत्व को विशेषगुणगत जाति का विशेषण देने से सत्ता गुणत्वव्याप्य जाति न होने से तद्विशिष्ट संख्यादि सामान्यगुणों का ग्रहण न होगा। अतिव्याप्ति न होगी[२]। वस्तुतः गुणत्वव्याप्यत्व को जाति में विशेषण देने पर पुनः 'गुणवृत्ति इस अंश की आवश्यकता न रहेगी। महत्त्वाश्रयेन्द्रियग्राह्य विशेषगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वरूप साधर्म्य से ही अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति की सम्भावना न रहेगी। यह प्रश्न हो सकता है कि महत्त्वाश्रयीभूतेन्द्रियग्राह्यत्व विशेषगुण का विशेषण है अथवा विशेषगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्य जाति का विशेषण है? इसके उत्तर में कहना है कि वह विशेषण विशेषगुण का ही होना आवश्यक है। यदि वह जाति का विशेषण हो तो तादृश इन्द्रियग्राह्य तथा विशेषगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजाति यह दो विशेषणयुक्त जातिपद से संस्कारत्व जाति का भी ग्रहण हो सकेगा। क्योंकि वेग, स्थितिस्थापक तथा भावना यह तीन संस्कार में वेग ही बहिरिन्द्रियग्राह्य है। स्थितिस्थापक तथा भावना अतीन्द्रिय हैं। परन्तु वेग में बहिरिन्द्रियग्राह्यता तथा भावना में विशेषगुणत्व के रहने से उनमें रहने वाली संस्कारत्वजाति में वेग में रहने से बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व तथा भावना में रहने से विशेषगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातित्व दोनों रहेगा। संस्कारत्वजातिविशिष्ट संस्कार आत्मा में रहने से साधर्म्य अतिव्याप्त होगा। इसी लिए बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुण में वृत्ति जो गुणत्वव्याप्यजाति यही कहना पड़ेगा। भावना वहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुण नहीं है। वह अतीन्द्रिय विशेषगुण है। अतिव्याप्ति न होगी। यदि विशेषगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजाति न कह कर केवल तादृश गुणत्वव्याप्यवदाश्रयत्व ही कहा जाएगा तब गुणत्वव्याप्यवदाश्रयत्व का अर्थ है गुणत्वाभाववद्भिन्नत्व। गुण को छोड कर सभी पदार्थ गुणत्वाभाववत् होते हैं। तद्भिन्न केवल गुण ही होगा। गुण गुणत्व का व्याप्य होगा। गुण तथा गुणत्व परस्पर व्याप्य तथा व्यापक दोनों हैं। फलतः धर्म अथवा अधर्मरूप गुण विशेषगुण होने

१. संयोगत्वमादाय दोषतादवस्थ्यादाह विशेषेति। विवृति, पृ० १७२
२. सत्तामादायातिव्याप्तेराह गुणत्वव्याप्येति। विवृति, पृ० १७२

से उनमें विशेषगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यत्व रहेगा। अतः विशेषगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्य शब्द से धर्म अथवा अधर्म को लेने पर तद्वत्त्व आत्मा में रहने से अतिव्याप्ति होगी। इस लिए गुणत्व-व्याप्यजाति कही गयी है। धर्म अथवा अधर्म गुणत्वव्याप्य होने पर भी जाति नहीं है।

चतुर्णां[1] पृथिव्यप्तेजोवायूनां द्रव्यारम्भकत्वं द्रव्यसमवायिकारणत्वम्। स्पर्शवत्त्वं स्पर्शसमवायः। उपलक्षणञ्चैतत्। अवान्तराणुत्वमहत्त्वे, स्थितिस्थापकसंस्कारयोगः, शरीरेन्द्रियारम्भकत्वञ्चेत्यपि द्रष्टव्यम्।

[चारों पृथिवी, अप्, तेज तथा वायु का द्रव्यारम्भकत्व (अर्थात्) द्रव्यसमवायिकारणत्व (साधर्म्य) है। स्पर्शवत्त्व स्पर्शसमवाय (है)। यह (द्रव्यारम्भकत्व आदि) उपलक्षण (है)। (इस उपलक्षणता के कारण इसी ग्रन्थ से) अवान्तर अणुत्व, अवान्तर महत्त्व, स्थितिस्थापकसंस्कार (का) योग (अर्थात् सम्बन्ध), शरीरारम्भकत्व तथा इन्द्रियारम्भकत्व भी (साधर्म्य है) यह भी द्रष्टव्य (है)।]

प्रशस्तपादने पृथिवी आदि चार द्रव्य का द्रव्यारम्भकत्व को साधर्म्य कहा है। 'आरम्भक' शब्द से कारण समझा जाता है। फलतः यह साधर्म्य द्रव्य के असमवायि तथा निमित्त कारणों में अतिव्याप्त होगा। काल, दिक्, तथा संयोगादि गुण में द्रव्यारम्भकत्व रहने से अतिव्याप्ति होगी। कालादि द्रव्य के निमित्तकारण हैं। तथा संयोगादि असमवायिकारण होते हैं। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए उदयनाचार्यने द्रव्यारम्भकत्व का अर्थ द्रव्यसमवायिकारणत्व कहा है। परन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने पर भी अन्त्यावयवी द्रव्यों में साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। घट, पट आदि अवयवावयविधारा के अन्तिम अवयवी को अन्त्यावयवी समझा जाता है। घट से पुनः कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है। अतः द्रव्यसमवायिकारणता घट में अव्याप्त होगा। इस लिए द्रव्यसमवायिकारणत्व की व्याख्या प्रकाशकारने द्रव्यसमवायिकारणों में रहने वाली द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व किया है[2]। कपालादि द्रव्य में घटरूप द्रव्य की समवायिकारणता है। कपाल में रहने वाली द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व कपाल से उत्पन्न अन्त्यावयवी घट में भी है। अतः अव्याप्ति न होगी। पृथिवीत्व, जलत्व तेजस्त्व तथा वायुत्व ही द्रव्यसमवायिकारणों में रहने वाली द्रव्यविभाजकोपाधियां हैं। इस निर्वचन में द्रव्यसमवायिकारणवृत्तित्व यदि द्रव्यविभाजकोपाधि का विशेषण न हो तो काल में द्रव्यविभाजकोपाधि कालत्व के रहने से काल में अतिव्याप्ति का वारण नहीं होता है। अतः वह विशेषण दिया गया है। द्रव्यसमवायिकारणवृत्तित्वरूप विशेषण में 'द्रव्य' अंश के न रहने से केवल समवायिकारणवृत्ति द्रव्यविभाजको-

१. चतुर्णां द्रव्यारम्भकत्वस्पर्शवत्त्वे। प्रशस्तपाद

२. द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वमित्यर्थात्। प्रकाश, पृ० १७१

पाधि पुनः आकाश, काल आदि में अतिव्याप्त होगा। आकाश शब्द का समवायिकारण है। तथा काल घट तथा कालसंयोग आदि गुणों का समवायिकारण है। फलतः समवायिकारण होने से उनमें जो आकाशत्व, कालत्व आदि द्रव्यविभाजकोपाधियां हैं उसी से वह साधर्म्य अतिव्याप्त होगा। समवायिकारण में 'द्रव्य' विशेषण रहने से आकाशादि द्रव्य होते हुए द्रव्य का समवायिकारण न होने से अतिव्याप्ति न होगी। इसी प्रकार यदि द्रव्यविभाजकोपाधि अंश में 'द्रव्य' विशेषण न हो तो केवल द्रव्यसमवायिकारणवृत्ति विभाजकोपाधि पद से द्रव्यत्व भी होगा। द्रव्यत्वरूप विभाजकोपाधिमान् होने से आकाश, काल आदि में पुनः अव्याप्ति होगी। अतः द्वितीय द्रव्य पद को विशेषण दिया गया है[१]। विवृत्तिकारने द्वितीय द्रव्य पद को अतिव्याप्तिवारण में असमर्थ मानकर द्रव्यसमवायिकारणत्व का अर्थ द्रव्यनिमित्तकारणासमवायिकारणभिन्न कारणत्व किया है।

स्पर्शवत्त्व पृथिव्यादि चार द्रव्य का साधर्म्य है। स्पर्शवत्त्व का अर्थ स्पर्शगुण का समवाय सम्बन्ध है।

किरणावलीकारने प्रशस्तपादकी 'चतुर्णां द्रव्यारम्भकत्वम्' इस पंक्ति को उपलक्षण मानकर अवान्तर अणुत्व, अवान्तर महत्त्व, स्थितिस्थापकसंस्कारयोग, शरीरारम्भकत्व तथा इन्द्रियारम्भकत्व को पृथिव्यादि चार द्रव्य का साधर्म्य कहा है। इनमें अणुत्व तथा महत्त्व दोनों परिमाण जन्य तथा नित्य होते हैं। 'अवान्तर' शब्द प्रधान के अन्तःपाती का वाचक है। अर्थात् प्रधान अणु के अन्तः पाती जन्य अणुपरिमाण तथा प्रधान महत् परिमाण के अन्तर्गत जन्य महत् परिमाण इस अवान्तर अणुत्व तथा महत्त्व का अर्थ है। परन्तु अवान्तर अर्थात् जन्य अणुपरिमाण घट अथवा परमाणु में नहीं। द्व्यणुकों में होता है। अतः पृथिवी आदि चारो द्रव्य में तुल्य रीति से अव्याप्ति होगी। इसके परिहार के लिए प्रकाशकारने अवान्तराणुत्व को जन्याणुत्वविशिष्ट द्व्यणुकवृत्ति द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्वरूप कहा है। तादृश द्व्यणुकों में स्थलानुसार द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व तथा वायुत्व होगा। वह पृथिवीत्व आदि विशिष्ट घट अथवा परमाणु होंगे। अव्याप्ति न होगी। यहां 'द्रव्यत्वव्याप्यत्व' अंश को जाति' में विशेषण न देने से जन्याणुत्वविशिष्ट पार्थिव आदि द्व्यणुकों में रहने वाली जाति द्रव्यत्व तथा सत्ता दोनों होंगी। फलतः द्रव्यत्वजातिविशिष्ट होने से आत्मा में साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी। सत्ता को लेने से गुणादि में भी अतिव्याप्ति होगी[२]। परन्तु तादृश द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्व कहने से द्रव्यत्व अथवा सत्ता का ग्रहण न होने से अतिव्याप्ति न होगी।

---

१ संयोगादिसमवायित्वं कालादावपीति प्रथमं द्रव्यपदम्। द्रव्यनिमित्तकारणत्वं तत्रैवेति समवायीति। तादृशद्रव्यत्वसत्वात् तत्रैवातिव्याप्तेरिति चरमं द्रव्यपदं व्यर्थम्। तथापि समवायिकारणत्वं द्रव्यनिमित्तकारणासमवायिकारणभिन्नकारणत्वमित्यदोषः। विवृति, पृ० १७२

२. जन्याणुत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १७२-३

इसी प्रकार अवान्तर महत्त्व का अर्थ भी जन्यमहत्त्ववद्वृत्ति द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि जन्य महत्त्व पार्थिवादि परमाणु अथवा द्व्यणुक में नहीं रहता है। अतः अव्याप्तिवारण के लिए जन्यमहत्त्ववद्घटवृत्ति द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्व जाति को लेकर परमाणु तथा द्व्यणुक में साधर्म्य की घटना हो सकेगी[1]।

स्थितिस्थापकसंस्कारयोग भी किरणावलीकारने पृथिव्यादि चार द्रव्य का साधर्म्य कहा है। प्रशस्तपादने "स्थावरजङ्गमविकारेषु धनुःशाखाशृङ्गदन्तास्थिसूत्रादिषु भुग्नसंवर्तितेषु स्थितिस्थापकस्य कार्यं संलक्ष्यते" कहा है (प्रशस्तपाद संस्कारनिरूपण प्रकरण)। अर्थात् स्थावर (स्वयं अपने स्थान से अन्य स्थान में जाने में असमर्थ वस्तु) तथा जङ्गम (स्थानान्तरप्राप्ति का स्वभावविशिष्ट वस्तु) के नानाप्रकार विकार से उत्पन्न धनुः, 'वृक्षशाखा, शृङ्ग', दन्त, अस्थि, सूत्र, वस्त्र आदि को जब भुग्न अर्थात् वक्र (टेढा) तथा संवर्तित अर्थात् लपेटकर रखा जाता है तब उन वस्तुओं में पूर्वस्थिति प्राप्त होने की प्रवणता देखी जाती है। वह प्रवणता स्थितिस्थापक संस्कार से होती है। यथा धनुष की ज्या खींचने पर धनुः वक्र होता है। तथा ज्या को छोड देने पर पुनः अपनी स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यह पूर्व स्थितिकी प्राप्ति स्थितिस्थापकसंस्कार जन्य होता है। कट (चटाई), रबर निर्मित वस्तु जब लपेटा जाता है तब स्वतन्त्र होते ही वह वस्तु पुनः पूर्वस्थिति को प्राप्त होता है। यह भी स्थितिस्थापकसंस्कारजनित है। जल आदि भी अग्निसंयोग से उबाल आने के पश्चात् शीतल होते ही पूर्वस्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए पृथिवी आदि चारद्रव्य में स्थितिस्थापकसंस्कार है प्रतीत होता है। कुछ लोग केवल पार्थिववस्तु में ही स्थितिस्थापकसंस्कार को स्वीकार करते हैं। ("स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि" कारिकावली, १५९)। कोई कोई सब पार्थिव वस्तु में ही स्थितिस्थापकसंस्कार है यह स्वीकार नहीं करते हैं। उन लोगों का कहना है कि कटादि पृथिवी में स्थितिस्थापकसंस्कार रहने पर भी घट आदि में वह नहीं हैं। इसीलिए उनलोगोंने प्रस्तुत "स्थितिस्थापकयोगः" रूप साधर्म्य को स्थितिस्थापकसंस्कारवद्वृत्ति द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्व रूप कहा हैं। जिससे घटादि में इस साधर्म्य की अव्याप्ति न होगी। घटादि में स्थितिस्थापकसंस्कार न रहने पर भी स्थितिस्थापकसंस्कारविशिष्ट कटादि में जो द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्वजाति है घट भी तद्विशिष्ट होने से अव्याप्ति न होगी।

हमारे विचार से उत्तप्त होने पर पृथिवी आदि चारों द्रव्य ही परिसर (वृद्धि) प्राप्त होते हैं। तथा उत्ताप के शान्त होने पर पुनः अपनी स्थिति में आ जाते हैं। अतः पृथिव्यादि चारों द्रव्य में ही स्थितिस्थापकसंस्कार है। अवश्य ही उत्पन्नविनष्ट किसी पार्थिवादि वस्तु में अपनी उत्पत्ति के परवर्त्ती क्षण में ही विनाश हो जाने के कारण उसमें वह संस्कार की उत्पत्ति विना हुए वह वस्तु विनष्ट होने से उस वस्तु में स्थितिस्थापकसंस्कारयोग नहीं

१. एवमवान्तरमहत्त्वमपि निर्वाच्यम्। प्रकाश, पृ० १७२-३

होने से उस वस्तु में साधर्म्य अव्याप्त होगा। इसलिए स्थितिस्थापकसंस्कारसमानाधिकरण द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्व को पृथिव्यादि चार द्रव्यका साधर्म्य कहना आवश्यक है।

शरीरारम्भकत्व भी इन्ही चार द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया है। चेष्टावदन्त्यावयवी को शरीर कहा जाता है। उसके आरम्भकत्व अर्थात् समवायिकारणत्व को ही पृथिव्यादि चार द्रव्य का साधर्म्य कहा गया है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु प्रकरण में इन द्रव्यों से पार्थिवादि शरीरों की उत्पत्ति के विषय में कहा जाएगा। परन्तु पार्थिव द्रव्यविशेष ही शरीरविशेष का समवायि-कारण होते हैं। समस्त पार्थिवादि द्रव्य ही शरीर का आरम्भक नहीं होते हैं। उन पार्थिवादि द्रव्यों में शरीरारम्भकत्व न रहने से यह साधर्म्य शरीर के अनारम्भक पृथिवी आदि में अव्याप्त होगा। इसलिए प्रकाशकारने पूर्वकथित रीति से शरीरारम्भक पृथिवी आदि में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्वादि जातिमत्त्व को ही शरीरारम्भकत्व का अर्थ कहा है[1]। शरीर के अनारम्भक पृथिवी आदि में भी शरीरारम्भक पृथिवी आदि में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्व आदि जातियों के रहने से साधर्म्य की घटना में बाधा न होगी।

इस निर्वचन में प्रत्येक पद की व्यावृत्ति पूर्व पूर्व निर्वचनों में प्रदर्शित रीति से समझना है। ग्रन्थ संक्षेप के लिए उनका उल्लेख हम यहां नहीं करेंगे। केवल द्रव्यत्वव्याप्य धर्मवत्त्व न कहकर द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्व क्यों कहा गया इसी का उल्लेख किया गया। यदि जातिपद न हो तब शरीरारम्भक पृथिवी आदि में द्रव्यत्व तथा काल एतदन्यतरत्वरूप धर्म रहता है। वह धर्म द्रव्यत्वव्याप्य भी है। वह धर्म अर्थात् द्रव्यत्वकालान्यतरत्व काल में भी रहता है। क्योंकि काल में 'कालो न' यह भेद न रहने पर भी 'द्रव्यत्वं न' यह भेद रहता है। द्रव्यत्व-व्याप्य धर्मवत्त्वरूप साधर्म्य की अतिव्याप्ति हुई। जातिपद का निवेश रहने से यह 'द्रव्यत्व-कालान्यतरत्व' जाति न होने से कालादि में उक्त रीति से अतिव्याप्ति न होगी। इस निर्वचन में 'शरीरारम्भकवृत्ति' यद्यपि निविष्ट है तथापि शरीरसमवायिकारणवृत्तिरूप अर्थ करने से उसका निवेश आवश्यक नहीं। परन्तु 'शरीरवृत्ति' कहने से ही अतिव्याप्ति आदि न होगी। अर्थात् शरीरवृत्ति द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्व ही शरीरारम्भकत्व का निष्कृटार्थ है।

त्रयाणां[2] पृथिव्यप्तेजसां प्रत्यक्षत्वं, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वम्, रूपवत्त्वं रूपसमवायः, द्रवत्ववत्त्वं द्रवत्वसमवायः। सम्भाव्यते चैतत्।

[(प्रशस्त पाद के ग्रन्थ के) 'त्रयाणाम्' अर्थात् तीन पृथिवी, जल तथा तेज का प्रत्यक्षत्व, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व, रूपवत्त्व रूप (का) समवाय (सम्बन्ध), द्रवत्ववत्त्व द्रवत्व (का) समवाय (सम्बन्ध) साधर्म्य है। यह सम्भावनामात्र ही है।]

---

१. शरीरारम्भकवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १७३

२. त्रयाणां प्रत्यक्षत्वरूपवत्त्वद्रवत्ववत्त्वानि। प्रशस्तपाद

पृथिवी, जल तथा तेज इन तीन द्रव्य का साधर्म्य प्रत्यक्षत्व कहा गया है। परन्तु आत्मा का भी मनरूप इन्द्रिय द्वारा लौकिकप्रत्यक्ष होता है। अतः प्रत्यक्षत्व अर्थात् प्रत्यक्ष-विषयता आत्मा में अतिव्याप्त होने के कारण उदयनाचार्यने प्रत्यक्षत्व का अर्थ बाह्येन्द्रियग्राह्यता किया है। आत्मा मानसप्रत्यक्ष का ही विषय होने से बाह्येन्द्रियग्राह्य नहीं है[1]।

पृथिवी आदि के परमाणु तथा घ्राणादि इन्द्रिय अतीन्द्रिय हैं। उनमें बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यता अव्याप्त होगा। इसलिए बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व को बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षविषयत्व-समानाधिकरण जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति तादृशजातिमत्त्वरूप कहना पड़ेगा। पार्थिव आदि परमाणु तथा घ्राणादि इन्द्रिय में बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषय घटादि पृथिवीगत तादृश प्रत्यक्षविषयता के समानाधिकरण द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्व आदि जाति रहती हैं। अतः परमाणु अथवा इन्द्रिय में साधर्म्य की अव्याप्ति न होगी।

रूपवत्त्व पृथिवी आदि तीन द्रव्य का साधर्म्य है। इन तीनों की रूपवत्ता यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध है तथापि उत्पन्नविनष्ट पार्थिवादि द्रव्यों में रूपवत्ता अव्याप्त होगा। तदर्थ रूपवद्वृत्ति-द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्व को रूपवत्त्व कहने से अव्याप्ति नहीं रहेगी। पृथिवी आदि के परमाणुओं की रूपवत्ता प्रत्यक्षसिद्ध न होने पर भी कार्यद्रव्यगत रूप से अनुमेय होगा।

द्रवत्ववत्त्व को भी तीनों द्रव्यका साधर्म्य कहा गया है। द्रवत्व भी सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक दो प्रकार होता है। जल में सांसिद्धिकद्रवत्व प्रत्यक्षसिद्ध ही है। पृथिवी तथा तेज में नैमित्तिकद्रवत्व ही होता है। इस स्थिति में द्रवत्व जलका साधर्म्य है यह निर्विवाद है। घृत आदि पृथिवी तथा सुवर्ण आदि तेज में नैमित्तिकद्रवत्व भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है। परन्तु घट, पट आदि पृथिवी किसी भी निमित्त से कभी भी द्रव होते देखा नहीं जाता है। अतः समस्त पृथिवी अथवा समस्त तेज का नैमित्तिकद्रवत्व को साधर्म्य कहना सम्भव नहीं है। इसी लिए उदयनाचार्यने इस साधर्म्य को सम्भावना मात्र ही कहा है। परन्तु प्रकाशकारने द्रवत्ववत्त्व का द्रवत्ववद्वृत्ति द्रव्यत्वव्याप्य जातिमत्त्वरूप पारिभाषिक अर्थ बनाकर उसे भी यथायथ रूप से साधर्म्य ही कहा है[2]। घृत तैल आदि नैमित्तिकद्रवत्वविशिष्ट वस्तु में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्व आदि जाति घट, पट में भी रहने से यह पारिभाषिक द्रवत्ववत्त्व की अव्याप्ति घट, पट आदि पृथिवी अथवा अग्नि आदि तेज में न होगा।

द्वयोः[3] पृथिव्युदकयोर्गुरुत्वं, तत्कार्यं पतनञ्च। रसवत्त्वं रसो माधुर्यादिस्तद्वत्त्वम्। आलोकप्रकाश्यत्वम्, अभास्वररूपवत्त्वञ्चेति 'चा' र्थः।

---

१. अन्यथा मनोग्राह्ये आत्मन्यतिव्याप्तेरित्यर्थः। भास्कर, पृ० ६३

२. द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १७३

३. द्वयोर्गुरुत्वं रसवत्त्वञ्चेति। प्रशस्तपाद

[दो (अर्थात्) पृथिवी तथा जल का गुरुत्व तथा उसका कार्य पतन भी (साधर्म्य है)। रसवत्त्व (का अर्थ), रस (अर्थात्) माधुर्यादि तद्वत्त्व (है)। 'च' (कार) का अर्थ आलोकप्रकाश्यत्व तथा अभास्वररूपवत्त्व (है)।]

गुरुत्व तथा रसवत्त्वको पृथिवी तथा जलका साधर्म्य कहा गया है। प्रशस्तपाद की इस पंक्ति की व्याख्या में उदयनाचार्यने गुरुत्व के कार्य पतन को भी दो द्रव्यों का साधर्म्य कहा है। यहां गुरुत्व तथा पतनरूप कर्म के विषय में विचार आवश्यक है। गुरुत्व वस्तुतः आद्यपतन का ही कारण होता है। एकवृत्ति आद्यपतन का असमवायिकारण को ही शिवादित्य मिश्रने सप्तपदार्थी में गुरुत्व का लक्षण बताया है। द्वितीय आदि पतन वस्तु के वेगादि जन्य होता है। अतः गुरुत्व का कार्य आद्यपतन ही प्रस्तुत स्थल में ग्रन्थकार का अभिप्रेत है समझना पड़ेगा। अधःसंयोगानुकूल क्रिया मात्र को पतन कहना भी सम्भव नहीं है[१]। क्योंकि आलोकरश्मि का अधोदेशसंयोगानुकूल कर्म, जो असत्प्रत्यय कर्म होने से गमन में अन्तर्भूत है, में भी पतनलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार अपक्षेपण कर्म में भी अधःसंयोगानुकूल कर्म होने से पतनलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अपक्षेपण सत्प्रत्यकर्म अर्थात् प्रयत्नसाध्य कर्म होने से पतन के तुल्य गमनरूप कर्म में अन्तर्भूत नहीं है। हम 'मुसलमपक्षिपति' प्रयोग करते हैं। जहां मुसल स्वयं गिरता है वहा 'मुसलं पतति' प्रयोग होता है। इसी लिए प्रकाशकारने गुरुत्वप्रयुक्त अधःसंयोगानुकूल क्रिया को ही यहां पतन शब्द से विवक्षित है कहा है[२]। फलतः आलोक का अधोदेशसंयोगानुकूल कर्म अथवा मुसल आदि का अपक्षेपण कर्म में प्रस्तुत पतनलक्षण की अतिव्याप्ति न होगी।

आलोकप्रकाश्यत्व तथा अभास्वररूपवत्त्वरूप दो साधर्म्य को प्रशस्तपाद की पंक्ति के 'च' कारसे समुच्चित किया गया है। पृथिवी तथा जल यह दोनों द्रव्यों का चाक्षुषप्रत्यक्ष में आलोक की सहायता आवश्यक होती है। परन्तु आलोकप्रकाश्यत्व का अर्थ यदि आलोकसहकृत चाक्षुषप्रत्यक्ष-विषयत्व हो तब पृथिवी आदि उद्भूतरूपवत् द्रव्य के उद्भूतरूपोंमें उक्त प्रकार आलोकप्रकाश्यत्व की अतिव्याप्ति है। क्योंकि रूपप्रत्यक्ष में भी चक्षु को आलोक की अपेक्षा है। रूप भी आलोकप्रकाश्य है। पार्थिव तथा जलीय परमाणु एवं पार्थिव तथा जलीय इन्द्रिय अर्थात् घ्राण तथा रसना में अव्याप्ति है। यह समस्त वस्तु ही पृथिवी तथा जल होते हुए आलोकप्रकाश्य नहीं, अतीन्द्रिय हैं। इसी प्रकार आलोक स्वयं भी आलोकप्रकाश्य है। क्योंकि आलोक भी अपने चाक्षुषप्रत्यक्ष में विषयरूप से कारण होता है। विषय की निमित्तकारणता लौकिकप्रत्यक्ष में स्वीकृत ही है। किरणावली-भास्करकारने इसी प्रसङ्ग में कहा है कि रूपादि में अतिव्याप्तिवारण के लिए द्रव्यपद को विशेषण देना आवश्यक है। तथा आलोक विषयातिरिक्त आलोकप्रकाश्य नहीं है[३]। परन्तु सुवर्ण आदि

---

१. ननु पतनमधःसंयोगफलिका क्रिया यदि तदा तेजस्यतिप्रसङ्गः। प्रकाश, पृ० १७४।

२. नैवम्। गुरुत्वप्रयोज्यपतनत्वव्याप्यजातिमतः पतनस्य विवक्षितत्वात्। प्रकाश, पृ० १७४

३. किरणावली भास्कर, पृ० ६४

तैजसवस्तु भी आलोकप्रकाश्य होने से तेज में अतिव्याप्ति भी विवेचनीय है। सुवर्ण आदि तैजस द्रव्यों के चाक्षुषप्रत्यक्ष में भी नियमतः आलोक विषयातिरिक्त कारण ही है। आलोकभिन्नत्वे सति आलोकप्रकाश्यत्व यदि साधर्म्य हो तब केवल आलोक में अतिव्याप्ति का वारण सम्भव होने पर भी रूप, सुवर्णादि तैजसद्रव्य में अतिव्याप्ति रह जाएगी। पार्थिव तथा जलीय परमाणुओं में आलोकभिन्नत्वे सति आलोकप्रकाश्यत्व की अव्याप्ति भी रहेगी। इसी लिए प्रकाशकारने आलोक भिन्न होते हुए आलोकजन्य चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय जो द्रव्य तद्वृत्ति द्रव्यत्वापरजातिमत्ता ही यहां आलोकप्रकाश्यत्वरूप साधर्म्य का अभिप्रेत अर्थ है कहा है[1]। इस निर्वचन में 'आलोकभिन्नत्वे सति' विशेषण से आलोक में अतिव्याप्ति न होगी। आलोकजन्य प्रत्यक्षविषयवृत्ति जो द्रव्यत्व-व्याप्यजाति तद्वत्त्वरूप विशेष्य होने से रूप, पार्थिव तथा जलीय परमाणु तथा इन्द्रियों में भी अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति न होगी। परन्तु सुवर्ण आदि तैजस द्रव्य में अतिव्याप्ति रह जाएगी। हमारे विचार से यदि यहां आलोक पद के स्थान में व्यापक तेजः पद का निवेशकरें तो सुवर्ण आदि में भी अतिव्याप्ति वारण सम्भव हो सकेगा। फलतः तेजोभिन्नत्वे सति आलोकजन्य प्रत्यक्षविषय द्रव्यवृत्ति द्रव्यत्वापरजातिमत्त्व ही आलोकप्रकाश्यत्वरूप साधर्म्य का विवक्षित अर्थ समझना है।

भूतात्मनां[2] पृथिव्यादीनां पञ्चानामात्मनाञ्च वैशेषिकगुणवत्त्वं स्वाश्रयव्यवच्छेदौपयिकावान्तरसामान्यविशेषवन्तो वैशेषिका गुणा रूपादयो बुद्ध्यादयश्च तद्वत्त्वम्। उपलक्षणञ्चैतत्। प्रत्यक्षगुणवत्त्वञ्चेत्यपि द्रष्टव्यम्।

['भूतात्मनाम्' (अर्थात्) पृथिव्यादि पांच (भूत) तथा आत्मसमूह का वैशेषिकगुणवत्त्व (अर्थात्) अपने आश्रय को (पदार्थान्तर से) व्यवच्छेद (अर्थात् पृथक् करने) का उपायभूत अवान्तर सामान्यविशेष (अपरजाति) विशिष्ट रूपादि तथा बुद्ध्यादि वैशेषिक (विशेष) गुणसमूह तद्वत्त्व (साधर्म्य है)। यह (कहना) भी उपलक्षण है। प्रत्यक्षगुणवत्त्व भी (उक्त द्रव्यों का साधर्म्य है) यह भी द्रष्टव्य (है)।]

पृथिवी आदि पांच द्रव्य जिनको 'भूतत्व' रहने से भूत कहा जाता है, तथा परमात्मा और जीवात्माओं का साधर्म्य वैशेषिकगुणवत्त्व है। वैशेषिकगुणवत्त्व शब्द से कौन गुणों को समझा जाय इस प्रश्न पर प्रथम उपस्थित अर्थ होता है वैशेषिकसम्प्रदायसिद्ध गुण। वह गुण

---

१. नन्वेतदालोकेऽतिव्यापकं विषयतया तत्प्रत्यक्षे तस्यापि हेतुत्वात्। न च आलोकान्यत्वेन विशेष्य परमाण्वाद्यव्यापकत्वात्। न। आलोकान्यत्वे सति तज्जन्यप्रत्यक्षविषयद्रव्यवृत्तिद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्याभिप्रेतत्वात्। प्रकाश, पृ० १७४

२. भूतात्मनां वैशेषिकगुणयोगः। प्रशस्तपाद

चौविश होते हैं यह ग्रन्थ के उद्देशप्रकरण में कहा जा चुका है। परन्तु वह वैशेषिकमतसिद्ध गुणवत्त्व यहां वक्तव्य है यह भ्रम न हो इस लिए उदयनाचार्यने 'वैशेषिकगुण' शब्द की व्याख्या पूर्वक बताया है[१] कि संख्या परिमाण आदि, जिनको सामान्यगुण कहा जाता है वे यहां वक्तव्य नहीं है। परन्तु वैशेषिक शब्द की निष्पत्ति 'विशेष' शब्द का स्वार्थ में ही 'ठक्' प्रत्यय द्वारा हुआ हैं। जिसका अर्थ विशेषगुण ही है। वैशेषिकसम्प्रदाय में 'विशेषगुण' शब्द पारिभाषिक है। परिगणित गुणों को ही विशेषगुण कहा जाता है[२]। यह परिभाषा को ही किरणावलीकारने स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है कि अपने आश्रयभूत द्रव्य को अन्य द्रव्यों से व्यवच्छेद अर्थात् पृथक् समझाने में उपयोगी तथा अवान्तर अर्थात् अव्यापक सामान्यविशिष्ट गुण ही विशेषगुण है। रूपादि तथा बुद्धि आदि परिगणित गुण ही वह विशेषगुण अथवा वैशेषिकगुण है। इस प्रकार कुछ परिगणित गुणों का आश्रयत्व ही प्रस्तुत साधर्म्य है। वस्तुतः नौ द्रव्य में कुछ गुण समान रूप से रहते हैं। जैसा संख्या, परिमाण, संयोग विभाग आदि। इन गुणों द्वारा किसी द्रव्य को अन्य द्रव्य से पृथक् अर्थात् विलक्षण करके समझाया नहीं जा सकता है। संख्याविशिष्ट द्रव्य कहने से सभी नौ द्रव्य समझा जाएगा। परन्तु रूपवद्द्रव्य कहने से केवल पृथिवी, जल तथा तेज ही समझा जाता है। शेष वायु आदि द्रव्यों में रूप नहीं है। इस लिए रूप अपने आश्रयभूत पृथिवी, जल तथा तेज को अन्य द्रव्यों से विलक्षण रूप से ज्ञापित करता है। अतः वह विशेषगुण है। ज्ञानविशिष्ट द्रव्य केवल आत्मा (जीव तथा ईश्वर) ही होते हैं। शेष आठ द्रव्य में ज्ञानरूप गुण नहीं रहता है। अतः ज्ञान विशेषगुण है। इसी प्रकार टिप्पणी में उल्लिखित प्रत्येक गुण ही अपने आश्रय की विलक्षणता की प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ है। अतः यह वैशेषिकगुणवत्त्व अर्थात् विशेषगुणवत्ता पृथिवी आदि पञ्चभूत तथा परमात्मा और जीवात्माओं का साधर्म्य कहा गया है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि विशेषगुण कुछ निश्चित द्रव्यों में ही रहता है। सामान्य गुण सभी द्रव्यों में समान रूप से रहता है। उदयनाचार्य के वैशेषिकगुण की परिभाषा की व्याख्या में प्रकाशकारने उसका परिष्कृत रूप दिया है। उन्होने कहा है कि अपने आश्रय के साथ एक ही अधिकरण में जो द्रव्यविभाजकोपाधि हो उसके अत्यन्ताभाव के समानाधिकरण जो गुण हैं उनमें न रहने वाली जो गुणत्वव्याप्यजाति तादृश जातिमत्त्व ही विशेषगुणत्व है। तादृश विशेषगुणवत्त्व ही प्रस्तुत साधर्म्य है[३]। विशेषगुण के लक्षण समन्वय के लिए रूपत्व,

---

१. वैशेषिकमतसिद्धा गुणाः संख्यादयोऽपि। भास्कर, पृ० ६४

२. वैशेषिकगुणवत्वं विशेषगुणतया परिभाषितगुणवत्वम्। रूपस्पर्शगन्धरसस्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। बुद्ध्यादि नव शब्दश्च वैशेषिकगुणाः स्मृताः।' इति प्राच्यैः परिभाषितत्वात्। सूक्ति, पृ० १६३।

३. स्वाश्रयसमानाधिकरणद्रव्यविभाजकोपाध्यत्यन्ताभावसमानाधिकरणगुणावृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमद्गुणवत्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १७४-५

रसत्व आदि विशेषगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्य जातिओं को लेना है। फलतः गन्धत्व के आश्रय गन्ध के अधिकरण पृथिवी में जो द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व है उसका अत्यन्ताभाव पृथिवी व्यतीत शेष जल आदि द्रव्य में है। अत्यन्ताभाव के उन अधिकरणों में जो गुण हैं (जिनमें गन्ध नहीं हैं) उन गुणों में न रहने वाली गुणत्व की व्याप्यजाति केवल गन्धत्व ही होगा, वह गन्धत्वजातिविशिष्ट गुण गन्ध होने से गन्ध विशेषगुण होगा। गन्धरूप विशेषगुणवत्त्व ही साधर्म्य है[1]। किसी सामान्यगुण में यह लक्षण अतिव्याप्त न होगा। क्योंकि यदि 'स्व' पद से संयोगत्व लिया जाय तो संयोगत्व के आश्रय संयोग के अधिकरण समस्त द्रव्य ही होंगे। अतः संयोगत्व के आश्रय संयोग के समानाधिकरण द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व से मनस्त्व तक सभी नौ उपाधियां होंगी। उनके अत्यन्ताभाव (अर्थात् संयोगसमानाधिकरणद्रव्यविभाजकोपाधिर्नास्ति यह अत्यन्ताभाव) किसी भी द्रव्य में न मिलेगा। गुणादि में ही मिलेगा। गुणादि में गुण न रहने से संयोगत्व में विशेषगुणत्व का लक्षण घटेगा ही नहीं। व्योमवतीकारने भी विशेषगुण का लक्षण अन्य प्रकार से किया है[2]।

प्रत्यक्षगुणवत्त्व भी उक्त द्रव्यों का साधर्म्य कहा गया है। यह 'प्रत्यक्षगुण' शब्द से प्रत्यक्षग्राह्य गुण अर्थात् प्रत्यक्षविषयताविशिष्ट गुण समझा जा सकता है। प्रत्यक्षविषयताविशिष्ट गुण शब्द से इन्द्रियग्राह्य गुणमात्र का ग्रहण होने से अतीन्द्रिय गुणों का ग्रहण न होगा। अतीन्द्रिय गुणों की गणना में कारिकावली में गुरुत्व, धर्म, अधर्म, जीवनयोनियत्न, भावना तथा स्थिति-स्थापकसंस्कार को कहा गया है[3]। फलतः पांच बहिरिन्द्रिय तथा मन के द्वारा ग्रहणयोग्य गुणवत्त्व ही यहां विवक्षित साधर्म्य है प्रतीत होता है। परन्तु संख्या आदि इन्द्रियग्राह्य गुण काल, दिक् तथा मन में रहते हैं। अतः साधर्म्य अतिव्याप्त होगा। यदि इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए कहा जाय कि इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयता कालादिगत गुणोंमें नहीं रहता है। अतः अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि विषयता को ज्ञान के समानकालीन ही स्वीकार किया जाता है। कालादि के गुणों का कभी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होती ही नहीं। अतः तादृश प्रत्यक्षविषयता भी उनके गुणों में न होगी। परन्तु इस प्रकार से अतिव्याप्तिवारण करने से अव्याप्ति दुष्परिहर होगी। क्योंकि पृथिवी आदि

---

१. स्वं गन्धत्वादि तदाश्रयो गन्धादिस्तत्समानाधिकरणतादृशोपाधिः पृथिवीत्वादि-स्तद्वत्यन्ताभावो जलादौ तत्समानाधिकरणगुणावृत्तिगन्धत्वादि तद्वत्त्वं विशेषगुणत्वं तदाश्रयत्वञ्च वैशेषिकगुणवत्त्वं क्षित्यादीनां साधर्म्यमित्यर्थः। विवृति, पृ० १७५

२. स्वसमवेतविशेषविशिष्टत्वे सति स्वाश्रयैकजातीयव्यवच्छेदकत्वाद् विशेषगुणाः। आश्रयमात्रव्यवच्छेदकत्वं न सम्भवतीति स्वाश्रयपदम्। व्योम० पृ० ४३२

३. गुरुत्वादृष्टभावना अतीन्द्रियाः। कारिका ९३-९४
यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदातीन्द्रियो भवेत्। कारिका १५३
स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि।
अतीन्द्रियोऽसौ विज्ञेयः। कारिका १५९

पञ्चभूत में चार के परमाणुओं के कोई भी गुण इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का विषयताविशिष्ट न होने से उन परमाणुओं में साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। इसी प्रकार परमात्मा के ज्ञानादि भी इन्द्रिग्राह्य न होने से परमात्मा में भी अव्याप्ति होगी। 'प्रत्यक्ष' पद का लौकिकप्रत्यक्ष अर्थ करने पर भी उक्त दोनों अव्याप्ति का वारण नहीं हो सकता है[1]। यदि प्रत्यक्षविषयतासमानाधिकरण गुणत्त्वव्याप्य जातिमद् गुणवत्त्व को प्रत्यक्षगुणवत्त्व कहा जाय तब उक्त अव्याप्तिओं का वारण हो सकेगा। क्योंकि परमाणु अथवा परमात्मा के गुणों में जो गुणत्वव्याप्य जातियां है वही जातियां घट पटादि तथा जीवात्मगत गुणों में जो प्रत्यक्षविषयता है डसका समानाधिकरण होंगी। अव्याप्ति न होगी। परन्तु इस प्रकार से अव्यात्तिवारण करने पर कालादि में पुनः अतिव्याप्ति आपतित होगी। कालादिगत गुणों में भी घट पटादि के गुणगत प्रत्यक्षविषयतासमानाधिकरण गुणत्वव्याप्य जातिमत्ता है। कालादि के संख्या परिमाण आदि में संख्यात्व, परिमाणत्व आदि गुणत्वव्याप्य जातियां घट पटादि के संख्या, परिमाणादिगत प्रत्यक्षविषयता का समानाधिकरण ही होंगी।

इन्हीं कारणों से इस साधर्म्य का परिष्कार में प्रकाशकारने कहा है कि प्रत्यक्षविषयता-विशिष्टगुण के आश्रय में जो द्रव्यविभाजकोपाधि हैं तद्वत्त्व ही प्रत्यक्षगुणवत्त्व है[2]। इससे अध्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि प्रत्यक्षविषयताविशिष्ट रूप, संख्या, ज्ञान आदि गुणविशिष्ट द्रव्य होंगे घट, पट, जीवात्मा। उनमें द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व, आत्मत्व ही होगा। अतः परमाणु तथा परमात्मा तादृश उपाधिविशिष्ट होने से अतिव्याप्ति नहीं है। काल आदि प्रत्यक्षविषयताविशिष्ट गुणवत् न होने से तद्गत द्रव्यविभाजकोपाधियां अतिव्याप्तिजनक न होंगी।

क्षित्युदकात्मनां चतुर्दशगुणवत्त्वम्[3]। संख्यामात्रेण साधर्म्यमेतत्। न ते गुणा विशेषतो विवक्षिताः। सम्भावितश्चैतत् साधर्म्यं न तु व्यापकम्। परमेश्वरात्मन्यसम्भवात्। तानग्रे गणयिष्यति।

[क्षिति, उदक् (तथा) आत्माओं के चौदह गुणवत्त्व (साधर्म्य है)। यह केवल संख्या (चौदह) मात्र द्वारा साधर्म्य है। वह गुणसमूह विशेषरूप से (इस साधर्म्य में) विवक्षित नहीं हैं। यह केवल सम्भावित साधर्म्य है, व्यापक (रूप से) नहीं (क्योंकि) परमेश्वर (रूपी) आत्मा में यह सम्भव नहीं है। उन (परमात्मा के गुणों) को आगे गणना करेंगे।]

---

१. प्रत्यक्षपदं सर्वत्र लौकिकप्रत्यक्षपरम्। विवृति, पृ० १७५

२. प्रत्यक्षगुणवद्वृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वम्। प्रकाश, पृ० १७५।

३. प्रशस्तपाद।

क्षिति, उदक् तथा आत्माओं का चतुर्दशसंख्यक गुणवत्ता को साधर्म्य कहा गया है। परन्तु एकजातीय चतुर्दशसंख्यक गुण उक्त तीनों का साधर्म्य है यह वक्तव्य नहीं है[1]। भिन्न भिन्न जातीय परन्तु मिलितरूप से चतुर्दशसंख्यक गुण इन तीनों में रहते हैं यही कहने का अभिप्राय है। यहां विवेचनीय है कि केवल जीवात्माओं में ही चतुर्दशसंख्यक गुण होते हैं। परमात्मा में केवल आठ गुण होते हैं[2]। इस असामञ्जस्य को दूर करने के लिए प्रकाशकारने लिखा है कि उष्णस्पर्शका समानाधिकरण न हो इस प्रकार प्रत्यक्षद्रव्य में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य जाति के समानाधिकरणगुणवत्त्व ही प्रस्तुत स्थल में चतुर्दशगुणवत्त्व का अभिप्रेत अर्थ है[3]। पृथिवी, जल, तेज तथा जीवात्मा यही प्रत्यक्षद्रव्य हैं। प्रत्यक्ष द्रव्यवृत्ति द्रव्यत्व-व्याप्यजाति पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व तथा आत्मत्व हैं। जिनमें तेजस्त्व जाति उष्णस्पर्श का समानाधिकरण होता है। शेष तीन जाति अर्थात् पृथिवीत्व, जलत्व तथा आत्मत्व उष्णस्पर्श का असमानाधिकरण होते हैं। इन तीन जातिओं के समानाधिकरण गुण केवल इन तीनों में रहने वाले गुण ही होंगे। आत्मत्व जाति के अधिकरण जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों होने से दोनों आत्माओं में रहने वाले गुणों का ग्रहण हो सकेगा। फलतः इस साधर्म्य की अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति न होगी।

आकाशात्मनां क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वम्[4]। क्षणिका आशुतरविनाशिन एकदेशवृत्तयोऽव्याप्यवृत्तयो विशेषा ये स्वाश्रयव्यवच्छेदाय गुणास्तद्वत्त्वम्। अत्रापि विवक्षाभेदादेकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं क्षणिकविशेषगुणवत्त्वञ्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। आकाशे तादृशो गुणः शब्दः। आत्मनि बुद्ध्यादिः।

[आकाश तथा आत्माओं के क्षणिक तथा एकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्व (साधर्म्य है)। (इस समस्त पद का अर्थ है) क्षणिक (अर्थात्) आशुतर (काल में) विनाश प्राप्त होने वाले, एकदेशवृत्ति (अर्थात्) अव्याप्यवृत्ति जो विशेष (अर्थात्) अपने आश्रय (के) व्यवच्छेद के लिए (समर्थ) गुणसमूह हैं तद्वत्त्व। यहां भी वक्तव्यभेद से एकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्व, क्षणिकविशेषगुणवत्त्व

१. एकजातीयचतुर्दशगुणानां त्रिष्वभावादाह संख्यामात्रेणेति। रहस्य, पृ० १६४
२. वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः। जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे। महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥
(कारिकावली ३० की टीका दिनकरी में।)
३. उष्णस्पर्शासमानाधिकरणप्रत्यक्षद्रव्यवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिसमानाधिकरणगुणवत्त्व-मित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १९६
४. प्रशस्तपाद

भी (दो साधर्म्यरूप से) द्रष्टव्य है। आकाश में तादृशगुण शब्द (है । आत्मा में बुद्धि आदि (तादृशगुण हैं)]

प्रशस्तपादने आकाश तथा आत्मा का क्षणिक तथा एकदेशवृत्ति विशेषगुणवत्त्व को साधर्म्य कहा है। क्षणिक तथा एकदेशवृत्ति विशेषगुण शब्द से आकाश के विशेषगुण शब्द तथा जीवात्मा के विशेषगुण बुद्धि आदि ही प्राप्त हैं। अव्याप्यवृत्तित्व का अर्थ स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है। आकाश के किसी स्थान में शब्द उत्पन्न होने के काल में ही अन्य स्थानों में उस शब्द का अभाव भी रहता है। इसी प्रकार शब्द से द्वितीय शब्द की उत्पत्ति होते ही कारणभूत प्रथम शब्द का नाश हो जाता है। इसी लिए क्षणिकत्व का अर्थ अपनी उत्पत्ति के तृतीयक्षण में उत्पन्न ध्वंस का प्रतियोगित्व ही है। शब्द अपनी उत्पत्ति के द्वितीयक्षण में द्वितीय शब्द को उत्पन्न करता है। द्वितीय शब्द की उत्पत्ति के द्वितीयक्षण अर्थात् प्रथमशब्दोत्पत्ति के तृतीय क्षण में ही द्वितीय शब्द से प्रथम शब्द का नाश हो जाता है। इसी लिए प्रथम शब्द स्वोत्पत्ति के तृतीयक्षण में उत्पन्न अपने ध्वंस का प्रतियोगी होने से क्षणिक कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा के केवल शरीरावच्छेदेन ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं। विभु आत्मा के अन्यत्र ज्ञानादि का अभाव है। ज्ञानादि भी शब्द के तुल्य ही स्वोत्पत्ति के तृतीयक्षण में ही अपने उत्तरवर्त्ती विशेषगुणों से नाश प्राप्त होता है। क्षणिक तथा अव्याप्यवृत्ति यह दो विशेषण में एक का व्यर्थविशेषणता के कारण ही विवक्षावश दो पृथक् साधर्म्य है कहा गया है। व्योमवती में भी इसका समर्थन किया गया है[1]।

'आत्मा' शब्द परमात्मा का भी वाचक होने से परमात्मा में उन गुणों का किसी काल में कहीं भी अभाव न होने से परमात्मा में जो ज्ञानादि विशेषगुण हैं वे नित्य तथा व्याप्यवृत्ति भी हैं। अतः यह साधर्म्य परमात्मा में अव्याप्त है। इस अव्याप्ति के वारणार्थ प्रकाशकारने कहा है कि क्षणिकविशेषगुणविशिष्ट (द्रव्य) में वृत्ति जो द्रव्यविभाजकोपाधि तादृशोपाधिमत्त्व ही क्षणिकविशेषगुणवत्त्व है[2]। क्षणिकविशेषगुण विशिष्ट जीवात्मा में आत्मत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधि ही परमात्मा में भी है। अतः अव्याप्ति न होगी। शब्दरूप क्षणिकविशेषगुणविशिष्ट आकाश में आकाशत्व रूप द्रव्यविभाजकोपाधि के रहने से आकाश में भी लक्षण समन्वित हुआ।

यदि हम किसी घट के रूपव्यक्ति का अपनी उत्पत्ति के तृतीय क्षण में नाश हुआ कल्पना करें तो तादृश रूपव्यक्ति विशेषगुण तथा क्षणिक होने से तादृशरूपव्यक्तिरूप क्षणिकविशेषगुणविशिष्ट घटरूप द्रव्य में जो पृथिवीत्वरूप द्रव्यविभाजकोपाधि है तद्वत्ता समस्त

---

१. तथापि क्षणिकग्रहणमनर्थकं··· ···तन्न द्वितीयसाधर्म्यस्य विवक्षितत्वात् । व्योम०, पृ० १६६

२. क्षणिकविशेषगुणवद्वृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । प्रकाश, पृ० १७७

पृथिवी में ही होने से इस साधर्म्य की पृथिवी में अतिव्याप्ति होगी। कोई कोई चित्ररूप के अस्वीकार पक्ष को स्वीकार कर रूप में अव्याप्यवृत्तित्व, अनेक प्रकार रूप के एक व्यक्ति में रहने से तादृश अव्याप्यवृत्ति विशेषगुणवद्वृत्ति द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वरूप अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व की अतिव्याप्ति की कल्पना करते हैं। परन्तु व्योमवतीकारने चित्ररूप के पक्ष में सूत्रकार-सम्मति दिखाकर विरुद्धपक्ष को वौद्ध अथवा नितान्त एकदेशिमत सिद्ध कर दिया है[1]।

तृतीयक्षण में नष्ट होने वाले घटरूप के कारण पूर्वोक्त अव्याप्तिवारण के लिए सिद्धान्तमुक्तावलीकार विश्वनाथने चार क्षण तक स्थायी जन्य वस्तु में अनाश्रित जो जाति तादृशजातिमद् जो विशेषगुण तद्वत्त्व को क्षणिकविशेषगुणवत्त्व का पर्यवसितार्थ कहा है[2]। इससे किसी एक रूपव्यक्ति तृतीयक्षण में नष्ट होने पर भी उस रूपव्यक्ति में जो जाति अर्थात् रूपत्व है वह चतुर्थादि क्षणस्थायी रूप में भी होने से वह रूपत्वजाति चतुःक्षणवृत्तिजन्य में अवृत्ति न होने से उस जाति को लेकर अतिव्याप्ति सम्भव न होगा। विभुद्रव्यों के कोई भी विशेषगुण चार क्षण तक स्थायी नहीं होते हैं। इस लिये शब्दत्व, ज्ञानत्व आदि जातियों को लेकर लक्षण का समन्वय होगा। अपेक्षाबुद्धि जीवात्मा के अन्य ज्ञानों की अपेक्षया एक क्षण अधिक स्थायी अर्थात् अपनी उत्पत्ति के चतुर्थक्षण में नष्ट होती है। इस लिए 'चतुःक्षणवृत्तिजन्य' कहा गया है। स्वकार्यनाश्य होने से कोई भी जन्यज्ञान (अपेक्षाबुद्धि सहित) स्वीय कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् अपनी उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण तक स्थायी नहीं हो सकता है। फलतः जन्यज्ञानगत ज्ञानत्व जाति को लेकर परमात्मा में लक्षण समन्वय हो जाएगा। चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद् विशेषगुणवत्त्वरूप निर्वचन में 'जन्य' पद न रहने से परमात्मा के ज्ञानादि चतुःक्षणवृत्ति (नित्य) होने से उनमें अवृत्ति जाति ज्ञानत्व न होगा। फलतः परमात्मा के ज्ञानादि विशेषगुणों को लेकर परमात्मा में अव्याप्ति होगी। जन्य पद के रहने से चतुःक्षणवृत्ति जन्य में अवृत्ति जाति ज्ञानत्व ही लक्षण घटक होगा। तद् विशिष्ट परमात्मा के ज्ञान होने से अव्याप्ति न होगी। यदि चतुःक्षणवृत्तित्व को जन्य का विशेषण न दिया जाय तो केवल जन्यावृत्ति जाति परमात्मा के विशेषगुणों में वृत्ति, ज्ञानत्व इच्छात्व, यत्नत्व जाति ही होंगे। फलतः शब्दत्व, सुखत्व, दुःखत्व आदि जातियों को लेकर आकाश तथा जीवात्मा में अव्याप्ति होगी। इसी लिए चतुःक्षणवृत्तित्व को जन्य पद का विशेषण दिया गया है। इससे शब्दत्व, आत्मा के विशेषगुणवृत्ति ज्ञानत्व, इच्छात्व आदि सभी जातियां उपलब्ध होंगी। अव्याप्ति न होगी। यदि गुण में 'विशेष' पद विशेषण न हो तब चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्ति जातिमद्-गुणवत्त्वरूप साधर्म्य द्वित्वत्व, परत्वत्व, अपरत्वत्वरूप अपेक्षाबुद्धिजन्य गुणों में रहने वाली जातियों को लेकर तादृशजातिविशिष्ट गुणों के रहने से पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति होगी। परन्तु

---

१. अभ्युपगमे वा सूत्रव्याघातः। अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानाम-सम्भवादिति व्याहन्येतेति। व्योम, पृ० २२०

२. सिद्धान्तमुक्तावली, कारिका २६ की व्याख्या।

द्वित्वत्व आदि उक्त जातियां विशेषगुणवृत्ति जाति न होने से, (विशेष पद के गुण का विशेषण होने के कारण) अतिव्याप्ति न होगी।

घटादि के उत्पन्न-विनष्ट-रूप अर्थात् अपनी उत्पत्ति के तृतीय क्षण में नष्ट हुआ रूप में क्षणिकविशेषगुणवत्त्वरूप साधर्म्य की अतिव्याप्तिवारण के लिए रहस्यटीकाकार मथुरानाथने कहा है कि क्षणिकमात्रवृत्ति जो जाति उसके आश्रयीभूत विशेषगुणवत्त्व ही उक्त साधर्म्य का विवक्षित अर्थ है[१]। घट के उत्पन्नविनष्टरूप में जो रूपत्व जाति है वह क्षणिकवस्तुमात्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि दीर्घकाल स्थायी रूप में भी वही रूपत्व जाति है। अतः रूपत्व जाति क्षणिक-मात्रवृत्ति न होने से तद्विशिष्ट उत्पन्नविनष्ट रूप क्षणिकविशेषगुण न होगा। अतिव्याप्ति न होगी। विभु अर्थात् सर्वमूर्त्तव्यापक द्रव्य आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा हैं। इनमें आकाश तथा आत्माओं में ही विशेषगुण रहते हैं। काल तथा दिक् विशेषगुणहीन हैं। विभुओं के विशेषगुणमात्र ही क्षणिक तथा अव्याप्यवृत्ति हुआ करता है। यदि अन्य किसी विशेषगुण किसी कारण से क्षणमात्रस्थायी हो तो भी वह विशेषगुण में जो गुणत्वव्याप्यजाति है वह क्षणिकवस्तु मात्रवृत्ति जाति नहीं होता है। क्योंकि वह जाति दीर्घकाल स्थायी विशेषगुण में भी रहती है। इसी लिए मथुरानाथने 'क्षणिकमात्रवृत्तित्व' को विशेषण देकर उत्पन्नविनष्ट रूप में अतिव्याप्ति का वारण किया है। परन्तु इस निर्वचन से ईश्वरीय ज्ञान, इच्छा तथा कृति रूप विशेषगुण नित्य होने से वह ज्ञानत्व, इच्छात्व तथा कृतित्वरूप विशेषगुणवृत्ति जातियां क्षणिकमात्रवृत्ति न होंगी। फलतः क्षणिकमात्रवृत्ति न होने से ज्ञानत्व आदि जातिविशिष्ट ज्ञानादिविशेषगुणवत्त्वरूप साधर्म्य परमात्मा में अव्याप्त होगा। जीवात्मा तथा आकाश में सुखत्व, दुःखत्व, द्वेषत्व, शब्दत्व आदि जातिविशिष्ट गुणों के रहने से केवल वहां लक्षण समन्वित होगा।

सूक्ति टीकाकारने परमात्मा को इस साधर्म्य का अलक्ष्य ही मान लिया है। इस लिए क्षणिकविशेषगुण परमात्मा में न रहने पर भी अव्याप्ति न होगी[२]। उन्होंने भी क्षणिकत्व को तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व ही स्वीकार किया है। इसी से उत्पन्नविनष्ट रूप में अतिव्याप्ति नहीं होती है। 'आत्म' शब्द से परमात्मा भी गृहीत होने से इस साधर्म्य की अव्याप्ति वारण के लिए क्षणिकमात्रवृत्तिजातिमद् विशेषगुणसमानाधिकरण द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व को विवक्षित कहना होगा। इससे आत्मत्वजाति जीवात्मा में तादृशक्षणिकमात्रवृत्ति सुखत्व, दुःखत्व जाति-विशिष्ट विशेषगुणसमानाधिकरण द्रव्यविभाजकोपाधि होने से आत्मत्वविशिष्ट परमात्मा में अव्याप्ति न होगी। परन्तु इस व्याख्या में 'आत्म' शब्द का केवल जीवात्मा रूप अर्थ मूल के अनुगत है यह प्रतीत नहीं होता है।

---

१. तथापि क्षणिकमात्रवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवद्वृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वस्य विवक्षितत्वाद्दोषः। रहस्य, पृ० १६६

२. न चेश्वरात्मन्यव्याप्तिस्तस्य पूर्ववदलक्ष्यत्वात्। सूक्ति, पृ० १६६

प्रशस्तपादने क्षणिकत्व तथा एकदेशवृत्तित्वरूप विशेषणद्वयविशिष्ट विशेषगुण को आकाश तथा आत्माओं के साधर्म्य कहा है। परन्तु विभुओं के विशेषगुणों में क्षणिकत्व तथा एकदेशवृत्तित्व दोनों ही समान रूप से रहने से कोई एक विशेषण ही अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति वारण में समर्थ है। अतः इनमें एक की उपस्थिति में दूसरा अनतिप्रयोजनक विशेषण होने से व्यर्थ है। इसी लिए किरणावली तथा व्योमवती में प्रस्तुत साधर्म्य को दो साधर्म्य कहा गया है[१]। न्यायकन्दली में श्रीधर ने भी दो विशेषण को स्वरूपकथन मात्र ही कहा है[२]। अर्थात् आकाश तथा आत्मा का क्षणिक विशेषगुणवत्त्व तथा अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व दो साधर्म्य है।

दिक्कालयोः पञ्चगुणवत्त्वम्[३]। संख्यापरिमाणपृथक्त्व संयोग-विभागाः पञ्चैव गुणा दिशि काले च।

[दिक् तथा काल (इन दो का) पांच गुणवत्त्व (साधर्म्य है)। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग (यह) पांच ही गुण दिक् तथा काल में (है)।]

संख्या आदि पांच परिगणित गुणवत्त्व दिक् तथा काल का साधर्म्य कहा गया है। यह संख्या आदि पांचों गुण सामान्यगुण होने से नवविधद्रव्य में ही रहते हैं। अतः तादृश पञ्च गुणवत्त्व की अतिव्याप्ति शेष द्रव्यों में अवश्य होगी। इसी अतिव्याप्ति के वारणार्थ किरणावली-कार ने व्याख्या में 'पञ्चैव' शब्द में 'एव' कार का ग्रहण किया है। 'एव' शब्द यहां अन्य-योग व्यवच्छेदक है। जिससे तादृश पञ्चगुणभिन्न गुणाभावविशिष्ट पञ्चगुणवत्त्व ही साधर्म्य है समझना है। पृथिवी आदि द्रव्यों में यह पांच गुणों के साथ अन्य गुण भी रहते हैं। अतः उनमें जो यह पांच गुण हैं वह तादृश पञ्चगुणभिन्नगुणाभावविशिष्ट न होंगे। अतिव्याप्ति न होगी। इस निर्वचन में विशेष्यांश में 'पञ्चगुणवत्त्व' में पञ्च पद केवल दिक् तथा काल में जो गुण हैं उनके संख्यामात्र का उल्लेख है। यहां 'गुणवत्त्व' विशेष्य होने से ही साधर्म्य अव्याप्त्यादिदोष शून्य होगा। क्योंकि गुण आदि में उक्त विशेषणविशिष्टाभावमात्र के रहने से गुणादि में अतिव्याप्ति केवल 'गुणवत्त्व' अंश के कारण ही न होगी। फलतः 'पञ्च' पद व्यावर्त्तक विशेषण नहीं है। प्रकाशकारने पञ्चगुणवत्त्व का 'विशेषगुणशून्य विभुत्व' ही फलितार्थ कहा है[४]। परन्तु यह एक स्वतन्त्र साधर्म्य है। विभुद्रव्य दिक् तथा काल में कोई भी विशेषगुण नहीं रहता है।

---

१. तत्र। द्वितीयसाधर्म्यस्य विवक्षितत्वात्। व्योम० पृ० १६६

२. ....स्वरूपमस्तीति क्षणिकसङ्कीर्तनं कृतम्। कन्दली, पृ० २५

३. प्रशस्तपाद

४. विशेषगुणशून्यविभूत्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १७७

सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणत्वञ्च[1] । तत्समवेतद्वित्वपृथक्त्वादि-संयोगविभागवर्जं सर्वाण्युत्पत्तिमन्ति गृह्यन्ते । तेषां निमित्तकारणं दिक्कालौ । नहि दिक्कालानपेक्षं किञ्चिदुत्पद्यते । तथा च व्यपदिश्यते इहेदानीं जात इति ।

गेहे जातो गोष्ठे जात इत्यनिमित्तमपि गेहादि व्यपदिश्यत इति चेन्न । तस्याप्यधिकरणतया निमित्तत्वात् । न ह्यधिकरणमकारणमिति ।

यद्येवं सम्प्रदानत्वेनादृष्टद्वाराधिष्ठातृतया चात्मनामपि सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वमप्यस्ति, तत् कथमनयोरेवोपन्यास इति चेत्, सत्यम् । अधिकरणतया तु सर्वोत्पत्तिनिमित्तं विवक्षितम् । यथा हि दिक्कालोपाध्यधिकरणा सर्वस्योत्पत्तिर्नैवमात्मोपाध्यधिकरणेति ।

परत्वापरत्वानुमेयत्वञ्चेति चार्थः ।

[उत्पत्तिमान् सभी की निमित्तकारणता भी (काल तथा दिक् का साधर्म्य है)। उनमें समवेत द्वित्व, पृथक्त्व आदि (तथा) संयोग व विभाग को छोडकर उत्पत्तिमान् सभी (इनके कार्यरूप से) गृहीत होते हैं। उन सभी के निमित्त-कारण दिक् तथा काल होते हैं। दिक् तथा काल की अपेक्षा न हो इस प्रकार कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। इसी से 'यहां अब उत्पन्न हुआ' यह कहा जाता है।

'घर में उत्पन्न' 'गोष्ठ में उत्पन्न' इत्यादि रूप से अनिमित्त होने पर भी गृहादि का उल्लेख देखा जाता है यह नहीं (कहा जा सकता है)। गृहादि भी अधिकरण रूप से निमित्त (होने से उक्त प्रकार उल्लेख होता है)। अधिकरण अकारण है यह नहीं (कहा जा सकता है)।

यदि इसी प्रकार (से कारणता निर्दिष्ट होगी तब) कहीं सम्प्रदानत्व, कहीं अदृष्ट द्वारा तथा कहीं अधिष्ठातृत्व के कारण आत्माओं में भी सभी उत्पत्तिमद् वस्तुओं की निमित्तकारणता है (स्वीकार करना आवश्यक होगा), तब क्यों इन दोनों का ही उल्लेख किया गया (है)? यह शङ्का होना ठीक ही है। (यहां केवल अधिकरण रूप से ही सब उत्पत्ति का निमित्त

१. प्रशस्तपाद। सोसाइटि पुस्तक में 'च' कार नहीं। परन्तु आचार्य ने व्याख्या में चकार का उल्लेख किया है।

(है यही) विवक्षित है। जैसा कि सभी की उत्पत्ति (में) दिक् तथा कालोपाधि ही अधिकरण (होता है) उसी प्रकार आत्मा की उपाधि (सब उत्पत्ति में) अधिकरण नहीं होता है।

परत्व तथा अपरत्वरूप हेतु द्वारा अनुमेयत्व भी (साधर्म्य है यह) 'च' कार का अर्थ है।

समस्त जन्य वस्तुओं की निमित्तकारणता भी काल तथा दिक् का साधर्म्य है कहा गया है। प्रश्न हो सकता है कि दिक् तथा काल को जन्य वस्तुमात्र का निमित्तकारण क्यों समझा जाय ? यदि जन्यमात्र की उत्पत्ति में इन दोनों का सान्निध्य ही इनको निमित्तकारण समझने में कारण हो तब आकाश को भी उसी प्रकार से जन्यमात्र के प्रति निमित्तकारण समझना चाहिए। काल तथा दिक् के तुल्य ही आकाश भी जन्य मात्र की उत्पत्ति में सन्निहित रहता है। 'गृहे जातः' 'गोष्ठे जातः' आदि शब्द व्यवहार में जिस प्रकार से उत्पत्ति में अनिमित्त गृह तथा गोष्ठ उल्लिखित होता है तत्तुल्य ही 'इहेदानीं जातः' इत्यादि प्रयोग में दिक् तथा काल का उल्लेख भी होगा। इसके समाधान में कहा जा सकता है कि पटादि की उत्पत्ति में जिस प्रकार तन्तु आदि नियत हैं उसी प्रकार पटादि की उत्पत्ति में देशविशेष तथा कालविशेष भी नियत है। यदि यह नियम न हो तब सर्वदा सर्वत्र समवायि तथा असमवायि कारण से कार्योत्पत्ति होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि कहा जाय कि सर्वदा सर्वत्र (समवायि तथा असमवायि) कारणों के अभाव के कारण ही कार्योत्पत्ति सर्वदा तथा सर्वत्र नहीं होता है तब जिस देश में तथा जिस काल में कारण होते हैं केवल वहां ही कार्योत्पत्ति होती है अन्यत्र नहीं यह स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः कार्य की उत्पत्ति में देशविशेष तथा कालविशेष की सहकारिता की अपेक्षा समवायि तथा असमवायि कारणों के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार से समवायि तथा असमवायि कारणों के सहायक होने से ही दिक् तथा काल की निमित्तकारणता स्वीकृत है। कपाल अथवा तन्तुओं के रहने पर भी घट अथवा पट की उत्पत्ति कभी तथा कहीं ही होती है सर्वदा सर्वत्र नहीं होती। यही दिक् तथा काल की निमित्तता है। घटादि कार्यों के निमित्तकारणों की एकरूपता न रहने से अन्य दो प्रकार के कारणों का लक्षण जिस प्रकार से हो सकता है वैसा निमित्तकारण का लक्षण बनाना सम्भव नहीं है। घट के निमित्तकारण दण्ड, चक्र, सलिल तथा सूत्र आदि अनेक हैं। उन सबों को एक रूप से संग्रह करना सम्भव नहीं है। इसी लिए समवायि तथा असमवायि से भिन्न जो अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ती हो वही निमित्तकारण है कहा गया है।

दिक् तथा काल में जो द्वित्वादि संख्या, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग रहते हैं उनके जन्य होते हुए उनकी निमित्तकारणता दिक् तथा काल में नहीं रहता हैं। दिक् तथा काल उक्त गुणों का समवायिकारण ही होता है। अतः दिक् तथा काल समस्त जन्यवस्तु के ही निमित्तकारण नहीं हैं। इसी लिए किरणावलीकारने 'सर्वोत्पत्तिमताम्' की व्याख्या करते

हुए दिक् तथा काल में समवेत द्वित्व आदि को छोड़कर शेष जन्यों को 'सर्व' शब्द से ग्रहण किया है।

यह शङ्का हो सकती है कि 'इहेदानीं जातः' इत्यादि शब्दप्रयोग से दिक् तथा काल में जन्यवस्तु की आधारता प्रतीत होता है। इस प्रकार आधारता प्रतीति के कारण यदि दिक् तथा काल को जन्यवस्तु मात्र का निमित्तकारण भी कहा जाएगा तब 'इह गवि गोत्वम्' इत्यादि शब्दप्रयोग के कारण गौ गोत्व के आधाररूप से प्रतीत होने से क्या गौ को गोत्व का निमित्तकारण भी स्वीकार करना पड़ेगा? अतः यह आधाराधेयभावप्रतीति को निमित्तकारणता का साधक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इस शङ्का के समाधान में वक्तव्य है कि 'इह गवि गोत्वम्' तथा 'इहेदानीं जातः' यह दो शब्दव्यवहार में विलक्षणता है। प्रथम में केवल नित्य गोत्वजाति की आधारतामात्र ही प्रतीत होता है। परन्तु द्वितीय में उत्पत्ति अर्थात् वस्तु का आद्यक्षणसम्बन्ध के आधाररूप से दिक् तथा काल की प्रतीति होती है। गोत्व नित्य होने से उसके आधार में निमित्तकारणता बाधित होने से गोत्व का निमित्त-कारण गौ नहीं हो सकती है। परन्तु घटादि के उत्पत्ति के आधारभूत दिक् तथा काल घटोत्पत्ति में निमित्तकारण होने में बाधा नहीं है। हम 'कपाले घटो जातः' 'तन्तौ पटो जातः' आदि प्रतीति का विषयभूत अधिकरण कपाल अथवा तन्तु को घट अथवा पट का समवायिकारण स्वीकार करते ही हैं। अतः बाधा न रहने पर आधारता ही निमित्तकारणता का साधक हो सकता है। इसी लिए किरणावली में वस्तु की उत्पत्ति में आधारभूत को अकारण नहीं कहा जा सकता है कहा गया है। अतः अधिकरण अकारण नहीं है।

यदि अधिकरण को बाधा न रहने पर कारण स्वीकार किया जाय तो सम्प्रदानत्व, अदृष्ट, तथा अधिष्ठातृत्व के कारण आत्माओं में भी जन्यमात्र की निमित्तकारणता के रहने से केवल दिक् तथा काल का ही यह साधर्म्य क्यों कहा गया यह शङ्का हो सकती है। पूर्वपक्ष का आशय यह है कि दानक्रिया में किसी आत्मा की सम्प्रदानता होती है। दाता के स्वत्व के ध्वंस होने पर ग्रहीता अर्थात् सम्प्रदान में स्वत्व की उत्पत्ति होती है। यह स्वत्वोत्पत्ति ही सम्प्रदानता है। वह स्वत्वोत्पत्ति का अधिकरण ग्रहीता आत्मा ही है। अतः आत्माओं की सम्प्रदानता सिद्ध रहने से उनमें दत्त वस्तु की स्वत्वोत्पत्ति की अधिकरणता भी सिद्ध होगा। इसी प्रकार जन्यवस्तुमात्र ही किसी न किसी आत्मा के अदृष्टजन्य भोग के लिए उत्पन्न होने से आत्मा भी अदृष्टद्वारा भोग्य की उत्पत्ति में विभुत्व के कारण अधिकरण होगा। परमात्मा भी जगत् के अधिष्ठाता होने से अधिकरणरूप से जन्यवस्तुमात्र के ही निमित्तकारण हो सकते हैं।

इसके समाधान में कहा जाता है कि जिस प्रकार से दिक् तथा काल के उपाधियों के कारण समस्त जन्यद्रव्य की उत्पत्ति उन उपाधियों के अधिकरण में प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा के उपाधियों के कारण उन उपाधियों के अधिकरणों में जन्य वस्तुओं की उत्पत्ति की

प्रतीति नहीं होती है। काल सूर्यस्पन्दरूप क्रिया का उपनायक है। अर्थात् घट पट आदि के किसी विशेष काल में उत्पत्ति का अर्थ है सूर्य की एक स्पन्दक्रियोपलक्षित काल में ही कपाल से घट उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार पूर्व आदि दिक् भी सूर्य से अपना संयोग को देश में उपस्थित करता है। जिससे यह वस्तु पूर्व में अथवा पश्चिम में है तथा गृह में है अथवा गोष्ठ में है यह प्रतीति होती है। सूर्यसंयोगोपलक्षित दिक्संयुक्तमूर्त्त को देश कहा जाता है। फलतः घटादि की उत्पत्ति कहां हुई यह विना दिक् के ज्ञान होना सम्भव नहीं है। 'इह जातः' 'इदानीं जातः' आदि प्रतीति से उत्पत्ति की अधिकरणता काल तथा दिक् में जिस प्रकार नियत रूप से होता है उसी प्रकार आत्मा के उपाधि अर्थात् शरीर के अधिष्ठाता आदि रूप से घटपटादि की उत्पत्ति आत्मा में प्रतीत नहीं होता है। 'आत्मनि जातः' 'परमात्मनि जातः' इत्यादि प्रतीति कभी होते नहीं देखी जाती है। यहां किरणावली के "दिक्कालोपाध्यधिकरणा सर्वस्योत्पत्तिः" वाक्य में दिक्कालोपाध्यधिकरणा को उत्पत्ति का विशेषण कहा गया है। जिस समस्त पद का यदि व्याकरण शास्त्र विरोधी न हो तो, दिक्कालोपाध्यधिकरणं अधिकरणं यस्याः इस विग्रह वाक्य होने से ग्रन्थकार का आशय स्पष्ट हो जाता है। हम कह चुके हैं कि सूर्य की स्पन्दनात्मक क्रिया ही खण्डकाल का बोधक होता है तथा दिक्सूर्यसंयोग ही खण्ड दिशाओं का बोध कराता है। सूर्यस्पन्दोपलक्षित होकर ही खण्डकाल घटादि की उत्पत्ति में अधिकरण रूप से निमित्तकारण है। तुल्य रीति से खण्ड दिक् भी जन्य मात्र की उत्पत्ति में अधिकरण होकर निमित्त होता है। शरीररूप उपाध्युपलक्षित आत्मा में इस प्रकार अधिकरणता का बोध नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि दिक् तथा काल जन्यमात्र के निमित्तकारण है।

उदयनाचार्यने प्रशस्तपाद के प्रस्तुत वाक्य के अन्तर्गत 'निमित्तकारणत्वञ्च' इस 'च' कार को अनुक्तसमुच्चायक स्वीकार कर उस 'च' कार से दो साधर्म्य की कल्पना की है। परत्वानुमेयत्व तथा अपरत्वानुमेयत्व ही वह दो साधर्म्य हैं। कालिक परत्व अथवा अपरत्व से काल का अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार दैशिक परत्व अथवा अपरत्व से दिक् का। यह अनुमान कार्यहेतुक अनुमान है। अर्थात् काल का कार्य होने से कालिकपरत्व से काल का अनुमान होता है। परन्तु कालिक आदि परत्व अथवा अपरत्व का कारण जिस प्रकार से काल होता है उसी प्रकार से कालपिण्डसंयोग अथवा दिक्पिण्डसंयोग तथा अपेक्षाबुद्धि भी परत्व तथा अपरत्व का कारण होते हैं। फलतः परत्व अथवा अपरत्व कार्य होने से जिस प्रकार से काल का अनुमापक होगा उसी प्रकार से उक्त कालपिण्डसंयोग तथा अपेक्षाबुद्धि का भी अनुमापक होता है। परत्वानुमेयत्व केवल काल अथवा दिक् में ही नहीं परन्तु कालपिण्डसंयोग अथवा दिक्पिण्डसंयोग में भी परत्वादि से अनुमेयत्व रहेगा। अतः यह साधर्म्य तादृश संयोग तथा आपेक्षाबुद्धि में अतिव्याप्त है। इसी लिए प्रकाशकारने कहा है कि परत्वासमवायिकारण जो दिक्पिण्ड अथवा कालपिण्डसंयोग तदाश्रयभूत विभुत्व ही यहां विवक्षित है[१]। यह अर्थ विवक्षित होने से उक्त

१. परत्वासमवायिकारणसंयोगाश्रयविभुत्वम्। प्रकाश, पृ. १८०

संयोग अथवा अपेक्षाबुद्धि के विभुत्व न रहने से परत्वासमवायिकारण अथवा निमित्तकारण होते हुए भी इस साधर्म्य की अतिव्याप्ति न होगी।

क्षितितेजसोर्नैमित्तिकद्रवत्वयोगः[1]। अग्निसंयोगनिमित्तादुत्पद्यते यद् द्रवत्वं तत्समवायः सुवर्णादौ तैजसे घृतादौ पार्थिवे।

[क्षिति तथा तेज (इन दो) का नैमित्तिकद्रवत्वयोग (अर्थात् सम्बन्ध साधर्म्य है)। अग्निसंयोगरूप निमित्त से जो द्रवत्व उत्पन्न हो उससे समवाय (सम्बन्ध) सुवर्ण आदि तैजस (द्रव्य) में तथा घृत आदि पार्थिव (द्रव्य) में (है)।

निमित्त शब्द सामान्यतया कारण का वाचक है। इससे नैमित्तिक शब्द निमित्त से उत्पन्न अर्थ का बोधक होगा। कारणजन्य द्रवत्व ही यदि यह साधर्म्य है तो जन्य जल में जो जन्य सांसिद्धिकद्रवत्व है वह भी जलपरमाणु आदि अवयवगत सांसिद्धिकद्रवत्वरूप असमवायिकारणजन्य होने से नैमित्तिकद्रवत्व विशिष्ट हुआ। फलतः नैमित्तिकद्रवत्वयोग की अतिव्याप्ति जन्यजल में होगी। इस लिए व्योमवतीकारने सामान्यतः कारण वाचक 'निमित्त' शब्द को विशेष एक कारण वाचक स्वीकार किया है[2]। सेतुकारने भी 'नैमित्तिक' शब्द यदि 'सकारणक' यह अर्थ में प्रयुक्त होगा तब (जन्य) जलका द्रवत्व में अतिव्याप्ति होगी कहा है[3]। प्रकाशकारने किरणावली के 'अग्निसंयोगनिमित्ताद्' आदि ग्रन्थ का अभिप्राय वर्णन करते हुए भी (जन्य) सांसिद्धिकद्रवत्व में यथाश्रुत साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी इसी लिए उदयनाचार्यने 'अग्निसंयोग' आदि वाक्य से नैमित्तिक पद का अर्थ व्याख्या किया कहा है[4]। तेजःसंयोगजन्यद्रवत्व ही नैमित्तिक द्रवत्व का यथार्थ अर्थ है। फलतः अवयवी जल में अवयवजलगत सांसिद्धिकद्रवत्व ही असमवायिकारण होने से उसकी उत्पत्ति तेजःसंयोगनिरपेक्ष है। अतः अतिव्याप्ति न होगी। घृतादि पार्थिववस्तु तथा सुवर्णादि तैजस वस्तु जो स्त्यान अर्थात् संहत अथवा घनीभूत हैं उनमें तेजःसंयोग से द्रवत्व उत्पन्न होते देखा जाता है। अतः अवयवगतद्रवत्व न रहने पर भी तेजःसंयोगरूप असमवायिकारणजन्य घृत, सुवर्ण आदि पार्थिव अथवा तैजस वस्तु में जो द्रवत्व होता है वह नैमित्तिकद्रवत्व है। वह पृथिवी तथा जल का साधर्म्य है।

---

१. प्रशस्तपाद

२. निमित्तादुपजातं नैमित्तिकमिति। निमित्तशब्दः सामान्यशब्दोऽप्यर्थादग्निसंयोगे वर्त्तते। व्योम, पृ० १६८

३. नैमित्तिकत्वं यदि सकारणकत्वं तदा जलद्रवत्वमपि तथेत्यतिव्याप्तिः। सेतु, पृ० १६९

४. नैमित्तिकं यदि सकारणमुच्यते तदा सांसिद्धिकमपि द्रवत्वं तथेत्यन्यथा व्याचष्टे अग्नीति। प्रकाश, पृ० १८०

परन्तु तेज:संयोगजन्य द्रवत्व घट, प्रस्तर, मृत्तिका आदि पार्थिवद्रव्य में न होने से अव्याप्ति के वारण के लिए प्रकाशकारने तेज:संयोगासमवायिकारणक द्रवत्ववद्वृत्ति द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्य जातिमत्त्व को ही पृथिवी तथा तेज का साधर्म्य है कहा है। घट, प्रस्तर आदि में तेज:संयोगजन्य द्रवत्व न रहने पर भी पृथिवीपरमाणुगत जो तेज:संयोगासमवायिकारणक द्रवत्व है तदाश्रय पार्थिवपरमाणु में जो द्रव्यत्व साक्षाद्व्याप्य पृथिवीत्व जाति तद्वत्ता घट, प्रस्तर आदि में रहने से अव्याप्ति न होगी। यहां स्मरणीय है कि वैशेषिक सिद्धान्त में पीलुपाक-वाद अर्थात् पाकप्रक्रिया परमाणुओं में ही होती है। इसलिए घृतादि पार्थिववस्तु में अग्नि-संयोग से घृतादि अवयवी परम्परा का नाश होने पर पार्थिवपरमाणुओं में अग्निसंयोग से द्रवत्व (नैमित्तिक) उत्पन्न होता है। तदनन्तर भोगाद्दृष्टापेक्ष आत्माणुसंयोग से परमाणुओं में कर्मजन्य संयोग से द्व्यणुक आदि क्रम से पुनः द्रुत घृतादि की उत्पत्ति होती है। घृतादि पार्थिव अथवा सुवर्ण आदि तैजस द्रव्य में जो द्रवत्व है वह अपने कारणभूत अवयव के द्रवत्व से ही कारणगुण-पूर्वक उत्पन्न होता है। फलतः वैशेषिक सिद्धान्त में पार्थिव तथा तैजस परमाणु के द्रवत्व ही तेज:संयोगासमवायिकारणजन्य हैं। घृत अथवा सुवर्ण के द्रवत्व जन्यजल के जन्यसांसिद्धिक द्रवत्व के तुल्य ही कारणगुणपूर्वक हैं अर्थात् अग्निसंयोगादि निरपेक्ष ही उत्पन्न होते हैं[1]।

प्रशस्तपाद के उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टिगत रखकर ही हमने प्रकाशकारके निर्वचन में घट, प्रस्तर आदि में साधर्म्य को समन्वित किया है। प्रकाशविवृतिकारने इस निर्वचन में 'तेज:' पद को किसी किसी के मतानुसार व्यर्थ है कहा है[2]। हमने इसी प्रकरण में नैमित्तिक-द्रवत्वोत्पत्तिकी प्रशस्तपादसमर्थित जो प्रक्रिया प्रदर्शित किया है उसको देखने से स्पष्ट होगा कि पृथिवी अथवा तेज:परमाणुओं में नैमित्तिकद्रवत्वोत्पत्ति में केवल अग्निसंयोग ही कारण रूप से रहता है। अन्य कोई संयोग वहां द्रवत्वोत्पत्ति में कारण नहीं होता है। अतः 'तेज:' पदका निवेश इतरव्यावर्त्तक नहीं है। अतः 'तेज:' पद स्वरूपकथन मात्र ही है। इसी प्रकार उन्होंने किसी के मतका उल्लेख भी किया है। इस मत में 'तेज:संयोगासमवायिकारणकद्रवत्व' शब्द से नैमित्तिक-द्रवत्वत्वरूप जाति ही उपलक्षित हुआ है कहा जाता है[3]।

विवृतिकारने 'संयोगासमवायिकारणकद्रवत्व' पद में 'असमवायि' पद को जलीय द्व्यणुक में कारणगुणप्रक्रमेण जन्य सांसिद्धिकद्रवत्वोत्पत्ति में भी यथाकथञ्चित् अदृष्टवदात्मसंयोग, जो वस्तुतः जलद्व्यणुकोत्पत्ति के समय जलपरमाणु में क्रिया द्वारा संयोगोत्पादक है, का भी ग्रहण सम्भव होने से

---

१. कार्यद्रव्यनिवृत्तौ अग्निसंयोगाद् औष्ण्यापेक्षात् स्वतन्त्रेषु परमाणुषु द्रवत्वमुत्पद्यते। ततस्तेषु भोगिनामदृष्टापेक्षाद् आत्माणुसंयोगात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यः संयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते। तस्मिंश्च रूपाद्युत्पत्तिसमकालं कारणगुण-प्रक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यते इति। प्रशस्तपाद, द्रवत्वनिरूपण।

२. अत्र तेजः पद व्यर्थमित्येके। विवृति, पृ० १८१

३. तेजःसंयोगासमवायिकारणत्वेन तत्प्रयोज्यजातिरेवोपलक्षितेत्यन्ये। विवृति, पृ० १८१

अतिव्याप्ति है। परन्तु वह आत्मसंयोग निमित्तकारणमात्र हो सकता है। असमवायिकारण नहीं। अतः 'असमवायि' पद अतिव्याप्तिवारक है[१]। प्रकाशविवृतिकारने यह भी कहा है कि यदि 'तेजः' पद का निवेश निर्वचन में हो तो 'असमवायि' पद की आवश्यकता नहीं है[२]। हम पहले 'तेजः' पद को असमवायि पद के साथ रहने से इतरवारक विशेषण न होने के कारण स्वरूपकथन मात्र है कह चुके हैं। यदि 'तेजः' पदको विशेषण रूप से दिया जाएगा तब 'तेजःसंयोगकारणक द्रवत्ववद्वृत्ति' आदि से ही अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दूर होगी 'असमवायि' पद स्वरूपकथनमात्र होगा। क्योंकि तेजःसंयोग से नैमित्तिकद्रवत्व ही होता है यह पाकजप्रक्रिया के वर्णन में हम कह चुके हैं। जलीय परमाणु का द्रवत्व नित्य है जलीयद्व्यणुक का जन्य सांसिद्धिक द्रवत्व अपने समवायिकारण के सांसिद्धिक द्रवत्व से ही उत्पन्न होता है। केवल पार्थिव तथा तैजस परमाणुओं में तेजःसंयोग के कारण द्रवत्व उत्पन्न होता है। पार्थिव तथा तैजसद्व्यणुकों में अपने समवायिकारण के नैमित्तिकद्रवत्व से द्रवत्व उत्पन्न होता है। अतः तेजःसंयोगरूप कारण से उत्पन्न द्रवत्व केवल पार्थिव तथा तैजस परमाणुओं में होने से तादृश द्रवत्ववत् उन परमाणुओं में जो द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य पृथिवीत्व अथवा तेजस्त्व है तद्वृत्ता जन्यपृथिवी तथा जन्यजल में ही होगा। जलीय परमाणु अथवा जन्य जल में अतिव्याप्ति न होगी। तथा घट पट आदि द्रवत्वशून्य पृथिवी आदि में अव्याप्ति भी न होगी। फलतः विवृतिकारने प्रकाशकारके निर्वचन का अभिप्राय को दृष्टिगत रखकर दो साधर्म्य है कहा।[३] प्रथम 'तेजःसंयोगकारणकद्रवत्ववद्वृत्ति द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व। तथा दूसरा संयोगासमवायिकारणकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वरूप होगा। अतः एक ही निर्वचन में तेजः तथा असमवायि यह दोनों पदों का सन्निवेश करने से उनमें से एक व्यर्थ ही हो जाएगा।

द्वितीय निर्वचन में 'द्रवत्व' पद की सार्थकता प्रदर्शन के लिए विवृतिकारने कहा है कि 'संयोगासमवायिकारणकवद्वृत्ति द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य जातिमत्त्व' रूप साधर्म्य कहने पर संयोगजसंयोगविशिष्ट द्रव्य मात्र में इन साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी[४]। महान् जल अथवा महान् वायु के अवयव से हस्त के संयोग के कारण महान् जल अथवा महान् वायु से शरीर का संयोग संयोगजसंयोग है। जो शरीर तथा तादृश जल अथवा वायुसंयोग तादृशजल अथवा वायु के अवयवहस्तसंयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होता है। अतः संयोगासमवायिकारणकवत्, शब्द से तादृश महान् जल अथवा महान् वायु से हस्तसंयोगजन्य तादृश जल तथा तादृश वायु से शरीरसंयोग शरीर तथा महाजल अथवा महावायु में भी है। तादृश संयोगविशिष्ट जल तथा वायु में जो द्रव्यत्व-

१. अदृष्टवदात्मसंयोगकारणकं सांसिद्धिकद्रवत्वेऽपीत्यतिव्याप्तिवारणायासमवायीति। विवृति, पृ० १८१

२. यदि तेजःपदप्रवेशस्तदासमवायीति न देयम्। विवृति, पृ० १८१

३. एवञ्च लक्षणद्वये तात्पर्यम्। विवृति पृ० १८१

४. संयोगजसंयोगमादायातिव्याप्तिवारणाय द्रवत्वेति। विवृति पृ० १८१

साक्षाद्व्याप्य जलत्व अथवा वायुत्व जाति है तद्वान् जल अथवा वायु भी होने से साधर्म्य की
अतिव्याप्ति स्पष्ट है। अतः इस अतिव्याप्तिवारण के लिए 'संयोगासमवायिकारणक द्रवत्ववद्'
कहा जाना आवश्यक होगा। संयोगजसंयोग द्रवत्व न होने से अतिव्याप्ति न होगी। इस निर्वचन
में द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व न कह कर द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व का निवेश की सार्थकता
भी विवृतिकारने स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि 'साक्षात्' पद व्याप्य पद का विशेषण
होने से द्रव्यत्व जाति स्वयं द्रव्यत्व जाति का व्याप्य होते हुए भी तादृश द्रव्यत्वजातिविशिष्ट
जल, वायु आदि में अतिव्याप्ति की सम्भावना न होगी। क्यों कि साक्षात् पद का 'भेदविशिष्ट'
अर्थ है। द्रव्यत्व भिन्न जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति वही द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति होगी। अतः
द्रव्यत्वजातिविशिष्ट होने से जलादि में अतिव्याप्ति न होगी। इस प्रकार से अतिव्याप्तिवारण
करने पर द्रव्यत्वजाति के परम्परया व्याप्य घृतत्व, लाक्षात्व, मधुच्छिष्टत्व आदि जातियों को
लेकर लक्षण की अव्याप्ति की शङ्का भी न रहेगी। क्यों कि घृतत्व आदि जातियां केवल
घृत आदि पृथिवी तथा त्रपुत्व, सीसत्व आदि जातियां केवल त्रपु, आदि तैजस वस्तु में रहने के
कारण घृतत्व अथवा त्रपुत्वजातिमत्त्व घृत अथवा त्रपु में ही होगा। क्यों कि संयोगासमवायि-
कारणकद्रवत्व केवल पार्थिव तथा तैजस परमाणुओं में ही रहता है। वहां घृतत्व, त्रपुत्व आदि
द्रव्यत्वव्याप्य-व्याप्य जातियां नहीं रहती हैं। फलतः तादृशद्रवत्ववद्वृत्ति द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य
जाति केवल पृथिवीत्व अथवा तेजस्त्व ही होगी। तद्वत्त्व घृत, लाक्षा आदि पार्थिववस्तु तथा
त्रपु, सीस, सुवर्ण आदि तैजस वस्तु में जिस प्रकार रहेगा उसी प्रकार नैमित्तिकद्रवत्वशून्य
घट पट में रहेगा। अतः अव्याप्ति न होगी। इसी लिए विवृतिकारने कहा है कि यदि 'साक्षात्'
पद है तब द्रव्यत्वव्याप्यत्व को भेदघटित कहने से ही अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति न होगी[1]।
यहां विवृतिकारने 'यद्यस्ति' पद को प्रयोग कर यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि साक्षात् पद
का निवेश अत्यावश्यक नहीं है। तथा साक्षात् पद का निवेश होने पर केवल भेदविशिष्टव्याप्यत्व
ही उससे समझना है। अर्थात् साक्षात्व्याप्यत्व शब्द का तद्भिन्नत्वे सति तद्व्याप्यत्वे सति
तद्व्याप्यभिन्नत्व' रूप अर्थ यहां आवश्यक नहीं। अपितु केवल 'द्रव्यत्वभिन्नत्वे सति द्रव्यत्वव्याप्यत्व'
ही द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यत्व होने से अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष न होगा। द्रव्यत्वभिन्न
द्रव्यत्वव्याप्य जाति पृथिवीत्व, जलत्व आदि ही होंगे। घृतत्व त्रपुत्व आदि जाति यहां लक्षण का
घटक ही न होंगे यह कहा जा चुका है।

यदि संयोगासमवायिकारणकद्रवत्ववत्त्व को साधर्म्य कहते हुए 'द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य
जातिमत्त्व' को निरस्त किया जाएगा तब तादृश नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व केवल घृत, सुवर्ण आदि में
रहने से घटादि में अव्याप्ति होगी[2]। घटादि में अव्याप्तिवारणार्थ द्रव्यत्वसाक्षाद् व्याप्य-
जातिमत्त्व तक कहना आवश्यक है।

---

१. साक्षात्पदं यद्यस्ति तदा भेदेन व्याप्यत्वबोधनायातो नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति।
विवृति, पृ० १८१

२. यदि तादृशद्रवत्ववत्त्वमुच्यते तदा घटादावव्याप्तिः स्यात्। विवृति, पृ० १८१

यदि 'संयोगासमवायिकारणकत्व' का परित्याग कर केवल द्रवत्ववद्वृत्ति द्रव्यत्व साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व को साधर्म्य कहा जाएगा तब द्रवत्व शब्द से सांसिद्धिकद्रवत्व विशिष्ट जल में अतिव्याप्ति होगी[१]। इसके वारणार्थ ही संयोगासमवायिकारणकत्व को द्रवत्व में विशेषण देना आवश्यक होगा। तेजःसंयोगकारणकद्रवत्ववद्वृत्ति द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वरूप साधर्म्य में भी 'तेजःसंयोगकारणकत्व' तथा 'द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व' पदों की सार्थकता भी इसी प्रकार समझना पड़ेगा।

एवं सर्वत्र विपर्ययात् साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च वाच्यमिति[२]। एवमनेन न्यायेन साधर्म्यं यत् तदेव विपर्ययाद् व्यावृत्तेर्वैधर्म्यं, वैधर्म्यं यत् तदेव विपर्ययादनुवृत्तेः साधर्म्यम्।

अथवा साधर्म्यविपर्ययोऽप्यन्यस्मात् साधर्म्यम्। वैधर्म्य-विपर्ययोऽपि अन्यस्माद् वैधर्म्यम्। स्वयमूहित्वा वाच्यमध्यापकेन ग्राह्यं शिष्यैरिति।

[एव सर्वत्र विपर्ययात्' इत्यादि (ग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है)। इस प्रकार नियम से साधर्म्य जो (है) वही विपर्यय (अर्थात् विपरीतरूप) वशात् व्यावृत्ति (के हेतु बनकर) वैधर्म्य (होता है)। वैधर्म्य जो (है) वही विपर्यय (विपरीत होने पर) अनुवृत्ति (के कारण बनकर) साधर्म्य (होता है)। अथवा (एक के लिए) साधर्म्य का विपर्यय (वैपरीत्य) अन्य (पदार्थ के लिये) साधर्म्य (होता है) : वैधर्म्य का विपर्यय (वैपरीत्य) भी अन्य (पदार्थ के लिए) वैधर्म्य (होता है)। (इस विषय को) स्वयं अध्यापक को विचार पूर्वक कहना है (तथा) शिष्यों को (उक्त वस्तु) ग्रहण करना है]।

प्रशस्तपाद के प्रस्तुत ग्रन्थ में 'एवं सर्वत्र विपर्ययाद्' आदि ग्रन्थ से साधर्म्य तथा वैधर्म्य के विषय में कहा गया है कि जिन पदार्थों के लिए जिसको साधर्म्य कहा गया है उसी को विपर्यय अर्थात् वैपरीत्य के कारण अर्थात् अन्य पदार्थों से अपने आश्रयीभूत पदार्थों को व्यावृत्त करने के कारण ही वैधर्म्य कहा गया है वह विपर्यय के वश ही अपने आश्रयों में अनुगत होने से अपने आश्रयों के लिए वह साधर्म्य भी होगा।

---

१. यदि च द्रवत्ववद्वृत्तीत्यादिकमेव क्रियते तदा जलेऽतिव्याप्तिः स्यादित्यर्थः। विवृति, पृ० १८१

२. प्रशस्तपाद। कन्दली में मुद्रित प्रशस्तपाद में "एवं सर्वत्र साधर्म्यं विपर्ययाद् वैधर्म्यं वाच्यम्" यह पाठ है। किसी किसी पुस्तक में 'द्रव्यासङ्करे' यह अधिक पाठ भी प्राप्त है।

इस ग्रन्थ का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जिन धर्मों को साधर्म्य कहा गया है वे सब ही अपने में वैधर्म्य अर्थात् व्यावर्त्तक अथवा असाधारणधर्म भी हैं। परन्तु यह कहना सङ्गत नहीं है। क्यों कि ग्रन्थ में ज्ञेयत्व आदि धर्म को साधर्म्य कहा गया है। वह धर्म किसी पदार्थ से अपने आश्रय को व्यावृत्त कर नहीं सकता। अतः वह कदापि वैधर्म्य हो नहीं सकता है। इसी आशङ्का से किरणावलीकारने अपनी व्याख्या में 'विपर्यय' शब्द का अर्थ 'व्यावृत्ति' किया है। इससे जिन साधर्म्यों द्वारा अपने आश्रयों की व्यावृत्ति हो सकती है उन्हीं को ही वैधर्म्य कहा गया है। ज्ञेयत्व वाच्यत्व आदि साधर्म्य केवलान्वयी अर्थात् सर्वत्र सम्बद्ध होने से वह धर्म कहीं से व्यावृत्त नहीं हो सकता हैं। अतः उनको वैधर्म्य कहा नहीं गया है। वे सब साधर्म्य मात्र ही हैं। जो वैधर्म्य है वह सर्वदा वैधर्म्य ही रहेगा यह भ्रम न हो इस लिए उन्होंने कहा है कि जो वैधर्म्य है अर्थात् अन्य पदार्थ से व्यावृत्त होने से किसी किसी पदार्थ का असाधारण धर्म है वही विपर्यय अर्थात् विपरीत रीति से अपने आश्रयभूत पदार्थों में अनुवृत्त होने से उन पदार्थों का साधर्म्य भी होगा। यहां विपर्यय शब्द को अनुवृत्त अर्थ में लिया गया है।[1]

पहले जो व्याख्या की गई है उसमें पदार्थान्तर से व्यावृत्त होने के कारण जिन धर्मो को जिन जिन पदार्थों का वैधर्म्य कहा गया है उन्हीं धर्मों को पुनः अनुवृत्तिजनक होने से उन्हीं पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है। अर्थात् जिस धर्म को जिस पदार्थ का वैधर्म्य कहा गया उसीको पुनः उसी पदार्थ का साधर्म्य कहा गया। इसका अभिप्राय यह है कि एक ही धर्म एक पदार्थ की व्यावृत्ति तथा अनुवृत्ति साधक होने के कारण वैधर्म्य तथा साधर्म्य हो सकता है। परन्तु साधारण रूप से हम जिस धर्म को जिस पदार्थ का साधर्म्य समझते हैं पदार्थान्तर के लिए हो उस धर्म को वैधर्म्य समझते हैं। यह भी विचारणीय है कि प्रशस्तपाद के वाक्य में केवल एक बार ही विपर्यय शब्द आया है उस एक बार प्रयुक्त शब्द को परस्पर विरुद्ध अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति अर्थ में प्रयुक्त है कहना शब्दशास्त्र के सिद्धान्त विरोधी भी है। सम्भवतः इसी लिए किरणावली में द्वितीय प्रकार की व्याख्या की गई है। जिसमें मूलग्रन्थ के 'विपर्ययात्' यह पञ्चम्यन्त विपर्यय पदको प्रथमान्त 'विपर्ययः' के रूप से परिवर्त्तित किया गया। इस प्रकार विभक्ति का परिवर्त्तन अन्य व्याख्याताओं ने भी किया है। 'तद्विपर्ययात् निर्गन्धत्वम्'—इस अग्रिम किरणावली की पंक्ति की व्याख्या में भास्करकारने 'तद्विपर्ययः' इस अर्थ को ही स्वीकार किया है[2]। इस व्याया में 'अन्यस्मात् पद की पञ्चमी ल्यव्लोपे पञ्चमी है समझना है। अर्थात् 'अन्य को स्वीकार कर' यह अर्थ विवक्षित है[3]। द्वितीय व्याख्यानुसार प्रशस्तपाद की पंक्ति का अभिप्राय यह है कि

१. नन्वभिधेयत्वादेः साधर्म्यस्य केवलान्वयित्वान्न विपर्यय इत्यत आह व्यावृत्तेरिति। यदन्यतो व्यावृत्तं साधर्म्यं तदेव स्वाश्रयव्यावृत्तधीहेतुत्वाद् वैधर्म्यं वाच्यमतो नोक्तदोष इत्यर्थः। प्रकाश, पृ० १८१

२. तद्विपर्ययात् तद्विपयय इत्यर्थः। भास्कर, पृ० ६४

३. अन्यस्मादिति ल्यब् लोपे पञ्चमी। अन्यं प्राप्य साधर्म्यमित्यर्थः। प्रकाश पृ० १८२

कथित साधर्म्यों का विपर्यय अर्थात् अभाव अन्य (पदार्थ) के लिए साधर्म्य होगा तथा वैधर्म्य का विपर्यय भी अन्य के लिए वैधर्म्य होगा। प्रकाशकारने कहा है कि साधर्म्य का विपर्यय जिस प्रकार अन्य पदार्थ के लिए साधर्म्य होगा उसी प्रकार वह (साधर्म्य का विपर्यय) उस साधर्म्य के आश्रय के लिए वैधर्म्य भी होगा। वैधर्म्य का विपर्यय जिस प्रकार अन्य के लिए वैधर्म्य होगा उसी प्रकार अपने लिए वह साधर्म्य होगा[१]।

तद् यथा गन्धवती पृथिवी वैधर्म्यं वक्ष्यति तद्विपर्ययान्निर्गन्धत्वमबादीनां साधर्म्यम्। उक्तं जलभूम्योः साधर्म्यं गुरुत्वं रसवत्त्वञ्च तद् विपर्ययाद् इतरेभ्यो वैधर्म्यम्। विपर्ययस्तु इतरेषां तेजः प्रभृतीनां साधर्म्यम् अगुरुत्वं नीरसत्वञ्च।

[अध्यापकों द्वारा विचार पूर्वक साधर्म्य तथा उसके विपर्यय से वैधर्म्य को शिष्यों को बतलाना है तथा शिष्यों को उन साधर्म्य वैधर्म्यों को समझना है जो कहा गया है) वह जैसा 'गन्धवती पृथिवी' (आदि वैधर्म्य जो आगे कहा जाएगा उसके विपर्यय अर्थात् विपरीत रूप से 'निर्गन्धत्व' को जलादि का साधर्म्य (कहा गया)। जल तथा भूमि का साधर्म्य गुरुत्व तथा रसवत्त्व (है) कहा गया है वही विपरीत रूप से अन्य से (जल तथा भूमि का) वैधर्म्य अर्थात् असाधारण धर्म (भी है)। (वह साधर्म्य का) विपर्यय अर्थात् (गुरुत्व तथा रसवत्त्व का अभाव) अन्य तेजः आदि का साधर्म्य अगुरुत्व तथा नीरसत्व भी (है)।]

"एवं सर्वत्र विपर्ययात् साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च वाच्यम्" इस ग्रन्थ की व्याख्या किरणावलीकारने दो प्रकार से की है। जिनमें कुल चार प्रकार कहे गये हैं। (१) जो साधर्म्य है अन्य पदार्थ की दृष्टि से वही व्यावृत्तिजनक भी होने से वैधर्म्य भी है। (२) जो वैधर्म्य (अर्थात् असाधारण धर्म है वही अन्य दृष्टि से समान धर्मियों में अनुवृत्त होने से साधर्म्य भी है। (३) साधर्म्य का विपर्यय अर्थात् अभाव अपने आश्रय अन्य वस्तुओं का साधर्म्य है। (४) वैधर्म्य का विपर्यय अर्थात् अभाव अन्य वस्तुओं का साधर्म्य होते हुए अपना वैधर्म्य है। यहां किस रीति से साधर्म्य तथा वैधर्म्य से विपर्ययवश वही धर्म वैधर्म्य तथा साधर्म्य होता है इसका उदाहरण दिया गया है। प्रथम उदाहरण उक्त चार कल्प के द्वितीय का अर्थात् जो जिसका वैधर्म्य (असाधारण धर्म) है वह अपने आश्रयों में अनुवृत्त होने से साधर्म्य भी है। गन्धवत्त्व पृथिवी का वैधर्म्य अर्थात् इतरव्यावर्त्तक असाधारण धर्म होने पर भी समस्त पार्थिव वस्तुओं में अनुवृत्त रहने के कारण इतरव्यावर्त्तक होने के साथ ही साधर्म्य भी है। वैधर्म्य शब्द विरुद्ध धर्म तथा इतरव्यावर्त्तक

---

१. साधर्म्यविपर्ययोऽप्यन्यस्मात् साधर्म्यमित्यत्र वैधर्म्यञ्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। प्रकाश, पृ० १८२

असाधारण धर्म यह दो अर्थ से यहां प्रयुक्त हुआ हैं। यहां गन्धवत्त्व पृथिवीं का विरुद्ध धर्म नहीं परन्तु असाधारण धर्म है। वह पृथिवी को जलादि से व्यावृत्त करता है। तथा समस्त पृथिवी में स्वयं अनुवृत्त भी है।

इस साधर्म्य प्रकरण के आरम्भ में अस्तित्व आदि को प्रशस्तपाद ने षट्पदार्थों का साधर्म्य कहा है। तथा आगे चलकर "एवं सर्वत्र विपर्ययात् साधर्म्यं वैधर्म्यंञ्च वाच्यम्" भी कहा। अग्रिम प्रकरण में "इहेदानीमेकैकशो वैधर्म्यमुच्यते पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी" कहने से फलतः वैधर्म्य शब्द का विरुद्धधर्म तथा असाधारणधर्म दोनों अर्थ प्रशस्तपाद सम्मत है।

द्वितीय उदाहरण 'निर्गन्धत्व' है। यह पूर्वोक्त चार कल्प के चतुर्थ का उदाहरण है। इस कल्प में वैधर्म्य अर्थात् असाधारण धर्म का विपर्यय अर्थात् अभाव भी अन्य वस्तु का साधर्म्य होता है। इसका उदाहरण 'गन्धवत्त्व' जल आदि का वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्म है। उसके विपर्यय अर्थात् अभाव (निर्गन्धत्वरूप) जलादि का साधर्म्य तथा पृथिवी का वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्म है।[1] हमने प्रकाशकार के अनुसार विवरण दिया है। परन्तु किरणावली से इसका सामञ्जस्य नहीं है। क्योंकि प्रकाशकारने यहां वैधर्म्य का अर्थ विरुद्ध धर्म करके निर्गन्धत्व को पृथिवी का वैधर्म्य स्वीकार किया है। तथा उसी निर्गन्धत्व को पृथिवी से इतर जलादि का साधर्म्य ही कहा है। किरणावली में इस कल्प में वैधर्म्य का विपर्यय अर्थात् अभाव अन्य वस्तु के लिए वैधर्म्य ही कहा है। अर्थात् पृथिवी का वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) निर्गन्धत्व का विपर्यय अर्थात् अभाव गन्धवत्त्व को जलादि का वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्म कहना आवश्यक है। प्रकाशकारने इस में "वैधर्म्यविपर्ययोऽप्यन्यस्माद् वैधर्म्यम्" कल्प में वैधर्म्य के साथ साधर्म्य को भी जोड़कर 'वैधर्म्य विपर्ययोऽप्यन्यस्माद् वैधर्म्यं साधर्म्यमित्यपि द्रष्टव्यम्' कहा है। इसकी सङ्गति करना दुष्कर है। मूल का जो वक्तव्य नहीं व्याख्याकारने उसकी योजना करने पर भी मूलकारके उदाहरण में वह अर्थ विवक्षित न होना स्वाभाविक है। प्रकाशकार द्वारा योजित अंश के उदाहरण के रूप में भी हम प्रस्तुत उदाहरण को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि योजित अंश के साथ मूलग्रन्थ का अर्थ होगा कि वैधर्म्य का विपर्यय अन्य वस्तु के किए वैधर्म्य तथा साधर्म्य दोनों होगा। ऐसा होने पर पृथिवी का वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) रूप से यदि निर्गन्धत्व को लिया जाएगा तब उसका अभाव गन्धवत्त्वको अन्य जलादि का साधर्म्य भी कहना पड़ेगा। यह सम्भव नहीं है। गन्धवत्त्व कभी जलादि का साधर्म्य नहीं हो सकता है। हमने जो विवृति दी है उससे द्वितीय प्रकार व्याख्या के द्वितीय कल्प के साथ प्रस्तुत उदाहरण की व्याख्या सामञ्जस्य पूर्ण होने पर भी मूलग्रन्थ के पाठ के साथ उसका सामञ्जस्य नहीं है। क्योंकि मूलग्रन्थ में उक्त उदाहरण में साधर्म्य पद ही प्रयुक्त है वैधर्म्य पद नहीं। गत्यन्तर न रहने से हमने साधर्म्य के स्थान में वैधर्म्यकी योजना कर व्याख्या किया है। मूल ग्रन्थ में साधर्म्य पद का भी समावेश होना आवश्यक

१. विपर्ययात् पृथिवीतो व्यावृतः। तदपेक्षया वैधर्म्यमेव निर्गन्धत्वं जलादीनां साधर्म्यमित्यर्थः। प्रकाश पृ० १८२

है। अन्यथा प्रथम व्याख्या के द्वितीय कल्प के उदाहरण में 'तद्विपर्ययात्' आदि ग्रन्थ का उपन्यास नहीं हो सकता है। क्योंकि उस कल्प में वैधर्म्य अर्थात् असाधारण धर्म को अपने लिए साधर्म्य कहा गया है। अतः साधर्म्यपद का प्रयोग न रहने से वह ग्रन्थ कभी उस कल्प के उदाहरण के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकता है। हमने मूल के पाठ को विना संशोधन के ही स्वीकार किया है। क्योंकि पाठ का संशोधन करने में प्राप्त पाठ के साथ संशोधित पाठ का बहुत ही वैषम्य हो जाता है। मुद्रित तथा हस्त लिखित पुस्तकों में भी हमें पाठ का वैषम्य प्राप्त नहीं हुआ है[१]।

"उक्तं जलभूम्योः साधर्म्यम्" आदि ग्रन्थ से प्रथम व्याख्या के प्रथम कल्प का उदाहरण दिया गया है। जो धर्म जिस पदार्थ का साधर्म्य कहा गया है उसी धर्म को उस पदार्थ का वैधर्म्य अर्थात् व्यावर्त्तक असाधारण धर्म भी इस कल्प में कहा गया है। यहाँ वैधर्म्य शब्द विरुद्ध धर्म नहीं अपितु व्यावर्त्तक असाधारण धर्म ही समझना है यह कहा जा चुका है। अतः इस कल्प के उदाहरण के रूप में उपस्थापित ग्रन्थ का तात्पर्य निम्नलिखित रूप होगा। गुरुत्व तथा रसवत्त्व को जल तथा पृथिवी का साधर्म्य प्रशस्तपादने कहा है। जल तथा पृथिवी का वह साधर्म्य ही पुनः उनके लिए वैधर्म्य अर्थात् व्यावर्त्तक धर्म भी होगा। क्योंकि गुरुत्व तथा रसवत्त्व जल तथा पृथिवी से भिन्न अन्यपदार्थों से व्यावृत्त होने के कारण वह दोनों धर्म जल तथा पृथिवी का वैधर्म्य अर्थात् असाधारण (व्यावर्त्तक) धर्म भी होगा। प्रकाशकार ने इस ग्रन्थ का तात्पर्य भिन्न रूप से व्यक्त किया है। उन्होंने प्रथम व्याख्या के प्रथम कल्प के वैधर्म्यपद को विरुद्धधर्म अर्थ में लेकर कहा है कि जल तथा पृथिवी के समानधर्म जो गुरुत्व तथा रसवत्त्व है वह जल तथा पृथिवी से भिन्न अन्यपदार्थों से व्यावृत्त होने के कारण अन्य सब पदार्थों का वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म होगा। परन्तु यह व्याख्या समीचीन नहीं है। क्योंकि प्रथम व्याख्या में वह वैधर्म्यपद विरुद्धधर्म अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। परन्तु असाधारणधर्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह स्पष्टतया ग्रन्थकार के 'गन्धवती पृथिवीति वैधर्म्यं वक्ष्यति' इस वाक्य से प्रतीत होता है। यदि गन्धवत्त्व पृथिवी का वैधर्म्य है तो वह पृथिवी का विरुद्धधर्म नहीं हो सकेगा। वह वैधर्म्यशब्द निश्चित रूप से पृथिवी को अन्य पदार्थों से व्यावर्त्तन करने वाला असाधारणधर्म रूप वैधर्म्य है इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है। विशेषतया उदयनाचार्य ने जिसको जिसका साधर्म्य कहा है उसको अन्यवस्तु के लिए वैधर्म्य, अथवा जिसको जिसका वैधर्म्य कहा उसको अन्यवस्तु के लिए साधर्म्य नहीं कहा है। अन्य वस्तु के लिए साधर्म्य-वैधर्म्य की बात उन्होंने "अथवा·······" आदि ग्रन्थ के द्वारा द्वितीय व्याख्या में ही उपस्थित किया है। अतः प्रथम व्याख्या में जो जिसका साधर्म्य है वह अन्यवस्तु के लिए साधर्म्य होगा यह कहा नहीं गया है यही हम समझते हैं।

द्वितीय व्याख्या के प्रथम कल्प के उदाहरण के रूप में 'विपर्ययस्त्वितरेषां·······" आदि ग्रन्थ है। जलादि के साधर्म्य गुरुत्व तथा रसवत्त्व ही विपर्यय अर्थात् अभाव के रूप में अर्थात्

---

१. 'तद् विपर्ययात् (पृथिव्यादीनां साधर्म्यं); निर्गन्धत्वमबादीनां वैधर्म्यम्' इस प्रकार पाठ होना समीचीन प्रतीत होता है।

गुरुत्वाभाव तथा रसवत्त्वाभाव के रूप में जल तथा पृथिवी से भिन्न तेजः प्रभृति पदार्थों का साधर्म्य समझना होगा[1]।

प्रशस्तपाद के प्रस्तुत ग्रन्थ की व्याख्या में सूक्तिकारने कहा है कि समस्त लक्ष्य स्थलों के लिए ही यह समझना होगा कि जो साधर्म्य है वही लक्ष्य भिन्न वस्तु से व्यावृत्त होने से वैधर्म्य (भी) है। किसका वह वैधर्म्य होगा यह वर्णन करते हुए उन्होने कहा है कि जो जिसका साधर्म्य है वही उसका वैधर्म्य होगा यह नहीं। परन्तु वह जिससे व्यावृत्त होगा उसका वैधर्म्य होगा[2]। इस व्याख्या से हमारी व्याख्या का सामञ्जस्य नहीं है। क्योंकि हमने जो जिसका साधर्म्य है कहा है वह धर्म उसी का वैधर्म्य है भी कहा है। इस प्रकार कहने का कारण भी यथास्थान हमने कहा है।

प्रस्तुत स्थल की व्याख्या में व्योमवतीकारने कहा है कि सर्वत्र जो साधर्म्य है वही पदार्थान्तर से व्यावृत्त होने से वैधर्म्य भी है। 'सर्वत्र' शब्द प्रयोग का अभिप्राय यह है कि जो जिसका साधर्म्य है वही उस पदार्थ का वैधर्म्य अर्थात् व्यावर्त्तकधर्म भी है। उन्होंने यह भी कहा है कि "एवं सर्वत्र ...." आदि ग्रन्थ की व्याख्या यह भी हो सकता है कि 'एवं सर्वत्र साधर्म्यम्' पंक्ति का अर्थ 'इस प्रकार से साधर्म्यों की व्याख्या हमने (प्रशस्तपादने) किया है। इस प्रकार पूर्वप्रकरण की समाप्ति (उपसंहार) कर प्रशस्तपादने "विपर्ययाद् वैधर्म्यं वक्ष्यमाणम्" यह अग्रिम ग्रन्थ की सूचना किया है। फलतः यह वैधर्म्यपद विशेषधर्म अर्थात् व्यावर्त्तकधर्म का ही बोधक है। व्योमवतीकारकी सम्मति से भी साधर्म्य भी विशेषधर्म होने के कारण वैधर्म्य भी है यही प्रतीत होता है[3]।

प्रशस्तपाद के वैधर्म्य तथा विपर्यय यह दो शब्दों के प्रयोग ही इस प्रकार हुआ है जिससे व्याख्याकारों में अनेक प्रकार की कल्पना का उदय होना स्वाभाविक हो गया है। वैधर्म्य शब्द को साक्षात् रूप से विरुद्धधर्म अर्थ में प्रशस्तपादने प्रयोग नहीं किया है। साधर्म्यों के वर्णन में उन्होंने पदार्थों के एक एक समूह बनाकर उस समूह के अन्तर्गत सभी पदार्थों में अनुवृत्त धर्म को उन पदार्थों का साधर्म्य कहा है। इसी प्रकार द्रव्यों के भी एक एक समूह का साधर्म्य

---

१. गुरुत्वादेरुक्तसाधर्म्यस्य विपर्ययो यद् अगुरुत्वादिकं तदेवेतरेषां जलभूम्यपेक्षया वैधर्म्यं वाच्यमित्यर्थः। प्रकाश पृ० १८२-३

२. उक्तक्रमेण सर्वत्र लक्ष्येषु यत् साधर्म्यं तदेव विपर्ययाल्लक्ष्येतरव्यावृत्तत्वाद् वैधर्म्यं वैधर्म्यमपि बोध्यम्। न तु यद् यस्य साधर्म्यं तदेव तस्य वैधर्म्यतया ग्राह्यमित्यर्थः। सूक्ति, पृ० १६८

३. यदेतद् व्याख्यातं मया साधर्म्यं तदेव सर्वत्र विपर्ययाद् व्यावृत्तं भेदान्तराद् वैधर्म्यं वाच्यमिति। यद् वा साधर्म्यं व्याख्यातमित्युपसंहारः। विपर्ययाद् वैधर्म्यं वक्ष्यमाण-मित्यनागतार्थसूचनमिति। व्योम. पृ० १७०

अर्थात् अनुवृत्त धर्म का ही वर्णन किया गया है। इससे अनुवृत्त धर्म ही साधर्म्यरूप से प्रशस्तपाद का अभीष्ट रहा यह समझा जा सकता है। कथित साधर्म्यों की अतिव्याप्ति जहाँ होती है यदि उन पदार्थों के लिए वह कथित साधर्म्य ही वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म है यह अभीष्ट होता तब प्रशस्तपाद के लिए इस सिद्धान्त का उल्लेख करना भी आवश्यक था। परन्तु उन्होंने कुत्रापि यह नहीं कहा है। प्रत्युत उन्होंने इस साधर्म्य प्रकरण की समाप्ति के पश्चात् "इहेदानीं एकैकशो वैधर्म्यमुच्यते" कहकर स्पष्टतया एक एक द्रव्य को लेकर उनके व्यावर्त्तक धर्म को वैधर्म्य घोषित कर दिया है। फलतः वैधर्म्य शब्द का विरुद्धधर्म रूप अर्थ उनका अभीष्ट था यह प्रमाणित नहीं होता है। समानधर्मों के अलक्ष्यवस्तु के लिए यदि वह समानधर्म वैधर्म्य होता तो प्रस्तुत प्रकरण की समाप्ति के पश्चात् पृथक् रूप से वैधर्म्यों को प्रदर्शन करना अनावश्यक ही रहा। उस स्थिति में "इहेदानीमेकैकशो (पृथिव्यादीनां) वैधर्म्यमुच्यते" कहना कुछ दूर तक स्वविरोधी भी होता। परवर्त्तीकाल के सिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थों में "समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः, विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः" इत्यादि रूप से साधर्म्य तथा वैधर्म्य को एक दूसरे का विरोधी रूप से ही कहा गया है। वहाँ विलक्षणधर्म अर्थ से वैधर्म्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। प्रशस्तपाद के सभी व्याख्याताओं के मन में वैधर्म्य शब्द का विरुद्धधर्म तथा विलक्षण (व्यावर्त्तक) धर्म रूप अर्थ युगपत् उपस्थित रहने के कारण "एवं सर्वत्र ..." आदि पंक्तिओं की व्याख्या में अनेक प्रकार कल्पों का उदय हुआ है।

केवल ज्ञेयत्व आदि षट् पदार्थ के साधर्म्यों को छोड़कर शेष सभी साधर्म्य तत्तत् पदार्थ समूह अथवा तत्तत् द्रव्यसमूहों का वैधर्म्य भी कहा जा सकता है। इसीलिए प्रशस्तपादने अव्यवहित परवर्त्ती पंक्तियों में "इहेदानीमेकैकशः ......" कहा है। अर्थात् अब तक हमने एक एक समूह का साधर्म्य अर्थतः वैधर्म्य कहा है अब एक एक का वैधर्म्य कहेंगे यही 'एकैकशः' पद का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस स्थिति में 'वैधर्म्य' शब्द का विरुद्धधर्म अर्थ को भी मनोगत रखने पर—

(१) जो जिस पदार्थसमूह का साधर्म्य कहा गया है वही अन्य पदार्थ या पदार्थसमूह से उस पदार्थ अथवा पदार्थसमूह की व्यावृत्ति में समर्थ होने से उक्त पदार्थ अथवा पदार्थसमूह का वैधर्म्य अर्थात् विलक्षण धर्म भी है। फलतः जो जिसका साधर्म्य है वही उसका वैधर्म्य भी हुआ।

(२) जो 'गन्धवत्त्व' पृथिवी का वैधर्म्य कहा गया है वही वैधर्म्य नाना प्रकार पार्थिव-वस्तुओं में अनुवृत्त धर्म होने से पृथिवी का साधर्म्य है। फलतः जो जिसका वैधर्म्य है वही उसका साधर्म्य भी हुआ।

(३) जो धर्म जिस पदार्थ समूह का साधर्म्य है वह धर्म उस समूह के अन्तर्गत नहीं ऐसे पदार्थों का वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) है। फलतः साधर्म्य ही विपर्यय से अर्थात् अन्य पदार्थों से व्यावृत्त होकर वैधर्म्य हुआ। जो साधर्म्य है वही अन्य के लिए वैधर्म्य हुआ।

(४) जो 'गन्धवत्त्व' जलादि का वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) है वह गन्धवत्त्व ही पृथिवी भिन्न सब पदार्थों से व्यावृत्त होने के कारण अपने अभाव के रूप में पृथिवी भिन्न सब पदार्थों में अनुवृत्त भी होने से गन्धवत्त्व का विपर्यय उन पदार्थों का साधर्म्य हैं। अर्थतः वह साधर्म्य भी उन पदार्थों का वैधर्म्य अर्थात् विलक्षण धर्म भी हैं। यही किरणावलीकारके "वैधर्म्यविपर्ययोऽप्यन्यस्माद् वैधर्म्य" इस वाक्य का अभिप्राय प्रतीत होता है। फलतः वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म का विपर्यय भी वैधर्म्य अर्थात् व्यावर्त्तकधर्म हो सकता है।

विपर्यय शब्द भी स्पष्टतया दो अर्थ में व्याख्याताओं ने ग्रहण किया है। प्रशस्तपादने सम्भवतः 'प्रकारान्तर' अर्थ में ही विपर्यय शब्द का प्रयोग किया होगा। यह अनुमान हम उनकी अग्रिम पंक्ति के 'एकैकशः' पद के प्रयोग से कर सकते हैं। इस प्रकार अनुमान का समर्थन व्योमवतीकारकी पृ० ३९५ की टि० ३ उक्ति से भी मिलता है। हम कह चुके हैं कि अब तक पदार्थों का सामूहिक रूप से साधर्म्य कहा गया है इदानीं एक एक का वैधर्म्य कहा जा रहा है यही अग्रिम पंक्ति का भावार्थ है।

एवमात्मानं विहाय परार्थत्वम् अचेतनत्वम्। मनो विहाय अनन्तःकरणत्वम् अनणुकरणत्वञ्च। अम्भो विहाय निःस्नेहत्वम् अक्लेदत्वञ्च। तेजो विहाय अनुष्णत्वम् अदाहकत्वञ्च। जलज्योतिरनिलानाम् अपाकजस्पर्शवत्त्वम्। जलज्योतिषोः अपाकजरूपवत्त्वम्। दिक्कालमनसां वैशेषिकगुणविरहः। वाय्वाकाशदिक्कालमनसाम् अतीन्द्रियत्वम्। आत्ममनसोः शरीरावच्छेदेनैव वृत्तिलाभः। वाय्वादीनां नीरूपत्वम्। आकाशादीनां स्पर्शशून्यत्वम्। कालादीनाम् अभूतत्वम् इत्यादि।

[इसी प्रकार से आत्मा को छोड़कर शेष (द्रव्यों) का (साधर्म्य) परार्थत्व तथा अचेतनत्व (है)। मन को छोड़कर शेष (द्रव्यों) का अनन्तःकरणता (अन्तःकरणत्वाभाववत्त्व) तथा अनणुकरणत्व (अणुकरणत्त्वाभाववत्त्व) भी (साधर्म्य है)। जल को छोड़कर शेष का निःस्नेहत्व तथा अक्लेदत्व भी। तेज को छोड़कर शेष का अनुष्णत्व तथा अदाहकत्व भी। जल तेज तथा वायु का अपाकजस्पर्शवत्त्व। जल तथा तेज का अपाकजरूपवत्त्व। दिक्, काल तथा मन का वैशेषिक (विशेष) गुणशून्यत्व। वायु, आकाश, दिक्, काल तथा मन का अतीन्द्रियत्व। आत्मा तथा मन का शरीरावच्छेदेन वृत्तिलाभ (अर्थात् भोगजनकत्व)। वायु आदि (द्रव्यों) की नीरूपता। आकाशादि (द्रव्यों का स्पर्शभाव। काल आदि (द्रव्यों) का भूतत्वाभाव आदि (साधर्म्य है)।]

पहले उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद द्वारा प्रदर्शित साधर्म्यों के अतिरिक्त अन्य साधर्म्यों की कल्पना विचारपूर्वक करने के लिए अध्यापकों को कहा है। उसी के उदाहरण रूप से प्रस्तुत साधर्म्य कहे गये हैं। यहाँ प्रदर्शित साधर्म्य प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं है। परन्तु पदार्थों का विचार करने से स्वतः प्राप्त हो जाता है।

परार्थता तथा अचेतनता आत्मभिन्न द्रव्यों का साधर्म्य है। यहां परार्थता परप्रयोजनत्व अथवा परप्रयोजनहेतुता यह दो अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। परन्तु परप्रयोजनत्वरूप अर्थ कालादि में अव्याप्त होगा। तथा परप्रयोजनहेतुत्वरूप अर्थ आत्मा में अतिव्याप्त होगा। क्योंकि आत्मभिन्नद्रव्य होते हुए काल स्वयं किसी का प्रयोजन अर्थात् भोग नहीं है। अतः वह 'परार्थत्व' विशिष्ट न हुआ। यदि परार्थत्व का अर्थ परप्रयोजन का हेतुत्व हो तब काल में अव्याप्ति का वारण हो जाता है। क्योंकि काल स्वयं किसी का प्रयोजन अर्थात् भोग का विषय न होने पर भी वह अपर के प्रयोजन अर्थात् भोग के हेतु होता है। काल भोग्यविषय मात्र की उत्पत्ति में निमित्तकारण है यह वैशेषिक सिद्धान्त इससे पूर्व कहा गया है। परन्तु परप्रयोजनहेतुत्वरूप परार्थत्व को साधर्म्य कहने पर आत्मा में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि कुलाल, तन्तुवाय आदि शिल्पिओं की आत्मा दूसरे का प्रयोजन (भोग्य) घट आदि की उत्पत्ति द्वारा भोग में हेतु होता है। तथा स्वयं अपने भोग अर्थात् सुख अथवा दुःख के प्रत्यक्ष में भी आत्मा समवायी कारण ही है[1]। इसीलिए यहाँ भोगानधिकरणत्व अर्थात् भोगासमवायित्व ही परार्थत्व होगा[2]।

आत्माओं को छोडकर शेष सब ही पदार्थ अचेतन होते हैं। इस लिए उनमें सुख अथवा दुःख के साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्षानुभवरूप भोग का समवायित्व रहता नहीं है। अतः भोगा समवायित्वरूप परार्थत्व की अव्याप्ति आत्मेतर पदार्थों में न होगी। यदि जीवात्माओं के तुल्य ही परमात्माको भी आत्माओं में ग्रहण किया जाय तो परमात्मा में अपना सुख अथवा दुःख नहीं है अतः परमात्मा में भोग अर्थात् स्वीय सुखदुःखसाक्षात्कार न रहने के कारण उक्त प्रकार परार्थत्व परमात्मा में होने से अव्याप्ति होगी। इसके समाधान में कहा जा सकता है कि परमात्मा में अपना सुख अथवा दुःख न होने पर भी जीवात्माओं में जो सुखदुःखसाक्षात्कार हो रहा है उसका ज्ञान है। परमात्मा सर्वविषयक ज्ञानवान् कहे जाते हैं। अतः सर्वज्ञता के कारण ही उनमें जीवात्मगत सुख दुःख का ज्ञान है। अतः स्वीय सुख-दुःख साक्षात्कारासमवायित्व के स्थान पर केवल सुख-दुःखसाक्षात्कार को ही भोग कहने से यह अव्याप्ति न होगी। फलतः सुख-दुःख-साक्षात्कारात्मक भोग के अधिकरणत्व का अभाव ही परार्थत्व होगा। कोई कोई भोगाधिकरणत्व

---

१. ननु परार्थत्वं परप्रयोजनत्वं यदि तदा कालादावव्याप्तिः। परप्रयोजनहेतुत्वञ्चेत् तदा आत्मन्यतिव्याप्तिरित्यन्यथा व्याचष्टे। विवृति, पृ० १८३

२. परार्थत्वं भोगानधिकरणत्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १८३

समानाधिकरण द्रव्यत्वव्याप्यजातिशून्यत्व को ही परार्थत्व कहते हैं। इससे स्वीय सुख-दुःख-साक्षात्कार ही भोग है। भोग परमात्मा में न होने पर भी स्वीय सुखदुःखसाक्षात्काराधिकरणता जो जीवात्माओं में है तत्समानाधिकरण जो द्रव्यत्वव्याप्य आत्मत्व जाति है वह परमात्मा में भी है अतः तादृश जातिशून्यता न रहने से परमात्मा में अव्याप्ति न होगी।

मन को छोड़कर शेष पदार्थों का अनन्तःकरणत्व अनणुकरणत्व भी साधर्म्य हो सकेगा। मन को अन्तःकरण तथा अणुकरण कहा जाता है। अन्य कोई भी वस्तु अन्तःकरण अथवा अणुकरण अर्थात् अणुपरिमाणविशिष्ट करण नहीं होता है। करण शब्द यहाँ ज्ञान का करण का बोधक है। अर्थात् ज्ञान में जो वाह्य तथा महत् परिमाणविशिष्ट चक्षु आदि इन्द्रियरूप करण हैं मन उनसे भिन्न अन्तः तथा अणुपरिमाण का ज्ञानकरण है। तद्भिन्नत्व स्वभावतः सब पदार्थ में होगा। आत्मग्राहक इन्द्रियभिन्न जो द्रव्यत्व है वही अनन्तःकरणत्व है। फलतः अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं है।

जलभिन्न पदार्थों का निःस्नेहत्व तथा अक्लेदत्व भी साधर्म्य हो सकेगा। निःस्नेहत्व का अर्थ स्नेहगुण का अभाव है। स्नेह नाम का गुण केवल जल में ही होता है आगे कहा जाएगा। अतः स्नेहाभाव जलभिन्न पदार्थ का साधर्म्य होने में बाधा नहीं है। अक्लेदत्व अर्थात् क्लेदाभाव। प्रकाशकारने सांसिद्धिकद्रवत्वशून्य द्रव्यत्व को अक्लेदत्व कहा है[1]।

इसी प्रकार तेज को छोडकर शेष पदार्थों का अनुष्णत्व तथा अदाहकत्व साधर्म्य हो सकेगा। उष्णस्पर्श का अभाव ही अनुष्णत्व है। दाह अर्थात् अवयवविभागानुकूल तेजःसंयोग है।

जल, तेज तथा वायु का अपाकजस्पर्शवत्त्व साधर्म्य हो सकता है। पृथिवी में ही पाक अर्थात् तेजःसंयोग से स्पर्श का परिवर्त्तन होता है। पृथिवी के रूप, रस, गन्ध तथा अनुष्णाशीतस्पर्श को पाकज कहा जाता है। अर्थात् पृथिवी का अनुभूत स्पर्श तेजःसंयोग रूप पाक से उत्पन्न है। इससे यह सन्देह हो सकता है कि पार्थिव परमाणुओं में मूलतः रूपरसादि रहते हैं या नहीं। क्योंकि पार्थिव वस्तुओं के रूपरसादि पाक से उत्पन्न वस्तु हैं। परन्तु पाकज शब्द का अर्थ तेजःसंयोगनाश्यत्वे सति तादृश तेजःसंयोगोत्पाद्यत्व है। फलतः पार्थिव परमाणुओं में मूलतः जो रूपरसादि रहा उसका परिवर्त्तन अर्थात् पूर्वका नाश तथा अपर की उत्पत्ति तेजःसंयोग से होता है। तथापि यह सन्देह रहता है कि पार्थिव परमाणुओं में तेजःसंयोग से पूर्व जो रूपादि थे वे उत्पन्न यदि न हुए तो अनुत्पन्न भाववस्तु होने से उनका नाश भी सम्भव न होगा। यदि उत्पन्न हुए तो उन रूपादि की उत्पत्ति में कारण क्या होगा? इसके समाधानार्थ विशेषज्ञ पाठक विचार कर सकते हैं।

जल तथा तेज का अपाकजरूपवत्त्व साधर्म्य कहा जा सकता है। जल तथा तेज में तेजःसंयोग से रूप का परिवर्त्तन नहीं होता है। दिक्, काल तथा मन का विशेषगुणशून्यता साधर्म्य है कहा जा सकता है।

---

१. अक्लेदत्वमिति सांसिद्धिकद्रवत्वविरहिद्रव्यत्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १८३

वायु, आकाश, दिक्, काल तथा मन इन पांच द्रव्यों का अतीन्द्रियत्व साधर्म्य हो सकेगा। इनमें किसी का भी बाह्य अथवा अन्तरेन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतीन्द्रियत्व की अव्याप्ति की सम्भावना न होने पर भी पृथिवी, जल तथा तेज:परमाणु भी अतीन्द्रिय होने से यथाश्रुत रूप में अतीन्द्रियत्व की अतिव्याप्ति उक्त पृथिव्यादि के परमाणुओं में होगी। इसलिए प्रकाशकारने प्रत्यक्ष द्रव्यों में न रहने वाली द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व को अतीन्द्रियत्व कहा है[१]। पृथिवी, जल, तथा तेज यह तीन ही प्रत्यक्षद्रव्य हैं। इन प्रत्यक्ष द्रव्यों में न रहने वाली द्रव्यत्व का साक्षाद्व्याप्यजाति वायुत्व, आत्मत्व तथा मनस्त्व ही है। परन्तु आकाश, काल तथा दिक् एक एक व्याप्ति होने से आकाशत्व, कालत्व तथा दिक्त्व जाति नहीं। फलतः प्रत्यक्ष द्रव्य में न रहने वाली द्रव्यत्व साक्षाद्व्याप्यजाति केवल वायुत्व तथा मनस्त्व होने से यह अतीन्द्रियत्व का लक्षण पृथिवी जल तथा तेजः परमाणुओं के प्रत्यक्षद्रव्य में न रहने वाली द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति शून्य होने के कारण अव्याप्त न होगा। परन्तु प्रत्यक्षद्रव्य में अवृत्ति द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति आकाश, काल तथा दिक् में भी न रहने से उन अतीन्द्रिय द्रव्यों में अतीन्द्रियत्व का यह लक्षण अव्याप्त होगा। इस लिए विवृतिकारने 'साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व' के स्थान पर 'द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व' को अर्थात् प्रत्यक्षद्रव्यावृत्ति द्रव्यविभाजकोपाधिमत्व' को अर्थात् प्रत्यक्षद्रव्यावृत्ति द्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व ही अतीन्द्रियत्व कहा है[२]। फलतः प्रत्यक्षद्रव्य में अवृति द्रव्यविभाजकोपाधि वायुत्व, आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व तथा मनस्त्व होने से आकाश आदि में अव्याप्ति न होगी। इस निर्वचन में 'द्रव्य' पद अर्थात् 'प्रत्यक्षद्रव्यावृत्ति' में द्रव्यपद की सार्थकता नहीं है। केवल 'प्रत्यक्षावृत्ति' कहने से ही अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नहीं होती है। अतः द्रव्यपद को भी विवृतिकारने परित्याग किया है[३]। फलतः प्रत्यक्षावृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्व ही अतीन्द्रियत्व हुआ। वह उक्त पाँच द्रव्य का साधर्म्य है।

आत्मा तथा मन का शरीरावच्छेदेन वृत्तिलाभ को साधर्म्य कहा जा सकेगा। शरीरावच्छेद शब्द से शरीर से विलक्षणसंयोग समझना है। वृत्तिलाभ शब्द से भोगजनकत्व समझा जाय। भोग का असमवायिकारणत्व ही भोगजनकता है। प्रकाशकार के इस व्याख्या से साधर्म्य का स्वरूप होगा शरीरसंयोगविशेषावच्छिन्न भोगासमवायिकारणता। परन्तु तादृश असमवायिकारणता मन अथवा आत्मा में नहीं रहता है। इसलिए तादृश भोगासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्व को ही साधर्म्य का स्वरूप कहना पड़ेगा[४]। शरीरावच्छेदेन आत्ममनः

---

१. प्रत्यक्षद्रव्यावृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १८३

२. अत्र द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिपदं द्रव्यसाक्षाद्विभाजकोपाधिपरम्। विवृति, पृ० १८४

३. प्रत्यक्षावृत्तीत्येव विवक्षितम्। विवृति पृ० १८४

४. भोगासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १८४

संयोग ही सुखदुःख आदि समस्त साक्षात्कार (अनुभव) का असमवायिकारण है। यह संयोग आत्मा तथा मन दोनों में रहता है। अतः अव्याप्ति न होगी। यहाँ विचारणीय है कि कार्य के साथ समानाधिकरण अथवा कारण के साथ समानाधिकरण होने से ही समवायिकारण में अवस्थित कारण को असमवायिकारण कहा जाता है। इससे शरीरावच्छेदेन आत्ममनः संयोग के समान ही शरीरात्मसंयोग भी भोग का असमवायिकारण हो सकता है। फलतः शरीरात्मसंयोग का आश्रय आत्मा तथा शरीर दोनों होते हैं। इससे 'भोगासमवायिकारण संयोगाश्रयत्व' रूप साधर्म्य शरीर में अतिव्याप्त होगा। शरीरात्मसंयोग को ज्ञान में निमित्तकारण न मानने से अतिव्याप्ति की सम्भावना के कारण ही प्रकाशकारने द्वितीय प्रकार से इस साधर्म्य का निर्वचन में निरवयव होते हुए ज्ञान के हेतुभूत शरीरसंयोगाश्रयत्व को साधर्म्य कहा है[1]। अब सुख-दुःख का ज्ञानरूप भोग के हेतुभूत होने पर भी शरीरात्मसंयोग के आश्रय शरीर के निरवयव न होने से उक्त अतिव्याप्ति न होगी। तथा आत्ममनःसंयोगरूप ज्ञान के हेतुभूत शरीरावच्छिन्न संयोग का निरवयव आश्रय होने से मन तथा आत्मा में लक्षण समन्वित हुआ।



१. निरवयवत्वे सति ज्ञानहेतुशरीरसंयोगवत्त्वमित्यर्थः। प्रकाश, पृ० १८४

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्याभिनवप्रकाशनानि

क्रमसंख्या	ग्रन्थनाम		मूल्यम्
१.	शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता—	[उत्तरविंशतिः] संहितेयं सायणभाष्यसहिता प्रकाशिता । सम्पादकः—श्रीचिन्तामणिमिश्रशर्मा—	२२-००
२.	वाक्यपदीयम्—	[तृतीयकाण्डस्य द्वितीयो भागः] ग्रन्थरत्नमिदं हेलाराजप्रणीतया प्रकाशव्याख्यया तथा च प० रघुनाथशर्मविरचितया 'अम्बाकर्त्री' टीकया च विभूष्य प्रकाशितम्—	१०७-००
३.	महाभाष्यनिगूढाकूतयः—	अनुसन्धानप्रबन्धोऽयं नूनम् आनुसन्धानिकफलश्रुतिभिः समेधितो वर्तते । लेखकः सम्पादकश्च—डॉ० देवस्वरूपमिश्रः—	२६-८०
४.	व्याकरणदर्शनप्रतिमा—	आचार्यरामाज्ञापाण्डेयविरचितेऽस्मिन् ग्रन्थे व्याकरणशास्त्रस्य दार्शनिकपदार्थानां मौलिकं विवेचनं कृतमस्ति—	३६-६०
५.	बौधायनशुल्बसूत्रम्—	ग्रन्थोऽयं श्रीव्यंकटेश्वरदीक्षितविरचितया बोधायनशुल्बमीमांसाख्यया तथा च श्रीद्वारकानाथयज्वप्रणीतबौधायनशुल्बसूत्रव्याख्यानाख्यया टीकयाऽथ च प्रभूतैः संवादात्मकैः रेखाचित्रैश्च सनाथीकृतः—	७५-००
६.	तन्त्ररत्नम्—	[पञ्चमभागः] पार्थसारथिमिश्रविरचितः टुप्टीकासनाथितो मीमांसाग्रन्थोऽयं साम्प्रतं सम्पादकपण्डितपट्टाभिरामशास्त्रिविरचिततात्त्विकया भूमिकया सनाथितो विराजते—	४१-६०
७.	तन्त्रसङ्ग्रहः—	[तृतीयो भागः] तन्त्रशास्त्रस्य विविधतन्त्रसङ्ग्रहात्मकोऽयं ग्रन्थो बहुविधैरनुसन्धानात्मकैः भूमिका-टिप्पण-परिशिष्टैश्च समुल्लसति—	६२-२०
८.	योगिनीहृदयम्—	[तृतीयसंस्करणम्] तन्त्रशास्त्रीयोऽयं ग्रन्थः अम्बिकानन्दयोगिकृतदीपिकाख्यया, भास्कररायकृतसेतुबन्धव्याख्यानाख्यया च टीकया समलङ्कृत्य प्रकाशितः—	३-४०
९.	रुद्रयामलम्—	तन्त्रशास्त्रस्य प्राणभूतमिदं ग्रन्थरत्नं विविधैः किल गवेषणापूर्णैः भूमिका-टिप्पण-परिशिष्टादिभिः विभूष्य प्रकाशितम्—	६४-००
१०.	यन्त्रराजविचारविंशाध्यायी—	आचार्यनयनसुखोपाध्यायविरचितेऽस्मिन् ग्रन्थे ज्योतिषशास्त्रीयोपयोगिनां वेधादियन्त्राणां खलु सैद्धान्तिकं प्रायोगिकञ्च विवेचनं कृतं वर्तते—	११-००
११.	पुराणेतिहासयोः साङ्ख्ययोगदर्शनविमर्शः—	अनुसन्धानप्रबन्धेऽस्मिन् लेखकेन सम्पादकेन च डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना महता प्रयासेन पौराणिका महाभारतीयाश्च साङ्ख्य-यो[illegible]गपदार्था विवेचिताः—	३२-८०
१२.	भारतीयविचारदर्शनम्—	[द्वितीयो भागः] ग्रन्थेऽस्मिन् लेखकेन डॉ० हरि[illegible]थत्रिपाठिना भारतीयविचाराचाराणाम् ऐतिहासिकं तुलाबोधकञ्च विवेचनं कृतम्—	१०५-६०
१३.	पालित्रिपिटकसद्दानुक्कमणिका—	पालित्रिपिटकान्तर्गतानां शब्दानां सान्दर्भिकः समावेशोऽस्मिन् ग्रन्थे कृतो वर्तते—	१००-६०

प्राप्तिस्थानम्:-निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानम्, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी-२२१००२